हिन्दी पत्रकारिता



कृष्ण बिहारी मिश्र

हिन्दी पत्रकारिता

राजस्थानी आयोजन की कृती भूमिका

कृष्ण बिहारी मिश्र



अखिल भारतीय मारवाड़ी युवा मंच



हिन्दी पत्रकारिता
कृष्ण बिहारी मिश्र

मूल्य: पाँच सौ रुपये

प्रकाशक
अखिल भारतीय मारवाड़ी युवा मंच
१३, हसन बिल्डिंग
३४३२, निकल्सन रोड, कश्मीरी गेट
दिल्ली-११० ००६

मुद्रक
आनन्द
४३ बी जितेन्द्र मोहन एवेन्यू
कलकत्ता-७०० ००५

HINDI PATRAKARITA : RAJASTHANI AYOJAN KI KRITI BHUMIKA by Krishna Bihari Mishra, Published by Akhil Bhartiya Marwari Yuva Manch, 13, Hasan Building, 3432, Nicholson Road, Delhi-110 006 & Printed by Anand, 43B, Jatindra Mohan Avenue, Calcutta-700 005, Phone : 5303700-4, Fax : 5431200.

श्री श्यामसुन्दर आचार्य
श्री सज्जन भजनका और
श्री प्रमोद शाह को सप्रीति
जिनके प्रस्ताव, आग्रह और
सहयोग से यह पुस्तक रूपायित हुई

पुरोवाक्

'मारवाड़ी युवा मंच' (मध्य कलकत्ता शाखा) के एक आयोजन में प्रधान वक्ता की हैसियत से बोलते हुए श्री श्यामसुन्दर आचार्य (सम्पादक, जनसत्ता, कलकत्ता) ने न जाने किस प्रेरणा से यह प्रस्ताव रखा कि राजस्थान की हिन्दी पत्रकारिता का मुझ से शोधपरक सर्वेक्षण कराया जाय। और प्रबुद्ध श्रोताओं ने करतल ध्वनि द्वारा प्रस्ताव के समर्थन में उल्लास प्रकट किया। पूरा प्रसंग मेरे लिये विस्मयकारी था। तथ्य है कि पत्रकारिता के इतिहास को मैंने अपने विचार-कोण से निरखा-परखा है, और पत्रकारिता विषयक मेरी पुस्तकों को विद्या-जगत् ने सार्थक प्रयास के रूप में बहुमान दिया है। श्री श्यामसुन्दर आचार्य के प्रस्ताव में भी मैंने अपनी वीक्षा के प्रति आशंसा-भाव लक्ष्य किया। तथापि वानप्रस्थ-काल में बीहड़ प्रकृति की परिकल्पना से जुड़ने की प्रवृत्ति मुझ में नहीं थी। विनयपूर्वक मैंने अपने को आचार्यजी के आग्रह-बन्धन से मुक्त कर लिया था तब। किन्तु मेरे सेवा-निवृत्त होने की सूचना पाते ही 'मारवाड़ी युवा मंच' के राष्ट्रीय अध्यक्ष श्री प्रमोद शाह ने अपने हठीले आग्रह से मुझे निरुपाय कर दिया। अनुजकल्प प्रमोद शाह मेरे प्रीतिभाजन हैं। किसी भी प्रसंग में जब प्रेम हस्तक्षेप करता है, तर्क को हारना पड़ता है। मेरी प्रतिश्रुति के मूल में भावना का दबाव था।

परिकल्पना सही तरीके से रूपायित हो, इसकी चिन्ता मुझसे बढ़कर प्रमोद को थी। सामाजिक प्रयोजन से संसक्त संस्कारी व्यवसायी श्री सज्जन भजनका ने 'मारवाड़ी युवा मंच' को('सेंचुरी चैरिटेबुल ट्रस्ट' से) अपेक्षित सहयोग देकर प्रमोद शाह को व्यावहारिक चिन्ताओं से मुक्त कर दिया। अब मेरी चिन्ता का जटिल अध्याय शुरू हुआ। प्रवेश-द्वार पर ही जिस व्यावहारिक कठिनाई का साक्षात्कार हुआ, उसने मेरे अनुशीलन की दिशा बदल दी। राजस्थान की हिन्दी पत्रकारिता पर केन्द्रित शोध-प्रबन्धों के प्रकाशित रूप पर श्री श्यामसुन्दर आचार्य की दृष्टि पड़ी होगी, और वे मुझसे कुछ भिन्न अपेक्षा रखते हैं, क्योंकि अनुशीलन-कार्य में पिष्ट-पेषण नहीं, स्वकीय विचार-कोण का महत्व होता है। मेरे असमंजस का बिन्दु यही था कि पूर्ववर्ती अध्येताओं के काम को नये वैचारिक आयाम से जोड़कर समृद्धतर करने की मेरी सारस्वत विधि पण्डितों को किस अंश तक स्वीकार्य होगी। इसी असमंजस के साथ मैंने यात्रा शुरू की, और पद-पद पर प्रत्यूहों से जूझते एक प्रेरक निष्कर्ष पर पहुँचा, जो पत्रकारिता विषयक राजस्थानी आयोजन को राष्ट्रीय फलक से जोड़ता है। विवरण-बहुल विवेचन से हटकर मैंने उस विचार-सरणि को अपनाया जो राजस्थानियों के आयोजन को, जातीय परिदृश्य में, विशिष्ट भूमिका के रूप में उजागर करती है। और इसी दृष्टि से मैंने पत्रकारिता विषयक राजस्थानी उद्योग की पड़ताल की है। मेरी दृष्टि उस राजस्थानी चरित्र पर केन्द्रित है, जो कई बार, कई प्रसंग में, अन्यथा दृष्टि से देखा-दिखाया गया है, पर जो देश-संवेदना से सीधे जुड़ा है, और जिसके कार्य-व्यापार का सरोकार राष्ट्रीय स्वाभिमान के प्रति कतई कमजोर नहीं है।

हिन्दी पत्रकारिता के समग्र परिदृश्य पर दृष्टिपात करने पर इस क्षेत्र में राजस्थानी भूमिका की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। इसी विशिष्टता-महत्ता को राष्ट्रीय सन्दर्भ में रेखांकित करना मेरे इस अध्ययन का लक्ष्य रहा है। पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से राजस्थानी मानस के जातीय जागरण की संक्षिप्त कथा की प्रस्तुति की विनम्र चेष्टा। कदाचित् इस दृष्टि से राजस्थानी उद्योग के मूल्यांकन का यह पहला प्रयास है। और चूँकि इस विचार-सरणि पर यह पहली यात्रा है, इसलिये व्यावहारिक कठिनाइयों-बाधाओं से जूझते यात्रा पूरी हुई है।

सब से बड़ी बाधा थी अपेक्षित पाथेय का अभाव। पूरे देश में बिखरी सामग्री को उपलब्ध करना आसान काम नहीं था। परिचितों-मित्रों के सहयोग के प्रेरक आश्वासन पर जब यात्रा शुरू कर दी तब आश्वासन की व्यर्थता को लक्ष्य कर ऐसी चिन्ता भी कई बार मुझे भीतर से अस्त-व्यस्त कर गयी कि कहीं यात्रा अधूरी छोड़कर राह से भागना न पड़े। यह तो समझता था कि आजाद देश के सारस्वत संस्कार में शोचनीय स्खलन आया है, और विद्या-व्यापार से जुड़े लोगों की दृष्टि में भी सहयोग-सद्भाव का कोई मूल्य नहीं रह गया है, मगर जब गांधीवादी अनुशासन में आस्थाशील पुरानी पीढ़ी के लोग भी अपनी प्रतिश्रुति के प्रति संवेदनहीन दिखाई पड़े तो स्वाभाविक रूप में खिन्नता गहरायी। लेकिन संकल्प-विरत होना न तो अपनी खिन्नता का उपचार था और न बाधा का सटीक समाधान। अपनी प्रतिश्रुति का भार मन पर भारी था और उस भरोसे के प्रति संवेदनशील था, जिसने मुझे इस बीहड़ पथ पर खड़ा किया था। सो अपने बलबूते इस परिकल्पना को रूपायित करने में लग गया। कई आत्मीयजन ने अपनी सुमुखता से मेरी कर्म-निष्ठा को ऊर्जा दी।

प्रबुद्ध पाठकों को काल-परिदृश्य का सटीक परिचय देने की चिन्ता से 'परिशिष्ट'-व्यवस्था की गयी है, जो सामान्य पाठकों को भारी लग सकती है, पर सास्वत संस्कार परिशिष्ट के मूल्य को समझता है। और अनुशीलन-कार्य तथा शोध-ग्रंथ में सामान्य पाठकों की यों भी कम ही रुचि होती है। पुस्तक को जिस कोण से रूपायित किया गया है आधुनिक राजस्थानी मानस, जातीय संस्कार तथा संस्कृति-बोध का एक रोचक और प्रामाणिक चित्र उभर कर सामने आता है, जिस में सामान्य एवं विशिष्ट पाठक की समान रुचि होगी। और इस बिन्दु पर लेखक आश्वस्त है।

आभार- पुरानी सामग्री उपलब्ध करने की विकट समस्या को सहृदय बन्धु श्री मोहन सिंह, श्री अशोक सेकसरिया, श्रीमती वन्दना मूकेश शर्मा, श्री श्रीराम तिवारी और उनके सहायक सहकर्मी श्री श्रीमोहन तिवारी ने अपने सक्रिय सहयोग से हल किया। चि० डॉ० ज्ञानप्रकाश केजड़ीवाल ने अपनी उपचार-सेवा द्वारा मुझे कर्म-सुमुख बनाये रखा, और शारीरिक बाधा के बावजूद मैं प्रतिश्रुति पूरी कर पाया।

मेरे स्नेहभाजन डॉ. प्रेमशंकर त्रिपाठी, श्री नर्मदेश्वरनाथ मिश्र, दीनबन्धु और श्री विजयशंकर पाण्डेय को भी मेरे लिये कई बार पुस्तकालय में दौड़ना पड़ा। उनके सहयोग का मन पर गहरा असर है। मेरे छात्र राज मिठौलिया ने व्यस्त चर्या के बावजूद, अपेक्षा का समुचित उत्तर दिया।

'नवनीत' के प्राक्तन संपादक श्री नारायणदत्त जी, डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय और श्रीरामलाल

शर्मा ने मूल्यवान सूचना से मुझे उपकृत किया। श्री मोहन सिंहजी ने फतेहपुर के 'श्री सरस्वती पुस्तकालय' से, श्रीमती वन्दना मूकेश शर्मा ने पूना से और श्री श्रीराम तिवारी ने कलकत्ते से दुर्लभ सामग्री मुझे उपलब्ध करायी। श्री गोरखनाथ वर्मा (पुस्तकालयाध्यक्ष, श्री सरस्वती पुस्तकालय, फतेहपुर) के सक्रिय सहयोग के प्रति आभार-विनत हूँ। इन सहृदयजन की सहयोग-भावना ने आश्वस्त-प्रीत किया कि सहृदयता अभी जीवित है। आत्मीय बन्धु श्री मोहन सिंह जी मेरे प्रयोजन से राजस्थान की प्रचंड गर्मी में झुंझुनू से फतेहपुर दौड़ते रहे; मुझे मूल्यवान सामग्री उपलब्ध करा उन्होंने विरल सहृदयता का प्रमाण दिया। मेरे प्रति इसी कोटि का सद्भाव श्रीमती उषा मंत्री ने प्रकट किया। उनके सौजन्य से स्व. गणेश मंत्री का महत्वपूर्ण निबंध मुझे उपलब्ध हुआ। श्रीमती उषा जी का सक्रिय सहयोग सदा स्मरण रहेगा। चित्त को आलोकित कर देने वाला ऐसा उज्जवल संस्कार, क्षीण रूप में ही सही, युवा पीढ़ी में भी जीवित है। आयुष्मान रामनाथ महतो और श्री पुरुषोत्तम तिवारी मेरे संस्कारी विद्यार्थी हैं, जो मेरे विद्या-प्रयोजन को गुरुता देते हुए हर तरह की अनुकूलता उपलब्ध कराने को हर समय सोल्लास तैयार रहते हैं। मेरे प्रीतिभाजन श्री अच्युतानन्द राय सदा की तरह इस बार भी मेरे साथ थे। श्री विमल लाठ ने और श्री रतन शाह ने मुझे कुछ मूल्यवान सामग्री उपलब्ध करा अपेक्षित सहयोग दिया। श्री शंकर माहेश्वरी, श्री रेवतीलाल शाह और श्री अशोक सेकसरिया को अपने प्रयोजन से मैं बीच-बीच में विव्रत करता रहा। श्री अर्जुन सिंह का सहयोग स्मरणीय है। मित्रों की दुनिया ही मेरी कमाई और शक्ति है। कृतज्ञता-ज्ञापन की औपचारिकता द्वारा मैत्री का मोल घटाना भावना को मंजूर नहीं है। मगर उपकार का सटीक उत्तर कृतज्ञता ही है।

पुस्तक की शुद्ध-शोभन प्रस्तुति का श्रेय श्री अम्बू शर्मा, पुरुषोत्तम तिवारी और श्री प्रदीप ढेडिया को है। पुस्तक के मुद्रण में गहरी रुचि और जागरूक निष्ठा द्वारा विषय और लेखक के प्रति इन्होंने अपने प्रेम का प्रमाण दिया है। प्रूफ-संशोधन और मुद्रण-कार्य में श्री राजदेव सिंह कौशल, श्री धीरेन्द्र पाण्डेय और श्री सुरेन्द्र कुमार राय का सहयोग स्मरणीय है।

आत्मीय बन्धु श्री अशोक सेकसरिया के तप-ताप का उल्लेख करने में सहज संकोच होता है कि कहीं उनकी भावना को आघात न लग जाय।

मेरा प्रत्येक संकल्प शोभन तरीके और समुचित विधि से पूरा हो, यह चिंता मेरी अपेक्षा मेरे अनन्य मित्र पं. दीनानाथ पाण्डेय को रहती है। इस पुस्तक को प्रकाशित देखकर उन्हें ही अधिक प्रसन्नता होगी। मित्रों और सहृदयजन की प्रसन्नता ही मेरा सुख है।

– कृष्ण बिहारी मिश्र

पृष्ठिका

बालू बाजरा की धरती की कोख में ऐसा रस-सागर स्थित है जो विकट चुनौतियों से पंजा लड़ाने की ऊर्जा ही नहीं रचता, लालित्य की उद्दाम लहरों से जुझारू जीवन को रससिक्त बनाये रहता है। और संघर्षपूर्ण जीवन की अक्षय रस सम्पदा संवेदित होकर ग्राम्य कंठ से वनों, खेतों खलिहानों, घर-आँगनों और राहों-गलियों में गूंजती रहती है। बंजारे कंठ में गूंजनेवाली संवेदना बालुका प्रदेश की असाध्य शुष्कता और असह्य सन्नाटे का सटीक उपचार रच देती है, जिसके संस्पर्श से महल हवेली की जड़ता भी संवेदित हो उठती है।

मोती-महल को मान देनेवाला, और हीरा हवेली से अपनी पहचान उजागर करने वाला राजा-रजवाड़ों और बनिया-व्यापारियों का प्रदेश राजस्थान, मर्मी संतों, विरह-राग का मादक सौंदर्य रचने वाले कवियों और तत्वदर्शी साधकों-चिन्तकों से समृद्ध ऐसा प्रदेश रहा है जो मृण्मय और चिन्मय की मूल्यवत्ता को समान रूप से समझता रहा है, भौतिक वैभव को अपेक्षित बहुमान देते जड़ वस्तुओं की लघुता और भूमा के मर्म की विचक्षण समझ से प्राण-पुष्ट रहा है।

बालू पेर कर एक बूंद भी तेल भले हाथ न लगे, पर रेगिस्तान की धरती स्नेह से आपूरित रसम्वला होती है; राजस्थान की कला, साहित्य और अप्रतिम अध्यात्म-संवेदना इस तथ्य का प्रमाण है। भारत की समग्र संवेदना और प्राण-नाड़ी के सम्यक् साक्षात्कार के लिये भारत के विभिन्न भू-भाग को आलोकित करने वाली संवेदना का समीपी परिचय अपेक्षित है। पर भू-खंड की लघुता और ऋण-पक्ष पर केन्द्रित दृष्टि से रची गयी व्यवस्था और पूर्वग्रह अनुशासित अध्ययन का निष्कर्ष अधूरा, अप्रामाणिक और विचार की दुनिया में भ्रम फैलाने वाला ही होता है। राजस्थान समाज शत्रुओं की, सामंतों-राजाओं, बनियों-महाजनों की जन्म भूमि है, यह अवधारणा पल्लवग्राही मति और पूर्वग्रह-प्रेरित सोच का शोचनीय निदर्शन है। निःसंदेह राजस्थान सामंतों राजाओं का प्रदेश है, और यहां का वणिक समाज अर्थार्जन के लिये अपना घर-आँगन छोड़ कर देश-विदेश के दूरस्थ प्रदेश में भटकता रहा है। और निःसंदेह दोनों ही वर्ग की पहली प्राथमिकता तथा निष्ठा निजी स्वार्थ से जुड़ी रही है। सत्य यह भी है कि इनकी स्वार्थ-सजग साधना से सामाजिक स्वार्थ और लोक-मंगल को कई रूप में कई बार गहरा आघात भी लगा है। यह धारणा निराधार नहीं है कि महल-हवेली की रोशनी, झोपड़ी के सघन अंधकार के मूल्य पर खड़ी है। इस सोच ने सामाजिक सौमनस्य को विद्वेष में बदला है, और महलों-हवेलियों की जटिल माया के विरुद्ध यातना-आहत, जीवन के न्यूनतम आस्वाद से वंचित, अवहेलित समाज के बंधु-नायकों ने विप्लवी आवाज उठाई है; लोक-मंगल के महत् उद्देश्य से जन-आंदोलन क्रियाशील हुए हैं। वर्ग-वैषम्य के विरुद्ध जागृत बोध और कूट कौशल से दलित-अपमानित मानव-समाज के उद्धार की चिन्ता-चेतना तथा कृती पुरुषों के संघबद्ध प्रयत्न बीसवीं सदी की स्मरणीय सांस्कृतिक उपलब्धि हैं।

यह तथ्य है कि मनुष्य-विरचित वर्ग-भेद के त्रासद अभिशाप के मूल में राजतंत्र और पूंजीतंत्र की संस्कृति की बड़ी और कुटिल भूमिका रही है। पर साथ ही तथ्य यह भी है कि अन्यथा व्याज से राजप्रासाद और महाजनी दुनिया ने समाज-सेवामूलक ऐसे सांस्कृतिक आयोजन किये हैं, जिनके विधायक पक्ष को इतिहास श्लाघासहित स्मरण करता है। साहित्य, संस्कृति और कलाविपयक राजस्थानी राजघरानों तथा श्रेष्ठी समुदाय के आयोजन-उद्योग की सांस्कृतिक महत्ता को आधुनिक विवेक भी विशिष्ट उपलब्धि के रूप में स्वीकार करता है। समाज-शत्रु के रूप में कुख्यात वर्ग के विद्याविपयक आयोजन के मूल में अविद्या और लघुता से उत्तीर्ण होने की चिन्ता का स्पर्श दिखाई देता है। वह चिन्ता-संवेदना जिसके विग्रह के रूप में मीरा क्रियाशील हुई थी। जन्मना उपलब्ध राजसिक वैभव की लघुता को राजस्थानी माटी की बेटी मीरा की संवेदना ने समझ लिया था। वह वही संवेदना दृष्टि थी जो राजकुमार सिद्धार्थ को देकर विधाता ने धरती पर भेजा था। मनुष्य की प्रकृति अल्प से तुष्ट नहीं होती। राजसिक वैभव और वणिक बुद्धि से अर्जित सम्पदा समष्टि की वेदना-संवेदना से जुड़कर ही सार्थक होती है, विभुता का वास्तविक आस्वाद भी तभी मिलता है। राजघरानों और वणिक-वर्ग के सांस्कृतिक आयोजन के मूल में कदाचित् यही बोध रहा है। राजस्थानी चरित्र की नैसर्गिक धर्म-भीरुता भी समष्टि के मंगल में विधायक सिद्ध हुई है। धन-संग्रह के साथ पुण्य-संग्रह की स्पृहा गोशाला, धर्मशाला, कुंआ-मन्दिर, चिकित्सालय-विद्यालय का निर्माण और समाज-हित के दूसरे आयोजन रचती रही है। पूर्व स्वातंत्र्यकाल में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का प्रधान लक्ष्य समाज-सेवा ही था। सामंती और महाजनी संस्कृति का यह एक उज्ज्वल पक्ष है, जिसे नजरअंदाज करना अधूरे सत्य को देखना है, और पूर्वग्रह का प्रमाण है।

आधुनिक युग में अजित सिंह जैसे राजा राजस्थान में हुए हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक परिव्राजक की यात्रा के प्रत्यूह दूर कर अनुकूल गत्वरता रची थी।[1] नामकरण[2] के साथ स्वामी विवेकानंद को जातीय स्वाभिमान की पगड़ी बाँध कर विश्व धर्म-मंच पर पहुँचाने वाले अजित सिंह राजस्थान के ही राजपुरुष थे। और साम्राज्यशाही अभिशाप से भारत की नियति को उबारने के लिये जो जातीय संघर्ष शुरू हुआ था उसमें राजस्थान के राजपूतों और वणिक समुदाय के मूल्यवान अवदान को इतिहास स्वीकार करता है। सन् १८५७ में क्रियाशील भारत के प्रथम स्वातंत्र्य-संघर्ष में राजस्थान का जागरण और सक्रियता इतिहास-स्वीकृत तथ्य है। आधुनिक पुनर्जागरण के अग्रदूत महर्षि दयानन्द सरस्वती और स्वामी विवेकानन्द ने अपने अनेकमुखी कार्य-कलाप द्वारा उत्तर उन्नीसवीं शताब्दी के राजस्थान में सांस्कृतिक नवजागरण का बीज-वपन कर दिया था, जो श्यामजी कृष्ण वर्मा जैसे स्वामी दयानन्द के भक्त-शिष्य और रामकृष्ण परमहंस के कृती अनुयायिओं की प्रचेष्टा से यथा-समय पल्लवित होने लगा था। 'महाराजा संस्कृत कालेज' तथा जातीय प्रेरणा से स्थापित दूसरे विद्या-केंद्रों और महामहोपाध्याय पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जैसे असाधारण

१. द्रष्टव्य खेतड़ी-नरेश और विवेकानन्द, पृ. १६, ले. झाबरमल्ल शर्मा
२. द्रष्टव्य-खेतड़ी-नरेश और विवेकानन्द, पृ. ११

मनीषी की विद्या-साधना ने नवजागरण-बोध रच दिया था। उस बोध के प्रसार में आर्य समाज के तत्वावधान में प्रकाशित पत्रिकायें प्रवृत्त हो गयी थीं। लोक नायक महात्मा गांधी के घोषित पांचवे पुत्र जमनालाल बजाज मारवाड़ी वैश्य समाज की धवलता के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि थे। गांधीजी के नेतृत्व में क्रियाशील स्वतंत्रता-संग्राम के विशिष्ट सेनानी और प्रेरणा-पुरुष थे जमनालाल बजाज, जो मूलतः व्यवसायी होते हुए अपनी समाज-सेवा विषयक विशिष्ट भूमिका के लिये देश द्वारा सम्मानित थे। और उस काल में उनकी जाति के अनेक ऐसे कृती पुरुष थे, जो अग्रणी व्यवसायी और विप्लवी देश-सेवक के रूप में ख्यात थे।[१] व्यवसाय और देश-सेवा विषयक कार्य-व्यापार को समान गंभीरता से लेने वाले राजस्थानी लोगों की नाम-तालिका काफी लम्बी है।

वाणिज्य-व्यापार के उद्देश्य से राजस्थानी वैश्य कुल के लोग अपने प्रदेश के बाहर जाकर व्यवसाय के साथ समाज-सेवा की अनेकमुखी भूमिका से सक्रिय रूप से जुड़ गये थे। देश-सेवा की ही एक महत्वपूर्ण सरणि थी पत्रकारिता। इस सत्य को विद्या-विशिष्ट समाज ही नहीं, कम पढ़े-लिखे और विद्या-व्यापार से सीधा सरोकार न रखने वाले सामान्य व्यवसायी भी समझ रहे थे। खेमराज बजाज और हनुमानप्रसाद पोद्दार राजस्थानी वैश्य समाज के ऐसे ही व्यक्ति थे, जिनका जीवन एक साधारण व्यापारी के रूप में शुरू हुआ था, और जिन्हें उच्च शिक्षा का सौभाग्य नहीं मिला था और न तो उन्हें पत्रकारिता के तकनीकी संविधान का वैसा समीपी परिचय था। इसी प्रकार जमनालाल बजाज और बृजलाल बियाणी का पत्रकारिता से सीधा सरोकार नहीं था। वे शुद्ध व्यवसाय के उद्देश्य से राजस्थान के बाहर गये थे और जातीय परिस्थिति के आग्रह से उनकी जीवन-चर्या देश-सेवा की लहर से जुड़ गयी थी। पत्रकारिता को चेतना-जागरण का प्रत्यक्ष-प्रभावी माध्यम मानकर उस क्षेत्र में उन लोगोंने सक्रिय रुचि ली थी और पत्रकारिता के विशिष्ट उद्योक्ता के रूप में उन्हें सम्मान मिला। उनके उद्योग से वर्धा, अकोला, अहमदाबाद, मुम्बई और गोरखपुर से ऐसी पत्रिकायें प्रकाशित हुईं, जो विशिष्ट स्वर और राष्ट्रीय चरित्र के चलते पूरे देश में चर्चित रहीं।[२]

खेमराज बजाज का 'वेंकटेश्वर प्रेस' किसी बड़े जातीय आदर्श की प्रेरणा से नहीं शुरू हुआ था, शुद्ध व्यवसाय का ही एक आयोजन था, किन्तु देश के बड़े प्रयोजन के रूपायन का निमित्त बन गया; पुरा सद्साहित्य के प्रकाशन-प्रचार का निमित्त, और 'वेंकटेश्वर समाचार' के प्रकाशन का माध्यम। 'वेंकेटेश्वर समाचार' के प्रकाशन के मूल में भी कोई बड़ा आदर्श नहीं, व्यावसायिक चिन्ता ही थी, पर उसकी समृद्ध भूमिका को पत्रकारिता का इतिहास सम्मान के साथ रेखांकित करता है। उद्योक्ता भले ऊँची शिक्षा प्राप्त और विद्या-

---

१. द्रष्टव्य : भगवती प्रसाद सिंह का ग्रंथ कल्याणपथ: निर्माता और राही, पृ. ३२

२. हिन्दी पत्र पत्रिकाओं के प्रकाशन-परिदृश्य के समग्र सर्वेक्षण से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि इस क्षेत्र में राजस्थानी उद्योग की व्याप्ति पूरे देश में थी। न केवल राजस्थान बल्कि अपने प्रत्येक प्रवास-क्षेत्र से राजस्थानियों ने समाज-संस्कार और जातीय जागरण के उद्देश्य से .स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन किया था।

साधक नहीं थे, पर उनके उन्नत विवेक और व्यावहारिक समझ का ही प्रमाण है कि 'वेंकटेश्वर समाचार' के सम्पादन के लिये उन्होंने पं. रुद्रदत्त शर्मा, पं. लज्जाराम शर्मा और पं. अमृतलाल चक्रवर्ती जैसे अपने समय के पांक्तेय पुरुषों को आमंत्रित किया था। खेमराज बजाज के कृती उद्योग के बाद बम्बई से ही हनुमान प्रसाद पोद्दार ने 'कल्याण' का प्रकाशन शुरू किया था, पर गोरखपुर पहुंचकर 'कल्याण' की यात्रा जब 'गीता प्रेस' से जुड़ी तो उसकी भूमिका समृद्धि के शिखर पर पहुंच गयी। 'वेंकटेश्वर प्रेस' और 'गीता प्रेस' का महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक अवदान राजस्थानी व्यवसाय बुद्धि के साथ जुड़े आदर्श का विधायक परिणाम था, जिसका लाभ वर्ग-विशेष को नहीं, समग्र देश को मिला।

पराधीन देश के पत्रकारिता-परिदृश्य पर दृष्टिपात करने पर जो चित्र सामने उभरता है उससे स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न प्रयोजनों से पत्रकारिता को, सबल प्रभावी माध्यम के रूप में विभिन्न क्षेत्रों के लोगों ने अपनाया। राजस्थानी उद्योग से प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों में विभिन्न क्षेत्र विभाग के लोग थे। महात्मा गांधी, हीरालाल शास्त्री, हरिभाऊ उपाध्याय और जयनारायण व्यास भी थे और रुद्रदत्त शर्मा, अमृतलाल चक्रवर्ती, दुर्गाप्रसाद मिश्र, झाबरमल्ल शर्मा, सत्यदेव विद्यालंकार, रामनाथ 'सुमन', शिवपूजन सहाय जैसे कृती सम्पादक तथा गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी और चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' जैसे मनीषी भी थे। सबका लक्ष्य एक ही था, जातीय चेतना का बहुमुखी विकास और देश का समग्र अभ्युत्थान।

उस बड़े लक्ष्य तक पहुंचने के लिये व्यक्ति और छोटी वर्ग-बिरादरी का संस्कार-उन्नयन विचार का एक कोण था। इस चिन्ता के आग्रह से पूर्व स्वातंत्र्य-काल में विभिन्न वर्ग बिरादरी और भिन्न-भिन्न धर्म पंथों की ओर से न केवल राजस्थान बल्कि देश के उन उन स्थानों से, जहां राजस्थानी समूह प्रवास कर रहा था, अनेक पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। उनका ऊपरी उद्देश्य वर्ग विशेष तक सीमित था, पर जातीय आधार-शोधन और चेतना-विकास की दृष्टि से वह एक बड़ी रचनात्मक प्रचेष्टा थी।

मारवाड़ी समाज द्वारा कुछ ऐसी भी पत्रिकायें प्रकाशित हुई, जिनके नाम से उनके महत् लक्ष्य के बारे में सहज ही भ्रम होता है। रूढ़मल गोयनका के उद्योग से कलकत्ता मे पं. दुर्गाप्रसाद मिश्र के सम्पादन में प्रकाशित 'मारवाड़ी बंधु' तथा अकोला से बृजलाल बियाणी के उद्योग से सत्यदेव विद्यालंकार के सम्पादन में प्रकाशित 'राजस्थान' और आरा से शिवपूजन सहाय के सम्पादन में प्रकाशित 'मारवाड़ी सुधार' ऐसी ही पत्रिकायें थीं। स्वदेशी-आंदोलन-काल में प्रकाशित 'मारवाड़ी-बंधु' की भूमिका देश-बंधु की प्रभावी भूमिका थी और 'मारवाड़ी सुधार' तथा 'राजस्थान' की दृष्टि गांधी युग की जातीय संवेदना पर केन्द्रित थी। यह भी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य ध्यातव्य है कि इन पत्रिकाओं का सम्पादन हिन्दी के शीर्षस्थ संपादक कर रहे थे। जातिगत और वर्गगत कुसंस्कार के मोचन का एक प्रधान लक्ष्य होते हुए उन पत्रिकाओं का बड़ा लक्ष्य था, साम्राज्यशाही-अभिशाप से आक्रान्त देश की पराधीन अस्मिता के उद्धार की चेतना जगाना और मनुष्य को उन्नत करने वाले विचार की ओर उसे प्रवृत्त करना। सन् १९३६ में कलकत्ता से प्रकाशित त्रैमासिक पत्रिका 'मारवाड़ी' का विज्ञप्त उद्देश्य था 'मारवाड़ी समाज से सम्बन्ध रखने वाले सामाजिक,

साहित्यिक, राजनैतिक, व्यापारिक तथा धार्मिक सभी विषयों पर लेख' प्रकाशित करना। इसी प्रकार 'मारवाड़ी अग्रवाल महासभा' का मुख-पत्र 'मारवाड़ी अग्रवाल' कलकत्ता से उसी काल में प्रकाशित हुआ था। बिरादरी-विशेष की हित-चिन्ता से प्रकाशित इन पत्रिकाओं का युग-धर्म के प्रति कितना गहरा सरोकार था, पुरानी फाइल से तथ्य स्पष्ट हो जाता है। 'मारवाड़ी अग्रवाल' गांधीजी के नेतृत्व में क्रियाशील देशव्यापी रचनात्मक कार्यक्रम के प्रति संवेदनशील था और उसे अपेक्षित गुरुता देते गांधीजी की महत्ता, खादी की उपयोगिता और देश के ऐक्य और संघ शक्ति के लिये देवनागरी लिपि के मूल्य इत्यादि ज्वलन्त राष्ट्रीय विषयों को बड़े बल के साथ रेखांकित करता रहता था। पत्रिका और पत्रिका-संपादक का दृष्टिकोण जातिबद्ध संकुचित दृष्टिकोण नहीं था। वर्ष ७, अंक-१ की सम्पादकीय टिप्पणी गांधीजी की सामाजिक क्रांति पर केन्द्रित है जो 'मारवाड़ी अग्रवाल' के बड़े जातीय सरोकार को उजागर करती है। बिरादरी-बोध को मुख्य जातीय प्रवाह के प्रति सुमुख करने की प्रचेष्टा इन पत्रिकाओं का एक विधायक प्रयोजन था। जातिवाद और बिरादरी ग्रंथि आजादी के बाद जितनी जटिल हुई है, वैसा संकुचित मनोभाव स्वातंत्र्य-संघर्ष-काल में नहीं था।

जमनालाल बजाज के उद्योग से अहमदाबाद से गांधीजी के सम्पादन में प्रकाशित 'हिन्दी नवजीवन' के १३ फरवरी, १९३० के सम्पादकीय वक्तव्य का शीर्षक है- 'वर्ण धर्म और श्रम-धर्म'। गांधीजी ने भारतीय पुराने अनुशासन को सर्वथा आधुनिक दृष्टि से निरख-परख कर देश-दशा के उद्धार-उत्थान की हित-चिन्ता से अपना विधायक विचार प्रकट किया था, - "जब कई एक मनुष्य अर्थ-संग्रह ही के कारण अपनी बुद्धि का उपयोग करते हैं, घातक विषमता पैदा हो जाती है। जैसे यदि शिक्षक (ब्राह्मण), सिपाही (क्षत्रिय), व्यापारी (वैश्य), और बढ़ई (शूद्र), समाज-हित के लिये नहीं, बल्कि धन-संग्रह के लिए धन्धा करें तो वर्ण-धर्म लोप हो जाता है। क्योंकि धर्म में धन-संग्रह का कोई भी स्थान नहीं हो सकता। समाज में शिक्षक, वकील, डाक्टर, सिपाही वगैरा की आवश्यकता है परन्तु जब ये लोग स्वार्थवश काम करते हैं तब समाज- संरक्षक मिट कर समाज-भक्षक बन जाते हैं।" वर्ण धर्म की यह आधुनिक अवधारणा उस काल के मानस और संवेदना में नयी ज्योति रच रही थी, और उस वर्ण-कुंठा पर वैचारिक चोट कर रही थी, जो भिन्न वर्ण के प्रति असहिष्णु बनाती है, सामाजिक संरचना के सौमनस्य की टूटन का कारण बनती है। इसी लघुता और कुसंस्कार के निरसन के आग्रही थे 'मारवाड़ी-सुधार'-संपादक आचार्य शिवपूजन सहाय। पत्रिका मारवाड़ी समाज की थी, और मारवाड़ी समाज के संस्कार-उन्नयन के ही उद्देश्य से उसका प्रकाशन हुआ था। सम्पादक न तो राजस्थानी थे और न वैश्य। मगर राजस्थानी समाज के प्रति उनके मन में हित-चिन्ता थी, और अपने सम्पादकीय दायित्व की गुरुता के प्रति वे पूरी तरह संवेदनशील थे। इसलिये अपनी पत्रिका के माध्यम से ऐसे विचार और संस्कार को, जो राजस्थानी चरित्र को छोटा बनाए, प्रोत्साहन देना उनके विवेक को स्वीकार्य नहीं था। मगर 'मारवाड़ी सुधार' के सम्पादकीय विवेक का कठोर आग्रह संकीर्ण दायरे में सीमित मति को सह्य नहीं था। ऐसे रूढ़िग्रस्त लोगों ने सम्पादक पर

निराधार लांछन जड़े। पर आचार्य शिवपूजन सहाय अपनी धवल भूमिका से स्खलित नहीं हुए। उनका आदर्श 'हिन्दी नवजीवन'- संपादक गांधी के आदर्श से अनुशासित था। उस काल की समग्र जातीय संवेदना उसी आदर्श-अनुशासन में निर्मित हुई थी। राजस्थानी विवेक समय-संवेदना के प्रति सुमुख था। पर युग-धर्म के साथ चलने को जो तैयार नहीं थे उनका रूढ़ संस्कार विकास की धारा से टकराता रहता था। 'मारवाड़ी-सुधार'- सम्पादक की तरह दूसरे कृती संपादकों को भी संकुचित मनोभाव से जूझना पड़ा था। तथ्य है कि विभिन्न बिरादरी और धर्म-संघ से प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं के चरित्र पर उस आदर्श और संवेदना का परोक्ष संस्पर्श मुखर था।

बीसवीं सदी के दूसरे दशक में जिस उदार मानवीय संवेदना का उदय हुआ था उसे अपनी मंचीय निष्ठा[1] की रक्षा करते उस काल की पत्रकारिता व्यापक प्रस्तुति दे रही थी, नयी चेतना के उन्मेष में राजस्थानी उद्योग से प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका निःसंदेह दुर्बल नहीं थी। कुछेक पत्रिकाओं का उद्देश्य वर्गबद्ध संस्कार की विज्ञप्ति तक जरूर सीमित था। पर राष्ट्र के उस संघर्ष- काल में राजस्थानी उद्योग से ऐसी महत्वपूर्ण पत्रिकायें प्रकाशित हुईं, जिनका देश की राजनीति से प्रत्यक्ष सरोकार नहीं था, लेकिन अपनी सांस्कृतिक सम्पदा का उत्खनन-प्रकाशन करने वाली पत्रिकायें प्रकारांतर से जातीय बोध को पुष्ट-प्रखर करने में मूल्यवान भूमिका पर क्रियाशील थीं। पुनर्जागरण की चेतना रचने वाली ही वह एक सबल पंथा थी।

राजनीतिक पराधीनता से उत्तीर्ण होते ही उस आदर्श में क्षरण शुरू हो गया जिससे भारत का स्वातंत्र्य-संग्राम जयी हुआ था। जातीय निष्ठा निजी स्वार्थपरता और भोग-निष्ठा में बदलने लगी। पत्रकारिता-परिदृश्य पर पूंजी का वर्चस्व बढ़ गया। बड़े व्यवसायी घरानों ने पश्चिमी जगत् की तरह पत्रकारिता के क्षेत्र में व्यावसायिक हस्तक्षेप किया। मुख्यत: 'हिन्दुस्तान टाइम्स' और 'टाइम्स ऑफ इंडिया' प्रतिष्ठान की हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन में अग्रणी भूमिका रही। शुद्ध व्यावसायिक मनोभाव से चालित इन राजस्थानी पूंजी-प्रतिष्ठानों से हिन्दी की स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। 'हिन्दुस्तान' 'नवभारत टाइम्स' हिन्दी के महत्वपूर्ण दैनिक के रूप में स्वीकृत रहे हैं। परवर्ती काल में 'इंडियन एक्सप्रेस ग्रुप' का 'जनसत्ता' और जयपुर का हिन्दी दैनिक 'राजस्थान पत्रिका' राजस्थानी पूंजी-प्रतिष्ठान के ही अखबार हैं, जिनके स्तर के प्रति प्रबुद्ध समाज की ऊंची धारणा रही है। आजाद देश के दुर्भाग्य-काल में आपात काल की विकट चुनौती का मुकाबला करते रामनाथ गोयनका के प्रतिष्ठान 'इंडियन एक्सप्रेस ग्रुप' की भूमिका सत्याग्रही युयुत्सु की भूमिका थी, जिसे पूंजी-प्रतिष्ठान के एक उज्ज्वल तथ्य के रूप में इतिहास स्वीकार करता है।

---

१. हिन्दी पत्रकारिता के आदि चरण में स्वामी दयानन्द सरस्वती के वैचारिक जागरण- आंदोलन की प्रभाव-प्रेरणा से अजमेर तथा दूसरे स्थानों से अनेक महत्वपूर्ण पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। परवर्ती काल में जैन धर्म संस्थान के तत्वावधान में और सनातन धर्म में आस्थाशील लोगों की प्रचेष्टा से पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। सबका लक्ष्य लोक-मंगल था।

स्वाधीन देश के आरम्भिक दशकों में राजस्थानी उद्योग से कई स्तरीय साहित्यिक पत्रिकायें प्रकाशित हुईं। हैदराबाद से प्रकाशित साहित्यिक मासिक 'कल्पना' हिन्दी के श्रेष्ठ विवेक और प्रतिभा को प्रस्तुत करने वाली प्रारम्भिक स्वातंत्र्य-काल की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका के रूप में स्वीकृत हुई। इसी प्रकार कलकत्ता से प्रकाशित 'नया समाज' और 'ज्ञानोदय' का साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहास में विशिष्ट स्थान है। हिन्दी नवलेखन के प्रकाशन-प्रवर्द्धन में 'ज्ञानोदय' की अग्रणी भूमिका रही है। 'हिन्दुस्तान टाइम्स' का 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' तथा 'कादम्बिनी' और 'टाइम्स ऑफ इंडिया' की साप्ताहिक पत्रिका 'धर्मयुग' तथा संवाद-पत्रिका- 'दिनमान' पिछले दशकों की श्रेष्ठ पत्रिका के रूप में लोकप्रिय रही हैं। इसी प्रकार 'नवनीत' का भी एक बड़ा पाठक-वर्ग था। सद्विचार का परिवेशन करने वाली भिन्न प्रकृति-स्वरूप की वह पत्रिका थी, एक उपयोगी प्रयोग था 'नवनीत' का प्रकाशन। हिन्दी के पांक्तेय रचनाकारों और कृती सम्पादकों के संपादन में निकलने वाली ये पत्रिकायें हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में समृद्ध अध्याय जोड़ती हैं। पूंजी-प्रतिष्ठान की धन-शक्ति को सम्पादकों ने अपनी विचक्षण रुचि और प्रतिभा से रचनात्मक आयाम देकर राजस्थानी उद्योग की महत्ता-वृद्धि की है। विवेक से समग्रता पर विचार करने पर सहज धारणा बनती है कि हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में राजस्थानी उद्योग की भूमिका श्लाघायोग्य है।

सन् १९६० के पूर्व-पश्चात लघु पत्रिका आंदोलन शुरू हुआ था हिन्दी में। यों तो लघु-पत्रिका की मूल संस्कृति का उदय हिन्दी पत्रकारिता के आदि बिन्दु पर ही हो गया था। लघु पत्रिका की ही प्रकृति थी ३० मई १८२६ को प्रकाशित हिन्दी की पहली पत्रिका 'उदन्त-मार्तण्ड' की प्रकृति। स्थापित राज्य-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था के रूढ़ चरित्र से जन्मे मानव महिमा को म्लान करने वाले कुसंस्कारों के प्रतिरोध में ही आदि पर्व की पत्रकारिता का स्वर केन्द्रित था। सम्पादकों के निजी उद्योग से ही उस काल की पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित होती थीं, और प्रकाशन सम्बन्धी सारा दायित्व सम्पादक को अकेले वहन करना पड़ता था, इसलिये उनका संघर्ष कठोर और अनेकमुखी था। बड़े जातीय आदर्श से अनुप्रेरित वह आयोजन था, जो पूर्व स्वातंत्र्य-काल की पत्रकारिता की सामान्य पहचान थी। हिन्दी पत्रकारिता की इस स्वकीय पहचान को व्यावसायिक हस्तक्षेप ने विरूप और कमजोर बना दिया। पूंजीतंत्र के अशुभ दबाव और पूंजी- प्रताप के वर्चस्व के प्रतिरोध में. प्रतिपक्षी स्वर के रूप में विद्याकर्मियों के निजी उद्योग से १९६० के आसपास हिन्दी में लघु पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हुआ, जिसे युवा पीढ़ी ने नैसर्गिक महत्वाकांक्षा के आवेग में वैचारिक आंदोलन की सटीक पंथा के रूप में विज्ञापित किया। राजस्थान से और दूसरे प्रदेशों में प्रवास कर रहे राजस्थानियों द्वारा कई ऐसी लघु पत्रिकायें प्रकाशित हुई जिसे हिन्दी की पूरी दुनिया ने बहुमान दिया। अजमेर स प्रकाशित 'लहर' ऐसी ही लघु पत्रिका है। इसी प्रकार सांस्कृतिक-दार्शनिक विषयों पर केन्द्रित विचार पत्रिकाओं के प्रकाशन में राजस्थानियों की अभिरुचि पूर्व स्वातंत्र्य-काल से ही रही हैं। साम्प्रतिक काल की श्रेष्ठ दर्शन पत्रिका है 'उन्मीलन' जो जयपुर से यशदेव शल्य के संपादन में प्रकाशित होती है।

हिन्दी पत्रकारिता विषयक राजस्थानी उद्योग एक ऐसा उपक्रम-बिन्दु है, जो इस प्रेरक तथ्य का प्रमाण है कि राजस्थान के वणिक समाज की निष्ठा अपने व्यवसाय-वाणिज्य से जरूर जुड़ी थी, पर विद्या-व्यापार और साहित्य-संस्कृति के प्रति उनकी गंभीर और सक्रिय रुचि रही है, जो राजस्थानी वणिक समाज के लिये ही नहीं, देश के लिये विधायक सिद्ध हुई। पत्रकारिता के संदर्भ में इसी उज्ज्वल आयाम पर आलोकपात् करना इस अध्ययन का उद्देश्य है। राजस्थान की पत्रकारिता का विवरण-भित्तिक विवेचन पूर्ववर्ती अध्येताओं ने किया है। इस अध्ययन का कोण उनसे सर्वथा भिन्न है। प्रामाणिक साक्ष्य के आधार पर इस संयोग-सत्य को भी रेखांकित करने का प्रयास इस विवेचनात्मक सर्वेक्षण में दिखाई पड़ेगा कि राजस्थान से यद्यपि स्तरीय पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित हुईं, उनका युयुत्सु तेवर कठोर चुनौती के रूप में प्रकट हुआ था, किन्तु राजस्थानी उद्योग का जातीय प्रभाव दूसरे प्रदेशों-क्षेत्रों से प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं द्वारा ही प्रकट हुआ, राष्ट्रीय चरित्र की अधिकांश पत्रिकायें राजस्थान के बाहर से राजस्थानी उद्योग से प्रकाशित हुईं। चाहे 'वेंकटेश्वर समाचार' हो चाहे 'कल्याण' हो या 'धर्मयुग', 'ज्ञानोदय' और 'दिनमान'।

विद्या-व्यापार के संदर्भ में जाति, वर्ग और प्रदेश की स्वकीय महत्ता स्थिर करना सामान्यत: उचित विचार-शिल्प नहीं माना जाता, क्योंकि विद्या और साहित्य से वर्गवाद की संगति किसी रूप में नहीं बैठती, तथापि प्रादेशिक इकाई की रचनात्मक भूमिका को रेखांकित करना विचार का एक विधायक कोण है। इसी विवेक से राजस्थानियों के क्षेत्र-विशेष की विशिष्ट भूमिका के मूल्यांकन का जागरूक प्रयास अगले पृष्ठों में दिखाई पड़ेगा।

उत्तर उन्नीसवीं शताब्दी का प्रादेशिक परिदृश्य: जातीय चैतन्य का नवोन्मेष

अपने शौर्य के लिये प्रख्यात राजस्थान को पुनर्जागरण का स्पर्श उन्नीसवीं शताब्दी में यथा समय मिल गया था। स्वत्व-सजगता की चेतना विदेशी पराधीनता से मुक्त होने की स्पृहा के रूप में विप्लवी मुद्रा में यत्र-तत्र प्रकट होने लगी थी।

सन् १९५७ में सिपाही विद्रोह के रूप में जब जातीय स्वाभिमान से प्रेरित युयुत्सा बंगाल में प्रकट हुई थी, राजस्थान के अस्मिता-बोध ने भी प्रादेशिक स्तर पर राष्ट्रीय जागरण का प्रमाण दिया था। ऐतिहासिक तथ्य साक्ष्य है कि अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध उस काल में कोटा, बूंदी, अजमेर और जयपुर में देश-प्रेम का उग्र आवेग क्रियाशील हुआ था। आहुआ के ठाकुर की विप्लवी भूमिका को इतिहास राजस्थान की नैसर्गिक शूरता के रूप में गर्व के साथ स्मरण करता है। जैसे मंगल पांडे, कुंवर सिंह,[1] नाना साहब पेशवा और झांसी की रानी के शौर्य की स्मृति देश-प्रेम की प्रेरणा जगाती थी वैसे आहुआ के ठाकुर की भूमिका राजस्थानी रक्त के लिये प्रेरक थी, और बिलायती दासता के प्रति युयुत्सा उदग्र हो उठती थी। देश-प्रेम के पागल आवेग में कोटा के लोगों ने अंग्रेज सैनिक अधिकारी मेजर बर्टन का सिर काट कर शहर में घसीटा था और फिर गोली से उड़ा दिया था। उस राष्ट्रीय स्वाभिमान को हमेशा के लिये कुचल देने के संकल्प से अंग्रेजी सरकार ने अपनी दमन-नीति का नृशंसतापूर्वक प्रयोग किया था। पर उसकी दमन-नीति देश-प्रीति की लहर को दबाने में सदा विफल रही। मर- खप कर भी भारतवासी आजादी की लड़ाई से विरत होने को तैयार नहीं थे। स्वातंत्र्य-स्पृहा की नव प्रज्वलित आग की रक्षा करने का कौशल उन्हें सिद्ध था। नृशंस दमन-चक्र के सामने शांत-नमित होने का अर्थ यह नहीं था कि भारतीय पराजित मनोभाव से आक्रान्त हो गये थे, और यह कि अपने महत् लक्ष्य को भूलकर अभियान-विरत हो गये थे। तात्कालिक निष्क्रियता उनकी रणनीति का एक सूक्ष्म कौशल था। प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम की आग ब्रिटिश दमन-चक्र की अमानुषिक लीला से बुझी नहीं थी, धूम्राच्छादित हो गयी थी। तथ्य है कि अंग्रेजों की दमन-नीति भारतीयों के जातीय अस्मिता-बोध को पुष्ट-प्रखर करने वाली तीखी चुनौती थी। प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम से गांधी-युग तक का संघर्ष और बलिदान इसी सत्य का प्रमाण है। और प्रमाण यह भी है कि देश के स्वातंत्र्य-संग्राम में राजस्थान पश्चात्पद नहीं था।

उन्नीसवीं शताब्दी के सांस्कृतिक नवजागरण की वैसी उद्दाम और समृद्ध लहर राजस्थान में नहीं दिखाई पड़ती जैसी आधुनिक भारतीय पुनर्जागरण की जन्मभूमि बंगाल में या फिर महादेव गोविन्द रानाडे और लोकमान्य तिलक के प्रदेश महाराष्ट्र के परिदृश्य में, उस काल में, दिखाई पड़ी थी। पर देश की और राजस्थान की नियति का विलक्षण विधान था कि

---

१. विनायक दामोदर सावरकर ने स्वीकार किया है, 'तात्या टोपे और कुंवर सिंह १८५७ के क्रान्तियुद्ध में अग्रसर इन दो सेनापतियों ने युद्ध पंडित के नाते जो काम कर दिखाये हैं उनका तुलनात्मक परीक्षण किया जाय तो कुंवर सिंह को प्रथम स्थान देना पड़ेगा।'-
१८५७ का भारतीय स्वातंत्र्य समर, पृ. ४१८

पुनर्जागरण के दो प्रमुख नायकों-महर्षि दयानन्द सरस्वती और स्वामी विवेकानन्द-का उन्नीसवीं शती में ही राजस्थान में प्रवेश हुआ था। वे उस काल के वे श्रेष्ठ पुरुष थे, जिनका जन्म राजस्थान में नहीं, गुजरात और बंगाल में हुआ था, और उनके महान गुरुओं ने लोक-कल्याण के लिये उन्हें पूरी जागरूकता से रचा था। स्वामी विरजानन्द अपने प्रधान शिष्य को, कोरा मुमुक्षु मानकर, एकान्त साधना के लिये हिमालय की राह दिखा सकते थे, पर उन्होंने राजाओं के प्रदेश राजस्थान को वरीयता देते अपने सक्षम शिष्य को गुरुतर दायित्व सौंपा। कदाचित् उनका विश्वास था कि स्वदेशी शासक राज-धर्म की सही पटरी पर लाये जा सके तो देश का पराधीनता के अभिशाप से उद्धार हो सकता है और भारत की स्वकीयता की रक्षा की जा सकती है। विदेशी दासता का कारण देशी शासकों का अपने गुरुतर दायित्व से विमुख होना ही था। इस प्रतीति के आग्रह से ही स्वामी विरजानन्द ने अपने विचक्षण शिष्य दयानन्दके हृदय में देश-प्रीति की व्याकुलता जगाकर उन्हें लोक-जागरण के लिये राजस्थान की राह पर नियोजित किया था। इसी प्रकार परमहंस रामकृष्ण देव ने अपने पट्ट शिष्य 'नरेन' (स्वामी विवेकानन्द) को लोक-मंगल का महत् प्रयोजन पूरा करने के लिये गहरी वत्सलता से रचा था। इसलिये उस पथ से विवेकानन्द को उन्होंने पूरी जागरूकता से हमेशा दूर रखा, जो निर्विकल्प समाधि का द्वार खोलता है। और समाधि के अलौकिक आस्वाद-भोक्ता स्वामी विवेकानन्द उस अवस्था के लिये तड़पते रहते थे। रामकृष्ण परमहंस अपनी नैसर्गिक कौतुकी शैली में प्राय: कहा करते थे कि उस द्वार पर ताला बंद कर चाभी अपने कब्जे में रख ली है।[१]

गुरु ने शिष्य को समाधि का अद्वितीय आस्वाद चखा कर उसकी सारी ग्रंथियां खोल दी थी, और उस आस्वाद के प्रति एक व्याकुल तृष्णा जगा दी थी, पर दरिद्रनारायण के दुर्भाग्य-मोचन का गुरुतर दायित्व सौंप कर समर्थ शिष्य को महान गुरु ने लोक-पथ से जोड़ दिया था।

गुरु की महासमाधि के बाद स्वामी विविदिशानन्द (परवर्तीकाल में स्वामी विवेकानन्द नाम से ख्यात) देशमाता के समग्र दर्शन और अन्तरंग परिचय के लिये एक सामान्य परिव्राजक के रूप में बंगाल से बाहर निकल पड़े थे और कई पड़ावों से होते हुए राजस्थान के अपरिचित क्षेत्र में पहुंच गये थे। और राजस्थान से ही उन्हें नया नाम (विवेकानन्द) और विदेश-यात्रा का उचित पाथेय उपलब्ध हुआ, जो विश्व धर्म-मंच पर भारतीय अध्यात्म विद्या-वेदान्त की महत्ता प्रतिष्ठित करने का निमित्त बना।[२]

भारत की पुरानी अवधारणा- 'राजा कालस्य कारणम्'- में पुनर्जागरण के उन विशिष्ट नायकों की आस्था थी। उनके विवेक के सामने स्पष्ट था कि देशी राजाओं की प्रशासन-त्रुटि और पुरुषार्थ- दौर्बल्य ही देश की दुर्गति-दासता का एकमात्र कारण है। इसलिये राजाओं के प्रदेश में पहुंच कर उन महात्माओं ने राजाओं से सीधा सम्पर्क किया और उनकी विपथगामी जीवन-चर्या पर तीखी टिप्पणी कर उन्हें स्वत्व-सचेत किया, देश

---

१. द्रष्टव्य : 'माई लाइफ स्टोरी' स्वामी अभेदानन्द पृ. ९५
२. द्रष्टव्य : खेतड़ी-नरेश और विवेकानन्द, पृ. ११.१६

विषयक उनके कर्तव्य का उन्हें बोध कराया।

राजतंत्र के प्रति परिव्राजकों की सुमुखता को कुछ लोग अन्यथा दृष्टि से देख रहे थे। संन्यासी नायकों के प्रच्छन्न लक्ष्य से अपरिचित सामान्यजन की अन्यथा धारणा स्वाभाविक थी। महर्षि दयानन्द गुरु-प्रेरणा मे देश के बड़े प्रयोजन को पूरा करने के एकान्त उद्देश्य से राजस्थान के राजकुल की ओर प्रवृत्त हुए थे। जयपुर नरेश से स्वामी विरजानन्द की सन् १८५९ में आगरा में भेंट हुई थी। देश की अधोगति स्वामीजी की उस समय की प्रधान चिंता थी। महाराजा सवाई रामसिंह को देश की दुर्दशा-मोचन की प्रेरणा देते उन्हें कुछ जरूरी विचार-सूत्र का संकेत दिया था। परवर्ती काल में अपने शिष्य दयानन्द से भी उन्होंने देश-दशा पर गंभीर मंत्रणा की थी। और इतिहास-अध्येताओं का अनुमान है कि राजस्थान के सांस्कृतिक जागरण की प्रेरणा स्वामी विरजानन्द ने अपने प्रधान शिष्य स्वामी दयानन्द को दी थी (द्रष्टव्य : पं. झाबरमल्ल शर्मा अभिनन्दन ग्रंथ, पृ.५७७)। शिक्षा पूरी कर दयानन्द जब गुरु से बिलग हो रहे थे, स्वामी विरजानन्द ने गुरु-दक्षिणा के रूप में उनसे लोक-सेवा की प्रतिश्रुति मांगी थी (द्रष्टव्य हमारा राजस्थान, ले. पृथ्वीसिंह महता विद्यालंकार, पृ. २७०)। और महर्षि दयानन्द सरस्वती अपनी प्रतिश्रुति के प्रति आजीवन सचेत रहे। तथ्य है कि गुरु को दिये गये वचन की रक्षा करते उन्होंने प्राणाहुति तक दे दी। लोक की अन्यथा धारणा के उत्तर में स्वामी विवेकानन्द ने बड़े बल के साथ अपना पक्ष स्पष्ट किया था, ''हजार-हजार दरिद्र लोगों को उपदेश देने और सत्कार्य के अनुष्ठान में तत्पर कराने से जो कार्य होगा, उसकी अपेक्षा एक राजा को इस दिशा में ला सकने पर कितना अधिक कार्य हो जायेगा। निर्धन प्रजा की इच्छा करने पर भी सत्कार्य करने की क्षमता उसके पास कहां? किन्तु राजा के हाथ में सहस्त्रों प्रजाओं के मंगल-विधान की क्षमता पहले से ही है, केवल उसे करने की इच्छा भर नहीं है। वह इच्छा यदि उसके भीतर किसी प्रकार जागरित कर सकूं, तो ऐसा होने पर उसके साथ-साथ उसके अधीन सारी प्रजा की अवस्था बदल सकती है, और इस प्रकार जगत् का कितना अधिक कल्याण हो सकता है'' (द्रष्टव्य: विवेकानन्द साहित्य, दशम खंड, पृ ३२३-२४)।

बड़े प्रयोजन के आग्रह से महर्षि दयानन्द सरस्वती और स्वामी विवेकानन्द राजप्रासाद के निकट पहुंचे थे। उनका मुख्य सरोकार और प्रधान लक्ष्य उस बड़े मानव-समूह का उद्धार और अभ्युत्थान था, जो दीर्घकाल से अवहेलित और यातनाग्रस्त था।[1] राजस्थान से दूर रहते भी स्वामी विवेकानन्द को वहां के दुर्गत समाज की चिन्ता परेशान किये रहती थी, और उनके उद्धार के लिये अपने अन्तरंग लोगों को व्याकुल भाव से प्रेरित करते रहते थे। खेतड़ी में प्रवास कर रहे अपने गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्द को १८९४ में उन्होंने पत्र लिखा था, ''राजपूताने के भिन्न-भिन्न भागों में रहने वाले ठाकुरों में आध्यात्मिकता और

---

१. अमरीका से स्वामी विवेकानन्द ने खेतड़ी नरेश को फोनोग्राफ से प्रेरक संदेह भेजा था, 'अपनी प्रजाओं में विद्या-प्रचार कीजिये, गांव-गांव में पाठशाला खोलिये, रोगियों की चिकित्सा के लिये औषधालय की व्यवस्था कीजिये। प्रजा की उन्नति ही आपकी उन्नति है। इसलिये प्रजाजनों का अपनी संतान की भाँति पालन कीजिये', द्रष्टव्य: खेतड़ी-नरेश और विवेकानन्द ले झाबरमल्ल शर्मा पृ. ८५

परोपकार के भाव जाग्रत करने का प्रयत्न करो। हमें काम करना है और काम आलस्य में बैठे-बैठे नहीं हो सकता।..... खेतड़ी नगर की गरीब और नीच जातियों के घर-घर जाओ और उन्हें धर्म का उपदेश दो। उन्हें भूगोल तथा अन्य इसी प्रकार के विषयों की मौखिक शिक्षा भी दो। निठल्ले बैठे रहने और राजभोग उड़ाने तथा 'हे प्रभु रामकृष्ण' कहने से कोई लाभ नहीं हो सकता, जब तक कि गरीबों का कुछ कल्याण न करो। बीच-बीच में दूसरे गांवों में भी जाकर धर्मोपदेश करो, तथा जीवन-यापन की शिक्षा दो।..... राजपूताने के प्रत्येक गांव में गरीबों और कंगालों के दरवाजे-दरवाजे घूमो। जिस प्रकार का भोजन तुम लोग करते हो, उसमें यदि लोगों को आपत्ति हो, तो उसे तुरन्त त्याग दो। लोक-हित के लिये घास खाना भी अच्छा है। गेरुआ वस्त्र भोग के लिये नहीं है, यह वीर काय का झंडा है। अपने तन मन और वाणी को 'जगद्धिताय' अर्पित करो।....: गरीब, निरक्षर, मूर्ख और दुःखी, इन्हें अपना ईश्वर मानो। इनकी सेवा करना ही धर्म समझो।[१]'' (विवेकानन्द साहित्य, तृतीय खंड, पृ. ३५६-५८)। इसी धर्म से राजशाही को स्वामीजी जोड़ना चाहते थे। राजाओं की सम्पदा-शक्ति को इसी ईश्वर के पूजन में नियोजित करना चाहते थे। अपनी महत् अभीप्सा को रूपायित करने के लिये स्वामी विवेकानन्द जगह-जगह नव अध्यात्म-केंद्र लोक-सेवा प्रतिष्ठान के रूप में स्थापित करने को व्याकुल रहते थे। लंदन से १३ नवम्बर, १८९५ को उन्होंने स्वामी अखंडानन्द को इस सम्बन्ध में पत्र लिख कर गुरुतर दायित्व सौंपा था, ''राजपूताना में एक केंद्र खोलने का विशेष प्रयत्न करना। जयपुर या अजमेर जैसे किसी केंद्रीय स्थान में वह होना चाहिए। इसके बाद अलवर, खेतड़ी आदि शहरों में उसकी शाखाएं स्थापित करना।'' (विवेकानन्द साहित्य चतुर्थ खंड, पृ. ३६०-६१)। अलवर और खेतड़ी से स्वामी विवेकानन्द का अधिक अन्तरंग आत्मीय संबंध था। खेतड़ी नरेश अजीत सिंह को वे अपना मित्र मानते थे। ऐसा अन्तरंग मित्र, जिससे कुछ भी कहते-मांगते संकोच नहीं होता। अपनी आत्मीय भावना को प्रकट करते उन्होंने कश्मीर से १७ सितम्बर,१८९८ को खेतड़ी-नरेश को पत्र लिखा था, 'संसार में मुझे एक ही आदमी के सामने हाथ पसारने में कभी लज्जा का अनुभव नहीं होता और वह आप हैं।[२]' (विवेकानन्द साहित्य, सप्तम खंड, पृ. ३५३)। महाराज अजीत सिंह जी स्वामी जी के स्नेह और विश्वास का मूल्य समझते थे, इसलिये उनको बहुविध तुष्ट करने के लिये सदा उद्यत रहते थे। और उनकी सहयोग-भावना तथा सदाशयता का स्वामी जी ने आत्मीयजन को लिखित पत्रों में जगह-जगह उच्छ्वसित भाषा में उल्लेख किया है, ''कुछ शाल (दुशाला), जरीदार कपड़ा

---

१. स्वामी विवेकानन्द के लोक -कल्याण मूलक धर्म को अपनी साधना का प्रधान आदर्श मानकर स्वामी अखंडानन्द ने अपने को इसी महत् प्रयोजन के प्रति समर्पित कर दिया। (द्रष्टव्य: खेतड़ी- नरेश और विवेकानन्द, पृ. ८८-८९। खेतड़ी नरेश को दरिद्रनारायण के प्रति स्वामी अखंडानन्द ने सम्मानशील बनाया। और गरीब प्रजा से सम्मानपूर्वक मिलने की नयी राज परम्परा खेतड़ी- नरेश अजित सिंह ने स्वामी अखंडानन्द की प्रेरणा से शुरू की। (द्रष्टव्य: खेतड़ी नरेश और विवेकानन्द, पृ. १६)

२. विदेश में वेदान्त की महत्ता उद्घाटित कर स्वदेश लौटने पर देश में जगह- जगह स्वामी जी का अभिनन्दन हुआ था। खेतड़ी के अभिनन्दन का उत्तर देते स्वामी जी ने कहा था, "....What little I have done for the improvement of India, would not hav been done, if Rajaji had not met me." (द्रष्टव्य : खेतड़ी नरेश और विवेकानन्द पृ. 101)

और छोटे-मोटे सामानों का एक बड़ा पैकेट खेतड़ी के राजा के यहां से आयेगा। मैं विभिन्न मित्रों को उन्हें उपहार स्वरूप देना चाहता हूं (कुमारी मेरी हेल को न्यूयार्क से २६ जून १८९५ को लिखित पत्र, विवेकानन्द साहित्य, चतुर्थ खंड, पृ. २९५)। कुमारी मेरी हेल को दूसरे पत्र में उन्होंने लिखा था, ''खेतड़ी से दरी, शाल, जरीदार कपड़े और कुछ छोटी-मोटी चीजों का पुनः एक बड़ा पैकेट आने वाला है।'' (विवेकानन्द साहित्य, चतुर्थ खंड, पृ. ३३३)। खेतड़ी-नरेश के औदार्य से प्रीत होकर स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरुभाई स्वामी ब्रह्मानन्द को अमेरिका से ही पत्र लिखा था, 'खेतड़ी के राजा साहब को दबाने का सामर्थ्य इस पृथ्वी पर किसको है? मां जगदम्बा उनकी सहायक है।''(विवेकानन्द साहित्य, चतुर्थ खंड, पृ. ३१४)। खेतड़ी-नरेश के प्रति यह स्वामी जी की कृतज्ञता-प्रसूत मंगल-कामना थी।

राजस्थान से अपने अन्तरंग सम्पर्क का स्वामी विवेकानन्द ने रचनात्मक उपयोग किया। सामान्य जन में स्वत्व-बोध जगाने की अनेकमुखी प्रचेष्टा नवजागरण की सटीक विधि थी। वेदांत के शिक्षा-केंद्र गतिहीन धर्म-केंद्र नहीं थे। वेदान्त की तलस्पर्शी अभिज्ञता से स्वामी जी ने प्रखर विवेक अर्जित किया था कि 'जो व्यक्ति अपने आप पर विश्वास नहीं करता वह नास्तिक है। अपनी आत्मा की महिमा में विश्वास न करने वाले को ही वेदान्त में नास्तिक कहते हैं' (व्यावहारिक जीवन में वेदान्त, पृ. ७)। इसी नास्तिकता से स्वामी विवेकानन्द का विरोध था। वे भली प्रकार समझ रहे थे कि भारत सत्वगुण की आड़ में धीरे-धीरे तमोगुण के समुद्र में डूब रहा है, 'जहां जन्म भर आलसी वैराग्य के आवरण को अपनी अकर्मण्यता के ऊपर डालना चाहता है, जहां क्रूर कर्म वाले तपस्या आदि का स्वांग करके निष्ठुरता को भी धर्म का अंग बनाते हैं, जहां अपनी कमजोरी के ऊपर किसी की भी दृष्टि नहीं है, किन्तु प्रत्येक मनुष्य दूसरों के ऊपर दोषारोपण करने को तत्पर है, जहां केवल कुछ पुस्तकों को कंठस्थ करना ही ज्ञान है, दूसरों के विचारों पर टिप्पणी करना ही प्रतिभा है, और इन सबसे बढ़ कर केवल पितृपुरुषों का नाम लेने में ही जिसकी महत्ता रहती है, वह देश दिन-पर-दिन तमोगुण में डूब रहा है' (स्वाधीन भारत! जय हो, पृ. २७-२८) इसी सघन तमस से पुनर्जागरण के नायकों-महर्षि दयानन्द सरस्वती और स्वामी विवेकानन्द की तीखी मुठभेड़ थी। उस ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करने के लिये वे तप-तड़प रहे थे, जो तमस को क्षार कर देती है, और तभी मनुष्य स्वत्वसचेत हो पाता है। जन-जागरण की वही समुचित राह थी। अपने अन्तरंग भक्त, पण्ड्या मोहनलाल जी से, देश की श्रीहीन दशा से उद्वेलित होकर, एक दिन महर्षि दयानन्द ने कहा था, 'एक तो मेरा धार्मिक लक्ष्य सार्वजनिक है उसे संकुचित नहीं किया जा सकता, दूसरे भारतवासी लम्बी तान कर ऐसी गहरी नींद में सो रहे हैं कि मीठे शब्दों से तो आँख तक खोलने को समुद्यत नहीं होते। सुधार का तो ये नाम तक नहीं लेते। कुरीतियों और दुर्नीतियों के खण्डन रूप कड़े कोड़े की तड़ातड़ ध्वनि से भी यदि वे जाग जायें तो ईश्वर का कोटि-कोटि धन्यवाद करूंगा।........ पण्ड्याजी! कोई देश जनशून्य नहीं हो जाया करता। लोग तो बने ही रहा करते हैं। परन्तु धर्म-गुरुओं और सामाजिक नेताओं की असावधानी, प्रमाद और आलस्य से भावना, भाव और भाषा आदि एकता के चिह्न बदल जाते हैं। जाति के आचार-विचार परिवर्तित हो जाते हैं। रहन-

सहन के ढंगों में भेद आ जाता है। ठीक ऐसा ही समय अब इस देश पर उपस्थित है। यदि संभाला न गया तो आर्य जाति परिवर्तन के चंचल चक्र पर चढ़कर अतिशय उतावली से अपने पूर्व पवित्र शरीर को परिवर्तित कर डालेगी।..........बन्धु वात्सल्य की भावना, मुझे विपत्तियों के निकट और जटिल जाल में भी समाज-सुधार के लिये प्रोत्साहित कर रही है' (श्री मद्दयानन्द प्रकाश, पृ. ५०७)

उन साधु पुरुषों का राजनीति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था, पर देश की प्राण-नाड़ी और तत्कालीन देश-दशा को वे समुचित विवेक-कोण से देख-समझ रहे थे कि दासताजनित विकृतियों के अभिशाप से देश का पुरुषार्थ शिथिल हो गया था और लोक-मानस निरन्तर धूमायित होता जा रहा था। राजतंत्र की गूढ़ माया को भी वे सही रूप में समझ रहे थे,[१] और राजनीति पर, टिप्पणी करने में भी उन्हें तनिक संकोच नहीं होता था। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' के दूसरे संस्करण के, जिसका संशोधन-परिवर्द्धन उदयपुर प्रवास-काल में ही उन्होंने पूरा किया था, छठवें समुल्लास में महर्षि दयानन्द ने लिखा है, 'कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य है, वह सर्वोत्तम होता है, अथवा पिता माता के समान कृपा न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायी नहीं है।' इतिहास-लेखकों का अनुमान है कि उदयपुर नरेश महाराणा सज्जन सिंह को राज-धर्म के भारतीय आदर्श का बोध कराते स्वामी दयानन्द के मेधा-प्रदेश में यह विचार स्फुरित हुआ होगा। इससे भी खुली भाषा में स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, 'उन्नति की पहली शर्त है स्वाधीनता।' भारतवासियों को संबोधित- प्रेरित करते उन्होंने कहा था, 'मृत्यु का ध्यान करो, प्रलय को अपनी समाधि में देखो, तथा महा भैरव रुद्र को अपनी पूजा से प्रसन्न करो। जो भयानक है, उसकी अर्चना से ही भय बस में आयेगा।..... सम्भव हो तो जीवन को छोड़कर मृत्यु की कामना करो। तलवार की धार पर अपना शरीर लगा दो और रुद्र शिव से एकाकार हो जाओ।' भारतीय राजनीति के ज्येष्ठ लोकनायक लोकमान्य तिलक ने बर्तानिया साम्राज्यशाही को चुनौती देते हुए कहा था, 'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' उससे कम तीखी टिप्पणी पुनर्जागरण के परिव्राजक-नायकों की नहीं थी। उदयपुर-प्रवास के बाद स्वामी दयानन्द राजस्थान के दूसरे राजाओं के संस्कार-उत्थान के लिये विभिन्न राज्यों-रियासतों में भ्रमण करते जोधपुर पहुंचे थे। अपने प्रेरक वक्तव्यों से स्वामीजी ने ठाकुरों- जागीरदारों की जीवन-चर्या को रूपान्तरित कर दिया। पर महाराजा जसवंत सिंह के चारित्रिक स्खलन पर तीखी टिप्पणी करने का स्वामी दयानन्द को आसाधारण मूल्य चुकाना पड़ा। जोधपुर-नरेश को संबोधित स्वामी जी का पत्र उनकी मृत्यु का कारण बना। महाराजा की सबसे बड़ी दुर्बलता पर महर्षि दयानन्द ने शुभ चिन्ता के आवेग में जैसी निर्भीक टिप्पणी की थी,

१. राजाओं में प्रजा हितैषिता का भाव इतना दुर्बल हो गया था और भोग लिप्सा इतनी प्रबल थी कि शासितों को हर दृष्टि से दबाकर रखना चाहते थे। सामान्य जन के अभ्युत्थान को वे अपने विलास-वैभव के लिये खतरनाक बाधा मान रहे थे। इसलिए पाठशाला तक पर राजकीय प्रतिबंध था, द्रष्टव्य:-पं. झाबरमल्ल शर्मा, अभिनन्दन ग्रंथ, पृ. ४६७

वैसा जोखिम भरा साहस उनके जैसा संन्यासी ही दिखा सकता था।[१] वैसी ही ओजस्वी मुद्रा में, अलवर-नरेश के एक अनाकांक्षित और बेतुके प्रश्न के जवाब में, स्वामी विवेकानन्द ने प्रतिप्रश्न किया था, 'महाराज! क्या आप बता सकते हैं कि राज्य कार्य की अवहेलना करके आप अंग्रेजों के साथ शिकार खेलने क्यों डोलते फिरते हैं?' इतनी कड़ी भाषा का प्रयोग केवल वे दरवेश कर सकते थे, जिनका हृदय सबकी खैर की चिन्ता से करुणा-विगलित रहता था अहर्निश। महर्षि दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द मानव जाति के प्रति सहज करुणाशील ऐसे ही संत थे, जिन्होंने देश के बड़े समूह के दुर्भाग्य मोचन के लिये देशी राजाओं को कर्तव्य-सुमुख करने और नवजागरण को आधुनिक संस्कार से प्रबुद्ध करने के लिये उन्नीसवीं शताब्दी में राजस्थान को अपना कार्य क्षेत्र बनाया था।[२] आबू पर्वत के प्रवास-काल में ४ जून १८९१ को खेतड़ी-नरेश से स्वामी विवेकानन्द की भेंट हुई थी। वह संपर्क स्वामीजी के जीवन में नये प्रस्थान का हेतु बना, विश्व में वेदान्त-ज्योति के प्रसार का नया गवाक्ष खुला।[३] और महर्षि दयानन्द सरस्वती वैदिक निष्ठा को वरीयता देते ज्ञान-विज्ञान के प्रति सहज उदार थे। भारत के पौरुष और ज्ञान-धरातल के पुनर्जागरण के लिये उनकी प्रज्ञा व्याकुल थी। इसी चिन्ता से योरोपीय आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की समुचित शिक्षा प्राप्त करने के लिये स्वामी जी ने अपने भक्त कच्छी युवक श्यामजी कृष्ण वर्मा को १८७९ में इंग्लैंड भेजा था, और भारत में आधुनिक शिक्षा की समुचित व्यवस्था के लिये उन्होंने जर्मन विद्वान विस से १८८० में पत्राचार किया था (द्रष्टव्य: हमारा राजस्थान, पृ. २७५-७६)। अपनी नैसर्गिक प्रतिभा और महर्षि दयानन्द सरस्वती के अन्तरंग नैकट्य से अर्जित विद्या-संस्कार ने श्यामजी कृष्ण वर्मा को भारत के आधुनिक विचार-जगत् में शीर्ष

---

१. 'मैं आपके विषय में जब समाचार पत्रों में निंदापूर्ण समाचार पढ़ता हूं तो मुझे हार्दिक वेदना होती है। मेरा विचार है कि यदि आप कोई अनुचित कार्य न करेंगे तो कोई आपके विरुद्ध एक शब्द भी नहीं बोल सकेगा और न हमें विदेशियों के सामने लज्जित होना पड़ेगा। मुझे लगता है कि आपके पितामह किसी वेश्या में रत रहते थे और उनका रनिवास भी बहुत बड़ा था। यदि उन्होंने यह सब नहीं किया होता तो निस्संदेह ये दुर्गुण आप में न आते। यदि ये दुर्गुण आप ने न छोड़े तो आपकी संतान में भी ये सभी दुर्गुण आ सकते हैं, द्रष्टव्य: पंडित झाबरमल्ल शर्मा, अभिनन्दन ग्रंथ, पृ. ५८२

२. अमरीका से खेतड़ी-नरेश को लोक-मंगल की प्रेरणा देते स्वामी विवेकानन्द ने लिखा था, 'अमेरिकन इस बात की कुछ भी परवाह नहीं करते कि भारत के धनहीन लोग मरेंगे वा जियेंगे। जब हमारे देश के आदमी अपने स्वार्थ के साधन की चिन्ता को छोड़कर दूसरे किसी की परवाह नहीं करते तो ये लोग क्यों करने लगे।

'उदार राजन, यह जीवन बहुत अल्प समय का है तथा संसार के आडम्बर क्षणस्थायी हैं, यहां वास्तव में उन्हीं का जीवन है जो दूसरों के लिये जीते हैं, शेष तो जीवित रहने पर भी मृतक के समान हैं।'

'श्रीमन्, आपके समान उन्नत विचार वाले एक ही राजवंशी भारत को अपने पांवों के बल पर फिर खड़ा करने के लिये बहुत कुछ सहायता कर सकते हैं और ऐसा नाम छोड़ जा सकते हैं जिसकी पूजा भविष्य की संतान करेगी,' द्रष्टव्य: खेतड़ी नरेश और विवेकानन्द, पृ. ७९

३. शिकागो से २३जून १८९४ को स्वामी विवेकानन्द ने खेतड़ी नरेश को लिखा था, 'श्रीमान की कृपापूर्ण सहायता से मैं इस देश में आ सका' खेतड़ी-नरेश और विवेकानन्द, पृ. ७४-७९

स्थान दिलाया। राजस्थान के पुनर्जागरण में अपनी बहमुखी कृती भूमिका के लिये वे सांस्कृतिक नायक के रूप में इतिहास द्वारा समादृत हुए। महर्षि दयानन्द के महत् अवदान का एक विशिष्ट प्रमाण श्यामजी कृष्ण वर्मा हैं, जिनके संस्कार-आधार की रचना स्वामीजी ने की थी, और आधुनिक पाश्चात्य ज्ञान को आयत्त करने की प्रेरणा तथा अपेक्षित आनुकूल्य उपलब्ध कराया था। समृद्ध ज्ञान-सम्पदा के स्वामी के रूप में भारत को देखने वाले वेद के प्रकांड पण्डित स्वामी दयानन्द सरस्वती विश्व-मंच पर अपने देश को हर दृष्टि से ऊंचे स्थान पर देखने की अभीप्सा से अशांत और क्रियाशील थे। इसलिये पूरी उदारता के साथ हर दिशा से ज्ञान-प्रकाश अर्जित करने के लिये उन्होंने सारे गवाक्ष खोल कर अपनी प्रगतिशीलता का इतिहास को प्रमाण दिया।

सदियों से जमे कुसंस्कार, अंध विश्वास और भारत के सामान्यजन के मानस में स्वभाव बन कर पैठी विकृति के मोचन के लिये समुचित शिक्षा पहली आवश्यकता थी। महर्षि दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द तथा परवर्ती काल में श्यामजी कृष्ण वर्मा की सांस्कृतिक जागरण-साधना का यही केंद्रीय बिन्दु था। राजस्थान में आधुनिक शिक्षा के नींव-निर्माता वे ही सांस्कृतिक नायक थे, जिनकी विचार-यात्रा समाज-संस्कार की सटीक सरणि से चल रही थी। ऐतिहासिक तथ्य है कि राजस्थान में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की चेतना जगाने में सबसे ऊंची भूमिका महर्षि दयानन्द की थी। गुजरात में जन्मे स्वामी दयानन्द ही राजस्थान और पश्चिमोत्तर भारत के पुनर्जागरण के शीर्ष पुरुष थे। और यह भी नियति की क्रूर लीला इतिहास के पन्नों पर टाँकी गयी कि गुजरात के स्वामी दयानन्द सरस्वती और परवर्ती काल के राजनीति नायक महात्मा गांधी को मानव-मांगल्य की अपनी भूमिका प्राणाहुति के रूप में शेष करनी पड़ी।

जयपुर का महाराजा संस्कृत कालेज प्राच्य विद्या के अध्ययन-अनुशीलन की दृष्टि से देश का प्रख्यात विद्या-केंद्र था, जिससे आधुनिक पुनर्जागरण के प्रदेश बंगाल तक के मनीषी आचार्य सक्रिय रूप में जुड़े थे। पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज जैसे पांक्तेय मनीषी महाराजा संस्कृत कालेज के ही कृती छात्र थे। सांस्कृतिक चैतन्य-जागरण में महाराजा कालेज जैसे विद्यापीठों का महान् अवदान रहा है। इसी प्रकार महामहोपाध्याय पं. गौरी शंकर हीराचंद ओझा जैसे असाधारण मनीषी की विद्या-साधना ने जातीय स्वाभिमान को वैचारिक आयाम से उन्नत और समृद्ध किया था। अपनी प्रखर प्रज्ञा और ऊंचे वैदुष्य से ओझाजी ने राजस्थान की अद्वितीय सांस्कृतिक सम्पदा के उत्खनन-अनुशीलन द्वारा अपने प्रदेश की अल्प परिचित समृद्धि की जगत् को सटीक अभिज्ञता दी थी, और प्रकारान्तर से राजस्थान में विद्या-स्पृहा और संस्कृति-प्रेरणा जगायी थी। विधायक परिणाम था कि विद्या-व्रतियों और विरासत-रक्षकों-उन्नायकों का एक बड़ा वर्ग इस दिशा में पूरी निष्ठा से प्रवृत्त हो गया। राजस्थान और देश के दूसरे स्थानों से संस्कृति-प्रधान शोध-पत्रिकाओं का प्रकाशन उसी प्रेरणा का विधायक परिणाम था।

पत्रकारिता के आदि पर्व की विवृत्ति

जोधपुर नरेश को लिखित महर्षि दयानन्द के पत्र से स्पष्ट है कि उस समय राजस्थान से पत्रिकायें छपने लग गयी थीं, और राजतंत्र के स्खलन पर टिप्पणी भी प्रकाशित होने लगी थी। स्वामी दयानन्द ने जोधपुर नरेश महाराजा जसवंत सिंह को सम्बोधित करते लिखा था, 'मैं आपके विषय में जब समाचार पत्रों में निन्दापूर्ण समाचार पढ़ता हूं तो मुझे हार्दिक वेदना होती है।' जाहिर है कि समाचार पत्रों का प्रकाशन ही नहीं शुरू हुआ था, बल्कि पत्र अपने दायित्व और उद्देश्य के प्रति सचेत हो चले थे, तभी राजा के चरित्र दोष पर टिप्पणी करने में सकुचाते नहीं थे। स्वयं स्वामी दयानन्द सरस्वती और स्वामी विवेकानन्द पत्र-पत्रिकाओं के महत्व को समझते थे, इसलिये नवजागरण की वैचारिक ऊष्मा के व्यापक प्रसार के लिये पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का बल पूर्वक आग्रह करते थे। स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तिगत पत्रों में यह आग्रह बार-बार व्यक्त हुआ है और महर्षि दयानन्द की प्रेरणा से अजमेर तथा दूसरे स्थानों से कई पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ था। परवर्ती काल में 'आर्यसमाज' के रचनात्मक कार्यक्रम में पत्रिका-प्रकाशन-कार्य सम्मिलित किया गया था।[1] राजा-रजवाड़े भी पत्रकारिता की शक्ति से अपरिचित नहीं थे। पत्रकारिता विषयक राजस्थानी उद्योग के आरम्भिक काल में राजाओं की भूमिका उल्लेखनीय है। ध्यातव्य यह तथ्य है कि जातीय अस्मिता के जागरण में जिन पत्रिकाओं की अग्रणी भूमिका थी, उन्हें भी राजस्थान का राजन्य-कुल आर्थिक सहयोग देता था। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने कलकत्ता से १८७९ में प्रकाशित तेजस्वी पत्रिका 'सारसुधानिधि' के संदर्भ में लिखा है कि 'जयपुराधीश महाराणा सज्जन सिंह ने उस पर प्रसन्न होकर पारितोषिक देकर उसका आदर बढ़ाया था,' (द्रष्टव्यः गुप्त निबन्धावली, पृ. ३३४) 'सार सुधानिधि' का प्रकाशन जब आर्थिक कठिनाई के कारण दो सप्ताह के लिये स्थगित हो गया था तो पूरे देश के जागरूक समाज में बड़ी तेज प्रतिक्रिया हुई थी। भारत की जातीय अभीप्सा का अद्वितीय प्रवक्ता था कलकत्ते का हिन्दी साप्ताहिक 'सार सुधा निधि'। उसकी आर्थिक कठिनाई की सूचना पाते ही जयपुर- नरेश ने १७ जनवरी १८८० को लम्बे पत्र के साथ तीन सौ रुपये की सहयोग-राशि भेजकर प्रकाशन सम्बन्धी व्यावहारिक बाधा दूर की थी। जयपुर नरेश के निजी सचिव द्वारा प्रेषित पत्र सम्पादक सदानन्द मिश्र ने कृतज्ञतापूर्वक 'सारसुधानिधि' वर्ष-२, के अंक ४ में प्रकाशित किया था (द्रष्टव्यः हिन्दी पत्रकारिता, पृ. १४३-४४)। हिन्दी पत्रकारिता की यात्रा को क्रियाशील बनाये रखने के लिये राजस्थान के राजाओं ने आदि-काल में सहयोग ही नहीं दिया स्वयं पत्र-प्रकाशन में रुचि दिखाई। पर राज-घरानों के पत्रों का उद्देश्य स्वार्थ-केंद्रित था। इतना ही नहीं पत्रकारिता की विप्लवी प्रवृत्ति से परिचित राज-कुल निरंकुश सत्ता के प्रतिपक्षी मंच के रूप में पत्रकारिता को खुला प्रोत्साहन देने को तैयार नहीं था। 'दारूड़ी-मारूड़ी' (सुरा-सुन्दरी) के मादक रंग में राजाओं-जागीरदारों की अंध संसक्ति के लिये अपने वैभव-विलास में किसी प्रकार का हस्तक्षेप सह्य नहीं था। अक्षर की शक्ति के प्रति तो वे इतने सशंकित-आतंकित रहते थे कि सामान्यजन के मंगल-

१. विशेष जानकारी के लिये द्रष्टव्यः-आर्य समाज के पत्र और पत्रकार-ले. डा. भवानीलाल भारतीय

अनुष्ठान के अवसर पर छपने वाले निमंत्रण-पत्र पर भी सजग नजर रखते थे। इसलिये अंग्रेज-शासित अजमेर ही पत्रकारिता की आरंभिक यात्रा के लिये अनुकूल स्थान था, (द्रष्टव्य: श्री भंवर सुराणा का निबंध, पं. झाबरमल्ल शर्मा अभिनन्दन ग्रंथ, पृ. ४६७)। और अजमेर महर्षि दयानन्द सरस्वती का प्रमुख कर्म-क्षेत्र था, जहां से स्वामीजी की प्रेरणा से 'परोपकारी' और 'अनाथ रक्षक' का प्रकाशन हुआ था। परवर्तीकाल में आर्य-समाज के तत्त्वावधान में अजमेर और दूसरे स्थानों से कई स्तरीय पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित हुईं, जिनका एकांत लक्ष्य पुनर्जागरण की चेतना जातीय स्वत्वभाव का जागरण, समाज-संस्कार और जन-जागृति की वैचारिक आबोहवा रचना था।[१]

विपरीत इसके राज्याश्रित पत्रों का लक्ष्य, जो राजकीय गजट और इश्तहार के रूप में प्रकाशित होते थे, रियासतों की नीति, शासन विषयक सूचनायें और राजाओं के कार्य-व्यापार का अतिरंजित प्रचार था। पहला अपवाद था मेवाड़ नरेश महाराणा सज्जनसिंह के औदार्य-प्रेरित 'सज्जनकीर्ति सुधाकर'[२] का उदयपुर से १८७९ में प्रकाशन। वह प्रथम

---

१. विस्तृत विवरण के लिये द्रष्टव्य- आर्य समाज के पत्र और पत्रकार- ले. डा. भवानी लाल भारतीय

२. (क) उदयपुर-नरेश महाराणा सज्जन सिंह के उद्योग से सन् 1879 में प्रकाशित 'सज्जनकीर्ति सुधाकर' शुद्ध हिन्दी में प्रकाशित साप्ताहिक पत्रिका थी, जिसके उद्योक्ता का मनोरथ बहुत ऊंचा था, जो पत्रिका में संस्कृत श्लोक में प्रकाशित हुआ था.

श्लोका:

चित्ते यस्य सदैव लोक सुखदं विद्यागुणोद्वर्द्धकम्।
कृत्यं मानुष तोष पोषण करं संराजते नीतित॥
मद्देशेन जनागुणेन विमुखा दुष्टा न दुष्कर्म्मिण:।
पीयूषांशु धरेहशस्य महत: कार्यस्य सिद्धि करु॥ १॥
मद्देशस्थजना: सुनीतिनिपुणा विद्योपदिष्टा: सुता।
सर्वे स्वीय सुकर्मधर्मनिरता विद्यागुणोत्कर्षका:॥
नाना शिक्षक शिक्षितोषपठिता: शिक्षागृहद्धारत:।
चन्द्रार्द्धाङ्कितशेखरेदृश बृहत् कार्यस्य पूर्ति कुरु॥ २॥
मदीया मही सर्वधान्याभियुक्ता फलै: कन्दशाकैस्सुपण्यै: प्रपूर्णा।
जलाधारवापीड़ागादितीरे पुरग्रामपल्ली निवासोपरम्या॥ ३॥

'सज्जनकीर्ति सुधाकर' जैसी उस काल की विशिष्ट पत्रिका के भाषा-स्खलन और स्तर-च्युति से खिन्न होकर 'भारतमित्र'- संपादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने शुभाग्रह से टिप्पणी की थी. 'उदयपुर में विद्वान रहते हैं, विद्यानुरागी रहते हैं। वहां एक अच्छी लाइब्रेरी है। उसमें विद्या सम्बन्धी बहुत कुछ सामान है। उसका प्रबंध एक बड़े योग्य पुरुष के हाथ में है, जिसने ऐतिहासिक बातों का पता लगाने में बड़ा नाम पाया है। उसका नाम पण्डित गौरीशंकरजी है। जानी मुकुन्दलालजी हिन्दी के एक पुराने लेखक वहीं मौजूद हैं। रामनारायणजी दूगड़, फतेहसिंहजी मेहता, जोधसिंहजी मेहता जैसे उत्साही हिन्दी के प्रेमी और सुलेखक वहां मौजूद हैं। ऐसे-ऐसे लोगों के होते उदयपुर का एक मात्र अखबार ऐसी दशा में क्यों निकलता है? जो अखबार स्वयं धीर वीर श्री महाराणा साहब की आज्ञा से निकलता है, उसकी ऐसी गिरी हुई दशा क्यों है? वहां का पत्र तो ऐसा होना चाहिए था कि लोग उसके एक-एक अक्षर को पढ़ते और उसके हर नये नम्बर के लिये टकटकी लगाये रहते। क्या हमें सज्जनकीर्ति-सुधाकर की उन्नति की कुछ आशा करना चाहिये,' बालमुकुन्द गुप्त-गुप्त निबन्धावली, पृ. ३७२

महत्त्वपूर्ण रियासती उपक्रम था, जिसमें इतिहास के उज्ज्वल आयाम का परिचय और सामाजिक विषयों पर केंद्रित टिप्पणियां तथा निबंध प्रकाशित होते थे। राजकीय संदर्भ में और पत्रकारिता सम्बन्धी राजस्थानी उद्योग में 'सज्जन कीर्ति सुधाकर' का प्रकाशन एक नया प्रस्थान था। पत्रकारिता के इतिहास-अध्येताओं ने १८८२ में अजमेर से प्रकाशित 'राजपूताना गजट' के प्रकाशन को राजस्थान की पत्रकारिता के संदर्भ में, एक महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में स्वीकार किया है। महत्त्वपूर्ण घटना इसलिये कि पत्रकारिता में जन-सुमुखता और जन-हितैषिता की चिन्ता को पहली बार केंद्रीय स्थान मिला। और वह एक शुरुआत थी, जो परवर्ती काल में समृद्धतर होती गयी और राजतंत्र तथा प्रशासनमूलक अनाचार-स्वेच्छाचार के प्रतिपक्ष में जन-आंदोलन का हेतु बनी। 'राजपूताना गजट' के चरित्र में हिन्दी पत्रकारिता की आदि प्रतिज्ञा[1] का बोध मुखर था। जन-पक्षधरता और जुझारू चरित्र के रूप में राजस्थानी सम्पादकों में कदाचित् आदि पुरुष थे मौलवी मुराद अली 'बीमार'। उस काल को देखते उनकी टिप्पणियां निःसंदेह निरापद नहीं थीं। और तथ्य है कि अपने सत्याग्रही और निर्भीक तेवर के चलते उन्हें राजसत्ता का कोपभाजन बनना पड़ा था, सम्पादकीय भूमिका के प्रति सच्ची निष्ठा के चलते राज-दंड भोगना पड़ा था।

शौर्य-ख्यात राजस्थान की धरती की प्राण-नाड़ी धार्मिक आस्था से पुष्ट है। राजा, योद्धा, वणिक समुदाय, विद्या-कुल के कृती पुरुष, श्रीमंत वर्ग और आम आदमी की प्रकृति में धर्म-भीरुता मुखर रहती है। धार्मिक आस्था के विभिन्न मंचों-प्रतिष्ठानों से उस काल में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ और वह परम्परा आज भी समृद्ध रूप में जीवित है।[2] 'आर्य समाज' और महर्षि दयानन्द सरस्वती की प्रगतिशील वैदिक विचारधारा सनातन धर्म में आस्थाशील मानस के लिये नयी थी। उसके सम्यक् प्रसार और प्रतिष्ठा के लिये पत्र-पत्रिकाओं का माध्यम सर्वाधिक प्रभावी माध्यम था। इस क्षेत्र में स्वामीजी ने अपने विचक्षण अनुयायियों को प्रेरित किया था। स्वामीजी की प्रेरणा का ही विधायक परिणाम था 'राजस्थान समाचार' का प्रकाशन अजमेर से १८८९ में मनीषी समर्थदान जी

(ख) पं. अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने अपनी पुस्तक में 'सज्जन कीर्ति सुधाकर' के बारे में लिखा है, 'कलकत्ते के बाहर 'सज्जनकीर्ति सुधाकर' के सिवा कोई अच्छा साप्ताहिक पत्र नहीं निकला। जो निकले, सब मासिक थे और इनमें भी कोई बड़ा नामी नहीं हुआ,' समाचार पत्रों का इतिहास, पृ. १७१

(ग) बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'सज्जनकीर्ति सुधाकर' पर टिप्पणी करते लिखा है, 'उन दिनों वह वैसा ही पत्र था जैसा बाबू हरिश्चन्द्रजी का 'कवि वचन सुधा' पत्र था,' - गुप्त निबंधावली, पृ. ३६६

'श्रीनाथद्वारे में एक लेखक मंडली थी। उसमें पण्डित दामोदर शास्त्री, पण्डित मोहनलालजी विष्णुलालजी पंड्या और लाला रामप्रसादजी अग्रवाल आदि कई सज्जन शामिल थे। यह लोग अच्छे अच्छे लेखों से 'सज्जनकीर्ति सुधाकर' की बहुत कुछ सहायता करते थे.' गुप्त निबंधावली, ३७२।

१. ३० मई १८२६ को प्रकाशित 'उदन्त मार्तण्ड' की प्रथम सम्पादकीय टिप्पणी में पं. युगल किशोर शुक्ल ने पत्रिका-प्रकाशन की प्रेरणा और उद्देश्य को स्पष्ट करते हिन्दी भाषी समाज की हित-चिन्ता बतायी थी, 'यह उदन्त मार्तण्ड अब पहले पहल हिन्दुस्तानियों के हित के हेत.... यह नया ठाठ ठाटा।'

२. राजस्थान में नवजागरण के प्रधान नायक महर्षि दयानन्द सरस्वती थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक और बीसवीं शती के आरंभिक दशक में आर्य समाज के आदर्श से अनुप्रेरित पत्रिकाओं की ही संख्या अधिक थी।

के उद्योग से प्रकाशित राजस्थान समाचार महर्षि दयानन्द के विचार का प्रमुख प्रवक्ता था, जिसमें राजनीतिक विषयों पर केन्द्रित लेख, देश-दशा पर केन्द्रित समीक्षात्मक टिप्पणियां और रियासती समाचार छपते थे। सही अर्थ में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की सद्यः प्रज्वलित ऊष्मा को समृद्ध करने वाला रचनात्मक उपक्रम था मनीषी समर्थदानजी का उद्योग। और इतिहास 'राजस्थान समाचार' के प्रकाशन को हिन्दी पत्रकारिता की महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में रेखांकित करता है। सन् १९१२ में 'राजस्थान समाचार' दैनिक समाचार पत्र के रूप में प्रकाशित होने लगा। राजस्थान की जन-जागृति में उसकी कृती भूमिका को इतिहास ने स्वीकार किया है। पर बाबू बालमुकुन्द ने 'भारत मित्र' में हिन्दी पत्रकारिता का इतिवृत्त लिखते 'राजस्थान समाचार' के कई अभाव की ओर इशारा किया है। भाषा विषयक प्रयोग पर भी कटाक्ष किया है और यह भी सूचना दी है कि 'अब उक्त पत्र कोई दो साल से आर्य-समाजी नहीं जाहिर करता वरंच पुरानी चाल का हिन्दू बताने की चेष्टा करता है। आर्य समाजियों की तरफदारी के लेख भी उसमें नहीं निकलते, वरंच कभी-कभी पुरानी हिन्दू-धर्म की तरफदारी की एक दो बात उसमें निकल जाती है। उसका यह परिवर्तन भारतधर्म महामंडल के परिवर्तन के साथ हुआ है। बाबा ज्ञानानन्द ने समर्थदानजी को फिर से उनके पुराने मत पर ला दिया।' ध्यातव्य है बालमुकुन्द गुप्त की धार्मिक आस्था वल्लभ सम्प्रदाय से जुड़ी थी। अन्ततः गुप्तजी ने 'राजस्थान समाचार' की एक बड़ी उपलब्धि को रेखांकित करते लिखा है, 'राजस्थान समाचार' ने निकल कर रजवाड़ों में हिन्दी का प्रचार करने की चेष्टा की है और वहां के लोगों में समाचार-पत्र पढ़ने की रुचि बढ़ाई है। यह बहुत ही साधु उद्देश्य है (द्रष्टव्यः गुप्त निबंधावली, पृ. ३५८-३६०)। गुप्तजी ने 'राजस्थान समाचार' की साहसहीनता की ओर भी इशारा किया था, जिस पर टिप्पणी करते पं. अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है, 'छोटी जगहों में पुलिस और जिला अफसरों की नादिरशाही से बचना किसी के लिये संभव नहीं है।.... मुफसिल के तो कोतवाल के अधिकार बड़े लाट से भी अधिक होते थे।....... कानून-वानून सम्पादक की सहायता नहीं कर सकता था', (समाचार-पत्रों का इतिहास, पृ. २०७)

सन् १८८३ में नाथ द्वारा से वल्लभकुल सम्प्रदाय की मासिक पत्रिका 'सद्धर्म स्मारक सद्धर्म प्रचारक' का प्रकाशन, वैष्णव धर्म-सिद्धांत के प्रचार के उद्देश्य से हुआ था। इसी प्रकार १८९१ में अजमेर से 'जैन प्रभाकर' का प्रकाशन हुआ था। अजमेर से ही १८९५ में भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा से साप्ताहिक पत्रिका-'जैन गजट' का प्रकाशन हुआ था। परवर्ती काल में जैन धर्म की विभिन्न शाखाओं के विचार-प्रचार तथा जैन धर्म की प्रतिष्ठा के उद्देश्य से राजस्थान तथा देश के दूसरे स्थानों से अनेक पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ।

उस काल की राजस्थानी उद्योग स प्रकाशित होने वाली साहित्यिक पत्रिका के रूप में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेरणा से पं. मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या के सम्पादन में नाथ द्वारा से १८८१ में प्रकाशित 'विद्यार्थी सम्मिलित हरिश्चन्द्र चन्द्रिका और मोहन चन्द्रिका' को आदि प्रयत्न माना जाता है।[1]

१. परिशिष्ट में इसकी एक छाया-छवि दी गयी है।

बूंदी से १८९० में पाक्षिक पत्रिका 'सर्वहित' उस काल की महत्त्वपूर्ण पत्रिका थी। पं. लज्जाराम शर्मा और पं. रामप्रताप शर्मा के कुशल सम्पादन में लगभग चौदह वर्षों तक इसका प्रकाशन होता रहा। विविध प्रकार की सामग्री और विचार-परिवेशन की दृष्टि से राजस्थान की पत्रकारिता के इतिहास में 'सर्वहित' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पं लज्जाराम शर्मा जैसे विचक्षण पुरुष की सम्पादन-दक्षता से वंचित होने के बाद 'सर्वहित' की यात्रा स्थगित हो गयी। सर्वजन के हितैषी- प्रवक्ता की यात्रा का अस्त होना एक दुर्घटना थी।

पर पं लज्जारामजी की सम्पादन-दक्षता से हिन्दी पत्रकारिता वंचित नहीं हुई, और उनकी विचक्षण शक्ति का लाभ राजस्थानी उद्योग को भरपूर मिलता रहा। बूंदी के 'सर्वहित' से वियुक्त होकर पं लज्जाराम शर्मा बम्बई के 'वेंकटेश्वर समाचार' के सम्पादन-दायित्व से जुड़ गये। पत्रकारिता के क्षेत्र में राजस्थान के बाहर राजस्थानियों द्वारा जो उद्योग हुए उनमें पहला महत्त्वपूर्ण प्रयत्न था बम्बई मे सन् १८९६ में साप्ताहिक पत्रिका 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' का प्रकाशन।

राजस्थान मे दूर बम्बई से उन्नीसवीं शताब्दी में 'वेंकटेश्वर समाचार' का प्रकाशन देशव्यापी राजस्थानी उद्योग का प्रथम चरण था। सम्भावनापूर्ण घड़ी में 'वेंकटेश्वर समाचार' की प्रकाशन-यात्रा शुरू हुई थी कि पं अमृतलाल चक्रवर्ती, पं. लज्जाराम मेहता और पं. रुद्रदत्त शर्मा' जैसे उस काल के पांक्तेय हिन्दी सम्पादकों की सम्पादन दक्षता ने उसके राष्ट्रीय चरित्र को इतना प्राण-पुष्ट कर दिया कि हिन्दी पत्रकारिता के द्वितीय चरण के विशिष्ट पत्र के रूप में इतिहास उसके अवदान को रेखांकित करता है। पत्रकारिता के माध्यम से भाषा साहित्य से जुड़े प्रश्नों पर जो वैचारिक विवाद उस काल में हुए उनमें 'वेंकटेश्वर समाचार' की भूमिका सम्पादकीय जागरूकता और विचक्षणता का प्रमाण है। और उसके राष्ट्रीय चरित्र का परिचायक भी।

चुरू (राजस्थान) के अति सामान्य वणिक कुल में जन्मे खेमराज बजाज व्यावसायिक महत्वाकांक्षा से, सारी व्यावहारिक बाधाओं को अपनी धार्मिक आस्था और नैसर्गिक जीवट से दरेरा देकर, वाणिज्य के प्रमुख केंद्र बम्बई पहुंचे थे। और पुश्तैनी पेशा न होते हुए, धन कमाने की साध से उन्होंने मुद्रण का काम शुरू किया था। 'श्रीवेंकटेश्वर प्रेस' का आरंभ ऐसे शुभ मुहूर्त में हुआ था कि उसके माध्यम से उद्योक्ता की धन की साध ही केवल नहीं पूरी हुई, भारतीय धर्म-संस्कृति पर केन्द्रित पुराने ग्रंथों के पुनर्प्रकाशन का श्रेय भी खेमराज बजाज को मिला। सस्ते मूल्य पर मूल्यवान पुस्तकें प्रकाशित कर 'श्रीवेंकटेश्वर प्रेस' ने उस विधायक पथ की रचना की, जो हनुमान प्रसाद पोद्दार और 'गीता प्रेस' के आयोजन द्वारा परवर्ती काल में समृद्धतर हुआ। प्रकारान्तर से, उद्देश्य-केन्द्रित न होते हुए भी, धर्म प्राण खेमराज बजाज के कृती उद्योग से भारतीय-पुनर्जागरण का ही महत्त्वपूर्ण कार्य काफी अंश तक सम्पन्न हुआ। उस आयोजन से बड़े हिन्दी समाज में भारत के

१ हिन्दी के महान संपादक और हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास लेखक, पं अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने अपने इतिहास ग्रथ में लिखा है, 'ऐसा कोई नामी पत्र नहीं हुआ जिसका संपादन रुद्रदत्तजी ने न किया हो, समाचार पत्रों का इतिहास, पृ १४३'

स्वकीय उज्ज्वल आयाम की अभिज्ञता और पढ़ने की रुचि सहज ही विकसित हुई। अपने साधु चरित्र और अनेक सुखी रचनात्मक आयोजन के लिये खेमराज बजाज, हनुमानप्रसाद पोद्दार की तरह बड़े समाज द्वारा सम्मानित पुरुष थे।[१]

'श्री वेंकटेश्वर' के उद्योक्ता सेठ खेमराज बजाज अल्प शिक्षा के बावजूद विचक्षण और गुणज्ञ व्यक्ति थे। पण्डितों और दक्ष सम्पादकों की प्रखर परख-दृष्टि का उन्हें भरपूर लाभ मिला, प्रकाशन-व्यवसाय में भी और अपने पत्र-'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' को विशिष्ट स्तर पर पहुंचाने में भी। व्यवसाय-वाणिज्य के साथ ही राजस्थान के वणिक-वर्ग की गहरी रुचि समाज-सेवा मूलक कार्यों में रही है, इस तथ्य का उत्तम प्रमाण 'श्री वेंकटेश्वर प्रेस' के उद्योक्ता सेठ खेमराज बजाज का कृतित्व है। व्यावसायिक प्रयोजन से राजस्थान के वणिक-समाज के लोग जिस किसी प्रदेश में गये, उनकी समाज-संसक्ति और समाज-सेवा का नैसर्गिक संस्कार कमजोर नहीं हुआ, और अपनी निजता तथा स्वकीय पहचान को अक्षत रखने के प्रति भी वे सचेत रहे। यही कारण है कि राजस्थान से दूर अपने प्रवास-क्षेत्र से राजस्थानी साहित्य-संस्कृति के संरक्षण सम्वर्द्धन के उद्देश्य से शोध-संस्थान की स्थापना और शोध पत्रिकाओं का प्रकाशन उन्होंने किया। कलकत्ता जैसे सुदूर स्थान से ऐसे महत्त्वपूर्ण रचनात्मक कार्य पूर्व स्वातंत्र्य-काल में हुए हैं।

कलकत्ता आधुनिक सांस्कृतिक पुनर्जागरण का शहर और देश का प्रमुख वाणिज्य-केंद्र है। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी में यहां के वाणिज्य-जगत् पर खत्री समाज का वर्चस्व था, पर राजस्थानी व्यवसायी भी बहुसंख्या में कलकत्ता में पैर रोप चुके थे। मारवाड़ी गद्दियों का प्रताप उन्नत हो चला था और समाज-सेवा की सक्रियता उन में जागने लगी थी।

हिन्दी पत्रकारिता की जन्मभूमि कलकत्ता से उत्तर उन्नीसवीं शताब्दी में भारत मित्र (१८७८) और उचित वक्ता (१८८०) जैसे तेजस्वी पत्रों के प्रकाशन से कलकत्ता सम्पूर्ण हिन्दी-संसार में शीर्ष चर्चा और सम्मान का केंद्र बन गया था। अपनी जड़ से जुड़ी मारवाड़ी संवेदना स्वकीय पहचान के प्रति अतिशय जागरूक थी। मारवाड़ी टोपी-पगड़ी की पहचान न कमजोर हो, जातीय निजता अक्षत रहे और राजस्थानी शील का पानी विजातीय प्रभाव से प्रदूषित न हो, राजस्थानी उपक्रम के मूल में यह प्रधान चिन्ता थी। पत्रकारिता विषयक राजस्थानी उद्योग भी इसी चिन्ता से अनुशासित था। शोध-पत्रिकाओं के प्रकाशन का भी यह एक विशेष उद्देश्य था। बीसवीं शताब्दी में इस प्रयोजन से अनेक पत्रिकायें प्रकाशित हुईं। इसी चिन्ता से अनुप्रेरित होकर राधाकृष्ण टीबड़ेवाल ने सन् १८९० में कलकत्ता से पाक्षिक पत्र 'मारवाड़ी गजट' प्रकाशित किया था।[२] हिन्दी पत्रकारिता के तत्कालीन विकसित स्तर को देखते वह एक सामान्य पत्रिका थी, और 'उचित वक्ता

---

१. द्रष्टव्य: वेंकटेश्वर समाचार, हीरक जयंती अंक

२. इसके उद्योक्ता राधाकृष्ण टीबड़ेवाला के सम्बन्ध में पं. अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है, 'जिस समय मारवाड़ियों का इस ओर कोई ध्यान नहीं था, उस समय वे मारवाड़ी समाज की उन्नति का उद्योग किया करते थे। उनको इस काम में समाज के धनी वर्ग से विशेष सहायता भी नहीं मिली,' समाचार पत्रों का इतिहास, पृ. २३५

प्रेस' से छपने वाली उस पत्रिका का भाषा-स्तर बहुत कमजोर था। इसका कारण एकमात्र यह था कि किसी सुयोग्य सम्पादक का सम्पादन-स्पर्श इस पत्रिका को उपलब्ध नहीं था अन्यथा कलकत्ता से ही १८७९ में प्रकाशित 'सारसुधानिधि' की भाषा उस काल की उन्नत भाषा थी, और जिस प्रेस से वह पत्रिका छपती थी उसकी पत्रिका 'उचितवक्ता' की भाषा का परिष्कृत रूप 'मारवाड़ी गजट' के उद्योक्ता के सामने था। पर 'मारवाड़ी गजट' को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि भाषा के पक्ष को अपेक्षित गुरुता न देकर उद्योक्ता राधाकृष्ण टीबड़ेवाला ने इसे समाज-हित-चिन्ता के एक खास बिन्दु पर केन्द्रित कर दिया था। उस पत्रिका में राष्ट्रीय महत्त्व के समाचार जब-तब जरूर छपते थे, पर मुख्य चिन्ता राजस्थानी समाज तक ही सीमित थी। पत्र का आदर्श शीर्ष पर छपता था: 'श्री समाज उत्तम करण विद्या बल विस्तार। जासे सुख सम्पत लहे अन्तहोय भवपार।' २५ जुलाई १८९७ के प्रमुख लेख का शीर्षक है 'भारत की भावी उन्नति कैसे हो सकती है?' भारत के समृद्ध अतीत और दीर्घकालीन पराधीनता जनित अवनति का संकेत करते, उन्नति के जो सूत्र इस लेख में सुझाये गये हैं उनमें विद्या को- आध्यात्मिक विद्या, सामाजिक विद्या, भौतिक विद्या को- ही वरीयता दी गयी है। नवजागरण की चेतना का स्पर्श इस लेख में मुखर है। उस काल का व्यवसायी वर्ग विद्या की आधुनिक सरणियों के प्रति जागरूक हो चला था, कई अंकों में प्रकाशित उक्त विस्तृत लेख से यह भी स्पष्ट संकेत मिलता है।

'मारवाड़ी गजट' की स्वतंत्र सोच-दृष्टि थी। देश के अभ्युत्थान के प्रश्न पर विस्तार से विचार करते सम्पादकीय वक्तव्य (८ अगस्त, सन् १८९७ ईस्वी) में एक सूत्र-संकेत है, 'अपने स्वार्थ के कारण सैकड़ों तरीके मनमाने मत चलाये; परस्पर सहानुभूति के स्थान पर ईर्षा और द्वेष का प्रचार भारत में दिनों-दिन बढ़ता गया, जिसका विषम परिणाम भारत के निवासी भोग रहे हैं। वर्तमान समय में आध्यात्मिकता की उन्नति के लिये कई एक समाज स्थापित हुए हैं उनमें से तीन मुख्य हैं, प्रथम धर्म समाज वा हरिसभा, द्वितीय आर्य समाज, तृतीय ब्राह्म समाज। परन्तु इन तीनों समाज में परस्पर इतनी द्वेष दृष्टि है जिसके कारण हम ऐसी आशा नहीं कर सकते कि, इनसे भारतव्यापी उपकार हो सके, जब तक यह तीन एकत्रित होकर किसी एक नियम के अधीन होकर धर्म्म प्रचार न करेंगे तब तक सम्पूर्ण आध्यात्मिक उन्नति का होना असम्भव है।' विभिन्न धर्म-मतों के आपसी संघर्ष को सम्पादक ने 'महाभारत के उद्योग पर्व का अभिनय' कहते टिप्पणी की है, 'जिनके चित्त में ललकार फटकार का अभिमान है, वह क्या आध्यात्मिक विद्या की आलोचना करेंगे और उनसे देशोन्नति की आशा भी क्या हो सकती है? महर्षि दयानन्द सरस्वती से केशवचन्द्र सेन के घर मिलकर और उनकी शास्त्र ज्ञान-क्षमता तथा तर्क-शैली को करीब से देखकर ऐसी ही उद्भावना श्री रामकृष्ण परमहंस ने की थी। स्मरणीय है कि कलकत्ता के मारवाड़ी समाज का धार्मिक संस्कार दक्षिणेश्वर के परमहंस के प्रति सुमुख हो चला था। लक्ष्मीनारायण

मारवाड़ी की, श्रीरामकृष्ण के प्रति असाधारण भक्ति का विवरण परमहंस-प्रसंग पर केन्द्रित साहित्य में अंकित है।[१]

परमहंस रामकृष्ण मल्लिक स्ट्रीट में मारवाड़ियों के धार्मिक अनुष्ठान-अन्नकूट महोत्सव में सहज उत्साह के साथ सम्मिलित हुए थे और वहां की धार्मिक सुरभि के स्पर्श से महाभाव में प्रवेश कर गये थे। समाधि-उत्तीर्ण होकर सामान्य धरातल से ठाकुर ने उच्छ्वसित कंठ से मारवाड़ियों की गहरी और पुष्ट धर्म-निष्ठा की प्रशंसा की थी, द्रष्टव्य: श्रीरामकृष्ण वचनामृत, द्वितीय भाग, पृ. ५२१ से ५२२।[१] मगर धर्म की पटरी एक शती में कितनी कमजोर हुई है और अपनी स्वकीय पहचान से मारवाड़ी समाज, उन्नति और विकास के नाम पर, कितना दूर चला गया है, और इस समाज के प्रति प्रबुद्ध समाज की अन्यथा धारणा क्यों इतनी उग्र हो उठी है, उनके द्वारा आयोजित धार्मिक अनुष्ठान में भी व्यावसायिक मनोभाव का आरोपण क्यों किया जाता रहा है, ये ज्वलन्त प्रश्न मारवाड़ी समाज के हितैपी के विचार-विवेचन का विषय है।

'मारवाड़ी गजट' जैसे वर्ग-सम्पृक्त पत्र विजातीय प्रदूषण के प्रति संवेदनशील थे, जागरूक प्रहरी की भूमिका की मारवाड़ी समाज की निजी गुण-सम्पदा क्षीण न हो विजातीय प्रभाव से ३० सितम्बर १८९८ की संपादकीय टिप्पणी का शीर्षक है- 'सामाजिक धृष्टता।' मारवाड़ी समाज की पुरातन जीवन-शैली और शिष्टाचार में गिरावट को लक्ष्य कर

---

१. (क) द्रष्टव्य: SRI SARADA DEVI : THE GREAT WONDER, P. 421
(ख) परमहंस देव के निजी प्रयोजन में व्यय करने के लिये लक्ष्मीनारायण मारवाड़ी ने दस हजार रुपये श्रद्धया देने की विनीत प्रार्थना ठाकुर से की थी, जिसे उन्होंने अस्वीकार करते कहा था, 'तुम्हें अगर ऐसी बातें करनी हों तो यहां फिर कभी न आना।' श्रीरामकृष्ण वचनामृत, द्वितीय भाग, पृ. ४०७
अपनी लोक लीला के उपसंहार काल में श्री रामकृष्ण को विशेष प्रसंग में अपने उस मारवाड़ी भक्त की याद आई थी। काशीपुर प्रवास-काल में जन व्यवस्थापकों ने ठाकुर के भक्त-सेवकों की संख्या कम करने का निर्णय लिया व्यर्थ भार को कम करने के लिये, तो क्षुब्ध होकर परमहंसदेव ने कहा था, 'अब मैं यहां किसी की दया पर नहीं रहूंगा।.... बड़ाबाजार के मारवाड़ी सज्जन को बुलाओ। एक दिन वह मारवाड़ी मेरे लिये बड़ी धन- राशि दे रहा दे था, जिसे मैंने स्वीकार नहीं किया था।' फिर खीझते हुए कहा, 'छोड़ो, किसी से याचना करने की जरूरत नहीं है' द्रष्टव्य : My life Story - Swami Abhedanada, p. 97
१. अन्नकूट पर्व के उपसंहार में श्री रामकृष्ण परमहंस ने अपने लीला- सहचरों को संबोधित कर कहा था, 'परन्तु मारवाड़ियों में कैसी भक्ति है देखी? यथार्थ ही इनमें हिन्दूभाव है। यही सनातन धर्म है।...........' हिन्दूधर्म ही सनातन धर्म है। आज कल जो सब सम्प्रदाय देख रहे हो, यह सब उनकी इच्छा से होकर फिर मिट जायेंगे। इसीलिये मैं कहता हूं, आधुनिक जो सब भक्त है, उनके भी चरणों में प्रणाम है। हिन्दू धर्म पहले से है और सदा रहेगा। -श्री रामकृष्ण वचनामृत, द्वितीय भाग, पृ. ५२१-२२

लिखी गयी टिप्पणी की कुछ पंक्तियां उस काल के संस्कारी मारवाड़ी मनोभाव को समझने के लिये द्रष्टव्य हैं, 'समाज का शासन नहीं रहने से लोग मन माना सो पंथ, दिल चाहे सो बातचित, चाहा सो कर्तव्य, मन मानी मो रीति चलाते और बर्ताव करते हैं। जहां तक देखा जाता है कलकत्ते में आतमपन्थ बढ़ता ही जाता है क्यों के कहने सुनने वाला नहीं और न किमको किसी का डर और न लिहाज अर्थात समाज का बंधन शिथिल है इस कारण से हमारे समाज में ऐमी २ अनहोनी गजब घटना सुनने में आती है जिस मामाजिक बंधन के प्रभाव मे आज यही जानी मारे भारत के प्रत्येक गांव वा नगरी में एक प्रकार रंग ढंग से नगानगी भरी हुई दिखाई देती है मब समाजों के अग्रणीय हो गयी है। परमेश्वर की कृपा से इतना विम्तार होने से भी एक ही मूत में बंधी हुई है उस समाज में दुषित बातों का प्रवेश होना महा हानिकारक है देखिये महानुभूति हमलोगों का परम धर्म्म है जात बिरादरी के दुख मुख में शामिल होने के लिये हमारे पूर्व पुरुषों की बराबर आज्ञा है।' समाज द्वारा एक नाई के शव की उपेक्षा से उन्मथिन होकर लिखी गयी वह टिप्पणी ममाज-धर्म को प्रेरित करने के उद्देश्य मे लिखी गयी थी, और मुसलमान समाज के भाई और चारे की भावना का हवाला देते हिन्दू ममाज में अन्तर्वैयक्तिक मम्बन्ध को पुष्ट करने का 'मारवाड़ी गजट' ने आग्रह किया था। वर्ग बिरादरी को केंद्र में रखकर समाज में संस्कार-जागरण का आग्रह 'मारवाड़ी गजट' की प्रत्येक टिप्पणी में दिखाई पड़ता है। इस दृष्टि से २८ नवम्बर १८९७ की सम्पादकीय टिप्पणी अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जिसमें विद्या आयोजन और समाज सेवा मूलक उपक्रम के लिये मारवाड़ी ममाज के अर्थ ममर्थ लोगों को 'मारवाड़ी गजट' ने प्रेरित करते लिखा था, ''हमलोग ऐसी हीनता को क्यों नहीं दूर कर अपने समाज में परस्पर के द्वेष हिंसा को तिलांजली देकर विद्या का प्रचार करते? यदि आप लोग किन्चितमात्र भी इस तरफ दृष्टि करेंगे तो कार्य फलीभूत हो मकता है। देखिये, बाग बागीचाओं में लाखों रुपये को असबाब में खर्च करते हैं। लिवास, मकान आदि की भड़क भी खूब करते हैं, परन्तु दो अक्षर पढ़ने लिखने की बात होती है तो कहते है कि, हम कुछ भी नहीं पढे और लिखे, तो आप समझिये कि ऐसी अवस्था में क्या शोभा प्राप्त होती है! हमलोग यदि इस विषय में कुछ कहें तो भला बुरा मान बैठते हैं, इसलिये हमारी समाज में जब तक विद्या का गौरव नहीं ममझेंगे तब तक हमलोगों की प्राकृत उन्नती होना असम्भव है। मान लिया हमलोग व्यापार में हिम्मत बांध ... उन्नती की है परन्तु तिम पर भी विद्या सर्वोपरि है।'

'यदि हमारी मारवाड़ी समाज में पढ़ने लिखने का प्रचार हो जाय तो सोना सुगन्ध होकर मारी दुनिया में भी गुनवान और ईज्जत के हकदार हो जाय परन्तु सोच इस बात का है कि,

विद्या गुण को पूछते तक नहीं।......... यदि हमारे पंचलोग, प्रधान-प्रधान लोग, बड़े लोग, धनी लोग एक मन होकर अपने-अपने पुरुषार्थ से जहां तक हो सके चेष्टा करें, और अपने समाज को साधारण दृष्टि से अवलोकन करें, और कुछ-कुछ कमेटी सभा से पाठशाला स्थापित करें और कु-रीति निवारण का प्रबंध करें तो सदा सर्वदा के लिये यश के भागी होंगे और अपने भाई बंधुओं में मंगल औ बालकों के विद्या प्रचार से भावी सुख के मुख्य कारण होंगे। भाइयो! सब हमारा तुम्हारा यहां ही धरा रह जावेगा, कुछ संग नहीं जावेगा। जो कुछ समय पर अपनी समाज में विद्या फैला जाओगे अच्छा कर जाओगे सो ही तुम्हारी सच्ची कीर्ति रहेगी।" इसी आशय की मार्मिक और मारवाड़ी बिरादरी के लिये प्रेरक टिप्पणी २ जनवरी १८९८ ई० के 'मारवाड़ी गजट' में प्रकाशित हुई थी। उक्त सम्पादकीय टिप्पणी का उपसंहार करते सम्पादक ने विलास- भोग और वैभव-प्रदर्शन में व्यय करने वाली धन-राशि को विद्या आयोजन और दूसरे रचनात्मक कामों में नियोजित करने का आग्रह किया था,........... "विद्या की उन्नति करो, समाज की उन्नति करो, जिस में तुम्हारी सच्ची और अक्षय कीर्ति बढ़े, देश देशान्तरों में उच्च सज्जन समाज में नाम हो, विद्या को छोड़ क्यों अपने घोर कलंक रूप पाप में फँसकर तथा अर्थ, तन औ मान को सत्यानाश में मिलाते हैं? ऐसी प्रेरक टिप्पणियों का विधायक परिणाम परवर्ती काल में दिखाई पड़ा। स्मरणीय है, हिन्दी समाज का कलकत्ता में पहला विद्यालय श्री विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय मारवाड़ी समाज के उद्योग[1] से सन् १९०१ में स्थापित हुआ। स्मरणीय तथ्य यह भी है कि बीसवीं शताब्दी में राजस्थान के वैश्य समाज के कृती पुरुषों ने विद्या- प्रचार के लिये बहुमुखी आयोजन—पाठशाला से विश्वविद्यालय तक की स्थापना— किये,[2] और

१. श्री मत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ विशुद्धानन्द सरस्वती जी के स्मारक में उन्हीं के नाम से बड़ा बाजार स्थित राजस्थानी वैश्यों ने एक स्वतंत्र विद्यालय की स्थापना १९०१ की १९ सितम्बर को इस उद्देश्य से की, कि 'सनातन धर्म का प्रतिपालन, संस्कृत का अध्यापन, हिन्दी की उन्नति और अंग्रेजी शिक्षा प्रदान करने की सुविधा भी नियमित रखी जाय,' द्रष्टव्य: श्री रामदेव चोखानी, पृ. ५८-५९

२. हीरालाल शास्त्री का वनस्थली विद्यापीठ और घनश्यामदास बिड़ला द्वारा स्थापित पिलानी का विश्वविद्यालय (बी. आई. टी. एस.) राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के विद्यालय हैं। समाज-सेवा और शिक्षा के क्षेत्र में रामदेव चोखानी तथा उनके पिता दौलतराम चोखानी और भागीरथ कानोड़िया, सीताराम सेकसरिया जैसे कृती पुरुषों ने बीसवीं सदी में महत्वपूर्ण कार्य किया। स्त्री शिक्षा और विद्याविहीन अविकसित जन-जातियों के विद्या-संस्कार के अभ्युत्थान के लिये भागीरथ कानोड़िया और सीताराम सेकसरिया का उद्योग श्लाघनीय है। शेखावाटी की जाट बिरादरी को विद्या सुमुख करने का श्रेय भागीरथ कानोड़िया को है। उसी रचनात्मक उद्योग का परिणाम है कि जाट समाज आज विद्या-विशिष्ट पुरुषों से सम्पन्न है।

स्वीकृत तथ्य है कि राजस्थानी ब्राह्मण और वैश्य कुल ने ही नहीं, जाटकुल की प्रतिभा ने विद्या के क्षेत्र में कीर्तिमान रचा। 'मारवाड़ी गजट' के सम्पादक ने इसी टिप्पणी (२९ नवम्बर १८९७) में चुरू निवासी राय भगवानदास जी बागला के समाज-सुमुख औदार्य की श्लाघा सहित चर्चा करते, मारवाड़ी समाज के समर्थ श्रीमंतों को समाज-सेवा के लिये बड़े बल के साथ प्रेरित किया था कि श्री बागला के आदर्श को समृद्धतर करने हेतु मारवाड़ी समाज क्रियाशील हो।''

'मारवाड़ी गजट' की दृष्टि वर्ग-बिरादरी के साथ ही देश के स्वाभिमान और अस्मिता से जुड़ी महत्त्वपूर्ण देशी-विदेशी घटनाओं के प्रति भी सजग-संवेदनशील थी। उसी संवेदना मे प्रेरित एक टिप्पणी ८ अगस्त, १८९७ ई. के 'मारवाड़ी गजट' में प्रकाशित हुई थी- ''आनरेबिल मिस्टर बाल गंगाधर तिलक का राजद्रोहता पर पकड़ा जाना और महा विपत।' १४ नवम्बर सन् १८९७ ई. के 'मारवाड़ी गजट' में एक समाचार-टिप्पणी 'श्रीयुक्त राजा साहेब खेतड़ी' शीर्षक मे प्रकाशित हुई है। इस टिप्पणी की कुछ पंक्तियां, 'मारवाड़ी गजट'-उद्योक्ता के मनोभाव-संस्कार को समझने के लिये द्रष्टव्य हैं, ''राजा साहेब की बिलायत यात्रा एक बड़ी भारी हिम्मत का काम हुआ है। मारवाड़ के हिन्दू रजवाड़ों का बिलायत जाना उन्नति के मार्ग को खोलना है, और ज्यादे खुशी इस बात की है कि राजा साहब को श्री महाराणी ने मान-मर्यादा के सहित सोने का मेंडल दिया और विन्डसोर नामक महल में निमंत्रण कर सम्मान किया।''

''अत्यन्त हर्ष है, क्योंकि शेखावाटी प्रान्त की उन्नति का प्रथम परिचय है।........समस्त भारतवर्ष राजा साहब का ऋणी है। कारण श्रीमान विवेकानन्द सरस्वती जी से जो कुछ हिन्दू धर्म की उन्नति और महिमा बिलायती देशों में हुई है सो इन्हीं के उद्योग से हुई है।'' आज से एक शताब्दी पूर्व धर्म भीरु मारवाड़ी वणिक का बिलायत-यात्रा को 'उन्नति के मार्ग को खोलना' मानना प्रगतिशीलता का और नवजागरण-स्पर्श का ही परिचायक है।[१] स्मरणीय है कि बीसवीं शती के दूसरे दशक तक विदेश से शिक्षा-प्राप्त कर लौटे मारवाड़ी वणिक कुल के युवकों को, कूपमंडूकता और धर्मान्धता के आग्रह से, समाज के सामने प्रायश्चित्त करने को बाध्य किया जाता था। वैसे प्रकाशहीन मारवाड़ी वैश्य समाज में परवर्ती काल में ऐसे विद्या-रत्न हुए, जिन्होंने अपने विद्या-व्यक्तित्व से देश का मान उन्नत किया, और दुनिया के देशों को अपनी विचक्षणता और प्रतिभा का प्रमाण दिया।

---

१. उस काल में कलकत्ता के मारवाड़ी समाज में ऐसे पुराणपंथी और यशकामी व्यक्ति थे, जो विदेश यात्रा को धार्मिक अपराध मानकर स्वामी विवेकानन्द के बहिष्कार के आग्रही थे, द्रष्टव्य: My life-story-swami abhedananda p. 177

उत्तर उन्नीसवीं शताब्दी के परिदृश्य के सर्वेक्षण से स्पष्ट धारणा बनती है कि राजस्थानी मानस-भूमि में नवजागरण का बीज-वपन हो गया था, जो विद्या-व्यापार और संस्कृति की विभिन्न सरणियों में पल्लवित होने लगा था, और बीसवीं शताब्दी में अपेक्षित रूप में पुष्पित-फलित हुआ। रचनात्मक आयोजन का नींव-निर्माण हो गया था, जो परवर्ती काल में विकट प्रत्यूहों से जूझते कायदे से रूपायित हुआ और राजस्थान के कृती पुरुषों की समाज-सेवामूलक भूमिका को देश के इतिहास में श्लाघा के साथ टाँका गया। पत्रकारिता, समाज-संस्कार और देश सेवा की ही एक प्रभावी और महत्वपूर्ण सरणि थी। इस सरणि के प्रति भी राजस्थानी अभिरुचि और रचनात्मक उद्योग उन्नीसवीं शताब्दी में क्रियाशील हो गया था, जो समृद्धतर हुआ बीसवीं शताब्दी में।

तिलक युग का जातीय परिदृश्य: स्वदेशी अभीप्सा-जागरण की भित्ति

भारत में बीसवीं शताब्दी का जन्म सांस्कृतिक पुनर्जागरण की चेतना-कुक्षि से हुआ था। स्वत्व-सजगता और जातीय चैत्य-जागरण की अभीप्सा पुनर्जागरण की ही पहचान थी। स्वदेशी का आग्रह जातीय मानस-मनीषा के नवजागरण का ही ज्वलंत लक्षण था।

भारत के संदर्भ में बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में पूरी ऊष्मा के साथ क्रियाशील स्वदेशा आन्दोलन स्वातंत्र्य- स्पृहा की उदग्र अभिव्यक्ति थी। यद्यपि स्वदेशी चेतना का बीज--वपन उन्नीसवीं शताब्दी के सांस्कृतिक नायकों ने विभिन्न क्षेत्रों में पूरी जागरूकता से कर दिया था, और उसके सम्यक् रूपायन की सम्भावना के प्रति पूर्ण आश्वस्त थे। बंगाल का 'हिन्दू मेला' जिसके प्रमुख उद्योक्ता शिवनाथ शास्त्री और राजनारायण बोस थे, तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'तदीय समाज' की मूल प्रतिज्ञा थी स्वदेशी चेतना का जागरण। 'हिन्दू मेला' और 'तदीय समाज' स्वदेशी के प्रेरणा-मंच थे। और वह जातीय जागरण की प्रेरणा उस काल की पत्र- पत्रिकाओं में मुखर थी। कलकत्ते से प्रकाशित 'सार सुधा निधि' (१८७९) और 'उचितवक्ता' (१८८०) का देश-प्रीति का आग्रह जागृत जातीय स्वाभिमान का ही आग्रह है। २५ जून १८८१ के 'उचितवक्ता' के सम्पादकीय वक्तव्य का शीर्षक है- 'देशी वस्तु क्यों नहीं प्रसन्न आती ?' उक्त सम्पादकीय टिप्पणी में देशी राजा-महाराजा और बिगड़े रईसों की विदेशी वस्तु-प्रियता की कटु आलोचना और निन्दा करते पं. दुर्गाप्रसाद मिश्र ने स्वदेशी वस्तु को बहुमान और अपेक्षित प्रवर्द्धन देने का आग्रह-अनुरोध किया है। देश की दरिद्रता के कारणों पर भी 'उचितवक्ता'- सम्पादक ने गम्भीरता से विचार किया था, और बड़े बल के साथ १९ जनवरी १८९५ के सम्पादकीय लेख में समाधान-सुझाव दिया था, ".... देशी वस्तुओं का देश में आदर की आवश्यकता है। यदि देशवासी विशेष कर बाबू लोग देशी-वस्तुओं का समाकार करने लग जायं और बिलायती कल की बनी सस्ती वस्तु की प्रतियोगिता में देशी [illegible] की बनी वस्तुओं को बर्ताव में लाने लग जायें तो अनायास देश की हीन दशा का परिवर्तन हो सकता है। विदेशी वस्तुओं के बर्ताव से देश के शिल्पी (कारीगर) लोग निकम्मे होते जाते हैं और बिलायती वस्तुओं के पलटे में देश का धन विदेश ढोया जाता है और भारतवर्ष की दरिद्रता का मूल कारण यही है।" यही बोध-भित्ति थी स्वदेशी आंदोलन की और गांधी जी के स्वराज्य-आंदोलन की।

वाइसराय कर्जन के कुकृत्यों और दमन-नीति की पराकाष्ठा थी बंग-भंग की साम्राज्यशाही साजिश। इस दुष्कांड की तीखी प्रतिक्रिया पूरे देश में नाना प्रतिवादी रूपों में दिखाई पड़ी। स्वदेशी आन्दोलन का प्रधान और तात्कालिक कारण बंग-भंग ही था, पर वह कोरी राजनीतिक प्रतिक्रिया नहीं, बल्कि विकसित जातीय बोध का प्रमाण था। इसी प्रकार विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार और सत्याग्रह के सिद्धान्त की क्रियान्विति कोई आकस्मिक घटना नहीं, बल्कि राष्ट्रीय आंदोलन का नया प्रस्थान था।

७ अगस्त १९०५ ई. को कलकत्ते के टाउनहाल में ऐतिहासिक सभा हुई थी, जिसमें

हजारों व्यक्तियों ने विदेशी–बहिष्कार और स्वदेशी–प्रचार की शपथ ली थी, और 'वन्देमातरम्' का मंत्रवत् उच्चारण किया था। उस प्रसंग की चर्चा करते डा. राजेन्द्रप्रसाद ने अपनी आत्मकथा में लिखा है, "७ अगस्त, १९०५ की बड़ी सभा में, जिसमें विदेशी वस्तुओं का बायकाट और स्वदेशी के प्रचार का निश्चय हुआ, मैं शरीक था। उसमें बहुत उत्साह था। लोगों ने व्रत लिया कि स्वदेशी का ही वे व्यवहार करेंगे।"...... आन्दोलन खूब जोरों से चला। प्रायः प्रतिदिन कहीं- न-कहीं सार्वजनिक सभायें होतीं। हम सब जाते। कहीं सुरेन्द्र बाबू, कहीं विपिनचन्द्र पाल, कहीं ए. चौधुरी, कहीं अरविन्द घोष के भाषण होते।.... बड़ों की तो मुझे खबर नहीं, पर विद्यार्थियों में नया जोश और नया उत्साह पैदा हो गया।[1]

स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों का 'वन्देमातरम्' युद्ध–नाद बन गया था। देश–भक्ति की नयी धारणा मूर्त्त हुई– "स्वदेश माता है, स्वदेश भगवान है, यही वेदान्त शिक्षान्तर्गत महती शिक्षा जातीय अभ्युत्थान का बीज है।"[2] उक्त धारणा को स्पष्ट करते स्वदेशी आंदोलन के प्रमुख नायक श्री अरविन्द ने अपनी पत्नी के नाम लिखे पत्र में लिखा था, "अन्य लोग स्वदेश को एक जड़ पदार्थ, कुछ मैदान, खेत, वन, पर्वत नदी भर समझते हैं, मैं स्वदेश को मां मानता हूं। उसकी छाती पर बैठकर यदि कोई राक्षस रक्तपान करने के लिये उद्यत हो तो लड़का क्या करता है? निश्चिंत होकर भोजन करने, स्त्री-पुरुष के साथ आमोद–प्रमोद करने के लिये बैठ जाता है या मां का उद्धार करने के लिये दौड़ पड़ता है? मैं जानता हूं कि इस पतित जाति का उद्धार करने का बल मेरे अन्दर है, शारीरिक बल नहीं, तलवार या बन्दूक लेकर मैं युद्ध करने नहीं जा रहा हूं, ज्ञान का बल है। क्षात्र तेज एक मात्र तेज नहीं है, ब्राह्मतेज भी है, वह तेज ज्ञान के ऊपर प्रतिष्ठित होता है।"[3] स्वदेशी आंदोलन की यही भावात्मक और वैचारिक पीठिका थी। ज्ञानाश्रित जिस ब्राह्मतेज की बात श्री अरविन्द ने लिखी थी, वह ब्राह्मतेज लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय, विपिनचन्द्रपाल, ब्रह्मबान्धव उपाध्याय और अरविन्द घोष की जीवन–चर्या में दीप्त था। और उसी जातीय अभीप्सा-आलोक के प्रवक्ता थे 'मराठा', 'केसरी' 'वन्दे मातरम्', 'संध्या', 'पंजाबी' और बालमुकुन्द गुप्त के सम्पादन में निकलने वाला 'भारत मित्र'।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दो दशक के भारतीय राजनीतिक परिदृश्य के सर्वमान्य नायक लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक थे, जिन्होंने निर्भीक स्वर में घोषणा की थी कि स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। तिलक का धवल चरित्र, असाधारण वैदुष्य और प्रखर लेखनी उनके व्यक्तित्व का ऐसा विरल ब्राह्मतेज था, जो नाना विधाओं में अभिव्यक्त होकर अंग्रेजी हुकूमत के सामने कठोर चुनौती रचता रहता था। दुनिया के इतिहास का यह त्रासद तथ्य है कि लोकमान्य तिलक जैसे मनीषी की देश–भक्ति को राजद्रोह का अक्षम्य अपराध घोषित कर बिलायती साम्राज्यशाही ने उन्हें मांडले जेल में बंद कर कठोरतम

---

१. डॉ. राजेन्द्र प्रसाद- आत्मकथा, पृ. ५३
२. श्री अरविन्द--धर्म और जातीयता, पृ. ८४
३. श्री अरविन्द--श्री अरविन्द के पत्र पत्नी के नाम, पृ. १२

कारावास-यातना दी थी। पर तिलक का चरित्र विचलित होने वाला नहीं था। गीता के अनासक्ति योग को उन्होंने अपने चरित्र में उतार लिया था, केवल पाण्डित्य-प्रदर्शन उनकी प्रकृति के प्रतिकूल था, वे गीता-भाव में ही जीते थे। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है पुत्र-शोक जैसे असह्य संताप को प्राकृतिक विधान मान कर नियति की लीला को सहज रूप में स्वीकार करना, और मांडले जेल की यातना झेलते श्रेष्ठ साहित्य की रचना कर असाधारण पण्डित्य का प्रमाण देना। कारावास-दंड का निर्णय सुनकर पूरी दृढ़ता के साथ तिलक ने कहा था, 'जूरी के इस फैसले के बावजूद मैं कहता हूं कि मैं निरपराध हूं। संसार में ऐसी बड़ी शक्तियां भी हैं जो सारे जगत का व्यवहार चलाती हैं और सम्भव है ईश्वरीय इच्छा यही हो कि जो कार्य मुझे प्रिय है वह मेरे आजाद रहने की अपेक्षा मेरे कष्ट सहन से अधिक फूले-फले।[१]'

तिलक की नेतृत्व-शक्ति का उल्लेख करते श्री अरविन्द ने लिखा है कि सभी वर्गों के लोगों को अपने निर्देशन द्वारा संगठित करने की उनमें क्षमता थी। वे शिक्षितों के ही नेता नहीं थे बल्कि व्यापारियों, उद्योगपतियों, ग्रामीणों और किसानों के नेता थे— जनता के नेता थे। सम्पूर्ण महाराष्ट्र उनके लेख और वक्तृता के मर्म को समझता था और अपने अनुकूल आचरण द्वारा उनके कार्यों का सक्रिय समर्थन देने को सम्पूर्ण महाराष्ट्र सदैव उद्यत रहता था। स्वदेशी आंदोलन के जमाने में उनकी लोकतांत्रिक नेतृत्व-शक्ति एक व्यापक परिवेश में दिखाई पड़ी।[२]

तिलक का व्यक्तित्व बहुआयामी था। वे कोरे राजपुरुष नहीं थे। उच्च कोटि के मनीषी और महान सम्पादक थे। स्वाभाविक था कि उस शलाका पुरुष का प्रभाव उस काल की राजनीति ही नहीं, समग्र विचार-जगत् पर था। उस काल की पत्रकारिता के प्रतिमान के रूप में उनकी सम्पादन-नीति और कला को भारतीय पत्रकारों ने स्वीकार किया था, और उन्हीं की राह को सजातीय पंथा मान कर चल रहे थे। उस काल के अग्रणी पत्रकारों के आदर्श लोकमान्य तिलक थे, और स्वराज्य-प्राप्ति एकमात्र लक्ष्य था, जिसे तिलक ने 'जन्मसिद्ध अधिकार' कहा था। कलकत्ते से प्रकाशित 'नृसिंह' के उद्योक्ता संपादक पं. अम्बिका प्रसाद वाजपेयी की राजनीतिक समझ बहुत प्रखर थी, और तिलक की तरह ही देश-भक्ति की ज्वाला उनके हृदय में धधकती रहती थी। 'नृसिंह' राजनीतिक पत्रिका थी। तिलक युग के भारत की एकमात्र राजनीतिक क्षुधा स्वराज्य थी। 'स्वराज्य की आवश्यकता' का बलपूर्वक आग्रह करते 'नृसिंह' के चौथे अंक में सम्पादक ने लिखा था, ''स्वराज्य की आवश्यकता भारतवासियों को इसलिये है कि विदेशी सरकार उनके अभाव-अभियोगों को समझने में असमर्थ है। यदि आज यहां स्वराज्य होता, तो लाखों हिन्दुस्थानी दुर्भिक्ष के कारण दाने-दाने को तरस कर प्राण न गंवाते।.... स्वराज्य के अभाव से ही प्रतिवर्ष ४५ करोड़ रुपये इस दरिद्र देश से इंगलैण्ड चले जाते हैं। और इसके बदले भारत में एक कानी

---

१. *कांग्रेस का इतिहास, भाग-१, पृ. ८३-८४*

२. *Sri Aurobindo-Bankim, Tilak-Dayananda, p-24*

कौड़ी तक नहीं आती।........ जिस प्रकार रोगी को औषधि की, भूखे को अन्न की और दरिद्र को धन की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार भारत को स्वराज्य की आवश्यकता है। भारतवासियों के लिये दो ही मार्ग हैं। चाहे वे स्वराज्य लाभ कर अपना मनुष्यत्व बनाये रक्खें अथवा जंगली मनुष्यों की भाँति पशुओं की श्रेणी में सम्मिलित हो जायं। दोनों बातें भारतवासियों के अधीन हैं।'' 'नृसिंह'-संपादक पं. अम्बिका प्रसाद वाजपेयी की यह टिप्पणी तिलक-युग की पत्रिकारिता की प्रकृति को समझने के लिये पर्याप्त है। इसी अंक में सम्पादक ने देशवासियों का आह्वान करते लिखा था, ''आओ, समस्त देशवासियो! हमलोग उपनिवेश और उसके पिट्ठू इंगलैण्ड की वस्तुओं का बहिष्कार करें, जिससे उन्हें जान पड़े कि हिन्दुस्तानी मुर्दे नहीं हैं। हमलोग दिखा दें कि हम आत्माभिमानी हैं और तुम्हें तुम्हारे पाप कर्मो का फल चखाने को बद्धपरिकर हैं।'' इसी उदग्र मुद्रा में 'भारत मित्र'-संपादक बाबू बाल मुकुन्द गुप्त, जो राजस्थान के प्रतिवेशी गांव के रहने वाले थे, राजधानी कलकत्ता में बैठकर वाइसराय कर्जन के नृशंस साम्राज्यशाही मिजाज और कुकृत्यों पर 'भारतमित्र' के माध्यम से तीखा प्रहार कर रहे थे। बंगाल से १९०५ में उत्थित स्वदेशी आन्दोलन को प्रखर तेवर से पुष्ट करने वाले हिन्दी पत्रकार तिलक पंथी थे।

स्वदेशी आंदोलन की आंच राजस्थान में यथा समय पहुंच गयी थी। सन् १९०२ में जयपुर से प्रकाशित साहित्यिक-मासिक पत्रिका 'समालोचक' तक में स्वदेशी आंदोलन की चर्चा होने लगी थी। फरवरी १९०५ के 'समालोचक' की पंक्तियां द्रष्टव्य हैं, ''बंगदेश में कोलाहल के साथ-साथ स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार का आंदोलन फैलता जा रहा है। गांव-गांव में सभा होती है। स्वदेशी आंदोलन देश भर में व्याप्त होना चाहिये। बंगाली पंडितों ने शास्त्रों में से स्वदेशी वस्तुओं के श्लोक खोजने आरम्भ किये हैं।''' 'समालोचक' में प्रकाशित समीक्षा और रचना में देश-बोध का आग्रह मुखर है। जातीय स्वाभिमान को साहित्यिक टिप्पणियों के माध्यम से जागृत करना 'समालोचक' का प्रमुख लक्ष्य था। राष्ट्र-प्रीति से अनुप्राणित रचनाओं को ही 'समालोचक' वरीयता देता था।

'समालोचक' के सम्बन्ध में अध्येताओं के बीच दो विवाद हैं। एक तो इसके प्रकाशन-काल को लेकर और दूसरा सम्पादक के विषय में। पं. अम्बिका प्रसाद वाजपेयी की धारणा के मुताबिक 'समालोचक' पं. चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' के सम्पादन में १९०१ में जयपुर से प्रकाशित हुआ था। इसी धारणा को सटीक मानते अधिकांश लोगों ने 'समालोचक' पर विचार किया है। किन्तु डा. मनोहर प्रभाकर ने अपने अनुसंधान के आधार पर इस धारणा का निरास किया है। 'समालोचक' के सम्पादन के साथ पंडित चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' का नाम इस तरह जुड़ा हुआ था कि वे एक दूसरे के पर्याय हो गये। 'समालोचक' के प्रवेशांक के अनुसार इसके सम्पादक गहमर निवासी बाबू गोपाल राय गहमरी थे और प्रथम वर्ष में इसका सम्पादकीय कार्यालय भी गहमर (गाजीपुर) में ही था। गुलेरी जी की रचनायें इस पत्र में दूसरे वर्ष से प्रकाशित होनी आरम्भ हुईं और इसका सम्पादकीय दायित्व जयपुर में जवाहरलाल जैन वैद्य वहन करने लगे। सितम्बर १९०४ के अंक में स्वयं गुलेरीजी ने इस

बात का खंडन किया है कि वे पत्र के संपादक हैं। किन्तु वस्तुस्थिति यह थी कि गुलेरीजी ही इस पत्र के संबल और पूर्णतः इसके सम्पादन से सम्बद्ध थे।

''द्विवेदी युग के वयोवृद्ध पत्रकार पंडित झाबरमल्ल शर्मा के व्यक्तिगत संग्रह में इस पत्र की पूरी फाइल सुरक्षित है, जिसे देखने मे पता लगता है कि इसका प्रकाशन काल 1902-1906 था।''[१]

हिन्दी पत्रकारिता की जन्मभूमि कलकत्ता से स्वदेशी आंदोलन-काल (1907) में प्रकाशित 'मारवाड़ी बंधु' रूडमल गोएनका के उद्योग का सुफल था, जिसका संपादन पं. दुर्गाप्रसाद मिश्र करते थे, पर सम्पादक के रूप में उनका नाम वैसे ही नहीं छपता था जैसे 'समालोचक'- संपादक के रूप में गुलेरी जी का नाम 'समालोचक' के साथ नहीं छपता था।

बाबू रूडमल गोएनका विद्या और विद्वानों के प्रति सम्मानशील थे। विद्या के प्रति वैसा अनुराग उस काल में राजस्थानी वैश्यकुल में विरल था। रूडमलजी का निजी पुस्तकालय बहुत समृद्ध था, जो जीवन के उत्तरकाल में उन्होंने काशी हिन्दू विश्व विद्यालय को दान कर दिया था। गहरी विद्या-रुचि के चलते ही विद्या-विशिष्ट कृती पुरुषों की अन्तरंग संगति उन्हें उपलब्ध थी। 'मारवाड़ी बंधु' के उद्योक्ता रूडमल गोएनका ही थे। पत्रिका के नाम 'मारवाड़ी बंधु' से उसके राष्ट्रीय चरित्र का सही परिचय नहीं मिलता। 'मारवाड़ी बंधु' सही अर्थ में देश-बंधु था। पं. अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने अपने इतिहास-ग्रंथ में 'मारवाड़ी बधु' का परिचय देते लिखा है. ''हिन्दी के पुराने और नामी सम्पादक प्रवर पण्डित दुर्गाप्रसाद मिश्र ने इसे निकाला था।......

''मारवाड़ी बंधु' निकालने के लिये उन्हें बाबू रूडमल गोएनका ने आर्थिक सहायता दी थी, इसीलिये उसका नाम भी 'मारवाड़ी बंधु' रखा गया था। पण्डित दुर्गा प्रसाद मिश्र ही इसके वास्तविक सम्पादक थे, यद्यपि सम्पादक के स्थान में उन्होंने अपने चचेरे छोटे भाई पं. वासुदेव मिश्र का नाम दे रखा था। हम भी कभी-कभी कुछ लिख दिया करते थे।

''वे (दुर्गाप्रसाद मिश्र) कांग्रेस में तिलक के गर्म दल के समर्थक थे। सूरत में कांग्रेस टूटने पर उन्होंने लिखा, 'समुद्रमन्थन से जब गरल विष निकला था, तब उसे धारण किया था गंगाधर ने। कांग्रेस-मंथन से जब विष निकला, तब भी उसे धारण किया गंगाधर ने ही। पर वे थे वृद्ध गंगाधर और ये हैं बाल गंगाधर।'[२] 'मारवाड़ी बंधु' थोड़े ही दिनों तक निकला था, क्योंकि आर्थिक कारणों से बहुत काल तक नहीं चलाया जा सका। स्पष्ट है कि 'मारवाड़ी बंधु' की प्रकृति तिलक युग की जातीय संवेदना पर ही केन्द्रित थी। तिलक युग के प्रमुख सम्पादक पं. झाबरमल्ल शर्मा, पं. दुर्गाप्रसाद मिश्र के प्रति अतिशय सम्मानशील थे. और उन्हें अपना प्रेरणा-स्रोत मानते थे। पं. झाबरमल जी द्वारा सम्पादित पत्र पत्रिकाओं में 'मारवाड़ी बंधु' का भी उल्लेख है। पं. दुर्गाप्रसाद मिश्र के अन्तरंग रिश्ते के चलते पत्रिका को सक्रिय सहयोग देना पं. झाबरमल्ल जी के लिये स्वाभाविक ही था।

---

१. डा. मनोहर प्रभाकर- राजस्थान में हिन्दी पत्रकारिता, पृ. १०६

२. अम्बिका प्रसाद वाजपेयी- समाचार पत्रों का इतिहास, पृ. २६०

कलकत्ते से ही १९०८ में 'ज्ञानोदय' नाम की पत्रिका प्रकाशित हुई। सम्पादक के रूप में किसी पत्रिका के साथ पं. झाबरमल्ल शर्मा का नाम 'ज्ञानोदय' में ही पहली बार प्रकाशित हुआ था। वाजपेयी जी की टिप्पणी से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है, ''ज्ञानोदय पं. झाबर मल्ल शर्मा का इस ओर पहला प्रयास था और इसे उन्हीं के ग्राम बंधु बाबू भगवती प्रसाद दारुका प्रकाशित करते थे।''[1] मगर पं. झाबरमल्ल जी ने एक साक्षात्कार-वार्ता में जो कहा है, उससे 'ज्ञानोदय' के उद्योक्ता का नाम बाबू तेजपाल लोहिया है— ''बड़ा चाव था पत्रकारिता के क्षेत्र में आने का -- तो ज्ञानोदय नाम से एक मासिक पत्र का आरम्भ हुआ— एक मित्र थे मेरे पिताजी नाम के भक्तों में से, बाबू तेजपाल लोहिया। उन्होंने उसका प्रकाशन किया।''[2]

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में ही कलकत्ते से राजस्थानी उद्योग से 'वैश्योपकारक' नामक पत्रिका प्रकाशित हुई थी। सन् १९०४ ई. में शिवचन्द्रजी भरतिया के सम्पादकत्व में कलकत्ते के राम प्रेस की ओर से मासिक 'वैश्योपकारक' प्रकाशित हुआ था, जिसके संचालक थे रामलाल नेमाणी। इस पत्र के प्रथम अंक में प्रकाशित 'आत्म परिचय' शीर्षक लेख में 'वैश्योपकारक' का पूरा परिचय दिया गया है। इसके आविर्भाव की चर्चा इस प्रकार है: ''अजमेर में जब अग्रवाल सभा का जन्म हुआ तो उसके उद्योग से 'अग्रवाल उपकारक' नाम के एक मासिक पत्र ने भी जन्म लिया था। आरम्भ में वह हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में निकलता रहा, परन्तु पीछे खाली हिन्दी की ही उसने शरण ली। इधर 'वैश्यहितकारी' के नाम से एक उर्दू पत्र भी महासभा की ओर से मेरठ से निकला। इसने तो कुछ उन्नति भी की परन्तु आयु के 16 वर्ष व्यतीत कर देने पर भी 'उपकारक' की यथेष्ट उन्नति नहीं हुई। जान पड़ता है यह मातृभाषा 'हिन्दी' में पत्र प्रकाश करने का महाप्रसाद है। न तो उसकी कुछ ग्राहक संख्या ही बढ़ी और न जाति-हितैषियों का उसकी ओर कुछ विशेष लक्ष्य ही हुआ। हमारे अजमेर चले जाने पर उक्त पत्र के सुयोग्य सम्पादक लाला रायचन्द जी से इस विषय की चर्चा चली तो कहा कि इस पत्र का नाम और स्थान परिवर्तन कर इसे नये ढंग से सम्पादित किया जाय तो कैसा? उत्तर मिला कि बहुत उत्तम। इधर कलकत्ता आने पर राम प्रेस के स्वामी श्रीयुक्त बाबू रामलाल जी नेमाणी से वैश्य जाति के लिए एक सर्वांग सुंदर मासिक पत्र निकालने के लिए कहा गया तो उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया तब निश्चय हुआ कि अजमेर का 'अग्रवाल उपकारक' भी इस पत्र में मिला दिया जाय। लाला रामचन्द्रजी को लिखा गया तो उन्होंने सभा की ओर से उसका सब स्वत्व इस 'वैश्योपकारक' को दे दिया जिसके लिए हम कृतज्ञतापूर्वक उक्त महोदय को धन्यवाद करते हैं। अब यह वैश्योपकारक अपने बड़े भाई के साथ—(साथ नहीं उसकी स्नेहभरी गोद में बैठ कर) प्रति मास आया करेगा।''

इसी वक्तव्य में 'वैश्योपकारक' के उद्देश्य की भी चर्चा की गई है, ''वैश्य जाति का

१. *अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी-समाचार पत्रों का इतिहास, पृ. २६०*
२. *पंडित झाबरमल्ल शर्मा अभिनन्दन ग्रंथ, पृ. ५४*

उचित महत्व दिखलाना, परन्तु सामान्यत: अन्य सभी वर्णों की यथासमय सेवा करने से यह पीछे भी न हटेगा। इसमें धर्म, नीति, समाज आदि सब विषयों पर लेख लिखे जायेंगे परन्तु सम्प्रदाय विशेष और व्यक्ति विशेष पर अनुचित कटाक्ष न होगा। अपने वैश्य बंधुओं का सहायक और उन्नायक होने पर भी यह पत्र उनके दुराचारों का पक्षपाती न होगा। इसका मुख्य उद्देश्य समाज का सुधार करना है जिसके लिए यह प्राणपण से चेष्टा करेगा।''

''वेद प्रसिद्ध वैश्य जाति कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य रूप में अपने शास्त्रोक्त एवं भक्ति युक्त धर्म को छोड़ कर इधर-उधर मन ललचाती है। वह धनाढ्य होने पर भी कुछ ऐसे लक्षण दिखा रही है जो उसके भविष्य को चिन्तायुक्त कर रहे हैं। पुराने उत्तम गुणों का विसर्जन हो रहा है और नये दुर्गुणों का उनकी जगह अधिकार हो रहा है। यह 'वैश्योपकारक' इस बात की चेष्टा करेगा जिसमें ऐसा न हो सके।''

'वैश्योपकारक' के संकल्प की भी इसी लेख में इस प्रकार विज्ञप्ति दी गई है — 'चाहे जैसा हो, धनाढ्य लोग हमारी ओर घृणा ही से क्यों न देखें, पर हम उनके हित की ही कहेंगे। किसी धनाढ्य सेठ की झूठी खुशामद कर आकार बढ़ाने की अपेक्षा, हम इसी स्वरूप में रहना उचित समझेंगे। अपने वंश इष्टदेव 'गो ब्राह्मणों' की सेवा के लिये सर्वदा सन्नद्ध रहेंगे। इसके लिये किसी भी टेढ़ी भृकुटी की वा नयी शिक्षा की परवाह न होगी।''

''इसकी भाषा सरल हिन्दी रहेगी परन्तु कुछ पन्ने मारवाड़ी भाषा के भी दिये जायेंगे कारण अभी मारवाड़ी समाज बिल्कुल विद्या-विमुख है, और विशुद्ध भाषा की पुस्तकें बांचने सुनने में निस्सहाय है, अत: उसके लिए इसकी आवश्यकता समझी गयी है।'

ऊपर के सम्पादकीय उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'वैश्योपकारक' का एकान्त उद्देश्य था वैश्य जाति में व्याप्त कुरीति और कलुष का प्रक्षालन। पुराने मानव मूल्यों में इसकी आस्था थी और पुरातन जातीय वैशिष्ट्य का आग्रह इतना प्रबल था कि ब्राह्मण और गो के प्रति अकुण्ठित भक्ति थी। कदाचित् इसी पुरातन- प्रियता के कारण यह पत्र, कम से कम इसके आरम्भिक अंक, नयी रोशनी से कुछ दूर प्रतीत होते हैं। नये सामाजिक परिवर्तनों को स्वीकारने की बात तो दूर रहे, उसके प्रति एक हद तक यह असहिष्णु भी था। प्रथम वर्ष के तीसरे अंक के मासिक समाचार के अन्तर्गत एक समाचार प्रकाशित हुआ था जो इस प्रकार है: ''हम अपने एक प्रतिष्ठित मित्र से यह सुनकर बड़े प्रसन्न हुए हैं कि वैश्य महासभा के जनरल सेक्रेटरी राय बहादुर लाला बैजनाथ साहब ने विधवा विवाह का पक्ष परित्याग कर दिया है। हमारे विचार में उन्होंने ऐसा करके योग्यता ही का परिचय दिया है। जो पुरुष अपने समाज का अग्रसर हो उसको ऐसे कार्य में कदापि हाथ न डालना चाहिए जिससे समाज की क्षति हो और धार्मिक हिन्दू भाइयों के चित्त को वेदना पहुंचे।''

विधवा-विवाह के विरोध का एकमात्र कारण धार्मिक ही नहीं है, बल्कि इससे सम्पादक की अविकसित चेतना की भी विज्ञप्ति मिलती है। यह एक असंगत बात है कि जिसका उद्देश्य ही सामाजिक कुरीतियों का परिवर्तन करना हो वह विधवा-विवाह में सामाजिक अनौचित्य देखे। अस्तु, पत्रकार का बहुत बड़ा दायित्व होता है युग-चेतना को समझना

और उसका साथ देना, उसे नई दिशा देना। 'वैश्योपकारक'- संपादक की अपर्याप्त विकसित चेतना को जरा और साफ करने के लिए हम दो-एक और उदाहरण देना उचित समझते हैं। वर्ष १ अंक २ के मासिक समाचार के अन्तर्गत एक समाचार प्रकाशित हुआ था, "श्रीमान् बड़े लाट कर्जन महोदय बड़ी प्रसन्नता से विलायत को सिधारे। आपके शासन के विषय में किसका कुछ भी अभिप्राय हो, परन्तु हम हार्दिक भाव से श्रीमानों के पुनरागमन की इच्छा करके कहते हैं कि आपके शासन काल में अकाल समय प्रजा के प्राण बचे हैं। यूरोपियनों के अत्याचार से हमको छुड़ाने की चेष्टा हुई है। प्लेग के अत्याचार से हमारा रक्षण किया गया है। ऐसे कितने ही अच्छे काम हुए हैं। चिरस्मरणीय, अतुलनीय और प्रशंसनीय दिल्ली दरबार करके आपने दिग्विजय किया है। लवण कर और इन्कम टेक्स कम करके गरीब प्रजा का आशीर्वाद लिया है। हम भारतवासी सदा के राजभक्त हैं। थोड़े से ही उपकार में अनेक अपकारों को भूल जानेवाले हैं और समय पर भारतवासी अपकार का भी बदला उपकार ही करते हैं।"

इतिहास का साक्ष्य है कि लार्ड कर्जन के हृदय में भारत-हित-कामना का एक कण भी न था और भारतवासियों को उसने बहुविध पीड़ित किया था। उसके कुकृत्यों की कहानी 'भारतमित्र' के शब्द-शब्द में भरी है। लार्ड कर्जन के अनेक कुकृत्यों के साथ ही दिल्ली दरबार के अनौचित्य का भी भारतमित्र-संपादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने बड़े साहस और तेजस्विता के साथ पर्दाफाश किया था। 'वैश्योपकारक' की दृष्टि में लार्ड कर्जन के सारे कुकृत्य भारत-हित-कामना से प्रेरित थे, जिन्हें वह पुनीत उपक्रम मानता था और उसकी प्रशंसा करता था। इस प्रसंग में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि नीयत साफ होते हुए भी जब कोई अनुचित-उचित का विचार न कर सके और बिना समझे ही अनौचित्य का समर्थन करने लगे तो निश्चित रूप से उसके बौद्धिक धरातल पर संदेह होने लगता है। इस धारणा का आधार 'वैश्योपकारक' के कुछ आरम्भिक अंक ही हैं। बाद के अंकों में इसका स्वर बिलकुल बदल गया। जिस लार्ड कर्जन की स्तुति कर उनके पुनरागमन की कामना की गई थी उन्हीं के संबंध में वर्ष २, अंक ९ में एक कविता प्रकाशित हुई है जिसकी ध्वनि सर्वथा भिन्न है। उक्त कविता की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं:-

लार्ड कर्जन की विदाई

करजन दरजन दिन रहे समय नियराया।
अब पीछा छोड़हु नाथ बहुत कलपाया।
क्या करहि पहुनई जाती बार न बरियो।
जैसो दीन्हों सुख हमें नाथ तस करियो।
हम हैं अजान गुण औगुण हिये न धरियो।
अरु इत आवन को कष्ट फेरि जनि करियो।

झट कढ़हु बढ़हु क्या इरहु दूसरा आया।
अब पीछा छोड़हु नाथ बहुत कलपाया॥ १॥
सांची पूछो तुम जिस दिन भारत आये।
लखि तरुन अवस्था लोग बहुत घबराये।
जब सुने मधुर प्रिय बोल अधिक सुख छाये।
सब कियो बहुत गुणगान 'लाट' कल पाये।
कछु दिन ही में तुम अद्‌भुत रूप दिखाया।
अब पीछा छोड़हु नाथ बहुत कलपाया॥ २॥

. . . .

है लाट बाट किसकी क्या देर बताओ।
यह बोट खड़ा तैयार कूद चढ़ जाओ।
क्या कहैं और जैसा दिये तैसा पाओ।
लो गुडबाई राम सलाम जहाज बढ़ाओ।
प्रभु गुणकर गाना रामदीन दिन गाया।
अब पीछा छोड़हु नाथ बहुत कलपाया॥ २०॥

कहना न होगा कि इन पंक्तियों से लार्ड कर्जन के शासन से त्राण पाने की आतुरता प्रकट होती है, जो भारतवासियों की सामान्य पीड़ा से सम्पृक्त है। 'वैश्योपकारक' का यह परिवर्तित स्वर है, जो जातीय चेतना के अधिक निकट है। स्मरणीय है, जापान की विजय ने पूरे एशिया में नयी जागृति उत्पन्न कर दी थी। 'वैश्योपकारक' के प्रथम वर्ष की नौवीं संख्या में राधाकृष्ण मिश्र की एक कविता प्रकाशित हुई है- 'जापान के प्रति भारतभूमि।' इसकी आरम्भिक चार पंक्तियां द्रष्टव्य हैं:-

'हे धर्मपुत्र! सुखकारक सुप्रजा के।
आनन्दवर्द्धन! वृहद् बल एसिया के।
प्रख्यात रूस बल दर्प विनाशकारी।
जापान! हो, जय सदा रण में तुम्हारी!!'

लोकमान्य तिलक की महत् प्रेरणा से महाराष्ट्र में शिवाजी जयन्ती के साथ महोत्सव होता था, जो प्रकारान्तर से नयी जातीय चेतना को एक नया आलोक देता था। महाराष्ट्र के प्रभाव के परिणामस्वरूप बंगाल में भी शिवाजी महोत्सव का आयोजन हुआ था। इस सम्बन्ध में 'वैश्योपकारक' के प्रथम वर्ष, अंक ६ में एक समाचार प्रकाशित हुआ था जो इस प्रकार है:-

''शिवाजी का उत्सव—महाराष्ट्र वीर शिवाजी का जन्मोत्सव तीन साल से यहां होता है। इस वर्ष का उत्सव गत शुक्रवार को बड़ी धूमधाम से टौनहाल में हुआ। आनरेबल बाबू

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने सभापति का आसन ग्रहण किया था। कई नामी वक्ताओं के व्याख्यान हुए थे। संस्कृत, हिन्दी, बांगला आदि में कविताएं पढ़ी गयी थीं और 'वन्देमातरम्' का जातीय गीत गाया गाया था। टौनहाल में भीड़ इतनी थी कि सहस्रों मनुष्यों को स्थानाभाव में लौटना पड़ा, परन्तु शान्ति यहां तक थी कि चुपचाप वक्ता की बात को सब लोग ध्यान मे सुनते थे। यह सब हमारे उद्योगपरायण मित्र महाराष्ट्र ब्राह्मण कुमार पण्डित सखाराम गणेश देउस्कर महाशय के परिश्रम का फल है। इस उत्सव में उक्त महाशय की 'शिवाजी दीक्षा' नामक पुस्तक की दस हजार प्रतियां वितरण की गई थीं।''

अंक 7 में 'छत्रपति श्री शिवाजी महाराज' शीर्षक राधाकृष्ण मिश्र की कविता प्रकाशित हुई है जिसमें हिन्दुत्व के रक्षक और जातीय नेता के रूप में शिवाजी के वीरत्व की स्तुति की गई है:-

साहू सुत शिवराज, छत्रपति।
जो तुम नहिं लेते अवतार
आर्यवंश की विजय पताका
नहिं उड़ती फिर किसी प्रकार?

इस प्रकार की कविताएं पं. राधाकृष्ण मिश्र प्राय: लिखा करते थे जिसके लिए उन्हें 'वैश्योपकारक' की ओर से एक पदक देने का प्रस्ताव उनके सामने रखा गया था जिसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया था।

स्वदेशी आंदोलन और वैश्योपकारक

स्वदेशी आंदोलन से 'वैश्योपकारक' उदासीन नहीं था। परवर्ती अंकों में प्रकाशित सामग्री को देखने से इसकी अभिज्ञता होती है। वर्ष दो अंक १२ में प्रकाशित 'स्वदेशी आंदोलन' शीर्षक लेख की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं:-

''यह सच है कि बंगालियों के साथ प्रत्यक्ष में हम लोगों का अभी संबंध दिखलाई नहीं देता, पर भीतर ही भीतर जो प्रेम भाव आप से आप हो रहा है, वह निरपेक्ष और अनिवार्य है। चाहे कभी सुरेन्द्रनाथ और विपिनचन्द्र पाल की अग्निमयी वक्तृता का निर्माण हो जाय और चाहे पत्रिका और हितवादी की सुतीव्र लेखनी कोमलता ग्रहण कर ले, पर यह कभी सम्भव नहीं है कि इस प्रतिदिन वर्द्धमान भाव की गति कोई रोक सके। जब हम अपने अन्त:करण से यह प्रश्न करते हैं कि क्यों अब हम लोगों को बंगाली इतने प्यारे लगने लगे तो उत्तर यही मिलता है कि उनके स्वदेश-प्रेम, स्वार्थ-त्याग और निडरपन से बंगाल कौन्सल के मेम्बरों ने निडरता के साथ जैसे मर्मस्पर्शी शब्द कहे थे वैसे कोई स्वार्थी पुरुष नहीं कह सकता। अपनी मातृभूमि के शोक में उन्मत्त होकर उन्होंने जो अनुष्ठान किये हम लोगों के लिए वे नये होने पर भी प्यारे हैं।''[१]

१. अध्येताओं का साक्ष्य है कि स्वदेशी आंदोलन काल में मराठी भाषी पं. सखाराम गणेश देउस्कर (पं. बाबू राव विष्णु पराड़कर के मामा) की आग्नेय चेतना सम्पन्न बांग्ला पुस्तक 'देशेर कथा' का हिन्दी अनुवाद 'वैश्योपकारक' में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था। 'देश की बात' नाम से १९०७ में हिन्दी में

इसी विषय पर 'सुदर्शन'-संपादक पं. माधव प्रसाद मिश्र का 'बुराई में भलाई' शीर्षक लेख 'वैश्योपकारक' के वर्ष २, अंक ६ में प्रकाशित हुआ है। बंग-विच्छेद को लक्ष्य कर तेजस्वी लेखक ने लिखा है, ''लार्ड कर्जन ने सोचा था कि अपने द्विरागमन से वे अपने प्रताप को बुलन्द करेंगे और बंगालियों ने आशंका की थी कि उनके पुनरागमन से बंगाली की भलाई नहीं है, परन्तु फल विपरीत हो रहा है। तेजस्वी कर्जन यहां आकर अस्तोन्मुख दिवाकर की तरह निस्तेज हो गये और बंगविच्छेद के कार्य से बंगाली अलग-अलग होने के बदले एक हो गए।'' इसे एक अभूतपूर्व ऐतिहासिक घटना मानते हुए लेखक ने कहा है कि ''इस देश में धर्म के नाम से चाहे जो हो सकता है किन्तु राजनीतिगत स्वार्थ को लेकर आंदोलन और एकता होना एक नई और विलक्षण बात है। जिस दिन लार्ड कर्जन ने विद्यार्थियों को उपदेश देने के लिए एशिया निवासियों को मिथ्यावादी और अनादर्श कहा था उसी दिन से इस आंदोलन ने जोर पकड़ा है। बंगालियों की ध्वनि के साथ उसी दिन से सब प्रातों की प्रतिध्वनि होने लगी है। देखते हैं, धीरे-धीरे आंदोलन का आकार बढ़ रहा है। कलकत्ते में प्रतिदिन इस विषय की सभा होती है और दूसरे प्रांत एवं नगर भी इससे खाली नहीं हैं।''

स्वदेशी आंदोलन की परिणति और व्याप्ति की चर्चा करते हुए इसी लेख में कहा गया है कि ''ऐसा विरला दिन होता है जब कि विलायती सिगरेट व चुरट घृणा के साथ फेंके न जाते हों। बंगाली थियेटरों के पात्र अभिनय के समय इसी विषय पर दर्शकों का ध्यान खींचते हैं और कई बंग रमणी इस विषय पर ललित कविता प्रकाशित कर पुरुषों के उत्साह को बढ़ा रही हैं।''

स्वदेशी आंदोलन पर पं. माधव प्रसाद मिश्र ने 'स्वदेशी आंदोलन' शीर्षक एक और लेख लिखा था जो 'माधव मिश्र निबंध-माला' में संकलित है। इस जातीय आंदोलन के देशव्यापी प्रभाव की चर्चा करते हुए उन्होंने राजस्थान की एक घटना का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है:-

''पिछले दिनों किसी कारणवश इस निबंध का लेखक उदयपुर गया था। मार्ग में मुझे वीरभूमि चित्तौड़ के दर्शन करने की लालसा हुई। जब मैं वहां के भग्नप्राय राजमंदिरों का अवलोकन करने गया तब प्रसिद्ध राठौड़ वीर जयमल्ल के हृदयभेदी टूटे महल में तीन-चार चारण कवियों को बंगालियों की चर्चा करते देखा। उनके हाथ में बम्बई का प्रसिद्ध हिन्दी संवादपत्र 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' था। उसमें बरीसाल में लोगों के सताये जाने का करुण दृश्य था। उसी पर वे लोग कविता कर रहे थे। एक कविता का आशय था कि 'हे बंगभूमि! कम्पित मत हो, कलंक गया, तेरी सन्तान का इतिवृत्त चित्तौड़ की वीर सन्तति के साथ लिखा जाएगा।' दूसरे ने जो रचना की थी उसका आशय था 'यहां की अधिष्ठातृ देवी

पुस्तकाकार प्रकाशित हुई थी, जिसकी भूमिका पं. माधव प्रसाद मिश्र ने लिखी थी। 'देशेर कथा' का चौथा हिन्दी अनुवाद पराड़कर जी ने १९१० में किया था, जिसे ब्रिटिश सरकार ने प्रतिबंधित कर दिया था। यह पुस्तक क्रांतिकारियों की गीता थी। - डा. मैनेजर पांडेय, दैनिक जनसत्ता, कलकत्ता, १४-१०-९८

की भांति बंगदेवी भी कह रही है कि मैं भूखी हूं।' उसके लिए वीर और माननीय बालकों का प्रयोजन है, देखना इस बलिदान के समय विचलित न होना' इसी तरह तीसरे के काव्य का आशय विलक्षण था। उसका कहना था कि 'हे वरिसाल! तेरे नाम से शत्रुओं को डरना चाहिए न कि दयालु राजा को। तुझसे दुखित नगर धन्य है जो सत्कार्य के लिए सताये जायें।

यद्यपि मैं बंगाली नहीं था, पर तो भी भारतवर्ष की सर्व प्रधान वीरभूमि में उनकी प्रशंसा सुनकर आनन्दित हुआ। स्वदेशी आंदोलन की संक्रामक शक्ति ने बंगालियों को कहां तक बढ़ा दिया है, इस बात को प्रत्येक पर्यटक बता सकता है, जिसने अपने नेत्रों से बड़ी-बड़ी सभाओं में उनका आदर देखा हो। इस समय सब प्रान्तों के सुलेखक, सुवक्ता और सुकवियों की प्रतिभा का विषय बंगाल हो रहा है, बोध होता है, इस बात को समझने की आवश्यकता नहीं है।''

इस लेख के उपसंहार की पंक्तियों में मारवाड़ी जाति से अनुरोध करते हुए कहा गया है कि ''यदि इस समय मारवाड़ी भी इस बात का प्रचार अपने भाइयों में करें तो विलायती वस्तुओं का प्रवाह जो उनमें प्रबल रूप से चल रहा है बहुत कुछ रुक जाय। वैश्यों का यह धर्म भी है कि देशजात वस्तुओं की वे भरसक रक्षा करें।''

इन निबंधों के अतिरिक्त 'वैश्योपकारक' में ऐमे अनेक समाचार प्रकाशित हुए थे जिनसे उस समय की देश-दशा और जातीय चेतना की सूचना मिलती है। साथ ही जातीय चेतना के प्रति 'वैश्योपकारक' की अभिरुचि और उदारता का भी ज्ञान होता है, इस तथ्य की पुष्टि होती है कि हिन्दी के पत्र जातीय चेतना के प्रति अतिशय सचेत थे और इस प्रकार देश तथा विशेषत: हिन्दी समाज के प्रति इन पत्रों ने अपने दायित्व का पूर्ण पालन किया। 'वैश्योपकारक' में प्रकाशित कुछ विशिष्ट संवाद यहां उद्धृत किये जाते हैं:-

वर्ष २, अंक ५, '' विलायत समाचार-लाला लाजपतराय वकील, जाति के अग्रवाल, वैश्य कांग्रेस के मुखिया और पंजाब के एक नामी स्पीकर हैं। उनके भाषण और लेख में एक प्रकार की मस्ती है जिसके प्रत्येक अक्षर में हित भरा होता है। इस समय आप राजनीतिक आंदोलन के लिए पंजाब की ओर से विलायत पधारे हैं। ईश्वर आपको सफल मनोरथ करें। यद्यपि हम अंधाधुंध विलायत यात्रा के पक्षपाती नहीं हैं, परन्तु किसी बड़े उद्देश्य की सिद्धि के लिए व्यक्ति विशेष के जाने को हम अनुचित नहीं समझते। बहुत से भ्रष्टाचारी यहां भी विलायत के कान काटते हैं और विलायत में जाने पर भी स्वामी रामतीर्थ जैसे सत्पुरुषों की कुछ हानि नहीं हुई वरंच इनके गमन से दूसरों का उपकार हुआ।''

वर्ष २, अंक १८, 'वंदेमातरम् की शक्ति-बरीसाल के सतानेवाली गोरखी पलटन ढाके में गई है। उन्हीं में दो गोरखे हैं जो व्याकुल पड़े थे, वन्देमातरम् की मंडली वाले लड़के ने उपस्थित हो समझाया कि तुम वंदेमातरम् इस मंत्र का जप करो। संकट दूर होगा परन्तु इन अभागियों ने न माना। और अब बेमार हुए तब 'वंदेमातरम्' को जपा, बस झटपट आरोग्य लाभ किया। इससे गोरखे भी क्रोध छोड़ इस मंत्र के प्रेमी बन बैठे। धन्य विधाता।'..

'स्वदेशी चीनी पर प्रेम- प्राय: आजकल मोंरस चीनी से हिन्दू संतान का चित्त हट

स्वदेशी चीनी की तरफ चला है। इसकी विशेषता देश देशान्तर में फैली जा रही है।'

'**देशी दियासलाई**-सुनने में आया है कि अहमदाबाद में सलाइयों के बनने का एक कार्यालय खोला गया है। हमको यह जानकर अति प्रसन्नता हुई है कि उक्त कार्यालय की सलाइयां विदेशी सलाइयों से किसी अंश में न्यून नहीं होती हैं। सहायता के अभाव से भारत के लोग शिल्पादि शिक्षा में कुछ नहीं कर सकते हैं, यदि उन्हें पर्याप्त सहायता दी जावे तो क्या इसमें अथवा किसी विषय में भारत की प्रतिद्वन्द्विता कोई कर सकता है। हर्ष का विषय हैं कि अब दिनों-दिन शिल्प शिक्षा की ओर लोगों की प्रवृत्ति हो रही है।''

'वैश्योपकारक' को युगीन संदर्भ के आलोक में रख कर उसकी अभाव-उपलब्धियों की चर्चा की गयी। स्मरणीय है कि इसके उद्देश्य का उल्लेख करते हुए आरम्भ में ही कहा गया है कि ''अपने वैश्य बंधुओं का सहायक और उन्नायक होने पर भी यह पत्र उनके दुराचारों का पक्षपाती न होगा। इसका मुख्य उद्देश्य समाज का सुधार करना है जिसके लिए यह प्राणपण से चेष्टा करेगा।'' इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि अपने दायित्व के प्रति यह पत्र पूर्ण सजग था और इसे अपने महत् उद्देश्य में पूरी सफलता मिली है।

'वैश्योपकारक' और सामाजिक सुधार

वर्ष १, अंक ४ में 'जाति सुधार' शीर्षक रामचन्द्र गुप्त की एक अपील प्रकाशित हुई थी। वैश्य जाति को कुसंस्कार और जड़ता से मुक्ति दिलाने की कामना इस लेख की मूल विशेषता है। अपनी रूढ़ि प्रिय जाति को सम्बोधित कर श्री गुप्त ने अपील की है कि ''आपको जो कोई भाई शिक्षा रूपी कड़वी औषधि दे उसको आप अपना सच्चा भाई समझ कर उसके साथ प्रेम करो और अपनी भूल को सुधार उन्नति के मार्ग पर चलो। जरा आप यह भी विचार लें कि समय की हालत सदा एक-सी नहीं रहती। परमात्मा ने सृष्टि की रचना ऐसी की है कि उसकी दशा समय-समय पर बदलती रहती है जिसके कई कारण हैं। अतएव यह जरूरी समझा गया है कि मनुष्य भी जैसी-जैसी समय की अदल-बदल होवे अपना तरीका बदलता रहे, यह हठ कभी न करे कि मेरे बाप ने तो यह किया था मुझे यह क्यों न करना चाहिए? चाहे वैसा करने में हानि ही हो। बहुधा देखा जाता है हमारे भाई जरूरत को न देख केवल एक-दूसरे की नकल करने लगते हैं।''

'**सीठने की प्रथा के विरुद्ध 'वैश्योपकारक' का आंदोलन**: मारवाड़ी जाति में बद्धमूल सीठने की कुप्रथा के उच्छेद का सफल प्रयत्न 'वैश्योपकारक' के माध्यम से हुआ था। विवाह के अवसर पर गाली देने की रीति बहुत पुरानी थी, जिसने विकृत रूप धारण कर लिया था। इसका रूप यहां तक बिगड़ गया था कि जिन शब्दों को पति-पत्नी एकान्त में भी उच्चारण नहीं कर सकते, उनको खुली सड़कों में सब लोगों के सम्मुख भारद्वाज गौतम आदि जगपूज्य महर्षियों के वंश में उत्पन्न होने वाली ब्राह्मणी और सेठानी कहती हुई नहीं लजाती थी। वर्ष १, अंक ६ 'वैश्योपकारक' में प्रकाशित 'मारवाड़ियों के सीठंने' शीर्षक टिप्पणी का एक स्थल यहां उद्धृत किया जाता है। इसी सप्ताह की बात है कि चौरास्ते पर भले घरों की स्त्रियों का गोल सीठने गा रहा था। पास ही खड़े हुए दो तीन

मुसलमान और कुछ बंगाली हंस रहे थे। एक अदना मुसलमान मुस्करा कर कह रहा था कि 'वाह! सेठानी जी वाह, खूब गाया और गाओ' देख कर बड़ा दु:ख हुआ। यही ख्याल हुआ कि जिनकी बहू-बेटियों की यह दशा है, उनका जीना ही क्या है?'' इस लेख की अंतिम पंक्तियों में सीठने की कुप्रथा को उठाने की अपील की गई है। ''कुछ लोगों का यह प्रस्ताव है कि 'बाजार में सेठानी सीठने गाती न निकलें, परन्तु ब्राह्मणी गावें, तो कुछ हर्ज नहीं।' परन्तु यह प्रस्ताव टहनी की रक्षा के लिए पेड़ काटने के समान है। प्रथम तो सच्चे वैश्यों का यह परम धर्म है कि ब्रह्मकुल को पूज्य बुद्धि से अवलोकन करें और यदि समय के प्रभाव से ऐसा न भी कर सकें तो उनसे नीचा कार्य करवाना तो किसी प्रकार उचित नहीं। दूसरे नीति यह बतलाती है कि जो दोष पड़ोसी के घर में होंगे उनका प्रभाव पास वाले घर पर भी पड़ता है। तब पुरोहित कुल के दोषों का प्रभाव यजमानों पर न होगा, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है? जिन्होंने अपने पुरोहितों की मर्यादा बढ़ाई उनके वंश की मर्यादा भी बढ़ती ही गयी और जिनके पुरोहित कुल का अध:पतन हुआ उनका प्रताप भी स्थिर नहीं रहा। जो हो, सीठने की उक्त रीति ब्राह्मण वैश्य सब लोगों को मिल कर उठा ही देनी चाहिए, यही हमारी प्रार्थना है।''

सीठने जैसी कुप्रथा को मिटाने के लिए 'वैश्योपकारक' का निरन्तर प्रयत्न चलता रहा। वर्ष १, अंक ८ के सम्पादकीय वक्तव्य 'मारवाड़ियों के सीठने (३)' की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं- ''हमारा सिद्धांत तो यह है कि पुरुषों की अपेक्षा हमारे समाज की स्त्रियों का चरित्र बहुत निर्मल और उत्कृष्ट है। यदि मारवाड़ी भाई, अपने समाज की बहू-बेटियों पर कृपा कर सीठनों से घृणा करने लगें, यदि वे हर्षोत्फुल्ल नेत्रों और उत्तेजक शब्दों से गाते समय उन्हें प्रोत्साहित न किया करें तो आप से आप सीठनों की गति रुक जाय। धर्म-शीला स्त्रियों को फिर पापपूर्ण शब्द उच्चारण करने की आवश्यकता ही न रहे। जब लड़की देखती है कि उसके गन्दे गीतों को सुन कर उसके बूढ़े माता-पिता और युवा भ्राता क्रुद्ध होने के बदले हर्षित हो रहे हैं तो उसके अन्त:करण में यह बात आप से आप जम जाती है कि सम्बन्धियों को प्रसन्न करने के लिए यह मार्ग सबसे उत्तम है।........ हमें यह जानकर संतोष हुआ कि कलकत्ते की ब्राह्मण सभा इस कार्य में आगे बढ़ी है और मारवाड़ी एसोसिएशन के कुछ सत् साहसी सभ्यों ने उसका सहायक और अनुगामी होना स्वीकार किया है।'' इस सम्पादकीय वक्तव्य से स्पष्ट है कि सीठने की प्रथा पुरुषों के प्रोत्साहन से जीवित थी। अंक १२ में 'मारवाड़ी लेडी एसोसियेशन' की अपील छपी है जिसमें लेडी एसोसियेशन ने पंचायत और सभाओं से कई प्रश्न किये हैं। पहला प्रश्न इस प्रकार है: ''सब लोग पंचायत में सीठने गाने का दोष हम अबला स्त्रियों पर लगाते हैं, परन्तु यदि पंचायत में कोई स्त्री प्रतिनिधि होती तो इस बात को सिद्ध कर देती कि इस विषय में स्त्रियों का कुछ भी दोष नहीं है। दोष उनका यही है कि उनको पुरुषों के कार्यों का प्रतिवाद करने का कोई अधिकार नहीं है। पुरुष पंचायत के एक प्रपंची पुरुष ने इसे एसोसिएशन की कई सभ्यताओं को गन्दे गीत न गाने के कारण बहुत से लोगों के सामने धमका, अपनी नामर्दी

प्रकट की है। क्या इस भले मानुष का मारवाड़ी कुछ इलाज नहीं कर सकते ?''

'मारवाड़ी लेडी एसोसिएशन' के इस प्रश्न से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली यह कि सीठने गाने के दोष स्त्रियों पर नहीं, बल्कि पुरुषों पर आरोपित करना चाहिए, इस प्रकार 'वैश्योपकारक' सम्पादक के वक्तव्य का इससे पूर्ण समर्थन होता है। इस प्रश्न से दूसरी बात यह ज्ञात होती है कि मारवाड़ी नारी-समाज में एक ओर सीठने जैसी कुप्रथा का प्रचलन था दूसरी ओर युगीन जागृति का स्पर्श भी उसे हो गया था और वह अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो गया था।

वर्ष १, अंक १८ में 'मारवाड़ियों में सुधार : सीठने गाने और मेंहदी लगवाने की बंदी' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसकी आरम्भिक पंक्तियां इस प्रकार हैं: ''परमात्मा का धन्यवाद है कि जिन गन्दी रीतियों के कारण मारवाड़ी समाज बदनाम हो रहा था उनमें से दो प्रधान रीतियां की कमर टूट गयी। 'वैश्योपकारक' के लिए यह बड़े गौरव की बात है कि इसके आंदोलन करने पर कलकत्ते के मारवाड़ियों में गंदे सीठने गाने और ब्राह्मणियों से पैरों में मेंहदी लगवाने' की खोटी रीति एकदम बंद कर दी। इस कलिकाल की राजधानी में जिस बात का होना लोग असम्भव नहीं तो महा कठिन समझे थे, उसका इस प्रकार से हो जाना मारवाड़ियों के किसी पुण्य विशेष का ही फल है।''

इस प्रकार हम देखते हैं कि युगीन चेतना के प्रति सचेत रहते हुए 'वैश्योपकारक' अपने उद्देश्य के प्रति सतत सक्रिय था। अविलम्ब ही उसने बहुतों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया और शुभ कामनाएं प्राप्त कर लीं। हिन्दी के प्रमुख पत्रों (भारत जीवन, हितवार्ता, सुधारक, हिन्दी प्रदीप, सरस्वती इत्यादि) ने 'वैश्योपकारक' के प्रति अपनी शुभ कामना प्रकट की थी, जो वर्ष १, अंक ६ में 'समाचार पत्रों की सम्मति' शीर्षक से प्रकाशित हुई है।

राजनीतिक और सामाजिक विषयों के अतिरिक्त उस युग की अन्य गतिविधियों में भी 'वैश्योपकारक' रुचि लेता था। हिन्दी साहित्य के उन्नायक उपक्रमों में इसकी सक्रिय रुचि थी। वर्ष १, संख्या ३ के 'समालोचना की आलोचना' स्तम्भ के अन्तर्गत एक सूचना है ''इस बात को जान कर प्रत्येक हिन्दी रसिक को आनन्द होगा कि गत 26 मई को हमारे श्रद्धास्पद 'सुदर्शन'- संपादक पण्डित माधवप्रसाद मिश्र जी के उद्योग से यहां 'हिन्दी साहित्य सभा' की स्थापना हो गयी। उस दिन बड़े बाजार के अनेक प्रतिष्ठित मारवाड़ी रईस और साहित्य-सेवी सज्जन मिश्र जी के निमंत्रण करने पर गणेशदास जयरामदास की कोठी पर एकत्रित हुए थे। बड़े बाजार के प्रसिद्ध विद्यानुरागी रईस बाबू रूढ़मलजी गोयनका के सभापतित्व में मिश्रजी ने एक सारगर्भ, सुमिष्ट वक्तृता द्वारा सभा स्थापना की आवश्यकता दिखायी थी। अनन्तर पदाधिकारी और प्रबंधकारिणी सभा के सभ्यों का चुनाव होने पर निश्चय हुआ कि-'सुदर्शन'- सम्पादक, 'भारतमित्र' उत्पादक पण्डित छोटूलाल मिश्र, बाबू रूढ़मल गोयनका और वैश्योपकारक-सम्पादक बाबू शिवचन्द्र भरतिया, सभा के नियम बना कर आगामी अधिवेशन में उपस्थित करें।'' अंक ४ में मासिक समाचार के अन्तर्गत

एक समाचार प्रकाशित हुआ है जो इस प्रकार है:'

''**हिन्दी साहित्य सभा**- कलकत्ते की हिन्दी साहित्य सभा भी अपनी कीर्ति से लोगों के चित्त को शीघ्र ही आकर्षित करेगी, यह लक्षणों से प्रतीत हो रहा है। अब नियमावली विधिबद्ध हो गयी है, शीघ्र ही मभ्यों के पास छप कर पहुंच जायेगी तिस पर भी उसकी सभ्य श्रेणी में सैकड़ों सज्जनों का नाम लिया जा चुका। बाहर से भी बहुत से महाशयों के सभ्य होने के लिए पत्र आ रहे हैं। ईश्वर करे कि सब हिन्दू भाई मद, मात्सर्य और अहंकार को छोड़कर प्रेमपूर्वक आकर इसमें मिलें और मातृभाषा के पूजा स्थान को भारत के भविष्य सौभाग्य का केंद्र बनावें।''

देवनागरी के संबंध में उन दिनों एक आंदोलन चल रहा था। लिपि के प्रश्न पर भी 'वैश्योपकारक' में छोटी-छोटी टिप्पणियां प्रकाशित होती थीं। वर्ष २, संख्या ७ में प्रकाशित 'एक लिपि किस प्रकार होगी' शीर्षक लेख की कुछ विशिष्ट पंक्तियां द्रष्टव्य हैं: ''इस समय वैश्य जाति-द्वारा भारतवर्ष के प्राणस्वरूप देशी व्यापार की बहुत कुछ रक्षा हो रही है परन्तु उनके मुडिया अक्षरों के बही खाते से नागरी की शिक्षा का द्वार रुक रहा है और देशोन्नति में एक प्रकार की रोक हो रही है, इसे सभी स्वीकार करेंगे।

''जब तक वैश्य जाति के वाणिज्य-व्यापार आदि का विशेष सम्बन्ध मुडिया अक्षरों के साथ रहेगा तब तक एक विस्तृत और आर्यक्षेत्र जनसमूह से नागरी देवी अलग रहेगी, इसमें कुछ संदेह नहीं। आज यदि सब वाणिज्य व्यवसायी वैश्य नागरी लिखना-पढ़ना जानते तो उनका बहुत कुछ उपकार होता और पशु के तुल्य उन्हें अपना जीवन व्यतीत करना नहीं पड़ता।''

इसी अंक में 'मासिक व विविध समाचार' के अन्तर्गत एक समाचार है- 'एक लिपि-- कलकत्ते के हैरीसन रोड में एक लिपि प्रचार की एक स्थायी सभा खोली गई है इससे देश का सुधार अतिशीघ्र होवेगा क्योंकि वाणी ही सर्वसुखों की मूल है........... हम परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि सभी की आप रक्षा करें जिसमें एक लिपि का अति झटित प्रकाश होवे।''

भिवानी के राधाकृष्ण मिश्र और झांसी के मैथिलीशरण गुप्त (रसिकेश) की कविताएं प्राय: 'वैश्योपकारक' में प्रकाशित होती थीं। इन दोनों कवियों के प्रति वर्ष २ अंक एक के सम्पादकीय वक्तव्य में कृतज्ञता प्रकट की गयी है। इनके अलावे विभिन्न पत्रिकाओं से होली के गीत उद्धृत किये जाते थे जो राष्ट्रीय भावना से पूर्ण होते थे। वर्ष २, अंक १२ से एक 'फाग' उद्धृत किया जाता है:-

फाग

अब तो चेत करो रे भाई!
जब रसबसु कढ़ि गयो हाथ तै, तब न उचित हरिहाई !! अब!!
उपज घटै धरती की दिन दिन नाज नितहिं महंगाई!

कहा खाय त्यौहार मनाबे, भूखै लोग लुगाई!! अब!!
सब धन ढोयो जात विलायत, रहो दलिद्दर छाई!
अन्न-वस्त्र कहो सब जन तरसैं, होरी कहां सुहाई!! अब!!

इसी अंक में है- 'चैती ठेका होरी'--

खुलि हैं नैन तिहारे हो रामा कौने दिनवां खुलि हैं
बहुत काल सोवत ही बितायो,
अब जागह पिय प्यारे हो रामा, कौने दिन०!!
कैसे कहूं कछु कहत न आवे
बने हो अजब मतवारे हो रामा, कौने दिन०!!
को हौ कौन काज है तुम को,
कछु हू न हीय बिचारे हो रामा, कौन दिन०!!
जागहु अजहुं सुकवि कविता सुनि,
तजहु पलक झपकारे हो रामा, कौने दिन०!!

इस पत्रिका को साहित्यिक पत्रकारिता का स्पर्श मिला था प. माधव प्रसाद मिश्र के सम्पादन से। नेमाणी जी और भरतिया जी का संबंध जब निभ न सका तो अन्तत: सेठ रूडमलजी गोयनका और भरतियाजी के विशेष अनुरोध से पं. माधव प्रसाद मिश्र ने 'वैश्योपकारक' का सम्पादन-भार सम्हाला था। अपनी सशक्त लेखनी और गत्वर शैलीद्वारा मिश्रजी ने इस पत्रिका को बहुचर्चा का विषय बना दिया था। 'भारत मित्र' द्वारा उन्हें श्रद्धांजलि देते हुए सन् १९०७ ई. में बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा कि "कड़ी आलोचना लिखने में वह बड़े ही कुशल हस्त थे। अति तीव्र और जहर में बुझे लेख लिखने पर भी वह हंसी के लेख लिख कर पाठकों के चेहरे पर खुशी ला सकते थे। लिखने में वह बड़े ही निडर और निर्भीक थे। हिन्दी इतनी अच्छी लिखते थे कि दूसरा कोई उनके जोड़ का लिखनेवाला नहीं दिखाई देता। इतनी बड़ी शक्ति की सहज उपलब्धि 'वैश्योपकारक' के लिए बड़े सौभाग्य की बात थी। प्राय: पौने दो वर्ष 'वैश्योपकारक' के साथ मिश्र जी का संबध रहा।" मिश्रजी की सम्पादन-कला की उपलब्धि और उनके साहित्यिक अवदान का स्वतंत्र अध्ययन अपेक्षित है। निस्संदेह यह अध्ययन ऐतिहासिक महत्व का होगा यदि उसे प्रामाणिक तथ्यों के आलोक में शोध और विवेचन का स्पर्श दे, प्रस्तुत किया जाये। 'वैश्योपकारक' के संदर्भ में उक्त अनुशीलन से यह तथ्य उजागर हो जायेगा कि उस काल के लेखकों-सम्पादकों का सामाजिक सरोकार कितना गहरा था, और समय-संवेदना के प्रति वे कितने जागरूक थे तथा उनके लेखन-कम की समाज के कलुष-प्रक्षालन में कितनी महत्वपूर्ण भूमिका थी।

चूरू (राजस्थान) के खेमराज बजाज के उद्योग से बम्बई से वेंकटेश्वर प्रेस से १८९६ ई. में प्रकाशित 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' की आयु बड़ी दीर्घ थी। स्वाधीन भारत में भी

इसका प्रकाशन अकुंठ रहा। तिलक युग और स्वदेशी आन्दोलन काल के 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' के अंकों को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीय आंदोलन के उस उग्र जातीय संवेदना के ताप से यह साप्ताहिक पत्र एक प्रकार से अप्रभावित था। विश्वयुद्ध के समाचार, अंग्रेजी राज के प्रति उदार दृष्टि और वेंकटेश्वर प्रेस के धार्मिक प्रकाशन का ही इसमें प्राधान्य रहता था, जैसे देश के तत्कालीन जातीय संवेदना से पूरी तरह उदासीन हो। युद्ध-समाचार और जब-तब तत्कालीन भारतीय संदर्भ से जुड़े समाचार देखकर ही यह बोध होता है कि यह उसी समय के प्रकाशित अंक हैं, जब स्वदेशी राजनीति का नायकत्व लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के हाथ में था, अन्यथा उस समय के 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' के स्वरूप को देखते यही धारणा बनती है कि निहायत सरल और ठंडी प्रवृत्ति के इस साप्ताहिक के प्रकाशन का उद्देश्य शुद्ध व्यावसायिक था। १ मार्च १९१९ के दैनिक 'श्री वेंकटेश्वर' में उस काल के शीर्ष राजनेता विपिनचन्द्र पाल की सभा का समाचार छपा है। सभा २५ फरवरी को, वर्तमान राजनीतिक स्थिति पर केन्द्रित, मद्रास में हुई थी। "मद्रास में पाल महोदय की जोरदार वक्तृता" शीर्षक समाचार की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं, "गत २५ फरवरी को मद्रास में देशभक्त बाबू विपिनचन्द्र पाल का भाषण 'वर्तमान राजनीतिक स्थिति' पर हुआ। प्रस्तावों में महामान्य सम्राट की सरकार से प्रार्थना की गयी कि भारत को भी 'राष्ट्रसंघ' का सभासद बनाया जाय। इसके अतिरिक्त लोकमान्य तिलक और विपिन चन्द्र बाबू के प्रति विश्वास प्रकट किया गया यह भारत के सबसे प्रधान और श्रद्धालु अगुआ हैं।"

विपिन चन्द्र पाल के वक्तव्य का मुख्य अंश उद्धृत किया गया है। अंग्रेजी सरकार की साम्राज्यवादी अर्थ-नीति की तीखी आलोचना करते पाल महाशय ने कहा था.... "अंग्रेजी मंत्रिमंडल ने भी आर्थिक उद्धार और उलझी हुई स्थिति को सुलझाने के लिए इस नये आर्थिक सिद्धांत का आश्रय लिया है। इंग्लैंड से रुपया लाकर भारत में लगाया जाएगा, और उस रुपए से इंगलैंड को लाभ पहुंचाया जाएगा। तब हमारी स्थिति भारत में आर्थिक गुलामों की सी हो जायेगी, पढ़े-लिखे लोग टेबुल पर कलम चलायेंगे और बेपढ़े लोग कारखानों में जाकर एड़ी-चोटी का पसीना एक करके नौकरी बजायेंगे। यही हमारा आर्थिक भविष्य है। अभी जो हाल में 'व्यापारी कमीशन' बैठा था उसने सरकार से हस्तक्षेप करने के लिये प्रार्थना की है, जिसके मतलब हैं हमारे लिये आर्थिक गुलामी।" समाचार का शेषांश इस प्रकार है, पाल महोदय ने कहा कि "यदि यह नीति अंग्रेजों ने पकड़ी तो हमारी वर्तमान राजनीतिक गुलामी में हजार दर्जे बुरी और मनुष्य की आत्मा को मारने वाली यह आर्थिक गुलामी भी चढ़ाई जायेगी। इसलिये बचने का उपाय अब यही है कि भारत को अभी और तुरंत जिम्मेदार सरकार मिले। यदि हमने यह अवसर खो दिया तो हम अपनी भावी संतान के अशुभ अभिशाप के भागी होंगे।" 'श्री वेंकटेश्वर' की नरम प्रकृति को देखते उसके पृष्ठों पर ऐसा समाचार और ऐसी भाषा का छपना बड़ी बात है। इसी प्रकार साप्ताहिक 'वेंकटश्वर समाचार' के १३ सितम्बर १९१८ के अंक की संपादकीय

टिप्पणी जातीयता पर केन्द्रित है। 'जातीयता पर लाठी' शीर्षक सम्पादकीय वक्तव्य में अंग्रेजों की जीवन-शैली की नकल करने वाले जापानियों की आलोचना की गयी है, और भारत में बढ़ रही बिलायती जीवन-शैली का विरोध करते स्वदेश के पुरातन जीवन-संस्कार का पक्ष-पोषण किया गया है। दैनिक 'श्री वेंकटेश्वर' में गांधीजी की महत्ता को रेखांकित करने वाली टिप्पणी १८ मई १९१७ के अंक में 'महात्मा गांधी और मुसलमान' शीर्षक से छपी है। गांधीजी की प्रशस्ति के उपसंहार की पंक्तियां द्रष्टव्य हैं, "हमें आज उस महात्मा के अभिनन्दन का सौभाग्य प्राप्त है, जिसकी सत्य-निष्ठा और स्वार्थ-त्याग को देख मुसलमानों के धार्मिक अगुआ मौलाना अबुल कलाम भी पधारे हैं।" दैनिक 'श्री वेंकटेश्वर' के १५ अगस्त १९१५ के अंक में प्रभुदयाल मिश्र लखनवी की 'क्या उर्दू जबान मुसलमानों की है' शीर्षक टिप्पणी छपी है जिसमें सबल तर्क द्वारा उर्दू पर हिन्दुओं का उतना ही और वैसा ही अधिकार सिद्ध किया गया है, जितना मुसलमानों का।

पं. अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' पर सटीक टिप्पणी की है, "श्री वेंकटेश्वर समाचार" अपनी सीधी सादी चाल से चला आ रहा है। वह न किसी की आलोचना करता है और न किसी से लड़ता है।

इस काल के दैनिक पत्रों में 'कलकत्ता समाचार' चर्चित दैनिक था। पं. अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने अपनी पुस्तक 'समाचार पत्रों का इतिहास' में 'कलकत्ता समाचार' का संक्षिप्त परिचय दिया है, "........... कई मारवाड़ी सज्जन दैनिक पत्र चाहते थे और उन्होंने कम्पनी बनाकर इसे निकाला था। इस कम्पनी के कर्णधार बाबू केशव राम पोद्दार और बाबू राम कुमार भगत आदि थे।"

सन् १९१४ में कलकत्ता (चीनी पट्टी) से प्रकाशित 'कलकत्ता-समाचार' के सम्पादक के रूप में पं. झाबरमल्ल शर्मा का उल्लेख किया गया है। उनके कृतित्व-विवेचन के प्रसंग में श्री हरिलाल ठाकोर ने पण्डित झाबरमल्ल शर्मा अभिनन्दन ग्रंथ में इस प्रसंग का उल्लेख इस प्रकार किया है, "सन् १९१० ई. में शर्मा जी पं. राधाकृष्ण मिश्र के परामर्श से 'सुदर्शन'-सम्पादक पं. माधव प्रसाद मिश्र के साहित्यिक कार्यों और उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कलकत्ता गये और वहां सन् १९१४ ई. में 'कलकत्ता समाचार' का प्रकाशन प्रारम्भ किया जिसका सम्पादन-भार शर्माजी ने स्वयं अपने हाथ में लिया। मिश्रजी इसके मुख्य परामर्शदाता रहे।[1] श्री गोपाल नारायण बहुरा ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है।[2] पर शर्माजी के समसामयिक और तिलक युग के तेजस्वी सम्पादक पं. अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने अपने इतिहास ग्रंथ में लिखा है 'कलकत्ता-समाचार' के सम्पादक हिन्दी पत्रों के पुराने सम्पादक पं. अमृतलाल चक्रवर्ती और सहायक तथा प्रबंधक पं. द्वारका प्रसाद चतुर्वेदी थे। प्रथम महासमर के आरंभ में यह प्रकाशित हुआ था। पं. झाबरमल्ल शर्मा इसके मुद्रक-प्रकाशक थे।......१९१६ में चक्रवर्ती जी और चतुर्वेदी कलकत्ता-समाचार से चले गये और कुंवर गणेशजी भदौरिया

---

१. पण्डित झाबरमल्ल शर्मा अभिनन्दन ग्रंथ, पृ. २३

२. वही, पृ. ४६

नामक नवयुवक इसके सम्पादक हुए। ''यही तथ्य प्रामाणिक जान पड़ता है। पत्र के उद्योक्ता शर्माजी के आत्मीयजन और राजस्थानी थे। स्वाभाविक था कि पत्र पर उनका सर्वाधिक प्रभाव था। पं. झाबरमल्ल शर्मा के प्रकाशित लेखों के प्रकाशन-विवरण से यह तथ्य भी प्रकाशित होता है कि शर्मा जी भी 'कलकत्ता-समाचार' में अग्रलेख लिखते थे। उनका वह अग्रलेख तो उस समय काफी चर्चित हुआ था जो गवर्नर की धमकी के जवाब में 'गर्वनर का गुस्सा' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। क्रांतिकारी आंदोलन के पक्ष-समर्थन और रोलेट ऐक्ट के प्रतिवाद के चलते 'कलकत्ता-समाचार' सरकार का कोपभाजन बन गया, और तत्कालीन गवर्नर ने धमकी दी थी कि मारवाड़ियों को याद रखना चाहिए कि वे जहां से आए हैं वहीं पहुंचा दिए जाएंगे।[१] इस चुनौती का माकूल जवाब दिया था पं. झाबरमल्ल शर्मा ने 'कलकत्ता-समाचार' के अग्रलेख के माध्यम से। 'गवर्नर का गुस्सा : मारवाड़ियों पर दोपारोपण' शीर्षक अग्रलेख (वैशाख कृष्णा १, सं. १९७६)[२] के माध्यम से बंगाल के गवर्नर लार्ड रोनाल्डशो के आरोप और धमकी का प्रतिवाद करते पं. झाबरमल्ल शर्मा ने लिखा था, ''यह सच है कि कर्मवीर गांधी के सत्याग्रह के मूल सिद्धांत के साथ एक मारवाड़ियों की क्या सभी देशवासियों की सहानुभूति है, फिर मारवाड़ियों को ही इसके लिये लाल आंखें क्यों दिखलायी जाती हैं ?

''मारवाड़ी जाति स्वभाव से ही शान्त है। उसे उपद्रवकारी बताकर गवर्नर महोदय ने गहरी भूल की है, क्योंकि किसी निर्दोष को दोषी बताना उसके हृदय में भारी चोट पहुंचाना है। कर्मवीर गांधी की गिरफ्तारी पर अपने अन्यान्य भारतीय बंधुओं के साथ मारवाड़ियों ने भी हड़ताल जरूर की थी, और इसके लिये उन्हें कोई दोष नहीं दिया जा सकता। परन्तु हड़ताल करना और उपद्रव करना एक नहीं है। देशवासियों के साथ हड़ताल करने के कारण मारवाड़ियों के कानून पसंद और व्यापार सफल होने में कोई बट्टा नहीं लगता। हम गवर्नर साहब की इस बात का घोर प्रतिवाद करते हैं कि कलकत्ते में पिछले दो दिनों का उपद्रव मारवाड़ी जाति के एक भाग ने जो काम किया है उसी कारण हुआ है।'' यह अग्रलेख जातीय स्वाभिमान से अनुप्रेरित और औचित्य के आग्रह से पं. झाबरमल्ल शर्मा ने लिखा था। राजस्थानी समाज की हीनता से उन्मथित होकर अपने अग्रलेख का उपसंहार करते मारवाड़ियों के शुभ-चिंतक की हैसियत से, राजस्थानी समाज के प्रतिष्ठा-प्रहरी के रूप में रचनात्मक सुझाव दिया था, ''हम मारवाड़ी समाज के उन कमजोर कर्णधारों से भी कुछ कहना चाहते हैं और वह यह है कि तुम्हारा अशिक्षित होना, तुम्हारी कमजोरी, तुम्हारा दब्बूपना ही तुम्हारा अपमान कराता है। यदि तुम में शिक्षा होती, यदि तुममें आत्मिक बल होता तो क्या गवर्नर के दोषारोपण का यथार्थ उत्तर दिए बिना तुम चले आते। क्यों सर कैलाश बोस की खरी-खोटी बातें 'गर्दन हिलाकर' सुनते रहते। तुम्हारा दब्बूपन ही तुम्हारी भावी उन्नति का बाधक है। तुम चाहते हो कि म्युनिसिपैलिटियों में तुम्हें स्थान मिले, कौंसिलों में तुम्हारे प्रतिनिधि लिये जायें, यह तो तुम्हारे हृदय की वासनाएं हैं और

---

१. पण्डित झाबरमल शर्मा अभिनन्दन ग्रंथ, पृ. ५७
२. परिशिष्ट 'ग' में द्रष्टव्य

उधर जरा अधिकारियों के आंख दिखाने पर 'न बाबा' कहकर भागते हो। ऐंग्लो इण्डियन अखबार काम पड़ने पर तुम्हें भरपेट कोसते हैं परन्तु तुम कान में तेल डाले सुनते रहते हो। तुम्हारा कोई जोरदार अंग्रेजी पत्र नहीं, जिसके द्वारा तुम दूसरों के किये हुये आक्रमणों का जवाब दे सको। जवाब देना तो दूर रहा, जिन पत्रों से तुम्हारा सम्पर्क है, उनके राजनैतिक आंदोलन के लिए ही 'तोबा' करने को तैयार रहते हो। किसी में तुम्हारा विश्वास नहीं। यही कारण है कि तुम दुरदुराये जाते हो। शास्त्र का सिद्धांत है कि 'संशयात्मा विनश्यति'। इसलिये संभल जाओ और अपनी जाति में विद्या का प्रचार कर उसे उठाओ। जो कुछ काम करो स्पष्ट और विश्वास के साथ करो। किसी की दबावट अकारण मत सहो। उसी दशा में वर्तमान संघर्ष के समय में तुम ठहर सकोगे।'' पं. झाबरमल्ल शर्मा का उक्त अग्रलेख स्वत्व-सजग राजस्थानी मानस और जातीय स्वाभिमान के तेज का परिचायक तो है ही, साथ ही इस ऐतिहासिक तथ्य का भी साक्ष्य है कि तिलक युग की मनीषा और संस्कृति-नायकों ने देशोद्धार के लिए गांधीजी के सत्याग्रह-सिद्धांत को सटीक संविधान के रूप में स्वीकार कर लिया था।

तिलक युग में राजस्थान और दूसरे प्रदेशों में व्यावसायिक प्रयोजन से प्रवास कर रहे राजस्थानियों के उद्योग से कई पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित हुईं, जिनका विवरण-भित्तिक विवेचन कई अध्येताओं ने किया है, जो इस तथ्य का साक्ष्य है कि उन्नीसवीं शती में सांस्कृतिक नवजागरण और जातीय अस्मिता की जो चेतना उदित हुई थी वह प्रखरतर तथा समृद्ध होती जा रही थी।[१] स्मरणीय ऐतिहासिक तथ्य है कि उस पीढ़ी के पत्रकारों का आदर्श-अनुशासन लोकमान्य तिलक के उग्र राष्ट्रवाद के प्रत्यय-बिन्दु पर ही केन्द्रित था। तिलक के व्यक्तित्व-विचार का प्रभाव गांधी युग तक के पत्रकारों की लिखावटों में मुखर है। महात्मा गांधी के नायकत्व के प्रति आस्थाशील पत्रों के लेखन में भी तिलक का ओज और राष्ट्रवाद की युयुत्सु चेतना दिखाई पड़ती है। हिन्दू के पांक्तेय सम्पादक दुर्गाप्रसाद मिश्र, बाल मुकुन्द गुप्त, माधव राव सप्रे, बाबूराव विष्णु पराड़कर, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, लक्ष्मण नारायण गर्दे, झाबरमल्ल शर्मा, सुन्दरलाल, माखनलाल चतुर्वेदी, गणेशशंकर विद्यार्थी लोकमान्य तिलक के संस्कार-गोत्र पत्रकार थे, जिनमें से अधिकांश गांधी-युग में पूरी प्रतिभा ऊर्जा के साथ अपने धर्म धरातल पर सक्रिय थे, और देश की प्राणनाड़ी को परख कर महात्मा गांधी के नायकत्व में गहरी आस्था प्रकट की थी जैसे उनके आराध्य लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने अपने जीवन की सांध्य-वेला में देश-हित के विवेक से गांधी के लोक-नेतृत्व को स्वीकार कर लिया था।[२]

---

१. महर्षि दयानन्द सरस्वती संन्यासी थे। परोपकार संन्यास धर्म का मूल अनुशासन है। उनकी संवेदना उस बड़े समूह के प्रति संसक्त थी जो अनाथ थे। स्वामी जी की ही मूल प्रेरणा थी जिससे प्रेरित होकर उनके भक्तों ने १९०१ में 'परोपकारी' और १९०२ में 'अनाथ रक्षक' अजमेर से प्रकाशित किया था। (विस्तृत जानकरी के लिए द्रष्टव्य आर्य समाज के पत्र और पत्रकार डॉ. भवानीलाल भारतीय। विशेष और विस्तृत विवरण के लिये द्रष्टव्य: (१) हिन्दी पत्रकारिता: विविध आयाम सं. वेदप्रताप वैदिक (२) पं. झाबरमल्ल शर्मा अभिनन्दन ग्रंथ (३) भारत में हिन्दी पत्रकारिता: डॉ. रमेश जैन (४) राजस्थान में हिन्दी पत्रकारिता: डा. मनोहर प्रभाकर

२. अमृतसर कांग्रेस के अवसर पर गांधीजी और लोकमान्य की बातचीत का एक मार्मिक अंश इन्द्र विद्या वाचस्पति ने अपनी पुस्तक 'लोकमान्य तिलक और उनका युग' में उद्धृत किया है। गांधी जी को

'राजपूताना गजट' के सम्पादक मौलवी मुराद अली 'बीमार' की स्वस्थ जुझारू पत्रकारिता की परम्परा तिलक युग की आग्नेय चेतना से सम्पन्न-प्रखर हो गांधी युग में पहुंची थी। और गांधी युग की पत्रकारिता विषयक राजस्थानी आयोजन को हरिभाऊ उपाध्याय, हीरालाल शास्त्री, झाबरमल्ल शर्मा, सत्यदेव विद्यालंकार, रामगोपाल माहेश्वरी, शिवपूजन सहाय, रामनाथ सुमन और जयनारायण व्यास जैसे कृती संपादकों ने अपनी सम्पादन-दक्षता से सम्पन्न किया। अगले अध्याय में किंचित विस्तार से उनके अवदान और राजस्थानी उद्योग की महत्ता को रेखांकित करने की चेष्टा की गयी है।

संबोधित कर तिलक ने कहा था, 'मि. गांधी, इस प्रकार बातचीत करने से कोई लाभ नहीं। यह ठीक है कि मेरी बात मानी जाती है, मैंने उसके लिये कठोर परिश्रम किया है। मुझे विश्वास है कि आपका भी वह दिन आनेवाला है।' अपने भक्तों अनुयायियों को संबोधित करते तिलक महाराज ने जो विश्वास प्रकट किया था उसे इन्द्र विद्या वाचस्पति ने अपनी भाषा में व्यक्त किया है, 'मैं अब शारीरिक दृष्टि से वृद्ध हो गया हूं। अब आवश्यक है कि देश का नेतृत्व दूसरे हाथों में जाय। वह व्यक्ति, जिसके हाथों में मुझे नेतृत्व संभालने की शक्ति मालूम होती है, गांधी है। देश की बागडोर अब उसी के हाथों में जायेगी।' इन्द्रविद्या वाचस्पति - लोकमान्य तिलक और उनका युग पृ. २२०

स्वदेशी बोध का उत्कर्ष: गांधी युग की संवेदना

लोकमान्य तिलक के उत्तर काल की जातीय संवेदना के दिशा-निर्देश का गुरुतर दायित्व महात्मा गांधी ने स्वीकार किया था। स्वतंत्रता-संग्राम के तत्कालीन सर्वमान्य लोकनायक गांधी जी का आदर्श सत्य पर केन्द्रित था। और सत्य की रक्षा के लिये स्वराज्य तक का परित्याग करने को वे तैयार थे (द्रष्टव्य: महात्मा गांधी: जीवन और दर्शन-ले. रोमां रोलां, पृष्ठ १९)। गांधीजी का सत्याग्रह-दर्शन ही इस युग का नियामक दर्शन था। और यह ऐतिहासिक तथ्य है कि स्वातंत्र्य- स्पृहा का आवेग तिलक के नायकत्व में इतना तीव्र हो गया था कि युवा ऊर्जा से सम्पन्न मन गांधीजी के अहिंसा-सिद्धान्त में आस्थाशील नहीं था। मगर गांधीजी का समय उनके साथ था, और उनके नायकत्व को शीर्ष महत्व प्राप्त था। उनकी दिखाई राह पर चलने को देश तैयार हो गया था। गुलामी और साम्राज्यशाही नृशंसता से मुक्ति पाने का सटीक पथ सत्याग्रह ही है, यह विवेक देश का जातीय विवेक बन गया था। इस युग की पत्रकारिता इसी विवेक से अनुशासित थी।

गांधीजी स्वयं कृती सम्पादक थे। पत्रकारिता के धर्म और उद्देश्य के विषय में उनकी ऊंची धारणा थी, जो उनके कर्म में मुखर थी। चूँकि वे पत्रकारिता की शक्ति से ठीक से परिचित थे, इसलिये उसके ऊंचे आदर्श और धवल धरातल के आग्रही थे। 'हिन्दी नव जीवन' में उन्होंने पत्रकारिता विषयक अपने आदर्श को प्रकट किया था, जिन्हें १७ नवम्बर १९२४ के 'प्रताप' में गणेशशंकर विद्यार्थी ने पत्रकारिता के प्रतिमान के रूप में उद्धृत किया था, ''समाचार पत्र सम्पादक इकट्ठे होकर अपनी लेखनी पर कुछ अंकुश रख सकें, तो अधिक अच्छा हो। इसमें दो मत नहीं हो सकते। सम्पादक का पद आजीविका के लिये नहीं, बल्कि केवल लोक सेवा के लिये है।'' पूर्व स्वातंत्र्य-काल की भारतीय पत्रकारिता इसी आदर्श से अनुप्रेरित थी।

जमनालाल बजाज के उद्योग से गांधीजी के सम्पादन में अहमदाबाद से प्रकाशित 'हिन्दी नवजीवन' की प्रथम सम्पादकीय टिप्पणी से गांधीजी का आदर्श और स्पष्ट होता है, ''हिन्दुस्तानी-भाषा का प्रचार इस साहस का मुख्य हेतु नहीं है। 'शान्तिमय असहयोग का प्रचार' ही इसका उद्देश्य समझना चाहिये। हिन्दुस्तानी भाषा जाननेवाले जब तक असहयोग और शान्ति के सिद्धांत भली भांति न समझ लेंगे तब तक शान्तिमय असहयोग की सफलता असम्भव सी है। इसलिये 'हिन्दी नवजीवन' की आवश्यकता थी।''

१९ अगस्त १९२१ को प्रकाशित 'हिन्दी नव जीवन' के प्रकाशन पर टिप्पणी करते 'मारवाड़ी सुधार' के सम्पादक शिवपूजन सहाय ने 'मारवाड़ी सुधार' के वर्ष १ अंक १ में लिखा था, 'अहमदाबाद (गुजरात) से 'हिन्दी नव जीवन' नामक एक विविध विशेषतापूर्ण साप्ताहिक प्रकाशित होता है। प्रकाशक हैं मारवाड़ी-कुल-तिलक वर्धा-निवासी देशभक्त सेठ जमनालाल बजाज और सम्पादक हैं सर्वमान्य नेता महात्मा गांधी। इसकी भाषा बड़ी सरल, सुबोध और ओजस्विनी होती है। इसकी एक-एक पंक्ति तक में अध्ययन करने

योग्य भाव भरे रहते हैं। इसके प्रत्येक लेख के पढ़ने से शान्ति का पाठ अभ्यास होता है। इसे पढ़ते कहीं सहानुभूति के आसुओं से आँखें छलछला उठती हैं, कहीं स्वदेशाभिमान से हृदय भर आता है, कहीं पर दु:ख कातरता की भाव-लहरी में मन डूब जाता है, कहीं विश्व प्रेम की निष्कलंक भावना मे हृदय आलोकित हो उठता है और कहीं स्वत्व-रक्षा के उन्नत विचारों से चित्त में वीरताजन्य स्फूर्ति संचारित हो आती है।''

गुजराती 'नवजीवन' जैसा ही लक्ष्य था इस साप्ताहिक पत्रिका का। गांधीजी हिन्दी भाषी समाज को सीधे सम्बोधित कर सकें और उनके बहुआयामी विचार से हिन्दी समाज का परिचय और हित हो सके, इसी चिन्ता से प्रेरित होकर सेठ जमनालाल बजाज ने 'हिन्दी नवजीवन' का प्रकाशन किया था। पं. अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी की टिप्पणी सही है कि ''महात्माजी के गुजराती 'नवजीवन' का ही यह हिन्दी रूप था।''

देश के समग्र अभ्युत्थान और जातीय संस्कार-उन्नयन की चिन्ता से गांधीजी स्वयं विविध विषयों और समस्याओं पर प्रखर टिप्पणियां लिखते थे, और अधिकारी विद्वानों को प्रेरित कर लिखवाते थे। दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर, जे. सी. कुमारप्पा, किशोर लाल घनश्याम मशरूवाला, महादेव देसाई, आचार्य नरेन्द्र देव, देवदास मोहन दास गांधी, चन्द्रशंकर प्राणशंकर शुक्ल, काशीनाथ त्रिवेदी इत्यादि पांक्तेय विचारकों की टिप्पणियां और विचारोत्तेजक निबंध 'हिन्दी नव जीवन' के मुख्य आकर्षण थे।

८ मई १९३० के अंक में 'गांधीजी की गिरफ्तारी' शीर्षक मीरा की मार्मिक टिप्पणी छपी थी। गांधीजी की गिरफ्तारी के बाद 'हिन्दी नवजीवन' का सम्पादन-दायित्व (वर्ष ९, अंक ३९) काशीनाथ त्रिवेदी ने सम्भाला।

स्वराज्य चेतना जगाने और साम्राज्यशाही दुर्नीति और अनौचित्य पर प्रखर टिप्पणी लिखने के साथ 'हिन्दी नवजीवन' उन ज्वलन्त प्रश्नों पर गंभीर लेख प्रकाशित करता था, जिनसे देश का सीधा सरोकार था। गांधीजी के सर्वोदय दर्शन का तेजस्वी प्रवक्ता था 'हिन्दी नवजीवन', जिसमें मूर्तिपूजा, विवाह-विधि, पंगु की समस्या, खादी, राष्ट्रभाषा, अहिंसा, दुनिया में बढ़ते सैन्यबल, बुद्धि, श्रद्धा, शिक्षा, वर्णाश्रम, नारी समस्या जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर केन्द्रित विचारोत्तेजक निबंध छपते थे। छोटी दिखने वाली मानव-समाज से जुड़ी समस्या को भी गांधीजी पूरी गुरुता के साथ प्रस्तुत करते थे। आहार की समस्या तथा दैनन्दिन चर्या से जुड़े प्रश्नों पर गांधीजी नवीन कोण से पूरी गंभीरता से विचार करते थे।

२९ अगस्त १९२९ के अंक में गांधीजी की सम्पादकीय टिप्पणी के साथ कोचीन के डॉ. ए. आर. ओडवाल का विचारोत्तेजक निबंध 'सेण्ट वर्चमंस कालेज मैगजीन' से उद्धृत किया गया है ताकि दरिद्रनारायण की सेवा की प्रेरणा जगायी जा सके। इस निबंध को गांधी जी ने इसलिये वरीयता दी थी कि इसमें चर्खे के माहात्म्य का प्रभावी विवेचन है।

१९२९ अगस्त १९२९ की सम्पादकीय टिप्पणी का शीर्षक है— बुद्धि बनाम श्रद्धा। श्रद्धा का पक्ष-समर्थन करते गांधीजी ने लिखा है, ''श्रद्धा में शंका को स्थान ही नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि श्रद्धामय मनुष्य जड़-रूप है या जड़ बन जाता है। जिसमें शुद्ध

श्रद्धा है उसकी बुद्धि तेजस्वी रहती है। वह स्वयं अपनी बुद्धि से जान लेता है कि जो वस्तु बुद्धि से भी अधिक है- परे है- वह श्रद्धा है। जहां बुद्धि नहीं पहुंचती वहां श्रद्धा पहुंच जाती है। बुद्धि की उत्पत्ति का स्थान मस्तिष्क है, श्रद्धा का हृदय। और यह तो जगत का अविच्छिन्न अनुभव है कि बुद्धिबल से हृदयबल सहस्रशः अधिक है।.........'रामायण' विद्वत्ता से पूर्ण ग्रंथ है, किन्तु उसकी भक्ति के प्रभाव के मुकाबले उसकी विद्वत्ता का कोई महत्व नहीं रहता। श्रद्धा और बुद्धि के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। श्रद्धा से अन्तर्ज्ञान, आत्मज्ञान की वृद्धि होती है, इसलिये अन्तः शुद्धि तो होती ही है। बुद्धि से बाह्य ज्ञान की, सृष्टि के ज्ञान की वृद्धि होती है, परन्तु उसका अन्तःशुद्धि के साथ कार्य कारण जैसा कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अत्यन्त बुद्धिशाली लोग अत्यन्त चारित्र्य भ्रष्ट भी पाये जाते हैं। मगर श्रद्धा के साथ चारित्र्य-शून्यता का होना असम्भव है।" गांधीजी की आस्था और विवेक की पुष्टि स्वामी विवेकानन्द की धारणा करती है। स्वामीजी ने कहा था कि बुद्धि और हृदय में से किसी एक को चुनना हो तो हृदय को चुनना चाहिए।[१]

जागरूक पाठकों के प्रश्नों का गांधीजी 'हिन्दी नवजीवन' के माध्यम से वैचारिक उत्तर देते थे ताकि बड़े समाज की आशंकाओं का समाधान हो सके और सत्याग्रह की महत्ता का सही बोध जग सके। ३ अक्टूबर १९२९ के अंक के प्रथम पृष्ठ पर गांधीजी ने 'एक नौजवान के तीन सवाल' के जवाब में अपना वक्तव्य प्रकाशित किया है। प्रश्न विवाह-प्रसंग से सम्बन्धित थे। वृद्ध विवाह के प्रश्न पर गांधीजी ने अपनी दो टूक शैली में लिखा था, "मेरे विचार में ऐसे भयंकर ब्याह, ब्याह नहीं, बल्कि एक प्रकार का बलात्कार हैं। ये धर्म-विरुद्ध तो हैं ही, फिर भले ही कानून की मन्शा चाहे जो हो।" इसी प्रकार तीसरा प्रश्न विवाह-अवसर के जाति-भोज से सम्बन्धित था। गांधीजी का उत्तर था, "जाति भोज जितना त्याज्य है उतना ही त्याज्य बारात में जाना है। इसके कारण निरर्थक खर्च बढ़ता है, और धार्मिक विधि की गंभीरता को हानि पहुंचती है। जो नवयुवक ब्याहे जायं, उन्हें जाति भोज और बारात की प्रथा का दृढ़ता-पूर्वक विरोध करना चाहिए।"

कानपुर के विद्यार्थियों के मानपत्र और अभिनन्दन का जवाब देते गांधीजी ने कहा था, "आप पूछते हैं कि सन् १९३० में मैं आपसे किस बात की आशा रखता हूं? १९३० में मैं आप में एक सच्चे सिपाही की तरह हंसते-हंसते फांसी के तख्ते पर चढ़ जाने वाली शक्ति

---

१. द्रष्टव्यः विवेकानन्द साहित्य, तृतीय खंड, पृ. १०६
व्यावहारिक जीवन में वेदांत की महत्ता को समझाते लंदन में १० नवम्बर १८९६ को अपने व्याख्यान में स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "बौद्धिकता का विशेष मूल्य नहीं: हृदय ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। हृदय के द्वारा आत्म-साक्षात्कार होता है, बुद्धि के द्वारा नहीं। बुद्धि केवल जमादार के समान रास्ता साफ कर देती है- वह गौण सहायक है।... बुद्धि अंधी है, उसकी अपनी गति-शक्ति नहीं है, उसके हाथ-पैर नहीं हैं। भावना ही वास्तव में काम करती है, उसकी गति बिजली अथवा उससे भी अधिक वेगवान पदार्थ की अपेक्षा श्रेष्ठ होती है, :विवेकानन्द साहित्य,अष्टम खंड, पृ. १६१ अपने गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्द को कैलिफोर्निया से २१ फरवरी १९०० को स्वामी जी ने लिखा था, "जितना अधिक तुम हृदय का विकास कर सकोगे, उतनी अधिक तुम्हारी विजय होगी। मस्तिष्क की भाषा तो कोई-कोई समझता है, परन्तु हृदय की भाषा, ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक सभी समझ सकते हैं" :विवेकानन्द साहित्य, सप्तम खंड, पृ. ४१०

के दर्शन करना चाहता हूं।.......... कि जहां अन्यायी राज्य हो वहां धन इकट्ठा करना गुनाह है और निर्धनता-गरीबी ही खानदानी का लक्षण है। आप लोग आज बातें तो फांसी पर लटकने की करते हैं, लेकिन क्या आप अपनी उपाधियों का मोह छोड़ने को तैयार हैं ? नौकरियां पाने की आशा पर पानी फेरने को तैयार हैं ? मुझे इस बारे में शक है। आज देश की जो हालत है, अगर आप चाहते हैं कि उसका अन्त हो, तो आपको सर्वस्व त्याग की शक्ति बढ़ानी चाहिये। यह शक्ति आप में तभी आवेगी जब हृदय आपका शुद्ध होगा और चारित्र्य बलवान। अगर आप लोग इतना भी नहीं कर सकते तो विश्वास रखिये कि सन् १९३० में आपके लिये कुछ होना जाना नहीं है।''

सत्य का यही प्रखर ताप गांधीजी की वाणी में प्रकट हुआ था जब उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों को संबोधित किया था। महामना मालवीयजी की साधना का स्मरण दिलाते गांधीजी ने विद्यार्थियों के सामने तीखा प्रश्न खड़ा किया था, ''क्या आप भारतमाता के इन सपूत की इतनी महान सेवाओं का बदला चुकाने को तैयार हैं ? आप लोगों को चारों वेदों के निष्णात पण्डित-मात्र देखकर उन्हें संतोष नहीं होगा।[1] वह तो आप से यह आशा रखते हैं कि आप चारित्र्य- बल और धर्माचरण द्वारा देश के सच्चे धर्म-रक्षक बनें।'' अपनी बात पर बल देते गांधी जी ने आग्रह किया था, ''मैं दावे के साथ कहता हूं कि आत्मशुद्धि और चारित्र्य-संगठन के क्षेत्र में इस नन्हें से चर्खे का बड़ा प्रभुत्व है। ईश्वर के लाखों नामों में से दरिद्रनारायण सर्वाधिक पवित्र है, क्योंकि दुनिया में अधिक से अधिक संख्या गरीबों और भुक्खड़ों की है।........ अब मैं आपसे पूछता हूं कि आप लोग इन नर कंकालों के लिये क्या करना चाहते हैं ? मैं नम्रतापूर्वक आप लोगों से निवेदन करता हूं कि तीन तरीकों से आप इन लोगों की सेवा कर सकते हैं, चर्खा-विशारद बनकर, खादी पहनकर और खादी-निधि के लिये धन देकर। इन तीनों कार्यों में आप चाहें तो बहुत कुछ हाथ बंटा सकते हैं। मुझे उम्मीद है कि आपलोग दरिद्र नारायण के सच्चे सेवक बनकर उस शिक्षा का गौरव बढ़ायेंगे जो आज आप पा रहे हैं।'' गांधीजी का यह प्रेरक वक्तव्य 'हिन्दी नवजीवन' के १७ अक्टूबर १९२९ के अंक में प्रकाशित 'संयुक्त प्रान्त की यात्रा' शीर्षक टिप्पणी से उद्धृत किया गया। स्पष्ट है, गांधीजी के शिक्षा विषयक प्रतिमान और निकष पर आज की शिक्षा मूल्यहीन है। वर्तमान शिक्षा ऐसे स्नातक तैयार कर रही है, जो समाज और देश के स्वार्थ से कोई सरोकार नहीं रखते। शिक्षा उस उपाधि के लिये है, जो भोग-साधन का स्वामी बना सके; विद्यार्थियों को उसी ढांचे में तैयार किया जा रहा है जो स्व-केन्द्रित और विलास-भूख की ज्वाला को तेज करता है, और चारित्रिक धुरी और

---

१. अपने जीवन का ध्येय स्पष्ट करते स्वामी विवेकानन्द ने २७ जनवरी १९०० को पॅसा डेना के शेक्सपियर क्लब में कहा था, ''लाखों-करोड़ों का होम करके एक बड़ा आध्यात्मिक दिग्गज पैदा किये जाने का कोई अर्थ नहीं है। यदि हम ऐसा समाज निर्माण करें, जिसमें एक ऐसा आध्यात्मिक दिग्गज भी हो और सारे अन्य लोग भी सुखी हों तो वह ठीक है। पर अगर करोड़ों को पीसकर एक ऐसा दिग्गज बनाया गया, तो यह अन्याय है। अधिक उचित तो यह होगा कि सारे संसार के परित्राण के लिये एक व्यक्ति कष्ट झेले.'' विवेकानन्द साहित्य, दशमखंड, पृ. ६ (करोड़ों के परित्राण के लिये सत्याग्रही महात्मा गांधी स्वामी जी के निकष पर सच्चे आध्यात्मिक पुरुष सिद्ध होते हैं.)

नैतिक धरातल को इतना कमजोर बना देता है कि मानवीय मूल्य और आदमी की पहचान उजागर करने वाले सारे आदर्श अप्रासंगिक हो जाते हैं।

न केवल विद्यार्थियों को बल्कि देश के हर वर्ग में अपने जागरण-मंत्र द्वारा गांधी जी स्वधर्म का विवेक जगाते रहते थे। गांधीजी की अहिंसा-निष्ठा को हिंसा-पथ के यात्री क्लीवता समझने की भूल करते थे। 'हिन्दी नवजीवन' के ३० अक्टूबर १९२९ के अंक में 'अहिंसा बनाम कायरता' शीर्षक गांधीजी की टिप्पणी छपी थी। दोनों के अन्तर को स्पष्ट करते गांधीजी ने लिखा था, "अहिंसा सर्वश्रेष्ठ सद्‌गुण है, कायरता बुरी से बुरी बुराई है। अहिंसा का मूल प्रेम में है, कायरता का घृणा में। अहिंसक सदा कष्ट सहिष्णु होता है, कायर सदा पीड़ा पहुंचाता है। सम्पूर्ण अहिंसा उच्चतम वीरता है। अहिंसक व्यवहार कभी पतनकारी नहीं होता, कायरता सदा पतित बनाती है।"[१] इसी प्रकार वर्ण-व्यवस्था पर 'वर्ण धर्म और श्रम धर्म' शीर्षक से १३ फरवरी, १९३० के सम्पादकीय लेख के माध्यम से गांधीजी ने भारतीय समाज के पुराने अनुशासन को सर्वथा नये कोण और आधुनिक दृष्टि से निरख परख कर अपना विचार प्रकट किया है, ... "जब कई एक मनुष्य अर्थ संग्रह ही के कारण अपनी बुद्धि का उपयोग करते हैं, घातक विषमता पैदा हो जाती है। जैसे, यदि शिक्षक (ब्राह्मण), सिपाही (क्षत्रिय) व्यापारी (वैश्य), और बढ़ई (शूद्र), समाज हित के लिये नहीं बल्कि धन संग्रह के लिये अपना धंधा करें तो वर्ण धर्म का लोप हो जाता है क्योंकि धर्म में धन-संग्रह को कोई भी स्थान नहीं हो सकता। समाज में शिक्षक, वकील, डाक्टर, सिपाही वगैरा की आवश्यकता है परन्तु जब ये लोग स्वार्थवश काम करते हैं तब समाज-संरक्षक मिट कर समाज-भक्षक बन जाते हैं।..... यह तो स्पष्ट है कि ईश्वर परिग्रही नहीं है। सर्वशक्तिमान होने के कारण वह प्रतिदिन इतना ही अन्न पैदा करता है जितना प्रत्येक मनुष्य या प्राणी के लिये काफी हो जाय।' इस महान नीति को न जानते हुए कई लोग अनेक प्रकार के भोग भोगते हैं, इससे दूसरों को भूखों रहना पड़ता है। अगर इस लोभ को छोड़कर ऐसे लोग अपनी रोटी के लिये आप परिश्रम करें और आवश्यक रोटी ही खायें तो जो कंगालियत आज हम देखते हैं वह नाबूद हो जाय।" यह सर्वोदय विचार-सरणि है। वेदान्ती परिव्राजक स्वामी विवेकानन्द ने बड़े बलपूर्वक कहा है कि दरिद्रनारायण के उपासक को ही मैं महात्मा मानता हूं।[२] गांधी जी इस कसौटी पर खरे महात्मा सिद्ध होते हैं। राजनीति से स्वयं को अलग रखते स्वामी जी ने कहा था कि सत्य और ईश्वर-निष्ठा सर्वश्रेष्ठ राजनीति है।[३] गांधीजीकी राजनीतिक चर्या की यही मूल भित्ति थी और उनकी पत्रकारिता का भी बुनियादी अनुशासन यही था। १९ सितम्बर १९२९ के अंक में प्रकाशित

---

१. और सारी बातें मुझसे सह ली जाती हैं, कायरता सहन नहीं होती। जो उसे नहीं छोड़ सकता उसके साथ सम्बन्ध रखना क्या मेरे लिये संभव हो सकता है," विवेकानन्द साहित्य, सप्तम खंड, पृ. ३९।

२. "उसी को मैं महात्मा कहता हूं, जिसका हृदय गरीबों के लिये द्रवीभूत होता है, अन्यथा वह दुरात्मा है।" - स्वामी विवेकानन्द, विवेकानन्द साहित्य तृतीय खंड, पृ. ३४५

१. द्रष्टव्य: विवेकानन्द साहित्य, तृतीय खंड, पृ. ३१५

टिप्पणी 'भारतवर्ष के अंधे' का उपसंहार करते गांधीजी ने लिखा था, "स्वराज्य भावना का मतलब तो यह है कि हम में अपनी आजादी के लिये जितना जोश है उतना ही जोश भारत के तमाम अन्धों, लूलों, लंगड़ों, गूंगों, भुक्खड़ों और निर्बलों की आजादी और बहबूदी के लिये हमारी नसों में बहता हो। जिसका इस तरह हृदय परिवर्तन हो गया है, वह दुखियों की सेवा का एक भी मौका हाथ से नहीं जाने देगा।" इसी प्रकार अपने नैसर्गिक अन्दाज में लिखित २४ अप्रैल १९३० की 'अस्पृश्यता' शीर्षक गांधीजी की टिप्पणी की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं, "मैं अंग्रेज जनता का विरोधी नहीं हूं। मेरा विरोध अंग्रेजों की शासन-पद्धति से है। मनुष्य के नाते तो वे हमारे ही जैसे हैं। कुछ बातों में वे हमसे बढ़कर भी हैं, तो कुछ में हम उनसे बढ़कर हैं। लेकिन शासन के नाते तो वे बिल्कुल ही नीच हैं, निकृष्ट हैं। बहैसियत एक शासक के वे हमारा जरा भी भला नहीं कर रहे, और न उन्होंने कभी भला किया है।" यह अहिंसा-भित्तिक गांधीजी की विप्लवी चेतना उनके समग्र कार्य-व्यापार में दिखाई पड़ती है। असहयोग-आंदोलन की अपनी परिकल्पना का वे निरन्तर निरीक्षण-परीक्षण करते रहते थे, और सच्चे सत्याग्रही की तरह अपनी छोटी भूल को भी स्वीकार करने में उन्हें संकोच नहीं होता था। 'मेरी भूल' शीर्षक उनका वक्तव्य 'हिन्दी नवजीवन' में १९ अगस्त १९२१ को प्रकाशित हुआ था, जो सत्यनिष्ठ नायक का महत्वपूर्ण दस्तावेज है।[२]

स्वराज्य[३] - संग्राम में सम्मिलित होने के लिये अहिंसा के दार्शनिक को मृत्यु-भय से मुक्त होना जरूरी शर्त जान पड़ती थी। मृत्यु-भय से उत्तीर्ण होने का रास्ता सुझाते उन्होंने 'नवजीवन' में प्रेरक वक्तव्य प्रकाशित किया था, जो 'हिन्दी नव जीवन' के माध्यम (१९ अगस्त, १९२१ के अंक में प्रकाशित, परिशिष्ट में अविकल उद्धृत) से देश के बड़े समूह तक पहुंचा था, और स्वराज्य के लिये प्राणाहुति देने की बलवती प्रेरणा जागी थी। अपने लम्बे वक्तव्य का उपसंहार करते 'हिन्दी नव जीवन'- सम्पादक मोहनदास करमचंद गांधी ने लिखा था, "मेरा दृढ़ विश्वास है कि 'स्वदेशी आंदोलन' हमारी पेशबंदी है। यदि इसमें हमारी फतेह हो गई तो, मैं समझता हूं, सरकार को अथवा और किसी को हमारी 'अग्नि-परीक्षा' की आवश्यकता ही न रहेगी।"

"परन्तु इतना होने पर भी, यह आवश्यक है कि हम गफलत में न रहें। सत्ता अंधी और बहरी होती है। वह अपने पास की घटनाओं को भी नहीं देख सकती। अपने कान के पास का कोलाहल भी वह नहीं सुन सकती। अतएव, नहीं कह सकते कि जो सरकार मदोन्मत्त है वह क्या न कर बैठेगी ? इसलिये मेरे मन में यह ख्याल उठा कि अब देश-सेवकों को मृत्यु, जेल अथवा दूसरी आपत्तियों का स्वागत-एक मित्र की तरह स्वागत-करने की तैयारी कर रखनी चाहिए।"

"एक शूर-वीर जिस प्रकार हंसते हुए मृत्यु का स्वागत करता है उसी प्रकार वह

---

२. द्रष्टव्य: परिशिष्ट में संकलित पूरा वक्तव्य।
३. द्रष्टव्य: परिशिष्ट - स्वराज्य की व्याख्या।

सावधान भी रहता है। शांतिमय संग्राम में तो गफलत के लिये जगह ही नहीं। हम ऐसे अपराध करके कि जो नीति और सदाचार के विरुद्ध हैं, जेल नहीं जाना चाहते न फांसी पर ही लटकना चाहते हैं। हमें तो सरकार के अन्याय मूलक कानूनों का सामना करते हुए 'बलिदान' होना है।'' यहीं मूल प्रेरणा थी गांधी जी के सत्याग्रह आंदोलन की, जिसका गहरा प्रभाव देश के मानस-मनीषा पर पड़ा, और स्वराज्य के लिये अभूतपूर्व जागृति पैदा हुई। आम आदमी की संवेदना और बौद्धिक वर्ग का विवेक इसी जागृति से तब अनुप्राणित था।

उक्त राष्ट्रीय जागरण के एक विशिष्ट नायक सरदार बल्लभभाई पटेल की जेल-यात्रा पर १३ मार्च १९३० के अंक में हिन्दी नव जीवन संपादक ने टिप्पणी की थी। 'सरदार जेल-महल में,' शीर्षक टिप्पणी की कुछ पंक्तियां सत्याग्रह आंदोलन के प्रणेता -नायक की दृष्टि को समझने के लिए द्रष्टव्य हैं, ''उन लोगों के लिये जेल है ही नहीं, जिनके मन जेल महल के समान हैं और जो जेल और महल में कोई भेद नहीं समझते। जहाँ आज सरदार बिराजे हैं वहां हम सबको जाना है। पर बिना योग्यता प्राप्त किये जेल नहीं मिलती।

'मुझे अपना मार्ग साफ सूझ रहा है। जब तक सरकार मुझे रहने देती है तब तक तो मुझे सरकार के नमक सम्बन्धी राक्षसी कानून का भंग करके नमक-कर रद्द कराना है, और स्वराज्य सोपान की पहली सीढ़ी पार करनी है, अथवा यह करते हुए मरते दम तक लड़ना है। दूसरे भी ऐसा ही करें।'' और गांधीजी के आह्वान पर पूरा देश 'स्वराज्य सोपान की पहली सीढ़ी' पार करने के लिये पागल हो उठा था, देश के लिये प्राणाहुति देने की स्पर्द्धा देश के कोने-कोने में जाग गयी थी। सत्याग्रही सैनिकों से अंगरेजी सरकार की जेलें भरने लगी थीं। सत्याग्रह आंदोलन के नायक ने सत्याग्रहियों को अंग्रेजी सरकार की अमानुषिक नृशंसता के प्रति सचेत कर दिया था, और सत्याग्रही योद्धा की आचार-संहिता का निर्देश दे दिया था। पर सरकारी यातना-विधि सत्याग्रहियों के अनुशासन पर सनकी तरीके से प्रहार कर रही थीं, उसकी निष्ठा पर तीखा प्रहार। 'हिन्दी नवजीवन' के २४ अप्रैल, १९३० के सम्पादकीय पृष्ठ पर 'सलाम अथवा बला?' शीर्षक एक टिप्पणी छपी है। अजमेर से हरिभाऊ उपाध्याय ने यह सूचना पत्र द्वारा दी थी कि जेल में पथिक जी और बाबा जी (नृसिंह दास जी) जैसे सत्याग्रही से चक्की पिसवाइ जा रही है। इसी प्रसंग पर उक्त सम्पादकीय टिप्पणी केंद्रित है। गांधीजी ने अपने नैसर्गिक ओजस्वी अन्दाज में लिखा था, ''यदि हरिभाऊ जी को मिली खबर सच है तो जेल में भी सत्याग्रह करने का काफी सामान मौजूद है। आमतौर पर कैदी का जेलर को सलाम करना ही अच्छा है परन्तु यदि कोई सत्याग्रही सलाम न करे तो उसके साथ जबर्दस्ती की जाय तो दूसरों का भी धर्म हो सकता है कि वे भी सलाम न करें.......... मेरे विचार से तो किसी भी सत्याग्रही कैदी को अन्य कैदियों से अलग नहीं माना जाना चाहिए। परन्तु यदि एक सत्याग्रही के साथ खास व्यवहार किया जाता है तो दूसरों के साथ भी वैसा ही बर्ताव किया जाना चाहिए।..... परन्तु कोई इस सल्तनत से न्याय-बुद्धि की इंसाफ की अपेक्षा कैसे रख सकता है।'' सत्याग्रहियों के साथ जेल में अंगरेजी सरकार जो दुर्व्यवहार कर रही थी उस पर २९ मई १९३० को

काशीनाथ त्रिवेदी ने 'हिन्दी नवजीवन' में तीखी सम्पादकीय टिप्पणी लिखी थी। सम्पादकीय लेख का शीर्षक है- *'दिवाला या बेहयाई ?'* अपमानजनक व्यवहार के प्रतिवाद में साबरमती जेल के सत्याग्रहियों ने भूख-हड़ताल की थी। पूरे देश के कारावास की एक ही त्रासद स्थिति थी,- "......अब्बास साहब और महादेव भाई की तबियत के खराब होने के समाचार मिले हैं। वजन घटा है। इसी तरह की 'समानता' बम्बई जेल में श्री कन्हैयालाल मुंशी, जमनादास द्वारकादास और उनके उच्चवर्ग के साथियों ने भी प्राप्त की है। इस समता के देने में सज्जनता नहीं, निरी बेहयाई है।

"पुनश्च............ श्री गणेश शंकर विद्यार्थी को कौन नहीं जानता ? युक्त प्रांतीय महासभा समिति के वह सभापति है। 'प्रताप' पत्र के सुप्रसिद्ध सम्पादक हैं। परन्तु समाचारों से मालूम होता है कि वे 'सी' क्लास में रक्खे गये हैं। अजमेर जेल में त्यागभूमि के सम्पादक श्री हरिभाऊ जी उपाध्याय वगैरा सत्याग्रही कैदियों के साथ संतोषजनक बर्ताव नहीं किया जाता।........ परन्तु जिस सरकार ने बेहयाई का चोंगा पहन रक्खा है, उसे उसके अन्यायों और अत्याचारों की याद दिलाने से लाभ ? इन सब बुराइयों, मनमानी और अत्याचारों का एकमात्र उपाय स्वराज्य है और वह इस अन्यायी शासन को मिटा कर ही कायम किया जा सकता है।"

'हिन्दी नवजीवन' के उद्योक्ता मारवाड़ी कुल-भूषण जमनालाल बजाज थे, जिन्हें गांधीजी अपना 'पांचवा पुत्र' मानते थे। गांधीजी द्वारा संचालित सत्याग्रह आंदोलन और समाज-संस्कार मूलक रचनात्मक कार्यक्रम के प्रति जमनालाल जी की अटूट आस्था थी। समाज-सेवा, जातीय जागरण और गांधीजी की विचारधारा के व्यापक प्रसार के लिये ही उन्होंने अपनी कर्म-भूमि वर्धा से १९२० में 'राजस्थान केसरी' और १९२१ में अहमदाबाद से 'हिन्दी नवजीवन' का प्रकाशन किया था। 'हिन्दी नव जीवन' के प्रथम अंक में ही सम्पादक मोहनदास करमचन्द गांधी ने स्वराज्य की अपनी अवधारणा की व्याख्या की थी, और मारवाड़ी समाज को राष्ट्र धर्म की प्रेरणा देते 'मारवाड़ी भाइयों और बहनों के प्रति' शीर्षक टिप्पणी[१] प्रकाशित की थी। गांधीजी ने लिखा था, "धनिक वर्ग के अलग रहते हुए, इस धर्मयुद्ध में जो आज भारतवर्ष में छिड़ रहा है, सफलता मिलना मुझे बहुत ही कठिन दिखाई देता है।

"अखिल भारतीय कांग्रेस की राष्ट्रीय समिति ने स्व-राज्य प्राप्ति के लिए अब जो कदम उठाया है उसमें आपलोगों की ओर से सहायता मिलने पर ही सम्पूर्ण सफलता मिल सकती है।" गांधीजी का प्रेरक आवाहन मारवाड़ी समाज द्वारा अनुत्तरित नहीं रहा, ऐतिहासिक साक्ष्य है। न केवल जमनालाल बजाज, बल्कि घनश्यामदास बिड़ला जैसे वाणिज्य-व्यवसाय के शिखर पुरुष गांधीजी के प्रति श्रद्धाशील और उनके स्वराज्य आन्दोलन के सक्रिय सहयोगियों में थे।

गांधीजी की सत्य-निष्ठा, देश-भक्ति और आलोकवर्षी नायकत्व से अनुप्रेरित हो कर उनके स्वातंत्र्य-संग्राम को गत्वर करने के लिये राजस्थानियों द्वारा राजस्थान और दूसरे

१. परिशिष्ट में पूरी टिप्पणी अविकल उद्धृत की गयी है।

प्रदेशों से अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ,[१] जिनकी महत्वपूर्ण भूमिका को इतिहास रेखांकित करता है।

गांधीजी के बहुआयामी नायकत्व का प्रभाव पूरे देश पर अनेक रूपों में पड़ा था। गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम का एक मुख्य बिन्दु सामाजिक कुरीति-कुसंम्कारों का प्रक्षालन था। मारवाड़ी समाज के प्रबुद्ध और जागरूक लोगों की दृष्टि में अपने समाज का कुसंम्कार चुभ रहा था। कुरीति-निवारण के उद्देश्य से राजस्थान और दूसरे प्रदेशों के प्रवासी मारवाड़ियों ने जगह-जगह समितियां-संस्थायें बनायी थीं। १९२० में आरा (बिहार) के प्रवासी मारवाड़ियों के तीन नवयुवकों श्री नवरंग लाल तुलस्यान, श्री हरद्वार प्रसाद जालान और श्री दुर्गाप्रसाद पोद्दार ने 'मारवाड़ी सुधार समिति' की स्थापना की थी। इस समिति का 'मुख पत्र' था 'मारवाड़ी सुधार' जो 'हिन्दी-भूषण' श्रीयुत शिवपूजन सहाय के सम्पादन में सन् १९२१ (संवत १९७८ चैत्र-फाल्गुन) में आरा से प्रकाशित हुआ था।

हिन्दी के पांक्तेय कृती संपादक आचार्य शिवपूजन सहाय की पत्रकारिता से सम्पादन यात्रा का प्रथम चरण था 'मारवाड़ी सुधार'। अपने कठोर परिश्रम, सम्पादन-दक्षता और समय-संवेदना के प्रति जागरूकता द्वारा आचार्य शिवपूजन सहाय ने वर्ग-विशेष की पत्रिका 'मारवाड़ी सुधार' - को देश के बड़े परिदृश्य की लोकप्रिय पत्रिका बना दिया था। मासिक 'गंगा' में 'मेरी राम कहानी' शीर्षक अपने संस्मरण में 'मारवाड़ी सुधार' को स्मरण करते शिवपूजन जी ने अपनी पीड़ा प्रकट की है, ''पहले पहल मैंने लगातार दो साल तक आरा मे प्रकाशित एवं सम्प्रति समाधिस्थ सचित्र मासिक-पत्र- 'मारवाड़ी-सुधार' का सम्पादन किया था। वह केवल लक्ष्मीपात्र मारवाड़ी भाइयों की उदासीनता से बंद हो गया।''

'मारवाड़ी-सुधार' का उद्देश्य स्पष्ट करते सम्पादक ने प्रथम सम्पादकीय वक्तव्य में लिखा था, ''इसका प्रधान उद्देश्य केवल मारवाड़ी-समाज की कुरीतियों को दूर करके उस समाज का वास्तविक परिष्कार करना ही है। इसके द्वारा समय-समय पर मारवाड़ी-समाज की कुप्रथाओं की तीव्र एवं निर्भीक आलोचना की जायगी। मारवाड़ी जाति की उन्नति को अपना एकमात्र लक्ष्य बनाकर वह सदा निष्पक्ष भाव से अपने मन्तव्य पर डटा रहेगा। यदि इसके द्वारा मारवाड़ी-समाज का कुछ भी मंगल साधन हो सका, तो यह अपना जन्म सार्थक समझेगा।''

''जो मारवाड़ी-समाज के शुभ चिन्तक हैं, उनके सामने सामाजिक कुरीतियों को उपस्थित करने में यह 'सुधार' कभी कोताही न करेगा। इस सुधार का जन्म उसी दिन चरितार्थ होगा जिस दिन इसके द्वारा मारवाड़ी भाइयों में जातीय गौरव जाग उठेगा, राष्ट्रभाषा हिन्दी का अविरल अनुराग हो जायेगा और उनका हृदय देशाभिमान के भव्य भावों का

---

१. इस काल के पत्रकारिता विषयक राजस्थानी उद्योग के विस्तृत विवरण के लिये द्रष्टव्य- (१) भारत में हिन्दी पत्रकारिता डॉ. रमेश जैन (२) राजस्थान में हिन्दी पत्रकारिता - डॉ. मनोहर प्रभाकर (३) स्वाधीनता आंदोलन में जयपुर की पत्र-पत्रिकाओं का योगदान-महेन्द्र लोढ़ा (४) राजस्थान की पत्र-पत्रिकायें-महेन्द्र लोढ़ा (५) हिन्दी पत्रकारिता :विविध आयाम डॉ. वेदप्रताप वैदिक (६) पण्डित झाबर मल्ल शर्मा अभिनन्दन ग्रंथ (७) धुन के धनी सं. सत्यदेव विद्यालंकार।

भरपूर भाण्डार हो जायेगा।''[1]

'मारवाड़ी-सुधार'- सम्पादक सम्पादकीय गरिमा के प्रति पूर्ण सचेत थे। किसी प्रलोभन और दबाव में वे पत्रिका के स्तर को झुकाने के लिये कतई तैयार नहीं थे। अस्मिता-बोध उस पीढ़ी के सम्पादकों-पत्रकारों की प्रमुख पहचान थी। शिवपूजन सहाय पत्रिका के उद्योक्ता और उद्देश्य के बारे में पाठकों को स्पष्ट भाषा में बता चुके थे, किन्तु पत्रिका के स्तर को गिराना या उसके उद्देश्य को संकुचित करना उनके विवेक को मंजूर नहीं था।[2] और पत्रिका का रूपायन उन्हीं के विवेक से अनुशासित था। 'मारवाड़ी-सुधार' में मारवाड़ी लेखकों के लेख प्रायः प्रकाशित होते थे, पर 'मारवाड़ी-सुधार समिति' का पत्र होने के कारण मारवाड़ी समाज का इस पर विशेषाधिकार नहीं था। कुछ लोग इस भ्रम में अनर्गल बातें और स्तरहीन सामग्री प्रकाशनार्थ भेज देते थे कि मारवाड़ी होने के नाते 'मारवाड़ी-सुधार' में छपना उनका विशेषाधिकार है। ऐसे भ्रम का निवारण शिवपूजन सहाय अपने सम्पादकीय विवेक से बड़ी दृढ़तापूर्वक कर दिया करते थे। पत्रिका के स्तर और उद्देश्य के मुताबिक चाहे मारवाड़ी का लिखा हो, चाहे गैर मारवाड़ी का, जो सामग्री सम्पादक को स्वीकार्य होती थी, केवल उसे ही 'मारवाड़ी सुधार' में जगह मिल पाती थी। इस बिन्दु पर किसी प्रकार का हस्तक्षेप और समझौता आचार्य शिवपूजन सहाय जैसे साधु पुरुष की कोमल प्रकृति तक को स्वीकार्य नहीं था। सम्पादकीय स्वातंत्र्य और अस्मिता-बोध उनकी दृष्टि में शीर्ष महत्व का मूल्य था। कैशोर्य मति के महत्वाकांक्षी मारवाड़ी लेखकों के दुराग्रह से ऊबकर 'मारवाड़ी सुधार' सम्पादक ने सातवें अंक में किंचित् तीखी टिप्पणी लिखी थी, ''आप मारवाड़ी हैं, इसलिये आपकी लिखी हुई गाली भी 'मारवाड़ी-सुधार' में छप जाय, यह हो ही नहीं सकता। मुझे मारवाड़ी-लेखकों के साथ हार्दिक सहानुभूति है। यहां तक कि जिन भाइयों के विचार उपयोगी जचते हैं, उनके लेख की अशुद्धियों पर ध्यान न देकर मैं, अपनी इन्हीं टिप्पणियों में उन्हें प्रकाशित कर देता हूं, केवल इसी विचार से प्रेरित होकर कि उनका उत्साह बढ़ेगा और वे लिखने का ढंग सीखेंगे।......... प्यारे मारवाड़ी-लेखक-भाइयो! आपको याद रखना चाहिये कि यह पत्र केवल ऐसे ही लेखकों को प्रकाशित करता है जिससे कुछ अच्छी बात सीखने को मिले और दिल भी बहले। .... आप यदि समिति के सदस्य हैं और इस पत्र के ग्राहक हैं तो इससे क्या? इस दलील को पेश करने से मैं आपके लेखों को हर्गिज स्थान नहीं दे सकता और 'रजिस्ट्री-खर्च भेजने पर' भी मैं ऐसे निन्दनीय लेखों को कभी वापस नहीं कर सकता। ऐसा मैं इसलिये नहीं करता कि रायबहादुर मारवाड़ी सज्जनों का मुझे कुछ भय है बल्कि इसलिये कि व्यक्तिगत आक्षेप करना इस पत्र की नीति नहीं है। मारवाड़ी समाज में जितने रायबहादुर

---

१. 'मारवाड़ी सुधार' की प्रथम सम्पादकीय परिशिष्ट में द्रष्टव्य।

२. ''मारवाड़ी सुधार' पर रामनाथ 'सुमन' की टिप्पणी बड़ी सटीक है, ''१९२१ में आरा से उनके सम्पादन में 'मारवाड़ी सुधार' पत्र निकला। जातिगत मासिक पत्रों के इतिहास में इसका विशेष स्थान है। था तो वह एक मारवाड़ी पत्र, किन्तु उसे बृहत्तर सामाजिक प्रवृत्तियों से अलंकृत करने का श्रेय शिवजी को ही है।''
- 'मैंने स्मृति के दीप जलाये,' पृ. ४८

महाशय हैं उनसे मुझे कुछ भी द्वेष नहीं है।... मैं उन विकट लेखक बहादुरों से क्षमा मांगता हूं। कृपापूर्वक अब वे लेख लौटाने के लिये दिक न करें और भविष्य में ऐसे-ऐसे भ्रष्ट विचारों को प्रकट करके सरस्वती को न सतावें,वह तो स्वयं मारवाड़ी-समाज से असहयोग किये बैठी हैं।''

मारवाड़ी-समाज को विद्या-विकास की प्रेरणा देते शिवपूजन सहाय ने 'मारवाड़ी-सुधार' के प्रथम सम्पादकीय वक्तव्य में लिखा था, ''मालदार मारवाड़ियों के पासंग में भी विद्वान मारवाड़ी नहीं है, क्योंकि मारवाड़ियों को विद्या से बहुत कम अनुराग है। उनका जितना काफी समय और प्रेम उनके व्यवसाय में लग जाता है, यदि उसका कुछ हिस्सा भी विद्योपार्जन और शिक्षा- प्रेम में खर्च होता, तो वे आज भारत की डगमगाती नैया के कुशल कर्णधार हो सकते।''

पत्रकारिता सम्बन्धी शिवपूजन सहाय के आदर्श-पुरुष थे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और पं. बाबूराव विष्णु पराड़कर। उनके निर्देश को उन्होंने बलपूर्वक रेखांकित किया है- ''सम्पादक के लिखे हुए अधिकांश सामयिक लेख ऐसे होते हैं, जो प्रायः असामयिक नहीं होते। उनसे देश, समाज, धर्म, राजनीति और साहित्य की तत्कालीन अवस्था का परिचय मिल जाता है''- महावीर प्रसाद द्विवेदी; ''सम्पादकीय लेखों में प्रकट किये गये संपादक के विचार व्यक्तिगत नहीं होते, वे राष्ट्र के जन-समुदाय की विचार-सरणि का प्रतिनिधित्व करते हैं''- बाबू राव विष्णु पराड़कर। इसी निर्देश-विवेक से आचार्य शिवपूजन सहाय की पत्रकारिता अनुशासित थी। मारवाड़ी-समिति की पत्रिका 'मारवाड़ी सुधार' में मारवाड़ी समाज की समस्याओं पर केन्द्रित सामग्री ही अधिक रहती थी, पर अपने विचक्षण सम्पादन-कौशल से शिवपूजन सहाय ने उसे राष्ट्रीय अभीप्सा का प्रवक्ता बना दिया था, और उनके कृती व्यक्तित्व का ही प्रताप था कि वर्ग-विशेष की पत्रिका 'मारवाड़ी-सुधार' को पांक्तेय लेखकों-रचनाकारों का सक्रिय सहयोग प्राप्त था। पं. रामचरित उपाध्याय, पं. अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध, पं. माधव शुक्ल, पं. रूपनारायण पाण्डेय, लाला भगवान दीन, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, पं. हरनाथ द्विवेदी, पं. रामदहिन मिश्र, पाण्डेय मुकुटधर शर्मा पं. ईश्वरीप्रसाद जी शर्मा, पं. श्रीधर पाठक, पं. रामनरेश त्रिपाठी, पं. वियोगी हरि, पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी, भगवतीचरण वर्मा जैसे रचनाकारों-पण्डितों का 'मारवाड़ी सुधार' को सक्रिय सहयोग उपलब्ध था। जाहिर है, इस विशिष्ट रचनात्मक सहयोग के मूल में सम्पादक 'हिन्दी भूषण' शिवपूजन सहाय का कृती व्यक्तित्व था।

'मारवाड़ी- समाज' के लेखकों पर शिवपूजन सहाय की तीखी सम्पादकीय टिप्पणी की प्रतिक्रिया इतनी तेज हुई कि कलकत्ता से बाबू बैजनाथ प्रसाद देवड़ा और बाबू श्यामलाल जी देवड़ा ने जो सुपरिचित मारवाड़ी लेखक थे, 'मारवाड़ी सुधार समिति', आरा के मंत्री को पत्र लिख कर न केवल सम्पादकीय टिप्पणी का विरोध किया था, बल्कि संपादक को तीखी भाषा में नसीहत और धमकी दी थी। बाबू श्यामललाल जी देवड़ा ने बड़ी तिक्त भाषा में सम्पादक पर व्यंग्योक्ति की थी। प्रथम वर्ष के नौएं अंक में सम्पादक

शिवपूजन सहाय ने बड़ी शालीनता, किन्तु सम्पादकीय दृढ़ता के साथ उक्त प्रसंग पर टिप्पणी की थी- "मैं किसी से क्षमा नहीं मांगना चाहता। मुझे इसका खेद या दुःख भी नहीं है कि मैंने क्यों वैसी टिप्पणी लिख दी। मैंने जो कुछ लिखा था, शुद्ध हृदय से, सोच-समझ करण, हितैषणा की प्रेरणा से, विजातीय बनकर नहीं, अभिमान के साथ नहीं, द्वेष के साथ भी नहीं।........ मारवाड़ी समाज के उत्थान में देशोत्थान की झलक देखनेवाला हूं, इसलिये अपनी शक्ति को नष्ट करने वाले पथभ्रष्ट मारवाड़ी युवकों तथा गुमराह लेखकों को सीधी राह पर ले आने के लिये जो कुछ लिखना होगा सो निर्भयतापूर्वक लिखूंगा, कठिन रोग के लिये कड़वी भेषज का प्रयोग अवश्य करूंगा, जिसको न रुचे वह अपनी राह तके।" यह चारित्रिक ओज कुंवरसिंह और स्वामी भवानी दयाल संन्यासी[१] की धरती का नैसर्गिक ओज है। यही तेजस्वी जोखिमभरी मुद्रा सम्प्रति रांची से मारवाड़ी प्रतिष्ठान से प्रकाशित दैनिक 'प्रभात खबर' के युवा सम्पादक, जयप्रकाश नारायण के गांव के बाशिंदे, हरिवंश के सम्पादकीय विवेक और आयोजन में मुखर है।

मारवाड़ी समाज के प्रति आचार्य शिवपूजन सहाय सम्मानशील थे, इसका प्रमाण है 'मारवाड़ी सुधार' में नये मारवाड़ी लेखकों को स्थान देकर प्रोत्साहन देना और राजस्थान के सच्चे विद्या-साधकों के अवदान की महत्ता को रेखांकित करना। 'मारवाड़ी सुधार' की सम्पादकीय टिप्पणियां साक्ष्य हैं कि राजस्थानी समाज को शिवपूजन जी कितना बहुमान देते थे, और व्यवसायी समाज तथा राजस्थान प्रदेश के समग्र अभ्युत्थान के लिये विधायक दिशा-निर्देश देते स्वदेशी आंदोलन में उनकी सक्रिय भूमिका को उत्थित-प्रेरित करने वाले विचार-कोण की रचना करते रहते थे। इतना ही नहीं औचित्य के पक्ष से, मारवाड़ी समाज पर लगाये गये निराधार लांछनों का, 'मारवाड़ी सुधार' के माध्यम से करारा जवाब देते थे, जो उनकी सम्पादकीय निष्पक्षता, जागरूक विवेक, नैसर्गिक साहस और सदाशयता का परिचायक है। 'मारवाड़ी सुधार' के वर्ष-१ अंक १० की 'धन्य गुलाब बाई!' और 'कानपुरी तारामती देवी की चिट्ठी' शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणियां, इस सन्दर्भ में स्मरणीय हैं (परिशिष्ट में द्रष्टव्य)।

जैसा संकेत किया गया है, राजस्थानियों की विद्या-साधना पर केन्द्रित अधिकारी व्यक्तियों से श्लाघामूलक मूल्यांकनपरक निबंध लिखवाते-छापते थे।[२] अंक ९ वर्ष-१, में

---

१. स्वामी भवानीदयाल जी का जन्म दक्षिण अफ्रिका के सर्वश्रेष्ठ नगर जोहांस वर्ग में हुआ था। पर उनके रक्त में भोजपुरी माटी का संस्कार था। उनके पिता का जन्म शाहाबाद जनपद (बिहार) के बहुआरा गांव में हुआ था। १९०४में अपने पिता के साथ पितृ जन्मभूमि बहुआरा आये थे। १९०८ में शाहाबाद के सखरा गांव में इनका विवाह हुआ था। १९१२ में दक्षिणी अफ्रीका चले गये। अपनी सेवा-निष्ठा के बल पर गांधीजी के विशिष्ट सहयोगी बने।

२. परिशिष्ट में 'मारवाड़ी सुधार' की वार्षिक विषय-सूची दी गयी है, जो स्पष्ट प्रमाण है कि संपादक अपने दायित्व और पत्रिका की मूल प्रतिज्ञा के प्रति सचेत था। संपादक की व्यापक दृष्टि प्रभावशाली व्यक्तित्व और मारवाड़ी समाज के प्रति उसके संवेदना-सम्मान का भी स्पष्ट संकेत मिलता है। अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व से संपादक ने उस काल के पांक्तेय कवियों-लेखकों का सहयोग उपलब्ध कर वर्ग-विशेष की पत्रिका को हिन्दी की विशिष्ट पत्रिका बना दिया था।

सेठ रामदयालजी नेवटिया के सम्बन्ध में रामनरेश त्रिपाठी का निबंध प्रकाशित किया था। इसी प्रकार वर्ष-२, अंक ५ में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के सम्बन्ध में और वर्ष-१, अंक ४ में रूडमलजी गोयनका, नवरंग रायजी खेतान के बारे में तथा वर्ष-१, अंक १० में शिवचन्द्र भरतिया के उज्ज्वल पक्ष को उजागर करने वाले लेख प्रकाशित हुए थे।

'मारवाड़ी- सुधार'- सम्पादक समय संवेदना के प्रति जागरूक और निष्ठावान थे, तथा जिस समाज की हित-कामना की प्रेरणा से इस पत्रिका का प्रकाशन हुआ था उस समाज को राष्ट्र-धर्म के प्रति सुमुख-सचेत करने के लिये अपनी विचक्षण सम्पादकीय टिप्पणियों द्वारा निरन्तर प्रेरित करते रहते थे। स्वातंत्र्य-संग्राम गांधीजी के नेतृत्व में प्रखरतर हो रहा था, जातीय संवेदना असहयोग आंदोलन पर केन्द्रित हो गयी थी, स्वदेशी का बोध उत्कर्ष-बिन्दु को स्पर्श कर रहा था। 'मारवाड़ी-सुधार' के दूसरे वर्ष के पांचवें अंक में युगलात्मा कोविद, सम्पादक 'श्री स्वदेश' का 'राजस्थान और असहयोग' शीर्षक लेख शिवपूजन जी ने प्रकाशित किया था। उक्त निबंध की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं, ''भारत में घोर संग्राम छिड़ रहा है। एक तरफ सत्य दूसरी तरफ असत्य। विपक्षी जेल, कालापानी, फांसी अनेक प्रकार की यातनाओं के भय दिखाते हैं परन्तु असहयोगियों के पास त्याग और आत्म-बलिदान का एक ऐसा ब्रह्मास्त्र है जिससे विपक्षियों की यातनाओं का कुछ भी प्रभाव नहीं हो सकता। जेल को वे कृष्ण जन्मस्थान और फांसी को विजय की माला समझते हैं।''

''नागपुर कांग्रेस से ही राजस्थान तथा अन्य देशी रियासतों का सम्बन्ध कांग्रेस से हुआ है। पहिले देशी राज्यों के प्रतिनिधि कांग्रेस में सम्मिलित नहीं हो सकते थे। यदि कोई कांग्रेस में सम्मिलित होना चाहता तो उसे किसी ब्रिटिश प्रान्त की शरण लेनी आवश्यक थी। अब वह बात नहीं रही, राजस्थान को भी वह अधिकार प्राप्त हो गया है। नागपुर कांग्रेस में ही असहयोग प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था।''[1]

''प्रिय राजस्थानियो! यदि आपको अपने धर्म, देश तथा दीन पुरुषों और गोमाता पर कुछ भी प्रेम है तो अवश्यमेव असहयोग के इस प्रधान अंग में सहायता दें। राजस्थान के कोने-कोने में राष्ट्रीय मुकुटधारी शुद्ध खद्दर से सुशोभित देशभक्तों को उत्पन्न कर देना चाहिये तथा चरखे की गूंज द्वारा 'राजस्थान माता' के पास देश प्रेम का और गरीबों के प्रति उनकी हितैषिता का संदेश पहुंचा देना चाहिये।''

स्वराज्य-आंदोलन के नायक गांधीजी का असहयोग का संदेश देश के कोने कोने में पहुंचाने का प्रधान उद्देश्य लेकर अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। साम्राज्यशाही तोप का सामना अहिंसा-भित्तिक असहयोग से पत्रकारिता के माध्यम से ही किया जा सकता है, यह बोध गांधी युग में प्रखरतर हो गया था। पत्रकारिता की शक्तिमत्ता का विवेक बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक (१९०५) में उत्थित स्वदेशी आंदोलन काल में ही जागृत हो गया था। गांधी युग में राजस्थानी उद्योग से न केवल राजस्थान, बल्कि भिन्न-भिन्न स्थानों से कई पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित हुईं, जिनकी अंग्रेजी हुकूमत से सीधी मुठभेड़ थी।

---

१. द्रष्टव्य : कांग्रेस का इतिहास-डॉ. पट्टाभि सीता रमैया.

'मारवाड़ी सुधार' में युयुत्सु चेतना की दो पत्रिकाओं पर संपादक शिवपूजन सहाय ने मार्मिक टिप्पणियां लिखी हैं। सत्यदेव विद्यालंकार द्वारा सम्पादित और जमनालाल बजाज के संरक्षण में वर्धा से प्रकाशित 'राजस्थान केसरी' के विशेषांक पर 'मारवाड़ी सुधार' के वर्ष-१, अंक-९ में टिप्पणी करते सम्पादक ने लिखा था,- ''मध्य प्रदेश के वर्धानगर से देशभक्त सेठ जमनालाल जी बजाज की संरक्षकता में 'राजस्थान केसरी' नामक (२० पृष्ठ का) राष्ट्रीय हिन्दी साप्ताहिक प्रकाशित होता है।.......... 'केसरी' ने अपने गम्भीर गर्जन से राजस्थान-कानून को घन-घोषमय कर दिया है। 'प्रताप' और 'कर्मवीर' ने देशी राज्यों में जो जागृति का बीज वपन कर अंकुरित कर दिया है, उसे पल्लवित और कुसुमित वृक्ष का रूप देने में 'केसरी' अपनी सारी शक्ति का सदुपयोग कर रहा है।'' 'राजस्थान केसरी' के विशेषांक में प्रकाशित मुंशी देवी प्रताप जी मुन्सिफ का 'मारवाड़ और मारवाड़ी' शीर्षक गवेषणापूर्ण लेख पढ़ने का आग्रह शिवपूजन सहाय ने 'मारवाड़ी सुधार' के पाठकों से किया था।

'मारवाड़ी सुधार' के वर्ष-२, संयुक्तांक ४-५ में 'राजस्थान-केसरी फिर जाग उठा!' शीर्षक सम्पादकीय लेख प्रकाशित हुआ है। उक्त सम्पादकीय की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं, ''केसरी' की स्तुत्य सेवा राजस्थानियों को कभी न भूलेगी। राजस्थान पर जो आतंक छा रहा था, वह 'केसरी' के गर्जन से दूर हो गया। अब राजस्थान में जागृति की ज्योति फैल गई। राष्ट्रीयता का सिंहनाद सुनाकर 'केसरी' ने राजस्थान को जगा दिया है।'' टिप्पणी का उपसंहार करते सम्पादक ने राजस्थानियों को सचेत किया है, ''यदि मारवाड़ियों की उदासीनता से फिर भी 'केसरी' को थककर नयी स्फूर्ति प्राप्त करने के लिये-विश्राम लेना पड़ा, तो मारवाड़ी भाइयों को राजस्थान की मरुभूमि में डूब मरने के लिये चुल्लू भर पानी भी नहीं मिलेगा।''[1]

इसी अंक में 'श्री स्वदेश का शुभ संदेश' शीर्षक दूसरी सम्पादकीय टिप्पणी है, ''......जयपुर रियासत के फतहपुर नगर से बाबू युधिष्ठिर प्रसाद सिंहानिया और श्री गोपाल नेवटिया (युगलात्मा, कोविद, विशारद) के सम्पादकत्व में 'श्री स्वदेश' नामक सचित्र मासिक-पत्र निकला था।........... भाग्यवश राजस्थान से एक गण्यमान्य मासिक पत्र भी निकला, जो निरकुंश राज-सत्ता की आंखों का कांटा बन गया। कृष्णजन्म होते ही, कंस की भूख-प्यास और नींद हराम हो गई। स्वेच्छाचारी नरेश ने 'श्री स्वदेश' की ओर झट अंगुलि-निर्देश किया। वह 'कुम्हड़ बतिया' की तरह कुम्हला गया। 'लाजवन्ती घास' की तरह मुरझा गया। मारवाड़ियों के लिये यह बड़े भारी कलंक की बात है। क्या सिंह-समाज में गीदड़ बनकर रहने में उन्हें लज्जा नहीं आती। क्या राजस्थानियों को कुछ भी स्वत्व-ज्ञान नहीं है।'' 'मारवाड़ी सुधार'- संपादक की ये टिप्पणियां उनकी देश-

---

१. मारवाड़ी उद्योग से प्रकाशित 'आदर्श' के संपादक शिवपूजन सहाय की 'मारवाड़ी सुधार' (वर्ष-२, अंक-८) की सम्पादकीय टिप्पणी साधनानिष्ठ संपादक की वेदना को प्रकट करती है। परिशिष्ट में संकलित 'आदर्श' की 'भ्रूण हत्या'-शीर्षक टिप्पणी द्रष्टव्य।

हितैषिता के साथ ही मारवाड़ी-समाज के प्रति सच्ची शुभ-चिन्ता को द्योतित करती हैं। शुभ-चिन्ता के आवेग में ही 'मारवाड़ी-सुधार'- संपादक को जब-तब तिक्त टिप्पणियां लिखनी पड़ती थीं।

गांधी के असहयोग-आंदोलन का उत्थान और स्वातंत्र्य-स्पृहा की जातीय जागृति अंग्रेजी सरकार के लिये ही नहीं, देशी रियासतों के लिये भी असह्य थी। इसलिये राजकीय प्रभुता का दर्प और आन्तरिक भीति उद्धत नृशंसता के रूप में प्रकट होती थी, देश की जन-जागृति को कुचलने के लिये राजसत्ता विवेकहीन तरीके से सनकी दमन-नीति का सहारा लेती थी, जो राष्ट्रीय भाव को तीव्र उत्तेजना देती थी। 'मारवाड़ी सुधार' के वर्ष-१, अंक-८ में 'बीकानेर राज्य में ऐसा घोर अन्याय?' शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणी तत्कालीन देश-दशा को आलोकित करती है, "देशभक्त सेठ जमनालाल जी बजाज, कुंवर चांदकरण शारदा और पंडित गौरीशंकर भार्गव राजपूताना में सेवा-समितियों का संगठन, स्वदेशी वस्त्र-प्रचार, मद्यपान-निषेध और चर्खा-प्रचार करने के लिये भ्रमण कर रहे थे। बिसाऊ, फतेहपुर, सीकर, रामगढ़, लक्ष्मणगढ़, रतनगढ़ और सुजानगढ़ आदि प्रधान-प्रधान स्थानों में उक्त महाशयों ने पहुंचकर अपने कार्यक्रम के अनुसार काम किये हैं और स्वतंत्रता तथा जागृति का सच्चा संदेश सुनाने में सफलता भी प्राप्त की है किन्तु अत्यन्त दुःख का विषय है कि देशी रियासतें अंग्रेजों को यह कहकर हंसने का मौका दे रही हैं 'देशी राज्य से अंग्रेजी राज्य कहीं अच्छा है।' देशी राज्य में जहां अमन का चमन होना चाहिए, वहां दमन का दौर-दौरा है। रतनगढ़ स्टेशन पर पण्डित जी, शारदा जी और सेठ जी का जैसा अनौचित्यपूर्ण अपमान किया गया है, वह अपमान भारतवर्ष की सीमा के अन्दर कदापि सहने योग्य नहीं है। साम्राज्य-परिषद् में भारत के प्रतिनिधि की हैसियत से सम्मिलित होने वाले बीकानेर-नरेश की अमलदारी में भला इतना निन्दनीय अत्याचार? मारवाड़ियो! तुम्हारी जाति को अपने जन्म से धन्य बनानेवाले सेठ जमनालाल जी बजाज पर जहां रोष के साथ पशु-बल का प्रयोग किया गया, जहां उनके साथियों को धक्के देकर असमर्थ कर दिया गया, जहां उनको रेल पर यात्रा करने की आज्ञा तक नहीं दी गई, जहां गाड़ी में (सुजानगढ़ स्टेशन पर) उनके पास अन्न-जल भी नहीं पहुंचने दिया गया और जहां उनकी सेवा और स्वागत के लिये लालायित जनता का उत्साह मर्दित कर दिया गया, वहां क्या तुम्हारा कुछ भी स्वत्वाधिकार नहीं है! क्या तुम अपने ही घर में अपमानित होकर चुप रह जाना चाहते हो? तुम्हारी अतुलनीय सम्पत्ति किस दिन के लिये है? आज तुम में जातीय गौरव का भाव क्यों नहीं जाग उठता? यदि तुम में योग्यता है, यदि तुम में कुछ शक्ति है, यदि तुम में जात्याभिमान है, तो इसी आन पर मिट जाने में तुम्हारी बड़ाई है। बाहर का अपमान दिल में कांटे की तरह चुभता है, मगर अपने घर में जो अपमान होता है, वह हृदय में भयंकर ज्वाला पैदा कर देता है। क्या तुम उसी ज्वाला में जलना चाहते हो? यदि नहीं तो अपने 'धर्मावतार अन्नदाता' को अपनी शक्ति का परिचय करा दो और इस बात का ज्ञान भी कि असहयोग की अनन्त शक्ति आंधी ने जब ब्रिटिश साम्राज्य के समान विराट वृक्ष को जड़ से हिला दिया है, तब बीकानेर किस लेखे में है? इतना समझ लो कि जनता की छाती

पर सवार होकर कोई स्वेच्छाचारिणी शक्ति अब मुस्कुरा नहीं सकती।''[१] यह आग्नेय वाणी ही उस काल के पत्रकारों-सम्पादकों की सामान्य वाणी थी। देशभक्ति की ज्वाला को गांधी के नायकत्व ने इतना दीप्त कर दिया था कि आग से खेलनेवाले ही कुशल खिलाड़ी माने जाते थे, और विकट विपत्ति को आहृत कर पूरे शौर्य से पंजा लड़ाना ही सच्चा पुरुषार्थ माना जाता था। पूर्व स्वातंत्र्य काल की भारतीय पत्रकारिता इसी पुरुषार्थ-आलोक से सम्पन्न थी।

शिवपूजन सहाय की सम्पादकीय टिप्पणियां और 'मारवाड़ी सुधार' में प्रकाशित सामग्री प्रमाण है कि वर्ग विशेष की हित-चिन्ता से प्रेरित-प्रकाशित पत्रिका भी राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-संग्राम और जातीय स्वत्व-जागरण के प्रति अतिशय संवेदनशील तथा देश-धर्म के प्रति अत्यन्त जागरूक थी। 'मारवाड़ी सुधार' के दूसरे वर्ष के छठवें अंक के 'लेखों और सूचनाओं के सार' शीर्षक स्तम्भ के अन्तर्गत प्रकाशित बाबू लाल खेमाणी, आरा की टिप्पणी- 'धार्मिक दृष्टि से स्वदेशी का महत्व'- की कुछ मार्मिक पंक्तियां द्रष्टव्य हैं, ''स्वदेशी के प्रश्न में राजनीति की गंध तक नहीं है। वैश्य धर्म के अनुसार किसी को कहीं भी ऐसा अधिकार नहीं दिया गया है कि वह स्वदेश का धन नष्ट करके स्वयं लाभ उठावे। स्वदेशी व्यापार चौपट करने वाला वैश्य सोलहों आना अधर्म की कमाई खाता है इसलिये, भविष्य के हानि-लाभ को समझ कर धार्मिक दृष्टि से स्वदेशी के महत्व पर विचार करते हुए आपलोग शुद्ध स्वदेशी खादी का प्रचार और व्यवहार करें। खादी पहनने में हमारी धार्मिकता है और उसी से अपने देश को लाभ पहुंचता है। स्वदेशी-प्रचार को राजनीतिक बतलाना भूल है। इसमें तो प्रत्यक्ष ही केवल धार्मिकता भरी हुई है। अपने देश-भाइयों का कष्ट दूर करने से बढ़कर और दूसरा धर्म ही क्या है?'' —गांधीजी को भारत की प्राण-नाड़ी की सटीक समझ थी इसलिये साम्राज्यशाही दैत्य का मुकाबला करने के लिये जो जमीन और कोण उन्होंने अपनाया था वही भारत की प्रकृति और संस्कार के लिये सजातीय था, उनकी राजनीति धर्म की पटरी पर ही केन्द्रित थी।

ध्यातव्य है, देश को पराधीनता से उबारने के लिये क्रियाशील गांधी का असहयोग आंदोलन केवल राजनीति तक सीमित नहीं था, उसका गोचर-अगोचर सरोकार उस

---

१. वर्ष-२, अंक-५ के शीर्ष पृष्ठ पर 'नहीं डरेंगे' शीर्षक पण्डित सूर्यकान्त त्रिपाठी की कविता छपी है:

नहीं डरेंगे चाहे जैसे चित्रित करो दुःख के चित्र।
प्यारे, उनको समझेंगे हम इष्ट सिद्धि के साधक मित्र॥
छेड़ रहा इतिहास हमारा यही हृदय-तन्त्री से तान।
स्वतंत्रता पर इस भारत ने किये निछावर अपने प्राण॥ १॥
मार अनात्म भाव अजरामर परमात्मा से नाता जोड़।
स्वतंत्रता का पुण्य पाठ हम करते दुःख के बंधन तोड़॥
अहंकार को भी मन को भी जीता जब हमने सम्पूर्ण।
उनसे अधिक प्रबल क्या होगा जिसे न हम कर सकते चूर्ण॥ २॥

सांस्कृतिक पराधीनता' से था जो भारत की स्वकीय पहचान को मिटा रही थी; गांधीजी का स्वराज्य-आंदोलन देश के समग्र अभ्युत्थान की चिन्ता-चेतना से प्रेरित-अनुप्राणित था। उनके द्वारा रचित बहुआयामी रचनात्मक कार्यक्रम इसका प्रमाण है। और उस काल की भारतीय मनीषा, पत्रकारिता इसी अनुशासन की पटरी पर क्रियाशील थी। आरा जैसी छोटी जगह के एक कोने में बैठ कर वर्ग-विशेष की पत्रिका के माध्यम से आचार्य शिवपूजन सहाय देश-धर्म के प्रति किस साहस और कितनी कुशलता से अपने सम्पादकीय दायित्व को पूरा कर रहे थे। आज के पत्रकारों- उपभोक्ता-सभ्यता की रंगीन लहरों के साथ क्रीड़ारत पत्रकारों में स्वधर्म-धुरी का विवेक जगाने वाली शिवपूजन सहाय की प्रेरक संपादकीय चर्या प्रासंगिक है, बशर्ते कोई सही राह और धर्म-बोध की तलाश में हो।

ज्वलन्त सामयिक समस्याओं पर 'मारवाड़ी सुधार' में मार्मिक टिप्पणियां छपती थीं। स्वदेशी के प्रश्न पर बाबूलाल खेमाणी की टिप्पणी का एक अंश ऊपर उद्‌धृत किया गया है। वैसी ही विचारोत्तेजक टिप्पणी वर्ष-२, अंक-७ में रानीगंज के गोवर्द्धन लाल भरतिया की 'राष्ट्र और व्यक्ति' शीर्षक से प्रकाशित हुई थी। उक्त टिप्पणी का एक स्थल द्रष्टव्य है, "संसार में स्वार्थ की भी कोई हद होनी चाहिये। खासकर हिन्दुस्तानी राष्ट्र में, जहां अध्यात्म विद्या ही सर्वोपरि समझी जाती है और प्रत्येक ग्रंथ में संसार की असारता का गान गाया गया है, यदि इस तरह स्वार्थ घुस पड़े कि बार-बार चेताये जाने पर भी, चेताये जाना ही क्यों कहें, अपनी आंखों से देखकर भी, राष्ट्र का नाश करने वाला व्यवसाय न छोड़ा जाय, तो कहना होगा कि हमलोग नितांत बुद्धिहीन हैं और एक दम पेटू हो गये हैं। ऐसे व्यवसायों में कपड़ा का व्यवसाय प्रधान है। महात्मा गांधी की बात छोड़कर यदि माननीय पण्डित मदनमोहन मालवीय की बात सुनी जाय, जो कहते हैं कि खद्दर व्यवहार करने से आधा स्वराज मिल जायेगा और बाकी आधा के लिये ज्यादा दिक्कत न उठानी पड़ेगी, तो भी यही उचित कर्तव्य जान पड़ता है कि आज ही इस व्यवसाय को, जो सारे राष्ट्र के अध:पतन का कारण है, त्याग दें, चाहे हमें कष्ट ही क्यों न सहन करना पड़े। जिस भामाशाह ने डूबते हुए हिन्दू-कुल-सूर्य को बचाया था उसका रक्त हमारे शरीर में अभी तक बह रहा है- यह दिखलाने का इससे बढ़िया मौका फिर न मिलेगा।" मारवाड़ी जाति के उज्ज्वल संस्कार से अनुप्राणित ये प्रेरक पंक्तियां आज अधिक प्रासंगिक हो गयी हैं, जब देश के स्वार्थ को ताक पर रखकर येनकेन प्रकारेण धन बटोरने की सनकी होड़ में न केवल राजस्थानी व्यवसायी समाज, बल्कि पूरा देश विक्षिप्त हो गया है।

'देहाती दुनिया' के मर्म तंतु से परिचित और निःस्व तथा नारी जाति की असह्य यातना के समीपी साक्षी शिवपूजन सहाय अपनी पत्रिका 'मारवाड़ी-सुधार' के माध्यम से देश की

---

१. परिशिष्ट में उद्‌धृत 'मारवाड़ी सुधार' की विषय-सूची और सम्पादकीय लेखों की सूची को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि देशोत्थान के अवरोध के रूप में जितनी छोटी-बड़ी समस्यायें थीं उन पर 'मारवाड़ी-सुधार' समान गुरुता के साथ आलोकपात करता था। नारी-यातना की समस्या, श्रमजीवी वर्ग की समस्या, शिक्षा की समस्या और सामाजिक कुरीति-कुसंस्कार की समस्या पर केन्द्रित विचार-सामग्री को संपादक वरीयता के साथ प्रकाशित करते थे।

मूलभूत मानवीय समस्याओं से जुड़ी वेदना-संवेदना को उजागर करते रहते थे। 'मारवाड़ी सुधार' की पुरानी फाइल प्रमाण है कि सम्पादक शिवपूजन सहाय अपनी गुरुतर भूमिका के प्रति पूर्ण सचेत थे, और आरा-प्रवासी मारवाड़ियों की- 'मारवाड़ी सुधार समिति' का पत्रिका-प्रकाशन-आयोजन एक विधायक आयोजन था।

आचार्य शिवपूजन सहाय के समानधर्मा कृती सम्पादक थे रामनाथ 'सुमन', हरिभाऊ उपाध्याय और सत्यदेव विद्यालंकार, जिन्होंने राजस्थानी उद्योग से प्रकाशित पत्रिकाओं को अपने विचक्षण सम्पादन से गांधी-युग के जातीय बोध के प्रमुख प्रवक्ता की प्रतिष्ठा से सम्पन्न कर राजस्थानी समाज का मानवर्द्धन किया। रामनाथ 'सुमन' का मारवाड़ी समाज के कृती पुरुषों से अन्तरंग सम्बन्ध था।[१] अपने समय के देश-नायक महात्मा गांधी के अंतरंग लोक में उनका प्रवेश था।[२] पांक्तेय लेखक और संपादक के रूप में उनकी हिन्दी जगत् में प्रतिष्ठा थी। 'त्याग भूमि' (अजमेर) और 'नवराजस्थान' (अकोला) जैसी विशिष्ट पत्रिकाओं की उनकी संपादन-भूमिका को इतिहास श्लाघासहित स्मरण करता है।[३] बम्बई से १९२७ में मारवाड़ी अग्रवाल महासभा से प्रकाशित 'अग्रवाल समाचार' का भी सुमन जी ने सम्पादन किया था।

मध्य भारत के यशस्वी समाज सेवी, 'विदर्भ-केसरी' के विरुद से सम्मानित ब्रजलाल बियाणी के उद्योग से सत्यदेव विद्यालंकार के सम्पादन में अकोला (बरार) से मासिक पत्रिका 'राजस्थान' का अक्टूबर १९२५ में प्रकाशन हुआ था।

'राजस्थान' में प्रकाशित सामग्री समाज-संस्कार पर केन्द्रित होती थी। नाना प्रकार की सामाजिक कुरीतियों, कुप्रथाओं और कुसंस्कारों के सघन प्रभाव से दबकर दिनों-दिन प्रकाशहीन होते समाज के उद्धार की चिन्ता 'राजस्थान' की प्रधान चिन्ता थी। प्रथम पृष्ठ पर विशिष्ट लोगों की प्रेरक आदर्श-वाणी प्रकाशित की जाती थी। सम्पादक के आदर्श-पुरुष रामतीर्थ, ताल्सताय और महात्मा गांधी जैसे मानव-रत्न थे। समाज के ज्वलन्त प्रश्नों का समाधान रचनेवाली वाणी प्रथम पृष्ठ पर उद्धृत करने का एकांत लक्ष्य पाठकों में संस्कार-जागरण था।[४] सम्पादकीय टिप्पणयों का विषय भी समाज-संस्कार के बिन्दु पर केन्द्रित होता था। धर्म, विवाह, जाति-प्रथा इत्यादि विषयों से जुड़ी व्यावहारिक समस्याओं को 'राजस्थान' अपेक्षित गुरुता के साथ प्रस्तुत करता था। आदर्शमूलक कवितायें भी छपती थीं, जो गुरुतर प्रयोजन से प्रेरित होती थीं।[५] राजस्थानी समाज के कुसंस्कार पर चोट करने वाली टिप्पणियां और निबंध प्रत्येक अंक में छपते थे। स्वदेशी, खादी, हिन्दी, शिक्षा,

१. द्रष्टव्य- मैंने स्मृति के दीप जलाये-रामनाथ 'सुमन', पृ. ३३

२. ''मैं गांधीजी के पास चला गया। उन्होंने कृपापूर्वक मुझे निजी सचिव के रूप में काम करने का अवसर दिया।...... वहां से छूटा तो अकोला के 'नवराजस्थान' का प्रधान संपादक होकर चला गया।'' :रामनाथ सुमन- मैंने स्मृति के दीप जलाये, पृ. ११९

३. विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य (१) हिन्दी पत्रकारिता: विविध आयाम (२) भारत में हिन्दी पत्रकारिता।

४. प्रथम पृष्ठ की चित्र-लिपि परिशिष्ट में द्रष्टव्य।

५. परिशिष्ट में वे कुछ कवितायें उद्धृत की गयी हैं, जो आज भी युवा मारवाड़ी मानस के लिये प्रेरक हैं।

साहित्य के सामाजिक सरोकार के प्रति 'राजस्थान' जागरूक और सक्रिय था; ऐसी सामग्री प्रकाशित करता था, जो अपने पाठकों को युग-धर्म के प्रति संवेदनशील बना सके, आदर्श की राह दिखा सके।

प्रत्येक अंक के आरम्भ में ज्वलन्त विषय को उपजीव्य बनाकर सम्पादक सत्यदेव विद्यालंकार का विचारोत्तेजक निबंध छपता था। पत्रिका के अन्तिम पृष्ठ 'सम्पादकीय अवलोकन' के होते थे, जिन पर सामयिक समस्याओं पर छोटी-छोटी टिप्पणियां छपती थीं। प्रथम अंक की टिप्पणियों के विषय हैं-राजस्थान को क्या चाहिये, एक बात दूसरी बात आदर्श भाव, अनुकरणीय साहस, सहवास बिल इन्दौर के दिगम्बर जैनी, ईश्वर भजन, राजस्थान में खादी, उदयपुर और अग्रवाल, पर्दा घातक है, राजस्थान में हिन्दी, मारवाड़ी शिक्षा मंडल वर्धा, श्रीकृष्ण दास जी जाजू, छात्र सम्मेलन।

'सम्पादकीय अवलोकन' का एक स्थल 'राजस्थान'- प्रकाशन के हेतु पर आलोक-पात करता है, "श्रीमान ब्रजलाल बियाणी देर से 'राजस्थान' सरीखे एक पत्र की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे, क्योंकि सामाजिक क्षेत्र में कार्य करते हुए वे इस बात को भली प्रकार जान चुके थे कि जब तक समाज के विचारों में क्रान्ति न की जायेगी तब तक व्यवहार में क्रांति होना असम्भव है। सामाजिक सुधारों के लिये समाज का दिमाग बदलना चाहिये और कुरीतियों का नाश करने के लिये उनको जड़ों से ही उखाड़ना चाहिये।....... इस सेवाकाल में मेरा यह विश्वास दृढ़ हो चुका है कि राजस्थान के भलाई के कार्य का बड़ा हिस्सा उन पर निर्भर है जो राजस्थान छोड़कर व्यापार व्यवसाय के लिये बाहर आ बसे हैं। दु:ख है कि वे राजस्थान को भूल जाते हैं। केवल दो बालिश्त पेट के पीछे अपनी जन्मभूमि को भुला बैठते हैं। यह उपेक्षा और भी असह्य हो जाती है यह देख कर कि सामाजिक कुरीतियों, रीति रिवाजों और रूढ़ि में प्रवासी-राजस्थानी इस बुरी तरह जकड़े हुए हैं कि उसी के कारण वे किंकर्तव्यमूढ़ हुए हैं इसीलिये 'राजस्थान' का विशेष लक्ष्य प्रवासी राजस्थानियों को इन बंधनों से मुक्त करना है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये यह आवश्यक है कि 'राजस्थान' के लेख प्रमाण व युक्ति से पूर्ण और शब्दाडम्बर से रहित हों। 'राजस्थान' किसी पक्ष विशेष का पत्र नहीं है। 'राजस्थान' की यही इच्छा है कि समाज के सामने सब तरह के विचार उपस्थित किये जायं और समाज जिन्हें आदेय समझे उन्हें ग्रहण करे इसीलिये 'राजस्थान' में विधवा विवाह, समुद्रयात्रा, सवर्ण विवाह इत्यादि विषयों पर भी अनुकूल व प्रतिकूल दोनों तरह के लेख रह सकेंगे किन्तु यह आवश्यक होगा लेख सयुक्ति , सप्रमाण और विचारपूर्ण हों।.................

"यदि 'राजस्थान' विचार विनिमय की प्रवृत्ति को समाज में थोड़ा सा भी जगा सका तो वह अपने जन्म को सफल हुआ समझेगा। विचार-स्वातन्त्र्य की स्थापना ही 'राजस्थान' के लिये मोक्ष प्राप्ति का सुख होगा।"

हिन्दी जगत् में इस पत्रिका का व्यापक स्तर पर स्वागत हुआ था। 'प्रताप'-संपादक गणेशशंकर विद्यार्थी, 'कर्मवीर'- सम्पादक माखनलाल चतुर्वेदी, जमनालाल बजाज, श्रद्धानन्द संन्यासी और श्री कृष्णदास जाजू जैसे विशिष्ट लोगों ने सम्पादक को पत्र लिखकर बधाई

और प्रोत्साहन दिया था, जो प्रथम अंक में प्रकाशित हुआ था। बाद में भी प्रबुद्ध पाठकों और कृती पुरुषों के प्रेरक-प्रशंसात्मक पत्र छपते रहे। श्रद्धानन्द संन्यासी ने शुभ कामना प्रकट की थी- ''मैं चाहता हूं कि भारतीयों के अन्दर 'स्व' की भावना पुष्ट हो और भारत में 'स्वधर्म' और 'स्वराज्य' की स्थापना हो।

''राजस्थान' तुम सरीखे सुयोग्य और उत्साही संपादक के सम्पादकत्व में मारवाड़ी समाज के अन्दर सच्ची धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक जागृति उत्पन्न करने में समर्थ हो ताकि यह 'स्वधर्म' और 'स्वराज्य' पर सर्वस्व अर्पण करने वाले भामाशाह जैसे दानवीर उत्पन्न करे, ऐसी मेरी हार्दिक कामना है।''

'प्रताप'- सम्पादक गणेशशंकर विद्यार्थी ने अपने पत्र में लिखा था, '''राजस्थान' ऐसे पत्र की जो राजस्थान के वायुमण्डल को शुद्ध करने के लिये, अपने को वलिवेदी पर चढ़ाने के लिये सदैव तय्यार रहे, पहिले तो जरूरत थी ही, इस समय उसकी जरूरत, मेरी दृष्टि में और भी बढ़ गई है। दो दिन हुए, मुझे मालूम हुआ है कि अलवर वाले 'प्रताप' के पीछे हाथ धोकर पड़े हैं और सरकार ने उन्हें Princes Protection Act का सहारा देने का वचन दिया है। वे अब 'प्रताप' पर वार करने की तैयारी कर रहे हैं। ऐसी अवस्था को आंखों के सामने नाचती देखकर, यह स्वाभाविक है कि मैं 'राजस्थान' का हृदय से स्वागत करूं। उसके बलशाली होने का स्वप्न देखूं और मन में कल्पना करूं कि एक दिन आवेगा कि उसके पवित्र उद्योग से राजस्थान में निरंकुशता का अंत हो जायेगा।'' जमनालाल बजाज ने श्री सत्यदेव जी को पत्र लिखा था- ''राजस्थान में खादी की उपज और प्रचार के वास्ते बड़ा क्षेत्र है तथा और भी कई काम समाज के सामने देश के हैं, पर काम करने वालों की कमी के कारण रुकावट हो रही है। मैं चाहता हूं कि 'राजस्थान' राजस्थान के लिये सच्चा त्यागी और निर्भीक सहायकों की वृद्धि में सहायक हो।'' 'कर्मवीर'- सम्पादक माखनलाल चतुर्वेदी ने मंगल-कामना प्रकट की थी, ''आपने 'राजस्थान' का सम्पादन ग्रहण किया है, यह 'राजस्थान' की सफलता और उसकी सामाजिक उपयोगिता के माप का द्योतक है।.... मैं आशा करता हूं कि उस ज्योति को जगाने में 'राजस्थान' जहां भी राजस्थानी हों, उनके हृदय-द्वार खटखटावेगा और उन घटनाओं और मूर्तियों की ओर प्रेरित करता रहेगा, जो आज राजस्थान को जगाने में उद्योगशील हैं, फिर चाहे वे वीराग्रही भाई पथिक हों, तथा त्यागपथी भाई जमनालाल बजाज और चाहे सजीव शारदा परिवार हो। 'राजस्थान' धन की जड़ पूजा से उठकर, भगवान करे, राजस्थानियों में नर्मदा की तरह शीतल जल पर चट्टान तोड़क जोर पैदा करे।''

'राजस्थान' के तीसरे अंक में धर्म्म चन्द खेमका 'चन्द्र' ने उल्लसित भावना प्रकट की है:

दोहा : अविद्या-अंधकार का करने को अवसान।
कुरीति-बंधन काटने प्रकटा 'राजस्थान'॥
छप्पय : भूले सच्ची राह, भटकते जो फिरते हैं।
बाल-वृद्ध उद्वाह, खुषी से जो करते हैं॥

कुरीतियों का जाल, जकड़ता नित जाता है।
नीचा रहता भाल, नहीं उठने पाता है॥
देश-जाति निज कर्म को, भूले गौरव मान को।
कर लें अब तो याद वे, प्यारे 'राजस्थान' को॥

सोरठा : कर समाज में क्रान्ति, कर देगा उत्थान अब।
दूर करेगा भ्रान्ति, देखो 'राजस्थान' अब॥

दूसरे अंक में अनेक सम्मतियां और शुभ कामनायें छपी हैं। कलकत्ता से लिखित रामकृष्ण मोहता के पत्र की अंतिम पंक्तियां द्रष्टव्य हैं, ''राजस्थान में बालक-बालिकाओं की शिक्षा का कोई समुचित प्रबंध नहीं है और स्त्री-जगत् की अत्यन्त शोचनीय दुर्दशा है। इन सब बातों पर प्रकाश डालने वाले की कमी खटकती थी। बड़े आनन्द की बात है कि इस कमी की पूर्ति के लिये 'राजस्थान' अकोला से अग्रसर होता है।

''राजस्थान के स्त्री-पुरुषों में विद्या का प्राय: अभाव है। अनेक खोटी प्रथाओं ने अपना घर कर लिया है तथा वहां का जीवन इस समय निस्तेज और फीका पड़ गया है। मैं चाहता हूं कि राजस्थान की बुराइयों को सुन्दर, सरल भाषा में उत्तम भावों का प्रचार करके दूर करने की चेष्टा करे। इस समय कठिन शब्दों में अति उच्च कल्पनाएं जनता के लिये हौवा हैं।'

''मित्रवर श्री ब्रजलालजी बियाणी के सदुद्योग से आप-जैसे विद्वान के संपादन में निकलने वाले 'राजस्थान' पत्र की मैं हृदय से मंगल कामना करता हूं।'' सम्मतियों और मंगलकामनाओं से स्पष्ट है कि राजस्थानियों के समग्र अभ्युत्थान की चिन्ता देशव्यापी थी, इस महत् प्रयोजन के लिये पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका का मूल्य प्रबुद्धजन समझ रहे थे। और 'राजस्थान' के प्रथम सम्पादकीय वक्तव्य में सत्यदेव विद्यालंकार ने पत्रिका के उद्देश्य की ओर इशारा करते लिखा था, ''राजस्थान निवासी व प्रवासी मारवाड़ी व राजस्थानी हिन्दु समाज के हृदयस्थानी हैं। हृदय में जब तक ये विचार स्थान नहीं पायेंगे, तब तक क्रिया या व्यवहार में कुछ होना सम्भव नहीं है। इसलिये हिन्दु समाज सामाजिक क्रान्ति के लिये या हिन्दु समाज को जीवित बनाये रखने के लिये ही मारवाड़ी समाज को जीवित समाज बनाना, उसे क्रांति के लिये तैयार करना पहला अंग आवश्यक कार्य है। 'राजस्थान' का जन्म इसी उमंग, अभिलाषा और महत्त्वाकांक्षा से हुआ है। 'राजस्थान' की यही उमंग है कि वह मारवाड़ी समाज में विचार क्रांति करे।''[१]

प्रथम वर्ष के दूसरे अंक के 'सम्पादकीय अवलोकन'- स्तम्भ में प्रकाशित एक टिप्पणी का शीर्षक है- 'क्रांतिकारी प्रस्ताव'। पटना से प्रकाशित 'देश' के मुख्य लेख में प्रस्तावित विचार का पं. सत्यदेव विद्यालंकार ने बड़े बल के साथ समर्थन किया है। उक्त लेख की अन्तिम पंक्तियों को 'राजस्थान'- संपादक ने उद्धृत कर अपने पाठकों को प्रेरित किया है, ''धर्मान्धता के युग का शीघ्र अंत होने वाला है। पादरियों और पुजारियों का राज्य गया। जिस समय आकाश इन बादलों से अच्छी तरह साफ हो जायेगा, उस समय पूरब

१. द्रष्टव्य: परिशिष्ट में संकलित 'राजस्थान' का प्रथम सम्पादकीय लेख।

दिशा में हिन्दू धर्म के प्रचण्ड सूर्य का उदय होगा, दिशाओं में प्रकाश फैलेगा, और संसार अपने विकास क्रम में आगे की सीढ़ी पर पैर रखेगा। ये बातें अब कोरी कल्पनायें नहीं हैं, यह केवल कवियों की भावना नहीं है, मगर इसकी जड़ में ऐसी सच्चाई है जो इसे प्रत्यक्ष बना रही है। सभ्य संसार के सामने हम अपने अंध विश्वासों और परम्परागत कुरीतियों को लेकर उपस्थित नहीं हो सकते। संसार के नेतृत्व के लिये पहले हमें अपनी शुद्धि करनी होगी। सौभाग्यवश, महात्मा गांधी हमें वह रस्ता बता रहे हैं। हमें चाहिये कि उनके विचारों का मनन करें और यदि उनमें सच्चाई नजर आवे तो उसे दिलोजान से कार्यरूप में परिणत करने का प्रयत्न करें।" सम्पादकीय स्तम्भ में इन प्रकाशपूर्ण पंक्तियों को उद्धृत और रेखांकित करना 'राजस्थान'- सम्पादक की चिन्ताधारा को समझने के लिये पर्याप्त है। इसी प्रकार के संस्कार-जागरण के विचार इस स्तम्भ में सत्यदेव विद्यालंकार प्रस्तुत करते रहते थे। प्रथम अंक में 'आदर्श भाव' शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणी में सम्पादक ने 'स्नेहीबंधु' का एक पत्र उद्धृत किया है। विधुर की मार्मिक पीड़ा इस पत्र में व्यक्त है। पत्र की अन्तिम पंक्तियां ही उस आदर्श को व्यंजित करती हैं जिस ओर इशारा करना सम्पादक का मुख्य लक्ष्य है, "इस समय मैं हतोत्साह हो रहा हूं। घर के लोगों का विवाह के लिये आग्रह है। पर, विवाह का नाम सुनते ही आत्महत्या करने के भाव दिल में उठते हैं। दूसरा विवाह करना स्वर्गीय पत्नी को धोखा देना है। विवाह वही होता है जो एक के स्वर्ग नरक जाने पर भी कायम रहे। परमेश्वर मुझे पूरी तरह से आत्म संयमी होने का बल देवें-यही एक मात्र मेरी इच्छा है।"

उस काल के पुराणपंथी अंधविश्वास के मुताबिक समुद्र-यात्रा दोष माना जाता था। 'अनुकरणीय साहस' शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणी में अकोला के दो मारवाड़ी-ब्राह्मण युवकों की समुद्र मार्ग से विदेश यात्रा का सम्पादक ने सोल्लास स्वागत किया है। उक्त टिप्पणी की उपसंहार पंक्तियां द्रष्टव्य हैं, "हमें आशा है कि कोई भी सभा, संस्था या सहयोगी युवकों के साहस की प्रशंसा नहीं तो कम से कम निन्दा या विरोध तो नहीं करेगा। क्योंकि युवकों के सत्कार्य का विरोध या निन्दा करना स्वयं अपना मजाक करना है। मारवाड़ी समाज में ब्राह्मण-वर्ग द्वारा समुद्र यात्रा का यह श्रीगणेश, शुभ और मंगलकारी हो।"

फरवरी १९२६ के अंक की एक सम्पादकीय टिप्पणी का शीर्षक है- 'मारवाड़ी समाज व उसका विकृत स्वरूप'। पं. सत्यदेव विद्यालंकार ने मारवाड़ी समाज की गिरावट के मार्मिक विवेचन के सन्दर्भ में समाज का सटीक अर्थ स्पष्ट करते मारवाड़ी-समाज की उज्ज्वल विरासत की ओर संकेत किया है. "पूर्वीय समाज रचना का आधार कर्तव्य है, अधिकार नहीं है। इसी कर्तव्य की निष्ठा का यह फल है कि मारवाड़ी समाज में समाज को 'गंगा' से उपमा दी जाती है। उसका स्वरूप परम पवित्र माना जाता है। सामाजिक-परिषदों को त्रिवेणी के संगम का नाम दिया जाता है। समाज के प्रति जैसी पवित्रता की बुद्धि, मारवाड़ी समाज में पायी जाती है, वैसी शायद ही किसी दूसरे समाज में मिलती हो। पर दुः ख होता है यह कहते हुए कि जातीय गंगा की यह पवित्रता नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी है। निःसंदेह, पंचों को परमात्मा मानना उचित था, किन्तु आज पंच लोग अपने ऊंचे आसन से नीचे गिर

चुके हैं।'' उक्त टिप्पणी का उपसंहार करते, सम्पादक सत्यदेवजी ने राजस्थानी-समाज को रचनात्मक सुझाव दिया है, ''प्रत्येक व्यक्ति यह समझ सके कि उसका अपना वैयक्तिक जीवन और उसका पारिवारिक जीवन ही समाज का सामाजिक जीवन है। समाज का जीवन व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन का ही फोकस है। आशा है मारवाड़ी भाई समाज रचना की इस सच्चाई पर खूब गहरा विचार करेंगे और यह समझेंगे कि उनके जीवन का, समाज के जीवन पर कितना गहरा प्रभाव पड़ता है? यदि प्रत्येक व्यक्ति इस सच्चाई को समझ ले तो आज समाज का सुधार हुआ पड़ा है।......... सामाजिक जीवन को पवित्र बनाने के लिये या उसके सुधारने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत व पारिवारिक जीवन की पवित्रता व सुधार की ओर पूरा लक्ष्य रखना चाहिये। जिस दिन ऐसा होगा उसी दिन समाज सुधार के कार्य का श्री गणेश होगा, पहिले नहीं।'' गांधी-युग का यह प्रत्यय था। महात्मा गांधी व्यक्तिगत पवित्रता के आत्यंतिक आग्रही थे। उनके घोषित 'पांचवे पुत्र' जमनालाल बजाज अपने व्यक्तिगत आचरण द्वारा मारवाड़ी समाज में गांधीजी के आदर्श को जगाने के लिये बहुविध साधना कर रहे थे। व्यक्तिगत आचरण-शुद्धि के अपने धवल आचरण द्वारा उन्होंने मारवाड़ी-समाज में प्रतिमान रचे थे। बड़ी बेटी कमला का विवाह धनपति जमनालाल बजाज ने जिस सादगी से गांधीवादी आदर्श की पटरी पर खड़े रहकर किया उसकी पूरे देश में प्रशंसा हुई। 'राजस्थान' ने १९२६ के मार्च अंक में मारवाड़ी समाज में सादगी के आदर्श की प्रेरणा जगाने के उद्देश्य से जमनालाल जी के आदर्श आयोजन के सम्बन्ध में श्लाघामूलक सम्मतियां प्रकाशित की थी, ''सेठ जमनालालजी बजाज ने अपनी सुपुत्री कमला कुमारी के विवाह संस्कार में केवल मारवाड़ी समाज के लिये ही नहीं किन्तु हिन्दू जाति के लिये एक आदर्श स्वरूप रखा है। भारतवर्ष की वर्तमान आर्थिक संकटमय परिस्थिति में, और खुसूसन ऐसे समय में जबकि देश के लाखों नर-नारियों को परिमित वृत्ति से निर्वाह करके भारत के स्वातंत्र्य संग्राम में जुटना है, क्या हिन्दू और क्या मुसलमान, ईसाई वगैरह सभी जातियों को सेठजी का ही अनुकरण करण उपादेय और हितकर होगा।'' -अर्जुनलाल सेठी''। जमनालालजी के उदात्त गांधीवादी चरित्र से जिनका अन्तरंग परिचय था उन्हें उनकी कन्या कमला के आदर्श विवाह में एक त्रुटि अखरी, वह थी पर्दा प्रथा, जिस ओर कई सुधार-पोषकों ने अंगुलि संकेत किया था। राजस्थान सेवा-संघ, अजमेर से रामायण चौधरी ने लिखा था, ''जमनालालजी पर्दे के विरोधी हैं, वे इसे अन्यायपूर्ण एवं हानिकारक प्रथा मानते हैं। फिर भी कमला से, उसी कमला से जिसे उन्होंने अब तक प्रकृति और धर्म के स्वतंत्र वायु मंडल में पाला था, घूंघट निकलवाया ही गया। क्यों? शायद इसी विचार से कि वर पक्ष के चिर संचित भावों को गलत भावों को-ठेस न लगे।

''इस एक त्रुटि के सिवाय मुझे इस विवाह में सभी बातें मारवाड़ी समाज ही नहीं, हिन्दू समाजों के लिये भी अनुकरणीय मालूम होती हैं। इस त्रुटि की पूर्ति जमालालजी अपने पुत्र और दूसरी पुत्री के विवाह में कर सकते हैं। वह पर्दे को छोड़कर ही नहीं प्रत्युत धनवान, कुल और अग्रवाल जाति की संकुचित परिधि को छोड़कर वे किसी माहेश्वरी, खंडेलवाल आदि निर्धन घर के योग्य बालक अथवा बालिका का आवाहन करें तो मेरी समझ में मारवाड़ी समाज में विवाह का आदर्श स्थापित कर सकेंगे।'' अजमेर से ही रामचन्द्र शर्मा

ने लिखा था, "जिस करोड़पति की कन्या के विवाह में लाखों का वारा न्यारा होता, वह विवाह कुछ सैकड़ों में ही प्रतिपादित हो गया। विवाहोपलक्ष्य में लक्ष्मी का सदुपयोग किस प्रकार करना चाहिये, दानवीर त्यागमूर्ति सेठ साहिब ने समस्त हिन्दू धार्मिक समुदाय के समक्ष इसका एक आदर्श उदाहरण उपस्थित कर दिया है।

"........... सेठजी ने इस प्रकार सादगी एवं मितव्ययिता से काम लेकर वैश्य समुदाय ही नहीं समस्त हिन्दू संसार के सम्मुख एक अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित किया है। अतः क्या हम आशा करें कि हमारे देश के धनीमानी, गर्वीले सेठ साहूकार, करोड़ाधीश दानवीर वर्धानिवासी सेठ जमनालालजी की कन्या के आदर्श विवाह से कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगे?" सबसे मार्मिक सम्मति है अंजना देवी की जिसे सम्पादक ने अपनी टिप्पणी से गुरुता देते प्रकाशित किया है। अन्तिम पंक्तियां द्रष्टव्य है, "......यदि जमनालालजी की धर्मपत्नी साथ न देती तो सेठजी इतना सुधार नहीं कर सकते थे। नेवटियों की घर की स्त्रियों ने भी समझदारी से काम लिया। अगर इसी तरह मारवाड़ी जाति में पुरुष जमनालाल जी का साहस दिखावें और स्त्रियां अपने पतियों को सहायता दें तो जाति में बहुत जल्दी सुधार हो सकता है।" इन कुछ चुनी सम्मतियों से केवल जमनालालजी के उज्ज्वल चरित्र पर ही नहीं प्रकश पड़ता, बल्कि यह तथ्य भी उजागर हो जाता है कि गांधीजी के स्वराज्य आंदोलन और मारवाड़ी वैश्य कुल-भूषण जमनालाल बजाज की प्रचेष्टा-साधना के परिणाम स्वरूप राजस्थानी समाज में आधुनिक जागृति की लहर इतनी क्रियाशील हो गयी थी कि प्रबुद्धजन शीर्ष स्थानीय पुरुष की भी सामान्य त्रुटि को टोकने में सकुचाते नहीं थे। और बीसवीं शताब्दी की उपसंहार वेला में जमनालालजी के उक्त धवल प्रसंग को स्मरण करते राजस्थानी समाज के नव धनाढ्यों की जीवन-चर्या तथा धन-प्रभुता-प्रदर्शन की सनकी होड़, विवाहोत्सव में संस्कार को ताक पर रखकर करोड़ों रुपये बात की बात में फूंकते देखकर सहज प्रश्न उठता है कि पूर्वपुरुषों की आदर्श-साधना को, उज्जवल विरासत को पूरी तरह तिलांजलि देकर राजस्थानी समाज, अपनी धर्म-भीरु प्रकृति के लिये ख्यात मारवाड़ी समाज ने क्या क्षणिक अहं-तुष्टि के लिये उपभोक्तावाद के सामने घुटना टेक दिया है?

जमनालाल बजाज गांधीजी के आदर्शों के प्रति आस्थाशील थे। उनकी निष्ठा का स्तर इतना ऊंचा था कि महात्मा गांधी उन्हें अपना 'पांचवां पुत्र' मानते थे। उन्हीं मूल्यों से उनका मानस निर्मित हुआ था। विवाह के सम्बन्ध में भी गांधीजी की अपनी दृष्टि और विचारणा थी। 'राजस्थान' के मार्च १९२६ में सत्यदेव-विद्यालंकार ने 'विवाह, धर्म का अंश क्यों है?' शीर्षक गांधीजी का निबंध[1] प्रकाशित किया था। इसी धर्म-बुद्धि से जमनालाल जी की समग्र जीवन-चर्या अनुशासित थी।

महात्मा गांधी के स्वराज्य आंदोलन के साथ जो रचनात्मक कार्यक्रम जुड़ा था, उसमें

---

१. परिशिष्ट में उद्धृत उक्त निबंध, जो आज के संदर्भ में अधिक प्रासंगिक है, द्रष्टव्य।

खादी, हिन्दी, बुनियादी शिक्षा, अछूतोद्धार और नारी जागरण की शीर्ष प्राथमिकता थी। गांधीजी के सत्याग्रह- आंदोलन का यह बुनियादी अनुशासन था। उनकी अहिंसा-भित्तिक सेना से जुड़नेवाला हर सत्याग्रही सैनिक को नायक द्वारा विहित अनुशासन को स्वधर्म के रूप में स्वीकार करना प्राथमिक आचार-संहिता थी। जमनालाल बजाज की गांधी मूल्य-निष्ठा असंदिग्ध थी। उन्होंने अपने प्रवास-क्षेत्र और राजस्थान में महात्मा गांधी की रचनात्मक परिकल्पना के कार्यान्वयन के लिये अनेकमुखी प्रयत्न किया, गांधीजी की तरह ही अपनी अन्तरंग संगति और प्रोत्साहन से निष्ठावान कार्यकर्ता तैयार किये, मारवाड़ी समाज से धवल-कर्मठ चरित्रों का चयन कर विभिन्न स्थानों के रचनात्मक कार्यक्रम के संचालन का गुरुतर दायित्व सौंपा, सत्याग्रह-आंदोलन के प्रति श्रीमंत वर्ग को सुमुख किया। 'राजस्थान' के प्रथम वर्ष के प्रथम अंक के 'संपादकीय अवलोकन'- स्तम्भ में प्रकाशित विज्ञप्तियों से जमनालालजी की प्रेरक साधना की सटीक जानकारी मिलती है। 'राजस्थान में खादी' शीर्षक टिप्पणी की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं, ''पिछले लगभग दो मास में श्रीयुत सेठ जमनालाल जी बजाज ने राजस्थान में खादी प्रचार के लिये अनथक प्रयत्न किया है। जयपुर, किशनगढ़, उदयपुर, बीकानेर, कोटा इत्यादि राज्यों में जाकर वहां के राजा, महाराजा, उच्च पदाधिकारी आदि से मिलकर उनके मनों में खादी का प्रेम बिठाया है। सर्वसाधारण से मिलकर अनेक स्थानों पर खादी भण्डार खुलवाने की व्यवस्था की है। खादी भण्डार खुलवाने और उच्च पदाधिकारियों में खादी पहुंचाने में श्रीमान सेठ जी को आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। जयपुर के पुलिस-विभाग में परीक्षण के तौर पर खादी की पोशाक रखी गई है। इसी प्रकार दूसरे राज्यों में खादी की प्रतिष्ठा प्राप्त कराने में सेठ जी सफल हुए हैं।'' इसी सम्पादकीय स्तम्भ में 'राजस्थान में हिंदी' शीर्षक एक टिप्पणी प्रकाशित हुई थी ''श्रीयुत जमनालालजी बजाज खादी प्रचार के साथ-साथ राजस्थान में हिन्दी प्रचार का भी कार्य कर रहे हैं। राज्यं के अधिकारियों और राजाओं से मिलकर वे हिन्दी-प्रचार के लिये भी उनकी सहानुभूति प्राप्त करते हैं। राजस्थान में हिन्दी की ध्वजा को फहराने का कार्य भाई क्षेमानन्द जी राहत ने शुरू किया है और थोड़े ही समय में उन्होंने विशेष सफलता प्राप्त कर ली है। श्रीयुत सेठ जी के सहयोग से राहत जी को निश्चय ही अपने उद्योग में विशेष सफलता मिली होगी। राजस्थान हिन्दी के लिये उपजाऊ भूमि है। भाई राहतजी ने हिन्दी संसार का ध्यान इधर आकृष्ट कर राष्ट्रीय दृष्टि से राजस्थान की सेवा की है और इसी प्रकार राष्ट्र की भी एक बड़ी सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त किया है। .... राजस्थान के एक छोर से दूसरे छोर तक हिन्दी का ही प्रसार होना चाहिये। पर दुःख है कि जैपुर सरीखे शुद्ध हिन्दी राज्य में उर्दू भाषा का पूरा साम्राज्य है। श्रीमान सेठ जमनालाल जी बजाज ने इस सम्बन्ध में राज्य का ध्यान आकर्षित किया है। हम उनके इस श्रम के फल की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करेंगे।'' साम्प्रतिक देश-दशा — घिनौनी उपभोक्ता सभ्यता की गिरफ्त में उलझी भारत की वर्तमान नियति, उदारतावाद के नाम पर स्वदेशी चेतना से विच्छिन्न देश के वर्तमान धर्म से गांधीजी की साधना और जीवन-चर्या की कोई

संगति नहीं बैठती। मगर उनका बल गीता का निष्काम कर्म योग था। उस काल के निष्ठावान गांधी-अनुयायियों का भी प्रेरणा-स्रोत वही था। वही प्रेरणा थी, जो जमनालाल जी और उनके सहकर्मियों को समाज-संस्कार तथा देशोत्थान के रचनात्मक कर्म में प्रवृत्त किये रहती थी, विकट प्रत्यूहों से जूझते वे देश के कोने-कोने में स्वदेशी की ज्योति जगाने निरन्तर दौड़ते रहते थे। गांधीजी द्वारा जगायी गयी निष्ठा और आदर्श की धुरी बड़ी पुष्ट थी। 'राजस्थान' के सम्पादकीय पृष्ठ पर निष्ठावान समाज-सेवक 'श्रीकृष्णदास जी जाजू' पर केंद्रित एक टिप्पणी उसी अंक में छपी थी। उक्त टिप्पणी की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं, "श्रीमान श्रीकृष्ण दासजी जाजू ने अपने सांसारिक सुख, वैभव, यश और भविष्य जीवन की सब आंकाक्षाओं को त्याग कर पिछले बारह वर्षों में जिस लगन, सचाई और निष्ठा के साथ शिक्षा मण्डल का कार्य किया है, उसका वाणी या लेखनी से उल्लेख नहीं किया जा सकता। यद्यपि वह समझने की चीज है, पर उसे समझ सकना भी इसलिये कठिन है कि श्रीमान जाजू जी शान्त वृत्ति के उन इने-गिने कार्यकर्ताओं में से एक हैं जो करना ही जानते हैं और कहना नहीं जानते।.......

"श्रीमान जाजू जी ने मण्डल के द्वारा समस्त समाज के लिये जो त्याग और त्याग से भी अधिक तप किया है एवं समाज में शिक्षा प्रसार के लिये बारह वर्ष तक निरन्तर जिस महायज्ञ का अनुष्ठान किया है उसे देखते हुए आज वे 'तपोधन' के पद को प्राप्त हुए हैं।"[१] ऐसे ही 'तपोधन' लोगों की कठोर साधना के बल पर महात्मा गांधी का स्वराज्य आंदोलन उत्कर्ष पर पहुंचा था। राजस्थानी समाज के कृती पुरुषों के रचनात्मक कार्यों का विवरण और समाज-सेवामूलक उनकी विशिष्ट भूमिका को वरीयता के साथ 'राजस्थान' में प्रकाशित करने और सम्पादकीय टिप्पणी से उसकी महत्ता को रेखांकित करने के मूल में राजस्थानी समाज के संस्कार-जागरण और अभ्युत्थान की चिन्ता थी। धवल चरित्रों की चर्चा के मूल में देश-धर्म की प्रेरणा की शुभचिन्ता सम्पादक सत्यदेव विद्यालंकार की विचक्षणता और जागरूकता का सबूत है। पर अपनी उज्ज्वल विरासत को बिसार कर आज मारवाड़ी समाज ने जो राह पकड़ी है, उसके प्रति एक अन्यथा भाव प्रबुद्ध वर्ग के मन में जग रहा है, और उक्त समाज के कार्य-कलाप के विधायक परिणाम के प्रति लोग अनास्थाशील हो चले हैं। समाज-सेवा मूलक आयोजन को भी अन्यथा दृष्टि से देखा जा रहा है, और उसमें भी व्यावसायिक मनोभाव का आरोपण किया जा रहा है। इस धारणा के निरास का गुरुतर दायित्व राजस्थानी समाज के प्रबुद्ध वर्ग पर है। धनाढ्य वर्ग के अधोमुखी जीवन-प्रवाह को टोकने और अपनी उज्ज्वल विरासत का बोध कराते समुचित राह का निर्देश देनेवाले कृती पुरुषों को उनके पूर्व पुरुषों का पुण्य हाँक लगा रहा है। यह सच है, आज का ही नहीं, हर काल का सच है कि ऐसी प्रेरक हाँक पर कर्णपात करने वाले समाज में कुछ ही लोग होते हैं, जो लोक-नायकत्व का दायित्व स्वीकार कर समाज के संस्कार-उत्थान में अपने को नियोजित कर देते हैं, और कृतार्थता उपलब्ध करते हैं। वे विरल लोग ही समाज

---

१. 'राजस्थान' में प्रकाशित श्री कृष्णदास जाजू का 'प्रवासी राजस्थानी' शीर्षक निबंध परिशिष्ट में द्रष्टव्य।

और देश के लिये आलोक-स्तम्भ होते हैं। पहले भी ऐसे आलोक-स्तम्भ विरल थे, जिनकी चारित्रिक ज्योति से समाज का सघन तमस पराजित हुआ, मनुष्य की सही पहचान उजागर हुई। मगर हर प्रकार की सम्पन्नता अर्जित करके भी मारवाड़ी समाज उस दिव्य ज्योति और चरित्र की सात्विक सुरभि को समृद्ध न कर सका, जिसकी अपेक्षा थी, सम्भावना और हर प्रकार की अनुकूलता थी। यह एक सुखद तथ्य है कि अर्थ और विद्या के क्षेत्र में राजस्थानी समाज समृद्धतर हुआ है, पर प्रबुद्ध समाज की चिन्ता का बिन्दु यह है कि उन मूल्यों को, जिन्हें मारवाड़ी समाज के पूर्व पुरुषों ने अपनी कठोर साधना से रचा था, आज मोल देने वाले लोगों से समाज खाली होता जा रहा है। उपभोक्ता सभ्यता के घिनौने प्रवाह में आकंठ डूबे और निरन्तर डूबते जा रहे देश के दूसरे वर्ग से भिन्न स्थिति नहीं धर्म-भीरु मारवाड़ी समाज की। इस दुर्भाग्य-मोचन के लिये अपनी उज्ज्वल विरासत के संदर्भ में आत्मालोचन जरूरी है।

सारे अपेक्षित साधनों के बावजूद देश के असंख्य दीए बुझे पड़े थे और अंधकार गहराता जा रहा था। उन दीओं को जलाने का काम गांधीजी के नेतृत्व ने किया। स्वदेशी की ऐसी ज्योति जगी कि वाणिज्य-व्यापार से जुड़े लोगों का चैत्य-पुरुष देश-धर्म के प्रति सुमुख-सक्रिय हो उठा। जमनालाल बजाज, बृजलाल बिणायी और गोविंद दास राजस्थानी वैश्य कुल के ऐसे नर-रत्न थे, जिनका प्रवास-क्षेत्र मध्य प्रदेश-विदर्भ था। स्वराज्य आंदोलन के अनुकूल आबोहवा रचने में इनकी अनेकमुखी भूमिका थी। असहयोग-आंदोलन की जन व्याप्ति और प्रखरता के लिये पत्रकारिता का मार्ग सशक्त माध्यम था। राजस्थानी उद्योग इस दिशा में पहले ही प्रवृत्त हो चुका था। जमनालाल बजाज और बृजलाल बियाणी की प्रचेष्टा ने इस क्षेत्र में अनेक राजस्थानियों को प्रकारान्तर से प्रवृत्त किया। गांधी युग में न केवल मध्य प्रदेश, बल्कि देश के उन सभी क्षेत्रों से, जो राजस्थानियों के प्रवास क्षेत्र थे, राजस्थानी उद्योग से अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ।[1] मध्य प्रदेश-विदर्भ के सन्दर्भ में जमनालाल बजाज और बृजलाल बियाणी के कृती आयोजन की संक्षिप्त चर्चा पूर्ववर्ती पृष्ठों में की गई है। १८ फरवरी, १९३० को सेठ गोविन्द दास के उद्योग से पं. द्वारका प्रसाद मिश्र के सम्पादन में जबलपुर से दैनिक 'लोकमत' का प्रकाशन हुआ था। उद्योक्ता और सम्पादक के साहित्यिक-राजनीतिक अवदान से देश परिचित है। प्रसिद्ध नाटककार सेठ गोविन्ददास और 'कृष्णायन' महाकाव्य के प्रणेता पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र की हिन्दी-निष्ठा और देश-धर्म की पक्षधरता विज्ञप्त तथ्य है। पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र के विचक्षण

१. प्रादेशिक स्तर पर पत्रकारिता विषयक आयोजन का विवेचनात्मक सर्वेक्षण करने पर राजस्थानी उद्योग की विशिष्टता और महत्ता का प्रामाणिक चित्र उजागर होगा कि देश के प्रत्येक भू-भाग में प्रवास कर रहे राजस्थानियों ने अपने प्रवास क्षेत्र में रचनात्मक कार्य किया है और समग्र जातीय परिदृश्य पर उनकी विशिष्ट छाप है। हिन्दी पत्रकारिता पर केन्द्रित कुछेक आकलन-ग्रंथों में संकलित प्रादेशिक सर्वेक्षण - निबंध इस तथ्य की ओर इशारा करते हैं। मगर प्रादेशिक भूमिका के समग्र अनुशीलन के लिये यह महत्वपूर्ण विषय अध्येताओं को सारस्वत आमंत्रण देता है, — (द्रष्टव्य: (१) हिन्दी पत्रकारिता : विविध आयाम- सं. डा. वेदप्रताप वैदिक (२) भारत में हिन्दी पत्रकारिता-सं. रमेशकुमार जैन (३) समाचार पत्रों का इतिहास ले. अम्बिका प्रसाद वाजपेयी।

सम्पादन ने 'लोकमत' को मध्य प्रदेश का प्रमुख समाचार पत्र बना दिया था। १६ पृष्ठों के इस अखबार की ग्राहक-संख्या उस जमाने में १५००० तक पहुंच गयी थी। पत्रकारिता के इतिहास अध्येताओं की धारणा है कि "मध्य प्रदेश के कई अग्रणी पत्रकारों ने 'लोकमत' से ही पत्रकारिता की दीक्षा ली।"[१] 'लोकमत'- संपादक द्वारकाप्रसाद मिश्र के लिये लोकमान्य तिलक, माधवराव सप्रे और माखनलाल चतुर्वेदी की पत्रकारिता का प्रतिमान राष्ट्रीय आदर्श के रूप में प्रेरक था। और 'लोकमत' का सम्पादकीय स्वर उग्र राष्ट्रवाद से अनुप्रेरित था, जो अंग्रेजी हुकूमत के लिये असह्य था।[२]

मध्य प्रदेश-महाराष्ट्र के प्रवासी राजस्थानियों द्वारा कई पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन इस क्षेत्र से हुआ। १९२५ में पूना से 'मारवाड़ी मित्र' और नागपुर से 'खादी हितकारी' प्रकाशित हुआ था। १९३८ में 'नवभारत' नामक दैनिक पत्र का नागपुर से रामगोपाल माहेश्वरी ने प्रकाशन किया था, जो परवर्ती काल में जबलपुर (१९५०), भोपाल (१९५६) और इंदौर से भी (१९५९) में प्रकाशित होने लगा। माहेश्वरी जी के व्यवस्था-पाटव और सम्पादन दक्षता ने 'नवभारत' को इस क्षेत्र का लोकप्रिय दैनिक बना दिया था। पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवासी राजस्थानियों ने अपने-अपने प्रवास प्रदेश से रचनात्मक उपक्रम किये जिनका प्रादेशिक स्तर पर स्वतंत्र अध्ययन अनुशीलन अपेक्षित है। 'संथाल परगना के गांधी' के रूप में लोक सम्मानित प्रख्यात गांधीवादी समाज-सेवी और स्वतंत्रता-सेनानी मोतीलाल जी केजड़ीवाल के उद्योग से भागलपुर (बिहार) मे 'गांधी संदेश' का प्रकाशन हुआ था। पूना से मासिक पत्रिका 'राजस्थान वीर' का १९३६ में प्रकाशन हुआ था। बम्बई से १८९६ में प्रकाशित 'वेंकटेश्वर समाचार' की यात्रा देश के स्वाधीन होने तक अंकुठ थी। खेमराज बजाज के उद्योग की यात्रा काफी लम्बी थी। और युग-धर्म के स्पर्श से 'वेंकटेश्वर समाचार' का चरित्र अप्रभावित नहीं था। १७ फरवरी १९२० के 'सचित्र हिन्दी दैनिक पत्र' श्री वेंकटेश्वर की एक प्रमुख टिप्पणी हिन्दू मुसलमान के मैत्री-भाव पर केन्द्रित है। उक्त टिप्पणी की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं, "जो आदमी आरा जिले का इतिहास जानते हैं उन्हें मालूम होगा कि इस नगर के हिन्दू मुसलमानों में कैसे विरोध भाव था।............ किन्तु जिन्होंने हाल में बसंत पंचमी का उत्सव देखा हो वे आश्चर्य से अवाक् होंगे, कि यह हिन्दू मुसलमानों की एकता का दृश्य कितना सुखद और हर्षदायक था।" इसी प्रकार २६ दिसम्बर १९२० के 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' में तीसरे पृष्ठ पर 'यरवदा-मन्दिर से', 'खादी का रहस्य' और 'चरखा-यज्ञ' शीर्षक टिप्पणयां प्रकाशित हुई हैं, जिनके कुछ स्थल उद्धरण योग्य हैं, जो युग-संवेदना के प्रति अखबार की जागरूकता का संकेत देते हैं। यरवदा कारावास में गांधीजी गीता की व्याख्या करते थे। चौथे अध्याय की व्याख्या को इस अंक में प्रस्तुत किया गया है। 'खादी का रहस्य' शीर्षक टिप्पणी द्रष्टव्य है, "यरवदा मन्दिर से एक दस बरस की आश्रम बाला को गांधीजी लिखते हैं:- तुझे कातना नहीं आता, इसके दो कारण हैं। एक तो यह, कि वह गरीबों के खातिर है, इसका तुझे ज्ञान नहीं और भूखों

१. विजयदत्त श्रीधर-भारत में हिन्दी पत्रकारिता, पृ. १४८
२. द्रष्टव्य : हिन्दी पत्रकारिता : विविध आयाम, पृ. १५९

मरने वालों की गरीबी कैसी होती है यह तुम नहीं जानती। दूसरा यह है कि तुझे अच्छा कातना नहीं आता। इसलिये गरीबों के बारे में तू जान ले कि गरीबों पर दया रखना हमारा धर्म्म है। यह समझ ले तो सहज ही रस आवे और तब फिर उसके लिये कातना। इसलिये अच्छे से अच्छा और अधिक से अधिक कातना चाहिये, यह भी तुझे अनुभव होगा।'' इसी प्रकार 'चरखा यज्ञ' शीर्षक टिप्पणी की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं, ''चरखा शरीर-यज्ञ का मांगलिक चिह्न है। यज्ञ किये बिना जो भोजन करता है वह चोरी का अन्न खाता है। इस यज्ञ का त्याग करके हम देशद्रोही बन गये, हमने लक्ष्मी देवी को देश निकाला दे दिया। हिन्दुस्तान के वे असंख्य स्त्री पुरुष जो हड्डी और चमड़ी भर के वारिस रह गये हैं, इस बात का सबूत दे रहे हैं।'' अपनी बात शुरू करते गांधी जी ने कहा था, ''मुझे दृढ़ विश्वास है कि समझाने से हम जो नहीं कर रहे हैं वही ठोकरें खाकर, मजबूर होकर करेंगे। हिन्दुस्तान का अर्थशास्त्र इस चक्र के एक-एक पंख पर लिखा हुआ है। ग्राम जीवन का पुनरुद्धार एक मात्र इसी पर अवलम्बित है। सूत कातने के कार्य को मैं एक धंधा नहीं समझता। वह तो धर्म्म है।'' गांधी ने चरखे को इसी टिप्पणी में सुदर्शन चक्र कहा है।

महात्मा गांधी की हत्या बीसवीं शताब्दी की कदाचित् सबसे बड़ी त्रासदी है। गांधीजी का जीवन उस पाशविकता को प्रशमित करने में समर्पित था, जिसका भयावह परिणाम दो विश्व-युद्ध के रूप में इतिहास ने देखा है। जीवन मूल्यों को जैसे हिंसा ने पूरी तरह लील लिया था। मानव-इतिहास की उतनी बड़ी त्रासदी का आघात अनुभव करके भी हिंसा की राह छोड़ने को मनुष्य तैयार नहीं था। अपने देश के दो समुदाय के बीच सौमनस्य की आबोहवा रचने के लिये और हिंसा की उग्र आंच को बुझाने के लिये गांधीजी ने अनेक बार अपने प्राण को संकट में डाला। हिंसा-पागल नोआखाली के घर-घर में जाकर अहिंसा मैत्री की ज्योति जलाई। और अपने इसी महत् व्रत को पूरा करते अन्ततः एक हिन्दू के हाथ उनकी वहां हत्या हुई, जहां गांधीजी की अहिंसक सेना के सिपाहियों ने आजाद देश के शासन का दायित्व सम्हाला था, देश के प्रहरी के रूप में सर्वोच्च सत्ता की कुर्सी पर बैठे थे। स्वाधीन भारत के आदि चरण की यह त्रासदी मानव-इतिहास की त्रासदी थी, जिसे इतिहास ने हिन्दू जाति के अमिट कलंक के रूप में टांका। दुनिया भर के अखबारों ने इसे अपने अग्रलेख का विषय बनाया था उस दिन। बम्बई के 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' के अग्रलेख की कुछ मार्मिक पंक्तियां द्रष्टव्य हैं, ''हिन्दू जाति ने अपने माथे पर वह कलंक का टीका लिया है, जो इतिहास के पृष्ठों से कभी धुल न सकेगा। वर्तमान युग आज तक केवल इतिहासों से जानता रहा है, कि हिन्दू जाति कृतघ्न रही है, आज उसने प्रत्यक्ष देख लिया, कि हिन्दू जाति से बढ़कर कृतघ्न जाति दूसरी नहीं। आज हमें स्वयं अपने को हिन्दू कहते लज्जा आती है।.........आह, हिन्दू जाति! यदि तूने अपने काले हृदय को न बदला, उस दिवंगत महापुरुष की दिव्य वाणियों का अनुसरण न किया, तो वह दिन दूर नहीं जब तेरा अस्तित्व उसी तरह लुप्त हो जायेगा जिस तरह सूर्योदय होने पर कुहासा विनष्ट हो जाता है।

''अंत में हमें इतना ही कहना है, यदि हिन्दू जाति को अपना भविष्य बनाना है, यदि उसे संसार में अपना गण्यमान्य स्थान प्राप्त करना है, तो हमें उन महापुरुष के गुणों को

आयत्त कर लेना चाहिये।" ६ फरवरी १९४८ के अंक के सम्पादकीय वक्तव्य के नीचे मनीषी स्वतंत्रता - सेनानी आचार्य नरेन्द्रदेव की संवेदना और चेतावनी, सम्पादक ने प्रकाशित की है, "*महात्मा गांधी का हृदय बेधन करने वाली उस गोली ने केवल महात्मा गांधी के हृदय को ही बिद्ध नहीं किया है, वरन वह राष्ट्र के हृदय बिद्ध हुई है। यह केवल 'पागल' का ही कुकृत्य नहीं है, अपितु इसके अन्दर राष्ट्र की स्वतंत्रता के मूलोच्छेद का रहस्य छुपा हुआ है।*"[१]

सनातन धर्म के बुनियादी अनुशासन से अनुप्रेरित 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' हिन्दू धर्म के मर्म को सही कोण से समझ रहा था, युग-धर्म के प्रति संवेदनशील और समय-संवेदना के प्रति पूरी तरह जागरूक था।

तिलक युग की पत्रकारिता के संदर्भ में राजस्थानी उपक्रम से कलकत्ता से प्रकाशित 'कलकत्ता समाचार' की संक्षिप्त चर्चा पिछले अध्याय में की गयी है। 'हिन्दू संसार' के नाम से 'कलकत्ता समाचार' की यात्रा नये उत्साह से गांधी युग में शुरू हुई। 'कलकत्ता समाचार' के आखिरी अग्रलेख (पौष शुक्ला १२, सं. १९८१) में पं. झाबरमल्ल शर्मा ने उन व्यावहारिक कठिनाइयों का उल्लेख किया है, जिनके चलते 'कलकत्ता-समाचार' का प्रकाशन स्थगित हुआ, "सन् १९१८ में स्वेच्छाचारी शासकों ने जनता के भाव का अपमर्दन करते हुए रोलेट एक्ट पास कर डाला और इसको लेकर अहिंसाव्रती महात्मा गांधी ने सत्याग्रह का शंख बजा दिया। नौकरशाही ने उनको पंजाब जाते हुए पलवल में पकड़ा और इस संवाद के बिजली की तरह फैलते ही देश में अपूर्व जोश की लहर पैदा हो गयी। उसी समय पंजाब में डायर की क्रूरता से हत्याकांड हुआ, फौजी कानून जारी किया गया। दमन की हवा चारों ओर फैल गई। कलकत्ते में भी गोलियां चलीं। नौकरशाही के दम्भ की ध्वनि से देश में शोर मच गया। 'कलकत्ता समाचार' ने उस स्थिति की निर्भीक होकर आलोचना की और उसको सहन न करके बंगाल सरकार ने उससे दो हजार की जमानत मांग ली। जमानत की बात सुनते ही कलकत्ता समाचार लिमिटेड के डाइरेक्टरों के छक्के छूट गये। कई सज्जन समाचार की निर्भीक राष्ट्र नीति से कुढ़े बैठे थे ही। अंत में धनी डाइरेक्टरों ने एकमत होकर केवल दो हजार की जमानत के लिये 'समाचार' को बंद कर दिया। 'समाचार' के बंद होने का उस समय हमें उतना ही दुख हुआ जितना कि पाले-पोसे पुत्र के मर जाने का।

"अंत में उदारमना कुंवर गणेश सिंह जी ने लिमिटेड कंपनी के कलकत्ता समाचार, प्रेस और इसके पूरे सामान को खरीद लिया।

---

१. और संगम (इलाहाबाद) में गांधी जी के अस्थि- विसर्जन के बाद जवाहरलाल नेहरू के मित्र और तत्कालीन केंद्रीय मंत्री रफी अहमद किदवई ने बहुत व्यथित होकर प्रसिद्ध पत्रकार दुर्गादास के कान में कहा था, Jawaharlal performed the last rites not only of Gandhi but Gandhism as well. Now that the master has Gone there will be no one to discipline the crows. द्रष्टव्यः INDIA : FROM CURZON TO NEHRU AND AFTER-DURGADAS.
भारत की वर्तमान देश-दशा प्रमाण है कि किदवई साहब की टिप्पणी कितनी सटीक थी।

"जिस 'समाचार' को त्याग और परिश्रम के साथ श्रीयुत कुंवर साहब वर्षों से चला रहे थे वह उन्हीं के आश्रय में निजत्व बनकर संवत १९७७ माघ शुक्ला पंचमी को पुनः नवपर्याय में प्रकट हुआ। सहयोगियों और पाठकों ने इसका बड़े उत्साह से स्वागत किया। 'कलकत्ता समाचार' की नीति को स्पष्ट करते पं. झाबरमल्ल शर्मा ने लिखा था, "उस समय महात्मा गांधी प्रवर्तित असहयोग आंदोलन का वेग द्रुत गति से बढ़ रहा था। महात्माजी का संदेशा सुनने को लोग बड़े उत्सुक थे। कलकत्ता समाचार ने लोगों को इस उत्सुकता की पूर्ति में अपनी शक्ति का प्रयोग किया। 'समाचार' अपने हिन्दुत्व की रक्षा करते हुए स्वराज्य पाने का प्रयासी रहा है।...... वह धर्म-सम्मत सुधार का पक्षपाती रहा है, अंधाधुंधी का नहीं। वह हिन्दू-मुस्लिम एकता चाहता रहा है, किन्तु अपने धर्म की हानि सहकर नहीं। "अपनी नीति के दायरे में रहकर, दायित्व को समझ कर अपनी मति-गति के अनुसार वह देश और धर्म की भलाई के विचार अपने देशवासियों के सामने रखता रहा है।" पूर्ववर्ती अध्याय में संकेत किया गया है कि गांधीजी की महत्ता से परिचित और उनके प्रति सम्मानशील पं. झाबरमल्ल शर्मा के संस्कार पर लोकमान्य तिलक का गहरा असर था।

वसंत पंचमी १९८१ को दिल्ली से प्रकाशित 'हिन्दू संसार' के प्रथम सम्पादकीय वक्तव्य में झाबरमल्लजी ने पत्र का लक्ष्य स्पष्ट करते लिखा था, "हिन्दू-संसार का लक्ष्य होगा कि हिन्दू जाति में अपने पवित्र धर्म का आग्रह और प्रेम भर देने का प्रयत्न करे और समझाये कि उसका अस्तित्व धर्म में ही सन्निहित है। धर्मविहीन जातियां बिजली की तरह चमक कर विलीन हो जाती हैं। हिन्दू संसार का दायरा बहुत विस्तृत है। यह विश्व में अपने पूर्वजों के शांतिदायक, कल्याणकारक विचारों को फैलावेगा। थोड़े शब्दों में कह सकते हैं कि हिन्दू-मंसार, सनातन धर्म का अनुयायी और स्वराज्य का परमाकांक्षी है।"[1] पं. झाबर मल्ल शर्मा ने 'हिन्दू-संसार' के २३ फरवरी १९२७ के अंक में अपने पत्रकारिता विषयक आदर्श का संकेत दिया था, "समाचार पत्र देश ध्वनि के दर्पण होते हैं और प्रत्येक उच्च तथा राष्ट्रीय पत्र का कर्तव्य है, कि वह देश-हित के लिये मातृ-मन्दिर में श्रद्धांजलि से प्रेम-प्रसून नहीं, कर्तव्य प्रसून चढ़ाया करे।" इसी आदर्श-अनुशासन से पं. झाबरमल्ल शर्मा ने अपना सम्पादकीय दायित्व पूरा किया।[2]

गांधी युग में राजस्थान से प्रकाशित पत्र-पत्रिकायें

गांधी जी के स्वराज्य आंदोलन ने यह बोध प्रखर कर दिया था कि देशी रियासतों की दुर्नीति और साम्राज्यशाही अंग्रेजी हुकूमत की तोप का मुकाबला अखबार से किया जा सकता है। इसी समझ के आग्रह से स्वातंत्र्य-संग्राम के राजस्थानी नायकों ने पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन की प्रेरणा जगायी, प्रकाशन उद्योक्ता बने और इस काल-खंड में राजस्थान से अनेक उग्र जातीय चेतना की पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। राजस्थान की पत्रकारिता

---

1. यह उसी संस्कार-बीज का पल्लवित रूप है, जिसका वपन राजस्थान की मानस-माटी में स्वामी दयानन्द सरस्वती और स्वामी विवेकानन्द ने उन्नीसवीं शताब्दी में किया था।

2. पं. झाबरमल्ल शर्मा के अग्रलेख के स्वरूप, दृष्टि और तेवर को समझने के लिये परिशिष्ट में संकलित सम्पादकीय निबंध द्रष्टव्य।

के अन्वेषी-अध्येताओं के अध्ययन ने विवरण के आधार पर इस ऐतिहासिक तथ्य पर आलोकपात किया है कि राजस्थान में स्वत्व-सजगता, जातीय अभीप्सा और जन-चैतन्य को जगाने में हिन्दी पत्रकारिता की महत् भूमिका रही है। राजस्थान में क्रियाशील, दुहरे अभिशाप-मोचन के संकल्प से उत्थित आंदोलन को पत्रकारिता ने अपेक्षित शक्ति और गति दी।

राजस्थान का आधुनिक इतिहास प्रामाणिक साक्ष्य देता है कि गांधी युग में राजस्थानी मानस में स्वत्व--चेतना की लहर उत्कर्ष पर पहुंच गयी थी। देशी राजाओं और जागीरदारों की दुर्नीति और नृशंस दमन-चक्र से किसानों, स्त्रियों, अस्पृश्य के रूप में अवहेलित बड़े मानव समूह और सदियों से दमित श्रमजीवी वर्ग की सत्ता से सीधी मुठभेड़ जागृत अस्मिता बोध का सबूत है, जिसे कुचलने-मारने के लिये प्रभुता सम्पन्न वर्ग अमानुषिक धरातल पर उतर आया था,[1] पर स्वत्व रक्षा की आग निरन्तर तेज होती गयी। भिवानी में अपनी भाषा में गांधीजी ने जो जागरण मंत्र दिया था उसे उनके प्रबुद्ध अनुयायियों ने गांव-गांव में पहुंचा कर जन-जन में जागृति पैदा कर दी थी। अधिकार के प्रति गांव जागरूक हो उठा था और उस जागरण को सही राह पर नियोजित करने वाले कई संगठन क्रियाशील हो उठे थे। जाट महासभा (११ फरवरी १९३२) महिला सम्मेलन (२० जनवरी १९३४) और किसान सम्मेलन व्यापक जागरण के समुचित रूपायन की पीठिका थी। राजाओं, सामंतों, जागीरदारों जमींदारों के अत्याचार के प्रतिरोध की लहर को गतिशीलता और नेतृत्व देनेवालों में शेखावाटी की शीर्ष वाणिज्य-विभूतियां थीं, जिनका देश के स्वातंत्र्य-संग्राम की राष्ट्रीय धारा से सक्रिय सम्बन्ध था, और जो लोकनायक महात्मा गांधी के अन्तरंग सम्पर्क में थे। जमनालाल बजाज, घनश्यामदास बिड़ला और भागीरथ कानोड़िया ऐसे ही कृती पुरुष थे, जिनका जन्म राजस्थान के शेखावाटी क्षेत्र में हुआ था और व्यावसायिक प्रयोजन से दूरस्थ प्रदेश में प्रवास करते उनकी संवेदना अपनी जन्मभूमि से घनिष्ठ रूप में जुड़ी थी। स्वराज्य आंदोलन से सक्रिय रूप से युक्त राजस्थानी माटी के ये नर-रत्न राजस्थान के समग्र अभ्युत्थान के लिये कई मोर्चों पर संघर्षरत थे। इनकी देश-निष्ठा को इतिहास सादर स्मरण करता है, पर इनकी पहली निष्ठा अपनी जड़ के प्रति थी। जमनालाल बजाज कई मंचों-सरणियों से अपनी भूमिका पूरी कर रहे थे। 'जयपुर राज्य प्रजा मंडल' के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने १९२९ में जयपुर सत्याग्रह का नेतृत्व किया था, और अन्ततः लोकप्रिय सरकार बनवाने में कृतकार्य हुए थे। शेखावाटी के किसानों की समस्या की प्रामाणिक जानकारी प्राप्त करने का गुरुतर दायित्व उन्होंने हीरालाल शास्त्री, टीकाराम

---

१. अपनी विवरण-प्रधान पुस्तक 'शेखावाटी में स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास' में उस क्षेत्र के समर्थ लोगों के रोमांचक जुल्म का श्री मोहनसिंह ने जो वर्णन किया है, वह न केवल राजस्थान, बल्कि पूरे देश के नरेशों, जागीरदारों, जमींदारों की नृशंसता और हीन चरित्र का परिचायक है। राजस्थान ही नहीं, पूरे देश की जनपदीय संघर्ष कथा पर केन्द्रित पुस्तकों से आधुनिक भारत का त्रासद तथ्य और स्वातंत्र्य-संग्राम का समग्र चित्र तथा प्रामाणिक इतिहास प्रकाश में आ सकता है, जो वर्तमान और भविष्य की युवा पीढ़ी को देश-भक्ति की सही राह दिखा सकता है, और युवा ऊर्जा को दिशाहारा होने से बचा सकता है। श्री मोहन सिंह ने अपनी खोज और कठोर श्रम से रचित पुस्तक द्वारा इस दिशा में एक प्रेरक संकेत दिया है।

पालीवाल, सरदार हरलाल सिंह और विद्याधर कुलहरि को सौंपा था। इस प्रकार उपयुक्त चरित्रों का चयन कर उनकी रचनात्मक ऊर्जा को राजस्थान की समस्या-मुक्ति के अनेकमुखी उपक्रम में नियोजित करते थे, और अपनी कठोर तपस्या से राजस्थान के उपयुक्त पात्रों को देश माता के उद्धार के लिये तपने की अहिंसक क्रान्ति-कला सिखाते थे। उनकी अनेकमुखी प्रचेष्टा का ही परिणाम था कि राजस्थान के जातीय जीवन में अपेक्षित हलचल शुरू हुई, और स्वातंत्र्य-स्पृहा के आवेग तथा साधन-सम्पन्न समर्थ लोगों के अपकर्म के प्रतिरोध में जन्मी जन-ऊर्जा को समुचित नेतृत्व देनेवाले बलिदान पंथी लोकनायकों की कर्म-साधना जन-आंदोलन के रूप में विभिन्न संगठनों-मंचों से राजस्थान के पूरे भू-भाग में क्रियाशील हो उठी। जातीय जागरण के उस उज्ज्वल अध्याय के मूल नायक इस काल में महात्मा गांधी थे, और उसे जन-व्याप्ति और अपेक्षित प्रखरता-क्षिप्रता देने का सशक्त माध्यम पत्रकारिता थी।

राजस्थानी पत्रकारिता की राजसत्ता के दो नृशंस कोणों से तीखी मुठभेड़ थी। प्रजा के प्रतिपालक के रूप में शताब्दियों से अपने को पुजवानेवाले देशी नरेश के दुःशासन का दंश अधिक निकट और तीखा था। दूसरी लड़ाई अंग्रेजी सरकार की साम्राज्यवादी हीनमन्यता के प्रति थी। देशी रियासतों के जुल्म को, अपनी प्रभुता की सुरक्षा और प्रशासन सुविधा के लिये अंग्रेजी सरकार प्रोत्साहन-पोषण देती थी। इस दुहरे प्रशासनिक अत्याचार के प्रतिरोध की आबोहवा रचने में हिन्दी पत्रकारिता युयुत्सु मुद्रा में सक्रिय हो गयी थी। इस राह की यात्रा की अगुआई गणेशशंकर विद्यार्थी का 'प्रताप' कर रहा था। परिणामतः रियासतों और अंग्रेजी राज के समान रूप से चक्षु-शूल बन गये थे 'प्रताप'- सम्पादक गणेश शंकर विद्यार्थी। वही उदग्र राष्ट्रीय चेतना राजस्थान के पत्रकारों में दिखाई पड़ती है।[१]

प्रजा-पीड़क रियासती कुशासन के प्रतिरोध और सामान्यजन को राजकीय यंत्रणा से मुक्ति दिलाने के उद्देश्य से ही विभिन्न राज्यों में प्रजामण्डल, प्रजापरिषद् और लोक-परिषद का गठन हुआ था। इसी महत् उद्देश्य से 'राजपूताना-मध्य भारत सभा' की रचना हुई थी, जो सन् १९२६-२७ में 'अखिल भारतीय देशी लोक परिषद्' में रूपान्तरित हुई। देशी रियासतों से जुड़े प्रश्न तत्कालीन भारत की एक ज्वलन्त समस्या थी। इसीलिये भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपेक्षित गुरूता के साथ इसे अपने कार्यक्रम में सम्मिलित किया। हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन में गहरे विचार-मंथन के बाद संशोधित निर्णय इस विवेक के आग्रह से लिया गया ताकि कांग्रेस के नाम से जुड़कर और स्थानिक संगठनों की पहचान को कांग्रेस से जोड़ कर विभिन्न रियासतों के उत्साही नेता और कार्यकर्ता ऐसे कार्य न करें जो स्वराज्य-आंदोलन से जुड़े गुरुतर प्रयोजन के आधार को कमजोर करें। हरिपुरा कांग्रेस का एक महत्वपूर्ण मुद्दा रियासतों और वहां की गतिविधियों पर केन्द्रित था, जिसका बकौल डा. पट्टाभि सीतारमैया 'हरिपुरा कांग्रेस में विशेष महत्त्व था।'[२] इस संबंध में हरिपुरा

---

१. राजस्थान से प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं की जुझारू भूमिका के विस्तृत विवरण की जानकारी के लिये द्रष्टव्य (१) पं. झाबरमल्ल शर्मा अभिनन्दन ग्रंथ (२) भारत में हिंदी पत्रकारिता (३) हिन्दी पत्रकारिता : विविध आयाम (४) राजस्थान में हिन्दी पत्रकारिता (५) स्वाधीनता आंदोलन में जयपुर की पत्र-पत्रिकाओं का योगदान (६) धुन के धनी सं. सत्यदेव विद्यालंकार

२. कांग्रेस का इतिहास : खंड-२, पृ. ७८

कांग्रेस का संशोधित निर्णय था, "......कांग्रेस आदेश देती है कि रियासतों की कांग्रेस समितियां कार्यसमिति के निर्देशन तथा नियंत्रण में रहकर कार्य करें और अभी कांग्रेस के नाम पर या उसकी तरफ से किसी पार्लामेंटरी कार्य या प्रत्यक्ष कार्रवाई में भाग न लें। रियासतों की कोई भीतरी लड़ाई कांग्रेस के नाम पर न लड़ी जानी चाहिये। इसके अलावा, कांग्रेस-समितियों के संगठन का कार्य आरम्भ किया जा सकता है और जहां समितियां पहले ही से चल रही हों वहां उनके काम को जारी रखा जा सकता है।'[२] इस निर्णय के साथ रियासतों में जागृत आंदोलन में एक नया चरण जुड़ा। रियासतों की समम्या के भी प्रधान सलाहकार गांधीजी ही थे।[३] १९३७ के मैसूर अधिवेशन में पारित प्रस्ताव से पं. जवाहरलाल नेहरू की सहमति नहीं थी, जिसे हरिपुरा अधिवेशन में भी अपने वक्तव्य में उन्होंने दुहराया था। हरिपुरा में रियासतों की गतिविधियों के प्रश्न पर पं. जवाहरलाल ने स्पष्ट भाषा में कहा, "आज सारे हिन्दुस्तान में, जिसमें रियासतें भी शामिल हैं, एक उल्लेखनीय जाग्रति फैल रही है। हमें इस जाग्रति को आगे बढ़ने का अवसर देना चाहिये और अपने को संगठित करना चाहिये।"[४] जवाहरलाल नेहरू की प्रेरक वाणी और त्रिपुरी कांग्रेस के रियासत विषयक गुरुत्वपूर्ण विचार-विमर्श का 'अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद्', 'मेवाड़ प्रजा मंडल', 'भरतपुर प्रजा परिषद' तथा जन पक्ष से रियासती दुर्नीति और अत्याचार के प्रतिरोध में सक्रिय दूसरे संगठनों के उद्योक्ताओं को प्रेरणा और अपेक्षित बल मिला।

ध्यातव्य तथ्य है कि रियासती अनौचित्य और प्रजा-पीड़क जुल्म के प्रतिरोध में क्रियाशील इस काल के जन-आंदोलन के नायकों के प्रेरणा-पुरुष महात्मा गांधी थे, और अहिंसा तथा सत्याग्रह का अनुशासन ही उनका आदर्श था। राजस्थान की भील जाति की यातना-मुक्ति के लिये विजय सिंह पथिक और माणिक्यलाल वर्मा के नेतृत्व में इतिहास प्रसिद्ध 'बिजौलिया सत्याग्रह आंदोलन' इसी काल में शुरू हुआ था, और राजतंत्र की दमन-नीति को सत्याग्रह-भित्तिक जन-आंदोलन के सामने अन्ततः झुकना पड़ा था। राजतंत्र के ही नहीं, जन-आंदोलन के इतिहास की यह स्मरणीय घटना सत्याग्रह की अपराजेय शक्ति का प्रमाण है। युगल किशोर चतुर्वेदी ने राजस्थान की जन-जागृति पर सटीक टिप्पणी की है, "राजस्थान के कतिपय राज्यों में भी राजनीतिक चेतना उत्पन्न होकर वहां की जनता को अपने अधिकार की प्राप्ति के लिये प्रेरित तथा प्रोत्साहित करने लगी थी, और उसके परिणाम स्वरूप जहां-तहां छोटे-मोटे आंदोलन और दमन-चक्र भी चलते रहते थे, जिनमें बीकानेर में श्री सत्यानारायणजी सर्राफ आदि के विरुद्ध राजद्रोह और षड्यंत्र के अभियोग, भरतपुर में दीवान मैकेंजी द्वारा नागरिक स्वतंत्रता का हनन, जोधपुर में 'मारवाड़ सेवा संघ' तथा डूंगरपुर में 'भील सेवा संघ' का दमन आदि घटनायें विशेष उल्लेखनीय हैं, परन्तु राज्यों में वास्तविक कार्य तो सन् १९३७ में हरिपुरा कांग्रेस के अवसर पर पारित रियासती नीति सम्बन्धी प्रस्ताव तथा सन् १९३८ में लुधियाना में पं. जवाहरलाल

१. कांग्रेस का इतिहास : खंड-२ पृ. ८०
२. कांग्रेस का इतिहास : खंड-२ पृ. ८०
३. वही पृ. ७९

जी नेहरू की अध्यक्षता में सफलतापूर्वक सम्पन्न हुए अ. भा. दे. राज्य लोक परिषद् के सम्मेलन के अनन्तर ही आरम्भ हुआ कहा जा सकता है, जब राजस्थान के प्राय: सभी राज्यों की जनता ने नये जोश और उत्साह के साथ वहां के नरेशों तथा स्वेच्छावादी सामन्तों के विरुद्ध संगठित रूप में आंदोलन चालू किये थे।"[1] आंदोलन-नायकों का दायित्व और जनोद्धार की आदर्श-प्रेरणा से प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका गुरुतर हो गयी थी।

'राजस्थान केसरी' की भूमिका का उल्लेख इस अध्ययन के आरम्भ में किया गया है। इसके उद्योक्ताओं में विजय सिंह पथिक उग्र विचार के जन-नायक थे। मध्य भारत और राजस्थान की रियासतों की प्रजा-पीड़क नीतियों के प्रतिरोध में जागृति और वैचारिक वातावरण रचने में 'राजस्थान केसरी' की खास भूमिका थी। सन् १९२२ में 'राजस्थान केसरी' को संपादक मंडल ने 'नवीन राजस्थान' नाम से अजमेर से साप्ताहिक रूप में प्रकाशित किया। 'नवीन राजस्थान' की उग्र चेतना राजसत्ता के लिये असह्य थी। मेवाड़ में इसके और प्रधान उद्योक्ता पथिक जी के प्रवेश पर रियासत की ओर से प्रतिबंध लगा दिया गया। किसान आंदोलन भील-मुक्ति आंदोलन इत्यादि आंदोलनों के सक्रिय समर्थक और बिजौलिया आंदोलन के देश-ख्यात नायक के पत्र 'नवीन राजस्थान' पर प्रतिबंध लगाना आतंकित राजसत्ता के लिये स्वाभाविक था। 'नवीन राजस्थान' का आदर्श था —

यश वैभव सुख की चाह नहीं,
परवाह नहीं जीवन न रहे।
यदि इच्छा यह है तो जग में,
स्वेच्छाचार दमन न रहें।

बिजौलिया आंदोलन के पक्ष-पोषक तेजस्वी पत्रकार के रूप में राजस्थान में शीर्ष स्थानीय थे, शोभालाल गुप्त, हरिभाऊ उपाध्याय, अचलेश्वर प्रसाद शर्मा, हरिभाई किंकर, दुर्गाप्रसाद चौधरी। 'नवीन राजस्थान' पर मेवाड़ ही नहीं अलवर, सिरोही, बूंदी आदि कई राज्यों ने प्रतिबंध लगा दिया। विचार-यात्रा को जीवित और सक्रिय रखने के लिए उद्योक्ताओं ने 'नवीन राजस्थान' को 'तरुण राजस्थान' नाम से प्रकाशित किया जो विप्लवी चेतना के चलते मेवाड़ और दूसरे राज्यों द्वारा प्रतिबंधित हो गया। विजय सिंह पथिक की राजस्थान की जन-मुक्ति विषयक आग्नेय भूमिका सत्ता के लिये असह्य थी। उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया। पथिक जी की गिरफ्तारी के बाद १९२८ में 'तरुण राजस्थान' का सम्पादन दायित्व मणिलाल कोठारी और जयनारायण व्यास को सौंपा गया। अंगरेजी हुकूमत को राज्यों-रियासतों की ओर से अनुकूलता और भरपूर सहयोग मिला जातीय जागरण की ऊष्मा को जगाने और समृद्ध करनेवाले पत्रों और पत्रकारों को कुचलने में। 'तरुण राजस्थान' के प्रति वही नृशंस दमन-नीति अपनाई गई जो स्वदेशी आंदोलन-काल में बंगाल और महाराष्ट्र के पत्रों के उग्र जातीय भाव के दमन के लिए अपनाई गयी थी। पथिकजी और उनके सहयोगी मित्रों की युयुत्सु चेतना को व्यंजित करने वाली 'नवीन

---

१. पंडित झाबरमल्ल शर्मा अभिनन्दन ग्रंथ, पृ. 496-7

राजस्थान' के दूसरे वर्ष की प्रथम सम्पादकीय टिप्पणी की पंक्तियां डॉ. मनोहर प्रभाकर ने अपने शोध-प्रबंध में उद्‌धृत की है, जो द्रष्टव्य है, ''सत्ताधारी इतने चौंके क्यों है? इसीलिये न कि राजस्थानरूपी परतंत्रता के महाश्मशान में स्वतंत्रता की अग्नि प्रज्वलित हो गई है- बिजोलिया से निकली हुई आग की चिनगारी ने सारे राजस्थान की सुप्त शक्तियों को जागृत कर दिया है। निर्मल चन्द्रिका में, प्रफुल्ल मल्लिका में, तरंगित नदी में, कूजित कुटी में, मृदुल समीरण में, कुसुमों के सौरभ में, बच्चों के हास्य में और वृद्धों के निःश्वास में सब ओर उसी अग्नि की चिनगारियां उड़ती नजर आ रही हैं। वे एक जगह बुझाना चाहते हैं, वह दस जगह प्रज्वलित हो उठती है। क्यों नहीं बुझती? इसलिये कि वे अग्नि से अग्नि को बुझाते हैं। उनके हृदय में स्वार्थ की अग्नि प्रज्वलित है। उसी को लेकर उस पर डालते हैं, किंतु वह घृताहुति का काम करती है। नाटक के मूल में विपरीत बुद्धि प्रत्यक्ष है, किन्तु आशा नहीं कि वे उसे छोड़े। इसके कारण हैं। उनकी दृष्टि में उनके हृदय, दूषण नहीं, भ्रमण हैं। अपनी पीठ कैसे दिखाई देती है। तभी तो सरकार को भी नरेशों के स्वार्थ कानून बनाने की सूझी है।"

उग्र विचार के पोषक-प्रचारक और राजस्थान के अवाम-जागरण के नायक के रूप में सम्मानित, विवादास्पद तथा राजदंड-भोक्ता विजय सिंह पथिक की भूमिका और कार्य-पंथा पर 'मालव मयूर'- सम्पादक हरिभाऊ सिद्धनाथ उपाध्याय ने 'मालव मयूर' के वर्ष-2 अंक, दो में सम्पादकीय टिप्पणी की थी, ''पथिक जी वीर हैं, वीर ही नहीं कुशल भी हैं। उन्होंने राजस्थान की जनता के दुखों को अनुभव किया। उन्होंने उनके दुःख दर्दों को दूर करना अपना काम समझा। उन्होंने अपने ढंग से अपना काम किया। प्रजा ने उनकी कदर की। राज्यों ने उसे तसलीम किया। प्रजा ने उनके पीछे उनके कामों में भरसक सहृदयता देकर और राज्यों ने उनके काम में शुरू से आखिर तक बाधा डालकर। इस अभागे देश के राजा और प्रजा दो जुदी जुदी चीजें हो गई हैं। प्रजा की जागृति को राजा अपनी हानि समझता है। उलटी गंगा तो देखिये। अब पथिक जी जल्दी ही फिर कार्यक्षेत्र में आ जायेंगे। उनकी कार्य नीति से कितने ही मित्रों और कार्यकर्त्ताओं में मतभेद है। पथिक जी अपने उग्र रूप का परिचय राजस्थान को काफी दे चुके हैं। मेरी राय में अब वे मधुर रूप का दर्शन करावें तो अपने तैयार किये क्षेत्र में अच्छी फसल पका सकेंगे। मैं जानता हूं कि एक कर्मवीर को एक कलमजीवी क्या सूचना दे सकता है? पथिक जी शायद इसका यह उत्तर दें। ब्राह्मण क्षत्रिय को हमेशा से सलाह देते आये हैं। अस्तु, राजस्थान पथिक जी के स्वागत की राह देख रहा है।'' राजद्रोह के अपराध में बीस महीने की पथिक जी की कारावास-मुक्ति के समय यह सम्पादकीय टिप्पणी 'मालव मयूर' में गांधीजी के कट्टर अनुयायी संपादक द्वारा लिखी गयी थी। स्मरणीय है, अपने उग्र विचार के आग्रह से ही विजय सिंह पथिक और उनके समानधर्मा मित्रों को वर्धा और जमनालाल बजाज से वियुक्त होकर अलग राह पकड़नी पड़ी थी, और 'नवीन राजस्थान' का प्रकाशन, अपनी क्रान्ति-चेतना के प्रचार के लिये अजमेर से करना पड़ा था।

शेखावाटी के सर्वप्रिय लोकनायक रामनारायण चौधुरी ने गांधीजी के आदर्शों को अपने

१. राजस्थान में हिन्दी पत्रकारिता, पृ. ७५ से साभार उद्‌धृत।

जीवन में मूर्त किया था। अहिंसा-निष्ठा, निर्भीकता, असाधारण त्याग, पद-लिप्सा से पूर्णतः मुक्त रामनारायण चौधुरी सही अर्थ में गांधीवादी थे।[1] 'मालव मयूर' वर्ष-२-अंक २ में प्रकाशित 'सीकर में हलचल' शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणी की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं— जयपुर राज्य की अनुदारता का प्रतिरोध करते पं. हरिभाऊ उपाध्याय ने रामनारायण चौधरी का पक्ष-समर्थन किया था, "अफसोस है कि राजस्थान के देशी राज्य अब तक यह नहीं समझ पाये कि उनका हित किस बात में है और अहित किस बात में—कौन उनका हित-चिन्तक है और कौन अहितकारी......।

"रामनारायणजी का कुसूर तो आखिर यही है कि उन्होंने अखबारों में लिखा- 'राजा लोग अपने ऐशो आराम में खर्च बहुत करते हैं, प्रजा की शिक्षा, स्वास्थ्य और सुख की वृद्धि की तरफ ज्यादह ध्यान नहीं देते, उनके कर्मचारी प्रजा को बहुत बार सताते हैं।' तो इसमें उन्होंने बुरा क्या किया ? झूठी बात कौन सी लिखी ? यदि वे प्रजा में इन बातों का ज्ञान भी फैलाते हैं तो यह कौन अपराध है ?........ राजाओं से इतना ही निवेदन है कि वे अपनी गुफाओं से बाहर निकल कर जरा अपनी आंखों से इधर-उधर देखें उनके लिए गांधीजी के कुछ अमृतमय उपदेश अन्यत्र दिये गये हैं। उन्हें अपने हृदय-पटल पर अंकित करके सच्चे राजा बनें।[2] तभी उनका मान और आदर प्रजा के दिल में रह सकता है। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का जमाना अब अधिक दिन नहीं ठहर सकता। और प्रजानन का ध्यान में 'देशी राज्यों के लिये कार्यक्रम' नामक टिप्पणी की ओर आकर्षित करना चाहता हूं।[3] उनकी भलाई है शान्ति में, सत्य में, स्वावलम्बन में।" इसी विचार के प्रवक्ता-प्रचारक थे सत्याग्रही लोकनायक रामनारायण चौधुरी जिनके विचारों और सत्यनिष्ठ जीवन-चर्या के ताप से आतंकित होकर जयपुर-नरेश ने अपने राज्य में ही उनके प्रवेश पर प्रतिबंध लगा दिया था।

वर्ष दो के चौथे अंक में 'मालव मयूर' की एक सम्पादकीय टिप्पणी क्रान्तिकारी नायक पथिक जी की कारावास-यातना पर केन्द्रित है। गांधीवादी सौम्य मुद्रा में संपादक पं. हरिभाऊ उपाध्याय ने उदयपुर नरेश की हीनमन्यता पर तीखी टिप्पणी करते राज्य के हित में उन्हें सचेत किया है, "मेरा निवेदन है कि ऐसे बदले के भाव महाराजकुमार के योग्य नहीं। यदि वे दूरंदेशी के कायल हों तो उन्हें पथिक जी को छोड़ उनके प्रभाव का उपयोग राजा और प्रजा की भलाई के लिये कर लेना चाहिए।........ इस समय पथिक जी के साथ न्याय और उदारता का व्यवहार करके वे उनकी शक्ति को विधायक रूप दे सकते हैं। पर यह प्रश्न उठता है कि क्या इतनी दूरंदेशी और समय-सूचकता हमारे राजस्थानी राजकुमारों के भाग्य में लिखी है ? देखें, राजपूताने के एक सर्वोच्च राज्य के महाराजकुमार इसका क्या उत्तर देते हैं ?" इसी मुद्रा में 'मालवा मयूर-' सम्पादक पं. हरिभाऊ सिद्धनाथ उपाध्याय, न केवल देशी नरेशों को, बल्कि देश के और मुख्यतः राजस्थान के हर वर्ग के लोगों को सेठ, साहूकार, श्रीमंत और सामान्य जनगण को देश-हितैषिता की प्रेरणा से दायित्व-सचेत करते रहते थे। दूसरे वर्ष के तीसरे अंक में अग्रवाल महासभा शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणी

---

१. द्रष्टव्य शेखावाटी में स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास-मोहन सिंह, पृ. १८३
२. राजा का आदर्श शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणी परिशिष्ट में द्रष्टव्य।
३. देशी राज्यों के लिए कार्य-क्रम शीर्षक साम्पदकीय टिप्पणी परिशिष्ट में द्रष्टव्य।

में सम्पादक ने मारवाड़ी अग्रवाल की अर्थ-आसक्ति और अनुदारता तथा जमनालाल बजाज की मनोव्यथा को रेखांकित किया है।[१] दूसरे वर्ष के पांचवे अंक में 'हिन्दी नवजीवन' के उद्योक्ता सेठ जमनालाल बजाज का 'हिन्दी भाषियों से निवेदन' प्रकाशित हुआ है।[२]

'मध्य भारत और राजपूताने का सचित्र मासिक मुख पत्र' 'सत्यं परं धीमहि' आदर्श पर केन्द्रित पत्रिका थी, जो निष्ठावान गांधीवादी पं. हरिभाऊ उपाध्याय के सम्पादन में समग्र जातीय अभ्युत्थान के महत् उद्देश्य से प्रकाशित हुई थी।[३] उसके आदर्श का संकेत मुख पृष्ठ पर प्रकाशित निम्नांकित पंक्तियों से स्पष्ट होता है:

'बरसे आशा-जलद नव जीवन चारों ओर
भारत उर फूले फले'- मांगे मालव मोर॥

पत्रकारिता सम्बन्धी गांधीजी का आदर्श ही पं. हरिभाऊ उपाध्याय की सम्पादकीय भूमिका को अनुशासित करने वाला आदर्श था। पत्रकार के दायित्व के प्रश्न पर विचार करते उन्होंने लिखा है, "आधुनिक जगत् में समाचार-पत्र एक महती-शक्ति है। वह जन-समुदाय की बलवती वाणी है, अपने विचारों, भावों को जन-समुदाय तक पहुंचाने का वाहन है, लोकमत जाग्रत करने का साधन है, और जन-शक्ति का प्रतिकार-अस्त्र है। इसका उपयोग प्रयोग या व्यवहार करना साधारण बात नहीं है। जो चीज जितनी ही प्रभावशाली होगी उसका उपयोग उतना ही जिम्मेदारी और सोच-समझ के साथ करना होगा। यदि किसी बात का असर सैकड़ों लोगों पर पड़नेवाला हो तो उसका उपयोग करने के पहले पत्रकार को उसके एक-एक अक्षर पर विचार करना होगा।"[४] इसी जागरूक विवेक से उन्होंने अपना सम्पादकीय दायित्व पूरा किया। अपने एक-एक अक्षर पर सम्पादक पं. हरिभाऊ उपाध्याय की जितनी जागरूक दृष्टि थी उतना ही चौकन्ना उनके प्रत्येक अक्षर के प्रति प्रतिपक्षी रहता था, जिसमें उसे चुनौती की ध्वनि सुनाई पड़ती थी। स्वाभाविक था कि अपनी सत्याग्रही भूमिका के चलते हरिभाऊ उपाध्याय को राज सत्ता का कोपभाजन बनना पड़ा, राज-दंड भोगना पड़ा।

'मालव मयूर' के बाद पं. हरिभाऊ उपाध्याय के सम्पादन में अजमेर से सन् १९२७ में (विजयादशमी संवत १९८४) 'जीवन, जागृति, बल और बलिदान की पत्रिका' के रूप में 'त्यागभूमि' का प्रकाशन हुआ था। गांधीवादी सम्पादक ने पत्रिका के प्रथम अंक के शीर्ष पर महात्मा गांधी का 'आशीर्वाद' प्रकाशित किया था-" 'त्यागभूमि' नाम तो बड़ा अच्छा है परन्तु आजकल नाम के बराबर काम नहीं होता। मेरा तो विश्वास है कि 'त्यागभूमि' इस बुरी आदत को दूर करने का सम्पूर्ण प्रयत्न करेगी। और मेरी दृष्टि से हिन्दुस्थान में और इस युग में जो भारतवर्ष की सेवा करना चाहता है उसके त्याग का आरंभ खादी और चर्खा से

---

१. पूरी टिप्पणी परिशिष्ट में द्रष्टव्य।

२. परिशिष्ट में अविकल उद्धृत।

३. परिशिष्ट में 'मालव मयूर' की विशिष्ट सम्पादकीय टिप्पणियों और कुछ अंकों की विषय-सूची उद्धृत की गयी है, जिससे उसकी प्रकृति और चरित्र का सटीक परिचय मिल जाता है।

४. हरिभाऊ उपाध्याय बदलते सन्दर्भ और साहित्यकार, पृ. १६०

ही हो सकता है। मेरी आशा है कि 'त्यागभूमि' भी अपने यज्ञ का आरंभ चर्खा-प्रचार से ही करेगी -मोहनदास गांधी।'' अपने आराध्य लोकनायक के आशीर्वाद की ध्वनि को ध्यान में रखकर ही पं. हरिभाऊ उपाध्याय ने अपना गुरुतर सम्पादकीय दायित्व पूरा किया।

'मालव मयूर' का प्रकाशन इन्दौर से हुआ था, पर उसकी दृष्टि राजस्थान पर केन्द्रित थी। 'त्यागभूमि' की प्रथम सम्पादकीय टिप्पणी में पं. हरिभाऊ उपाध्याय ने पत्रिका के उद्देश्य का संकेत देते लिखा है, 'त्यागभूमि' 'मयूर' के जीवन-कार्य की दूसरी सीढ़ी है। 'मयूर' अपनी मीठी कूक से राजस्थान को जगाने आया था। कुछ सुनाकर, कुछ बताकर अब 'त्यागभूमि' के द्वारा वह कुछ कराने कीआकांक्षा रखता है। 'त्यागभूमि' राजस्थान के प्राचीन त्याग-बलिदान की समयोचित आवृत्ति करना चाहती है।...... स्वाधीनता मनुष्य का जीवन है, पराधीनता मृत्यु। राजस्थान के पुत्र अभी स्वाधीनता के मतलवाले नहीं हुए हैं। संघर्ष और विपत्तिमय स्वाधीनता उन्हें भयभीत करती है और स्मशान की निर्जीव एवं वीभत्स शान्ति उन्हें रमणीय मालूम होती है। उनकी इस मूर्च्छा को दूर करके उनके दिल में अपनी जन्मभूमि के लिये कुछ करने, देने और सहने की तड़प यदि 'त्यागभूमि' ने पैदा कर दी, तो उसके जीवन का कार्य सम्पन्न हो गया समझिये। राजस्थान के जीवन के एक-एक अंग में गहरी उथल-पुथल मचाने की धुन इसे सवार है। उसके सड़े-गले अंश को यह निष्ठुर बनकर काटेगी और दुनिया से जीवन-पोषक अंशों और तत्वों को लाकर उसे हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ बनावेगी। 'त्यागभूमि' केवल बुद्धि की भूख बुझाने नहीं आई है, बल्कि आत्मा को बल देने के लिये आई है।'' इतिहास 'त्यागभूमि' की कृती भूमिका को अपेक्षित गुरुता के साथ स्वीकार करता है कि गांधीजी के आशीर्वाद और अपनी मूल प्रतिज्ञा के प्रति सम्पादकीय दृष्टि बराबर सचेत रही और अपने जातीय मनोरथ को उसने पूरा किया।

राजस्थान के जागरण की आकांक्षा से अनुप्रेरित 'त्यागभूमि' राजस्थान की जातीय समस्या को वरीयता के साथ प्रकाशित करती थी, जो स्वाभाविक और मूल प्रतिज्ञा के सर्वथा अनुरूप था, पर 'त्यागभूमि' राष्ट्रीय चरित्र की पत्रिका थी। सम्पादक के विशिष्ट व्यक्तित्व का प्रभाव हिन्दी जगत् पर था, जिससे त्यागभूमि को हिन्दी के पांक्तेय कृती पुरुषों का सहयोग प्राप्त था और सम्पूर्ण हिन्दी जगत ने स्तरीय पत्रिका के रूप में उसका स्वागत किया था।[१]

दो वर्ष के प्रकाशन के बाद तीसरे वर्ष के प्रथम अंक (आश्विन संवत् १९८६) में संपादकीय आत्मावलोचन करते-' 'त्यागभूमि' की शिकायतें' शीर्षक से पं. हरिभाऊ उपाध्याय ने लम्बी टिप्पणी लिखी है।[२] उक्त सम्पादकीय वक्तव्य से अपने समय की राजनीति और जातीय आंदोलन के सम्बन्ध में सम्पादक की दृष्टि स्पष्ट हो जाती है। शिकायतों के जवाब में सम्पादक ने अपना पक्ष स्पष्ट किया है,''कुछ मित्र कहते हैं—'तुम

१. परिशिष्ट में 'त्यागभूमि' में प्रकाशित सामग्री की विषय-सूची और विशिष्ट सम्पादकीय टिप्पणियां उद्धृत की गयी हैं, जो सम्पादकीय विचार-कोण और पत्रिका के राष्ट्रीय चरित्र को द्योतित करती हैं। जयशंकर प्रसाद की चर्चित कहानी 'ममता' 'त्यागभूमि' में प्रकाशित हुई थी।

२. द्रष्टव्य : परिशिष्ट।

तो महात्माजी के भक्त हो हर बात में उन्हीं की लकीर पीटते हो। अपने चक्कर से अलग नहीं हो पाते। रट में पड़ गये हो। नई रोशनी और नये जमाने को भी देखो। नये विचारों का भी आदर करो।'

अब इन पर क्रमशः मेरा भी नम्र निवेदन सुन लीजिये। पहले देशी राज्यों की शिकायत को लें। देशी राज्यों के सम्बन्ध में मुझे वह नीति मंजूर है, जो महात्मा जी ने इस सम्बन्ध में निर्धारित की है और जिसे अब तक हमारी राष्ट्रीय महासभा भी मानती आ रही है। अर्थात् देशी राज्यों से सीधी लड़ाई मोल न लेना। मैं यह मानता हूं कि असहयोग को सफल या कार्यकारी बनाने के लिये हमारे आपस में, हिन्दुस्तानी मात्र के सहयोग की आवश्यकता है। अर्थात् हम जहां तक हो किसी भी हिन्दुस्तानी जाति,दल, वर्ग, सम्प्रदाय को अपने राष्ट्रीय ध्येय से दूर न जानें दे- हमारी शक्ति उन्हें नजदीक लाने ही में खर्च हो। यदि हम ऐसा नहीं करते हैं तो बड़ी अदूरदर्शिता से काम लेते हैं।.......

''महात्माजी की नकल मैं जान-बूझकर नहीं करता हूं- अपने आप हो जाती है। जब मैं किसी बात का विचार सत्य और अहिंसा को सामने रखकर करता हूं तो महात्मा जी के वचनों की सचाई प्रत्यक्ष होने लगती है। उनकी भाषा सचाई का प्रतिबिम्ब है।'' संपादक की महात्मा गांधी के प्रति निष्ठा इतनी प्रबल-पुष्ट थी कि 'त्यागभूमि' के वैचारिक रूपायन को लोग अन्यथा दृष्टि से यदा-कदा देखते और टिप्पणी करते थे,[१] जिनके जवाब में पं. हरिभाऊ उपाध्याय को पुनः पुनः अपना पक्ष स्पष्ट करना पड़ता था।

'त्यागभूमि' की सम्पादकीय भूमिका से सक्रिय रूप से जुड़े थे पं. काशीनाथ त्रिवेदी और रामनाथ 'सुमन' जैसे यशस्वी और विचक्षण सम्पादक, जिनकी गांधीवाद और गांधीजी के प्रति उतनी ही गहरी आस्था थी, जितनी पं. हरिभाऊ उपाध्याय की थी। स्वाभाविक था कि 'त्यागभूमि' उसी वैचारिक अनुशासन-सरणि से चलती रही जो गांधी जी का दर्शन-अनुशासन था। देश के जागरूक लोग देश-हित की दृष्टि से गांधीजी के नायकत्व और उनके जीवन का मूल्य समझ रहे थे, उस राष्ट्रीय सम्पदा की रक्षा करने के लिये भारी से भारी मूल्य चुकाने को श्रद्धया तैयार थे (द्रष्टव्य: परिशिष्ट में उद्धृत 'त्यागभूमि' के चैत्र संवत १९८४ में प्रकाशित सम्पादकीय 'महात्माजी का स्वास्थ्य' और उसमें उद्धृत गणेश शंकर विद्यार्थी का पत्र)।

पत्रिका का चरित्र राष्ट्रीय था और हिन्दी जगत् के अग्रणी लोगों का उसे सहयोग प्राप्त था, किन्तु राजस्थान से निकलने वाली पत्रिका में पं. हरिभाऊ उपाध्याय राजस्थान की अनेकमुखी महत्ता उजागर करने के आग्रही थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने माघ संवत १९८६ के अंक में 'त्या. भू. और राजस्थान' शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणी और एक सुचिन्तित विषय-सूची प्रस्तावित की थी, जिसे परिशिष्ट में उद्धृत किया गया है और जो सम्पादक के राजस्थान के सम्यक् परिचय और समग्र उत्थान की चिन्ता तथा विचक्षण सूझ को द्योतित

१. द्रष्टव्य परिशिष्ट में संकलित- लज्जाराम महता का पत्र, फाल्गुन संवत् १९८६ और लाजपतराय का पत्र, मार्गशीर्ष, १९८४।

करती है, और जिसकी आज भी प्रासंगिकता है। राजस्थान की हिन्दी पत्रकारिता के अध्येता डॉ. भंवर सुराणा की टिप्पणी सटीक है कि ' 'त्यागभूमि' ने भाषा, शैली और सामग्री की दृष्टि से राजस्थान में पत्रकारिता को एक नयी दिशा दी।' निःसंदेह पूर्व स्वातंत्र्य-काल की पत्रकारिता में राजस्थान की विशिष्ट भूमिका का प्रमाण है 'त्यागभूमि' का प्रकाशन। विपरीत राजनीतिक विश्वास और उग्र विचार के पक्षधर राजनेताओं के नेतृत्व में क्रियाशील जन-आंदोलन तथा राजस्थान के जागरण विषयक कार्य-व्यापार को अपेक्षित गुरुताके साथ 'त्यागभूमि' प्रकाशित कर अपने पाठकों के बोध-जागरण की कृती भूमिका पूरी करती थी। विपरीत आस्था के प्रति सहिष्णुता-उदारता गांधीवादी प्रत्यय का ही एक प्रमुख लक्षण था।[१]

जयनारायण व्यास के सम्पादन में बम्बई में प्रकाशित 'अखण्ड भारत' के एक शीर्ष पृष्ठ पर 'लोक सेवक पत्रकार' शीर्षक महादेव देसाई की एक छोटी टिप्पणी प्रकाशित हुई थी, जो पत्रकार के आदर्श का सटीक परिचय देती है, ''पत्रकार की स्थिति समाज में असाधारण है। वह जनता का आचार्य है। उसका प्रभाव बहुत व्यापक है। स्वार्थों को छोड़कर उसे विशुद्ध लोक सेवक बनना चाहिये। स्वार्थ के वशीभूत हो जाना लोक-भक्षक पत्रकार को शोभा देता है-लोक सेवक को नहीं।''

''सेवा ही पत्रकार का आदर्श है। जनता का पथ प्रदर्शक बनने में ही उसके गौरव की इतिश्री है। जो पत्रकार जनता का सच्चा पथ प्रदर्शक बन सकेगा वही चिरस्थायी प्रतिष्ठा का भागी होगा।'' जयनारायण व्यास की पूरी लोकयात्रा लोक-सेवा पर केन्द्रित थी। उनकी जीवन-चर्या की प्रमुख सरणि पत्रकारिता और राजनीति थी। और बहुविध लोक सेवा ही उनका एकमात्र धर्म था। 'धुन के धनी' के सम्पादक पं. सत्यदेव विद्यालंकार ने ग्रंथ की भूमिका में लिखा है, ''व्यास जी जन्मजात पत्रकार थे। पत्रकारिता उनके लिये जीवन-निर्वाह का धंधा नहीं, प्रत्युत मिशनरी जीवन का ऐसा सत्य-संकल्प था, जिसकी पूर्ति में पूरी लगन, धुन, सच्चाई वह ईमानदारी से आजीवन लगे रहे।'' अर्थात् जिस आदर्श की ओर महादेव देसाई ने संकेत किया था और जिसे 'अखण्ड भारत' ने शीर्ष महत्त्व देकर

---

१. पूर्ववर्ती पृष्ठों में संकेत दिया गया है कि इस काल-खंड, (गांधी जी के नायकत्व में क्रियाशील असहयोग-आंदोलन काल) में राजस्थान से अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ, जिनका विवरण भित्तिक विवेचन अध्येताओं ने किया है, जो पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुका है। उन तथ्यों-निष्कर्षों की आवृत्ति अनावश्यक है। विशिष्ट पत्र-पत्रिकाओं के संदर्भ में उस संवेदना-संचेतना को रेखांकित करना जो तत्कालीन जातीय परिदृश्य को प्रेरित-अनुप्राणित कर रही थी, और जिनसे राष्ट्रीय अस्मिता की जागरण-भूमिका प्रखतर हो रही थी, मेरे अनुशीलन विवेचन का प्रधान कोण है, जिसका संकेत 'पृष्ठिका' में दिया गया है। कुछेक पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से जागरूक राजस्थानी मानस का, जो समय-संवेदना के प्रति क्रमशः सुमुख-संसक्त हो चला था, संक्षिप्त किन्तु सटीक परिचय देना इस अध्ययन का एक बड़ा प्रयोजन है। इसलिये विवरण-बोझिलता से भिन्न इस विवेचनमूलक सर्वेक्षण की प्रकृति विचार-बिन्दुओं पर केन्द्रित हैं, जो सर्वथा स्वाभाविक है। सर्वेक्षण और निष्कर्ष तथ्यों और विवरणों पर ही आधारित हैं। इतना ही नहीं, परवर्ती अध्येताओं के अध्ययन के लिये तथा पुस्तक की सारस्वत मूल्यवत्ता को ध्यान में रखकर 'परिशिष्ट' में इतिहास और पत्रकारिता से जुड़े महत्त्वपूर्ण तथ्य उद्धृत किये गये हैं।

२. व्यासजी जी के बहुआयामी व्यक्तित्व के परिचय के लिये द्रष्टव्य : धुन के धनी, सं. सत्यदेव विद्यालंकार।

छापा था यही आदर्श जयनारायण व्यास की कर्म-चर्या में मूर्त हुआ था।[१] पूर्व स्वातंत्र्य-काल के पत्रकारों के अनुशासन की सामान्य प्रकृति राष्ट्रोत्थान की प्रचेष्टा ही थी, जिसका संकेत पूर्ववर्ती पृष्ठों में विभिन्न पत्रकारों के संदर्भ में पुन: पुन: किया गया है। महत् जातीय प्रयोजन के रूपायन की प्रचेष्टा विभिन्न सरणियों से चल रही थी। देश-निष्ठा उग्र-सौम्य मुद्रा में पत्र-पत्रिकाओं और विभिन्न जन-आंदोलन के माध्यम से अभिव्यक्त हो रही थी।

ओजस्वी राष्ट्रवाद का प्रेरक पत्र 'विजय' जयनारायण व्यास का संस्कार रच रहा था। दैनिक पत्र 'विजय' दिल्ली से स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा प्रकाशित और पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति द्वारा सम्पादित होता था। अंग्रेजी सरकार की गोलियों का मुंहतोड़ जवाब था 'विजय'। 'विजय' ने ही जयनारायण व्यास में अखबार पढ़ने की रुचि और पत्रकार बनने की महत्वाकांक्षा जगायी थी। 'विजय' की राष्ट्रीय चेतना व्यास जी के नैसर्गिक संस्कार के अनुरूप थी।

हाईस्कूल की परीक्षा देने जयनारायण व्यास को जोधपुर से दिल्ली जाना पड़ा था। वह यात्रा उनकी राजनीति-सुमुखता और सामाजिक कार्य-कलाप का हेतु बनी। ब्रिटिश राज के जुल्म और साम्राज्यशाही की नृशंसता का प्रतिरोध करते, देश-पागल लोगों को व्यास जी ने दिल्ली में करीब से देखा। स्वामी श्रद्धानन्द, हकीम अजमल खां साहब और डॉ. अंसारी के वक्तव्य ने जयनारायण व्यास के मन:लोक में नया संस्कार-आलोक रच दिया - देशोद्धार की एक पागल धुन। जोधपुर लौट कर उन्होंने समाचार पत्रों और राष्ट्रीय साहित्य की एक छोटी दुकान खोली। लोगों में अखबार और राष्ट्रीय साहित्य पढ़ने की रुचि जगाना उस दुकान का प्रधान लक्ष्य था, एक ऐसा गोष्ठी-केन्द्र जहां अन्तरंग चर्चा हो और युवा पीढ़ी को देश-सेवा के लिए तैयार कर उनके माध्यम से राजस्थान के सामान्य जन में जागृति पैदा की जा सके। इस प्रच्छन्न राष्ट्रीय उद्देश्य की भनक सरकार को लग गयी और उस पुस्तक-केन्द्र को बन्द करा दिया गया, जो जयनारायण व्यास की युवा ऊर्जा के लिए उत्तेजक घटना थी।

अपने सामाजिक कार्य-व्यापार का आरम्भिक माध्यम उन्होंने पुष्करणा समाज को बनाया। 'वे प्राय: कहा करते थे कि धर्म, कर्म और ईश्वर-पूजा आदि में श्रद्धा-निष्ठा होने पर भी वे उनका उपयोग अपने सामाजिक एवं राजनीतिक हेतु के लिए किया करते थे' (धुन के धनी, पृष्ठ-२२)। अपनी आरम्भिक सामाजिक चर्या का संकेत देते उन्होंने कहा है, ''हमलोगों ने शहर के बाहर पुष्करणा-नवयुवक-मंडल की स्थापना की थी। उसके पुस्तकालय और वाचनालय को उठा कर हम शहर में एक घनी आबादी में ले आये। उसमें हमने गांधीजी का 'यंग इंडिया' और पं. मोतीलालजी नेहरू का 'इंडिपेंडेंट' आदि सब पत्र मंगाने शुरू कर दिये। वहां आने वाले लोगों को हिन्दी-पत्र पढ़ कर और अंग्रेजी का पत्र अनुवाद करके सुनाये जाने लगे। हमारा वाचनालय लोक-सम्पर्क के लिए एक बड़ा केन्द्र बन गया। यहीं से हमने समाज-सुधार और राष्ट्रीय विचारों के भजन व गीत तैयार करके प्रकाशित करने शुरू किये।'' और इस प्रचेष्टा से राजनीतिक समझ तथा देश-प्रीति की आबोहवा बनने लगी। व्यास जी के आदि उपक्रम की यह ऐतिहासिक भूमिका और प्रथम

चरण की उपलब्धि थी।

समाज-सुधार के द्वार से ही व्यास जी ने सामाजिक जीवन में प्रवेश किया था। पुष्करणा समाज अंधविश्वास से आक्रान्त और रूढ़िवादी समाज था, जिसका व्यास जी ने अपने उद्योग से कायाकल्प कर दिया। होली, विवाह आदि अवसरों पर प्रचलित अश्लील गीतों के चलन को शेष करने के लिए व्यास जी ने राष्ट्रीय गीतों की रचना की और गली-गली में घूम-घूम कर उनका प्रचार किया। इस प्रकार लोक-जीवन में एक उज्ज्वल वातावरण की स्पृहा तथा देश-प्रीति की प्रेरणा जगायी। सामाजिक विकृति के मोचन के लिए जोधपुर से 'पुष्करणा ब्राह्मणोपकारक' और बीकानेर से 'पुष्करणेन्दु' मासिक पत्रिका प्रकाशित हुई। जोधपुर से प्रकाशित मासिक पत्रिका 'पुष्करणा' व्यास जी की अपनी पत्रिका थी। इसी पत्रिका से व्यास जी का पत्रकार-जीवन शुरू हुआ।

सामाजिक विकृतियों से जुड़े मोर्चे के बाद दूसरा मोर्चा था मारवाड़-राज्य की सामन्तशाही, जिससे व्यासजी की सीधी मुठभेड़ थी। सामन्तशाही के विरोध में उठी आवाज का पहला लक्ष्य जागीरदार थे। उन्हें दलित जनता अज्ञता के चलते 'अन्नदाता-भगवान' का ही प्रतिरूप मानती थी। इस अंध धारणा पर व्यास जी के नायकत्व ने पहली चोट की। उनकी पहली और कठोर लड़ाई, दीन-हीन दलित जनता के रहनुमा के रूप में, जागीरदारों से थी। जागीरदारों के सामने जन-पक्ष से व्यासजी ने जो चुनौती खड़ी की थी, वह उनकी प्रभुता-ग्रंथि के लिए असह्य थी। जागीरों में व्यास जी के साथियों के साथ बड़ा अमानुषिक व्यवहार किया गया। चंडावल और डावड़ा की नृशंसता मनोबल तोड़ने वाली थी, मगर सामान्य जन के उद्धार के लिए व्याकुल आन्दोलनकारियों ने दमन-चक्र के सामने पराजय नहीं स्वीकार की। अनेक प्रकार के समाजोत्थानमूलक आन्दोलनों का नेतृत्व करते जयनारायण व्यास को वर्षों किलों, जेलों, निर्वासन, नजरबन्दी में बिताने पड़े। सन् १९३२ की अजमेर-जेल के अपमान और कष्ट का विवरण व्यास जी ने स्वयं लिखा है, जो रोमांचकारी है। उनके साथ पं. हरिभाऊ उपाध्याय भी अजमेर जेल में थे, जिनकी चिट्ठी और उस पर अपनी सम्पादकीय टिप्पणी गांधी जी ने 'हिन्दी नवजीवन' में प्रकाशित की थी।

जयनारायण व्यास महान राजस्थान का स्वप्न चैतन्य होते ही देखने लग गये थे। राजशाही निरंकुशता के प्रति युयुत्सा उन्हें अशान्त किये रहती थी। उनकी संवेदना गणदेवता की अनेकमुखी यातना पर केन्द्रित थी। उनके उद्धार की व्याकुल आकांक्षा ही उनके जीवन की एकांत साध थी। 'जन्मभूमि' के बम्बई कार्यालय से दैनिक 'अखण्ड भारत' के प्रकाशन के मूल में यही प्रेरणा थी। कठोर प्रतिकूलताओं से जूझते व्यास जी ने अपने जीवट और कर्म-निष्ठा से 'अखण्ड भारत' को डेढ़ वर्षों तक जीवित रखा। और 'अखण्ड भारत' की वह छोटी यात्रा राजसत्ता के लिए असह्य हो गयी थी। विकट व्यावहारिक प्रत्यूहों के साथ चलने वाली 'अखण्ड भारत' की यात्रा जब स्थगित हुई तो महाराजा गंगा सिंह ने 'अखण्ड भारत' के प्रकाशन को कायम रखने के लिए व्यास जी को एक लाख रुपये का आर्थिक सहयोग देने का प्रस्ताव रखा था, जिसे अस्वीकार करते व्यास जी ने लिखा था 'अपने दुश्मन की तलवार हाथ में ले उससे लड़ने की अपेक्षा अपनी टूटी तलवार से लड़ना

मुझको कहीं अधिक पसन्द है' (द्रष्टव्य : धुन के धनी, पृ. ५७)। विजय सिंह पथिक और रामनारायण चौधरी ने अपने जुझारू व्यक्तित्व से राजस्थान के अवहेलित-दलित समाज में आत्मोद्धार के लिए बलिदान की जो प्रेरणा और स्वत्वाभिमान जगाया था, उसे जयनारायण व्यास के नायकत्व ने उत्कर्ष पर पहुंचाया अपने धवल चरित्र तथा पौरुष-प्रताप से। जोधपुर के तत्कालीन दीवान सर रोनाल्ड एम. फील्ड के नाम महाराजा गंगासिंह ने २१ फरवरी १९३७ को पत्र लिख कर राजशाही से टक्कर लेने वाले नायक जयनारायण की चारित्रिक धवलता को रेखांकित करते उनके नायकत्व में सुरक्षा का आश्वासन व्यक्त किया था, "देशी राज्यों में, जैसा आप भी जानते होंगे, बहुत से अल्पस्वार्थी, असन्तुष्ट और असंगत नेता भी आये हैं। ऐसे तथाकथित राजनीतिज्ञ अक्सर देशी राज्यों की राजनीति को अपने हाथ में लेने की कोशिश करते हुए रियासत से देश निकाले की सजा पाये हुए हैं अथवा जेल भी भेजे गये हैं और जो पूर्णतया नहीं तो खासतौर से राजाओं और उनके शासन के प्रति द्वेषपूर्ण भावना रखते हैं। निःसन्देह जयनारायण जी व्यास राजशाही की आलोचना निर्दयतापूर्वक करने में किसी से पीछे नहीं रहे हैं। लेकिन वे पक्के ईमानदार हैं। उनको कोई भ्रष्ट नहीं कर सकता। वे अपनी राजनीतिक मान्यताओं और आत्मा के प्रति सत्यनिष्ठ हैं।...... हमारा यह कर्तव्य है कि हम यह ध्यान रखें कि विरोधी खेमों में से भले आदमी आगे आवें और जब हम हटें तो वे शासन की बागडोर संभाल लें। सिर्फ व्यास जयनारायण जी ऐसे आदमी हैं जो अपने हजारों साथियों पर उच्चादर्शों का असर रखते हैं और राजपूताना के सभी वर्गों में जिनका स्थान है। वे हमसे सहमत हों अथवा न हों लेकिन उनमें जिम्मेदारी का निश्चित माद्दा है, जिससे उनकी न्यायप्रियता पर भरोसा किया जा सकता है। आप और आपके दूसरे साथी, जो मारवाड़ राज्य को खतरनाक स्थिति में डालना नहीं चाहते होंगे, महसूस करेंगे कि व्यास जयनारायण जैसे व्यक्तियों की, वहां की जनता को संभालने की उस समय बहुत आवश्यकता होगी जब आप लोग प्रशासन में नहीं रहेंगे।"[१] जयनारायण व्यास की लोक-यात्रा और स्वाधीन देश का इतिहास, जब राजस्थान के सर्वोच्च शासन-आसन पर व्यास जी थे, प्रमाण है उनकी सत्य-निष्ठा, उन्नत चरित्र और जन-हितैषिता का। जन के सच्चे नायक जयनारायण व्यास का विवेक समझता था कि 'जनता को सज्ञान, सजग और सचेत किये बिना प्रजातंत्र का प्रयोग सफल नहीं हो सकता। अज्ञान के अन्धकार में पड़ी जनता उसके लिए हमेशा खतरा ही बनी रहेगी।' अपनी ज्ञान मन्दिर-योजना द्वारा व्यास जी घर-घर में ज्ञानदीप प्रज्ज्वलित कर देना चाहते थे (द्रष्टव्य : धुन के धनी, पृ.६४)। जन-जन में स्वत्व-बोध और युग-बोध जगाने के ही उद्देश्य से व्यास जी ने सन् १९३७ में ब्यावर से 'आगीवाण' नामक पाक्षिक पत्रिका राजस्थानी भाषा में प्रकाशित की थी। निर्भीकता, सत्य-निष्ठा, और अथक कर्मशीलता व्यास जी के चरित्र की भित्ति थी। 'आगीवाण' पूरी निर्भीकता से आमलोगों तक उनकी भाषा में जागीरों में और पूरे समाज में व्याप्त पापाचार, समांतों-जागीरदारों के दमन-अत्याचार का परिचय और राजस्थान में क्रियाशील जन-आन्दलोन की प्रामाणिक खबरें पहुंचाता था। व्यास जी के

१. *धुन के धनी, सं. सत्यदेव विद्यालंकार, पृ. ५४*

दूसरे पत्र भी आग्नेय चेतना के पत्र थे, जो पापाचार-भित्तिक राजसत्ता के प्रतिरोध की आबोहवा रचते शासन-सत्ता के लिए तीखी चुनौती थे। सत्य में छलो-चप्पो की गुंजाइश नहीं होती, इसलिए उसका ताप दुर्बल चरित्र के लिए असह्य होता है। जयनारायण व्यास की पत्रकारिता, पाप के आधार पर ही चोट करती थी। सत्ता का कोपभाजन बनना उनके लिए स्वाभाविक था। व्यास जी के पत्रकारिता विषयक अवदान को रेखांकित करते अचलेश्वर प्रसाद शर्मा ने संक्षिप्त और सटीक टिप्पणी की है, "व्यास जी ने १९२० से १९६३ तक चार साढ़े चार दशाब्दी पत्रकार के रूप में बिताई। अनेक प्रमुख पत्रों के वर्षों संवाददाता रहे। राजस्थान और मध्य भारत को कितने ही लेखक, पत्रकार व संवाददाता प्रदान किये। लोगों में समाचार-पत्र पढ़ने की रुचि पैदा की। जन-जागृति के लिए उन्होंने समाचार-पत्रों के माध्यम को अपनाया। लगभग एक दर्जन पत्र स्वयं प्रकाशित किये और उनका सम्पादन किया। बीसियों पत्र 'प्रजा सेवक' की तरह उनकी प्रेरणा, प्रोत्साहन व सहयोग से निकाले गये। सब मिला कर उनको आधुनिक राजस्थान का 'पत्रकार पितामह' ही कहना चाहिए।"

इस काल-खंड का जन-आन्दोलन मुख्यत: गांधीवादी आदर्श से अनुशासित था, किन्तु स्वातंत्र्य-संग्राम की एक सरणि बहुत दूर तक, कई राष्ट्रीय मुद्दों पर गांधी जी की कार्य-पंथा से वैमत्य रखती थी। हिंसामूलक शासकीय दमन का माकूल जवाब गांधीजी का अहिंसा-भित्तिक अनुशासन नहीं हो सकता, आग्नेय पथ के पथिकों का ऐसा विश्वास था। इस विश्वास के प्रवक्ता के रूप में कई पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित हुई थीं राजस्थान से इस काल में।[१] राजस्थान, मीरा, नवराजस्थान, तरुण राजस्थान जैसे कुछेक उपलब्ध पत्रों की विशिष्ट टिप्पणियां परिशिष्ट में उद्धृत की गयी हैं, जो उस काल में राजस्थान में क्रियाशील उग्र राष्ट्रवाद का संकेत देती हैं। राजस्थान के आधुनिक इतिहास से भी गांधी-युग में राजस्थान में क्रियाशील उग्र चेतना का परिचय मिलता है। 'नव-राजस्थान' अपनी उग्रता के चलते शासन द्वारा जब प्रतिबंधित हुआ तो उसे पथिक जी ने 'तरुण राजस्थान' नाम से प्रकाशित किया। पथिक जी के कारावास-काल में 'तरुण राजस्थान' जयनारायण व्यास के संपादन में निकलता था।

महात्मा गांधी के नायकत्व की राष्ट्रीय महत्ता को श्रद्धया स्वीकार करते हुए भी सारे गांधीवादियों की आस्था का स्तर एक-जैसा नहीं था, जिसे गांधीजी ने प्रकारांतर से अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था यह कहकर कि मेरे न रहने पर जवाहरलाल मेरी भाषा में बोलेगा, उन जवाहर लाल नेहरू की गांधी-निष्ठा और राजेन्द्र प्रसाद अथवा विनोबा भावे की गांधी-निष्ठा के स्तर और रूप में काफी अन्तर था। यह उस काल का ऐतिहासिक तथ्य तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में उजागर है कि जमनालाल बजाज और हरिभाऊ उपाध्याय की आस्था और दूसरे पत्र-उद्योक्ता और सम्पादक की आस्था की गहराई का स्तर अलग-

---

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य (१) राजस्थान में हिन्दी-पत्रकारिता (२) राजस्थान की पत्र-पत्रिकाएं-महेन्द्र लोढ़ा, (३) स्वाधीनता-आन्दोलन में जयपुर की पत्र-पत्रिकाओं का योगदान - महेन्द्र लोढ़ा।

अलग था। परिशिष्ट में उद्धृत विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं की विशिष्ट टिप्पणियां इस तथ्य पर आलोकपात करती हैं कि गांधीवादी आस्था के स्वर अलग-अलग थे। दीर्घकाल से दलित राजस्थान के बड़े वर्ग-तथाकथित अस्पृश्य, भील, जाट और नारी- की यातना- आह को विप्लव-राग में छंदित करने का जोखिमभरा उपक्रम विजय सिंह पथिक,[१] रामनारायण चौधरी और जयनारायण व्यास जैसे जननायक अनेक रूपों में कर रहे थे। उनके जन-जागरण-अभियान के प्रकाशन-प्रसार का सशक्त माध्यम पत्रकारिता ही थी। लोकनायक महात्मा गांधी ने अपने अहिंसा सिद्धांत का मर्म समझाते देश में निर्भीकता और सत्याग्रह की जो प्रेरणा जगायी थी वही राजसत्ता-अनौचित्य के विरुद्ध नाना रूपों में अभिव्यक्त हो रही थी। जातीय स्वाभिमान-जागरण का वह उत्कर्षकाल था।

जाति-बिरादरी और धर्म-मत के प्रवक्ता के रूप में प्रकाशित पत्रिकायें

राजस्थान के विभिन्न संगठननों के, जो जाति-बिरादरी और धर्म-मत के उन्नयन-उद्देश्य से क्रियाशील थे, उद्योक्ताओं को, पत्र-पत्रिकाओं की संबोधन-क्षमता का ज्ञान था, इसलिए लक्ष्य तक पहुंचने के लिए उन्होंने पत्रकारिता को माध्यम बनाया। प्रत्येक कुनबे-बिरादरी के नायकों ने पत्र-पत्रिका का प्रकाशन जरूरी समझा। राजस्थान और दूसरे प्रदेशों में प्रवास कर रहे राजस्थानियों द्वारा देश के विभिन्न स्थानों से अनेक पत्रिकायें प्रकाशित हुईं। राजपूत, जाट, भील, ब्राह्मण, वैश्य - अग्रवाल, ओसवाल और माहेश्वरी - सारी बिरादरी ने अपनें वर्ग का वैशिष्ट्य और उपलब्धि का प्रचार करने के लिए ही नहीं,बल्कि अपनी जाति-बिरादरी के मानस में रूढ़ संस्कार बन कर बैठे काई-कलुष के प्रक्षालन और संस्कार-जागरण के उद्देश्य से अनेक पत्रिकाओं का प्रकाशन किया। जाहिर है, उनका उद्देश्य वैसा व्यापक नहीं था। यद्यपि उन संगठनों और पत्रिकाओं के उद्योक्ता युग-धर्म से बेखबर नहीं थे, तथापि बिरादरी-विशेष की ओर से निकलने वाली पत्रिकाओं का उद्देश्य जातीय युग-प्रवाह के अनुरूप नहीं था। 'माहेश्वरी-बन्धु' जैसी अनेक पत्रिकायें राजस्थानियों के उद्योग से उस काल में भी निकल रही थीं, जब गांधी जी का स्वराज और सुधार-आन्दोलन उत्कर्ष पर था। इसलिए जाति, बिरादरी और शाखा-विशेष के लिए उनका चाहे जो मूल्य हो, देश

---

१. पथिक जी के उग्र राष्ट्रवाद के अन्तरंग बन्धु थे पं. देवकृष्ण व्यास जिनके सम्पादन में अजमेर से ९ जुलाई १९२५ को 'वीर दुर्गादास' नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित हुआ था, जिसका लक्ष्य था, 'राजस्थानी प्रजा में राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक उन्नति और राजा-प्रजा में प्रेम की वृद्धि करना।' पथिक जी की कई रचनाएं 'किसान बंधु' के नाम से इसमें प्रकाशित हुई थीं। और जयनारायण व्यास का 'वीर दुर्गादास' से इतना अन्तरंग सम्बन्ध था कि अध्येताओं का अनुमान है कि पत्रकारिता का प्रशिक्षण व्यास जी को यहीं मिला। जयनारायण व्यास के कई लेख - 'वीर दुर्गादास' में प्रकाशित हुए थे। पं. देवकृष्ण व्यास के प्रस्ताव से 'तरुण राजस्थान' का सम्पादन-दायित्व पथिक जी ने जयनारायण व्यास को सौंपा था। 'वीर दुर्गादास' की प्रकाशन-यात्रा को कायम रखने के लिए देवकृष्ण व्यास ने अपनी सारी सम्पत्ति होम कर दी थी, किन्तु उसे अधिक दिनों तक जीवित न रख पाये।

के बृहत्तर स्वार्थ से इनका सरोकार नहीं के बराबर था और ऐसे प्रकाशन की संख्या कम नहीं थी। वर्ग-बिरादरी की संकुचित जमीन पर केन्द्रित पत्रिकाओं का एक लाभ यह जरूर था कि जाति-स्वाभिमान के आग्रह से अपनी बिरादरी और जाति-वैशिष्ट्य की जानकारी प्राप्त करने के लिए ऐसी पत्रिकाओं में लोगों की स्वाभाविक रुचि थी, और इस व्याज से पढ़ने का और प्रकारान्तर से भाषा का संस्कार परिमार्जित-उन्नत हो रहा था।

कलकत्ता से प्रकाशित 'माहेश्वरी बन्धु' के संपादक बसन्तीलाल जी मालपाणी ने, माहेश्वरी न होते हुए, माहेश्वरी समाज की उल्लेखनीय सेवा की। कुरवार जाति माहेश्वरी नहीं है, यह प्रमाणित करने के लिए उन्होंने उत्तरी भारत के प्रमुख तीर्थ-स्थलों की यात्रा कर पंडों की बहियों से अनुकूल तथ्यों का संग्रह किया था। ४८ वें अंक (१९२६ ई.) में उनका इस विषय में 'तीर्थों में मैंने क्या देखा?' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ था। उन्होंने माहेश्वरी-समाज के जाति-आन्दोलन का पक्ष-समर्थन करते तीर्थ-तथ्यों के आधार पर यह प्रमाणित किया था कि कुखार माहेश्वरी नहीं हैं।

ऐसे ही वर्गीय प्रयोजन से सन् १९२४ में माहेश्वरी-समाज से 'माहेश्वरी', 'माहेश्वरी-जगत' (कलकत्ता) और 'माहेश्वरी सुधार' (अजमेर) का प्रकाशन हुआ था। इसी वर्ष कलकत्ता से मारवाड़ी ब्राह्मणों की 'विद्वत परिषद' के तत्त्वावधान में पं. हनुमान दत्त शर्मा, काव्यतीर्थ के सम्पादन में 'मारवाड़ी-ब्राह्मण' नामक पत्र का प्रकाशन हुआ था। इसी प्रकृति का पत्र था-'नव-युवक मारवाड़ी' जो वैश्य-समाज की ओर से इसी वर्ष कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। इसके सम्पादक मोतीलाल लाठ थे, जो उस समय के समाज-सेवियों में कलकत्ते के मारवाड़ी-समाज के अग्रणी पुरुष थे।

अकोला -बरार से सन् १९२४ ई. में प्रान्तीय मारवाड़ी ब्राह्मण सभा ने वंशीलाल गौड़ के सम्पादन में 'ब्राह्मण' नामक पत्र प्रकाशित किया था। सन् १९२५ में आबू रोड से 'जैन सुधारक सभा' ने 'श्री मारवाड़ जैन सुधारक' पत्रिका प्रकाशित की थी।

१९३६ में कलकत्ता से 'मारवाड़ी' (त्रैमासिक पत्रिका) प्रकाशित हुई थी। 'मारवाड़ी'-संपादक ने प्रथम अंक में पत्रिका के नियमों का संकेत देते स्पष्ट किया था, "'मारवाड़ी' में मारवाड़ी समाज से सम्बन्ध रखने वाले सामाजिक, साहित्यिक, राजनैतिक, व्यापारिक तथा धार्मिक सभी विषयों पर लेख प्रकाशित होंगे।" परिशिष्ट में कुछ अंकों की विषय-सूची और प्रथम अंक की सम्पादकीय टिप्पणी उद्धृत की गया है, जिससे इस पत्रिका की मूल प्रकृति और चरित्र स्पष्ट हो जाता है।

हिन्दी की इस त्रैमासिक पत्रिका के शेष में कुछेक निबंध अंग्रेजी में भी छपते थे। अंग्रेजी कविता भी, जो राजस्थानियों की होती थी। पहले अंक में काली प्रसाद खेतान की अंग्रेजी कविता छपी थी।

इस पत्रिका में यदा-कदा ऐसे विषय पर भी निबंध छपते थे, जो मारवाड़ी-समाज से इतर समस्या से जुड़े होते थे। अंक ४ में इसी प्रकार के दो निबंध छपे हैं - (१) स्पेन का गृह-युद्ध और (१) जेकोस्लोवेकिया का सोकोल आन्दोलन। इसी अंक में देवीप्रसाद खेतान का INDIA AND THE UNITED KINGDOM : THIER ECONOMIC RE-

LATIONSHIP ' शीर्षक निबंध छपा है। और इस अंक की मुख्य सम्पादकीय टिप्पणी कथाकार प्रेमचन्द की मृत्यु पर केन्द्रित है। स्पष्ट है कि 'मारवाड़ी' इस बिन्दु पर सचेत था कि मारवाड़ियों का सरोकार राजस्थान के बाहर की दुनिया से भी रहे। जाति-बिरादरी और प्रादेशिक इकाई की मर्यादा से अनुशासित इन पत्रिकाओं की बड़ी विशेषता थी कि ये सुसंपादित पत्रिकायें थीं। मुद्रण-दोष से बहुत अंश तक मुक्त, इनका प्रकाशन साफ-सुथरा था। 'मारवाड़ी अग्रवाल' 'मारवाड़ी अग्रवाल महासभा' का मुख-पत्र था जो कलकत्ता (१६० हरिसन रोड) से प्रत्येक मास की पूर्णिमा को प्रकाशित होता था। बिरादरी-विशेष की हित-चिन्ता के उद्देश्य से प्रकाशित इस मासिक पत्रिका में यदाकदा हिन्दी के नामी लोगों - यथा केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' और भुवनेश्वर मिश्र 'माधव' की रचनायें प्रकाशित होती थीं, पर इस पत्रिका में मुख्य रूप से 'मारवाड़ी अग्रवाल महासभा' का विवरण तथा महासभा के वार्षिक अधिवेशन के सभापति के व्याख्यान के साथ अधिवेशन का विस्तृत विवरण प्रकाशित होता था। सभापति के भाषण में युग-धर्म के आग्रह के मुताबिक रूढ़ियों और अंधविश्वासों से मुक्त होने का आह्वान और समाज-संस्कार के उन्नयन के मुद्दों को बल के साथ उठाया जाता था।

वर्ग-विशेष की हित-चिन्ता से अनुप्रेरित यह पत्रिका देशके महत् प्रयोजन से उदासीन नहीं थी, इसलिए गांधीजी की महत्ता, खादी की उपयोगिता और देवनागरी लिपि की विधायक जातीय भूमिका की ओर संकेत करती रहती थी। वर्ष-७, अंक-४, में श्रीमती प्रज्ञा देवी जी विदुषी का 'खद्दर का संदेश' शीर्षक निबंध छपा था। इसी प्रकार वर्ष-७, अंक-१ की एक सम्पादकीय टिप्पणी 'महात्मा गांधी और सामाजिक क्रान्ति' पर केन्द्रित है, जो गांधी जी के रचनात्मक कार्य-व्यापार की महत्ता को रेखांकित करती है।

प्रभात, कंटक और कमल की कवितायें इस पत्रिका में प्राय: छपती थीं। ध्यातव्य है, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की धारणा के मुताबिक प्रभात बिहार के तीन आधुनिक महाकवियों में एक हैं। 'मारवाड़ी अग्रवाल' के कई अंकों के शीर्ष पृष्ठ पर केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' की कवितायें प्रकाशित हुई थीं।

पुस्तक और पत्रिका की समीक्षा भी किसी-किसी अंक में छपती थी। वर्ष-७, अंक-१ में रामदहिन ओझा द्वारा लिखित कई पत्रिकाओं की समीक्षा छपी थी। स्वतंत्रता सेनानी रामदहिन ओझा 'शेखावाटी-समाचार' के सम्पादक थे, जो 'मारवाड़ी अग्रवाल' के 'साहित्यावलोकन' स्तम्भ के लिये प्राय: लिखा करते थे।[1] इस प्रकार समाज-विशेष की इस पत्रिका का राष्ट्रीय स्वरूप और साहित्य-अभिरुचि भी स्पष्ट होती है। प्रमुख पत्रकारों - साहित्यकारों के निधन पर सम्पादकीय शोक-टिप्पणियां प्रकाशित होती थीं।

---

१. बलिया-निवासी हुतात्मा रामदहिन ओझा उस समय कलकत्ता में प्रवास करते 'युगान्तर' और 'शेखावाटी समाचार' का सम्पादन कर रहे थे। स्वाधीनता संग्राम के युवा योद्धा रामदहिन ओझा का राष्ट्रीय महत्व का निबंध 'मारवाड़ी अग्रवाल' में 'सामान्य भाषा की आवश्यकता' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। परिशिष्ट 'ग' में उक्त निबंध द्रष्टव्य।

हिन्दी-पत्रकारिता के पूरे परिदृश्य के सर्वेक्षण से यह रोचक तथ्य सामने आता है कि जाति-बिरादरी प्रधान पत्र-पत्रिकायें सबसे अधिक राजस्थानी-उद्योग से ही प्रकाशित हुई हैं, राजस्थान से या राजस्थानी प्रचेष्टा से देश के दूसरे स्थानों से। जड़ के प्रति राजस्थानी मानस की निष्ठा का भी यह सूचक है। ध्यातव्य है कि बिरादरीवाद अथवा जातिवाद को प्रश्रय-पोषण देना, इन पत्रिकाओं का उद्देश्य कतई नहीं था। जाति-कुल में प्रविष्ट कलुष-कुरीति का प्रक्षालन और संस्कार-उन्नयन की चिंता-प्रेरणा से ही इनका प्रकाशन हुआ था, यह संकेत पहले दिया गया है। ये पत्रिकायें, संकेत दिया गया है, देश की जातीय दशा के प्रति संवेदनशील थी। कलकत्ता के 'मारवाड़ी अग्रवाल' में प्रकाशित सम्पादकीय पृष्ठ की एक छोटी टिप्पणी द्रष्टव्य है, "बाबू पद्मराजजी जैन तथा बाबू भगवानदासजी हालना का जेल से आने पर स्वागत करते हैं। ये दो अग्रवाल-वीर भारतमाता के सपूत हैं, इन्होंने सहर्ष जेल जाकर सिद्ध किया है कि मारवाड़ी समाज, सब बातों में देश के साथ हैं। धन्य हैं ऐसे लाल जो जाति के साथ देश का मुख उज्ज्वल करते हैं।"

धार्मिक आध्यात्मिक मंच का आयोजन

जाति-बिरादरी की तरह ही धार्मिक आस्था से जुड़ी पत्रिकाओं का बहुसंख्य प्रकाशन राजस्थानी-उद्योग से हुआ।[१] प्रकृत्या धर्म-भीरु राजस्थानी चरित्र अपने धर्म-विश्वास के प्रसार और उत्थान के लिए पत्रिकाओं के प्रकाशन की ओर प्रवृत्त हुआ था। सनातन हिन्दू धर्म की तरह ही राजस्थान में महर्षि दयानन्द सरस्वती और आर्य समाज का प्रभाव व्यापक था। जैन धर्म की विभिन्न सरणियों के प्रति भी राजस्थान का एक बड़ा समृद्ध वर्ग-ओसवाल-समाज आस्थाशील है। धर्म की विभिन्न शाखाओं ने अपने प्रभावी प्रवक्ता के रूप में पत्रिकाओं का प्रकाशन किया था।[२] आज भी धार्मिक चेतना की अनेक पत्रिकायें विभिन्न स्थानों से राजस्थानी उद्योग से प्रकाशित हो रही हैं। 'तुलसी अध्यात्म नीडम्,जैन विश्व भारती', लाडनूं (राजस्थान) से शंकर लाल मेहता के सम्पादन में वर्षों से निकलने वाली ऐसी ही एक उल्लेखनीय पत्रिका है - 'प्रेक्षाध्यान', जो मानव-कल्याणमूलक उपयोगी सामग्री प्रकाशित करती है। धर्म-प्रचार की अपेक्षा, मानव-हित की चिन्ता ही 'प्रेक्षाध्यान' की मुख्य चिन्ता है। इसमें प्रकाशित जैन मुनियों के लेख का विचार-कोण भी सम्प्रदाय-सीमा से बहुत अंश तक मुक्त और मनुष्य-जाति के लिए विधायक हैं। युवाचार्य महाप्रज्ञ आधुनिक समस्याओं की जटिलताओं तथा मनुष्य के सामने खड़ी आज की विकट चुनौतियों का वैज्ञानिक-आध्यात्मिक समाधान 'प्रेक्षाध्यान' के माध्यम से अपने चिन्तन द्वारा सुझाते रहते हैं। बौद्धिक वर्ग में भी 'प्रेक्षाध्यान' लोकप्रिय पत्रिका है।

कल्याण - धर्म-आध्यात्म क्षेत्र की सर्वाधिक लोकप्रिय और पुरानी पत्रिका है गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित 'कल्याण'। पाठ्य सामग्री में 'रामचरित मानस' के बाद हिन्दी भाषी समाज में 'कल्याण' सर्वाधिक लोकप्रिय रहा है। 'कल्याण' जैसा बड़ा पाठक-

---

१. विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य- (१) हिन्दी पत्रकारिता : विविध आयाम-सं. वेदप्रताप वैदिक (२) आर्य समाज के पत्र और पत्रकार- डॉ. भवानीलाल भारतीय

२. जैन संस्थान से प्रकाशित पत्रिकाओं के विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य : डॉ. संजीव भानावत का जैन पत्रकारिता शीर्षक निबंध- भारत में हिन्दी पत्रकारिता सं. डा. रमेश जैन, पृ. ३८६

समाज, जिसमें बौद्धिक वर्ग से लेकर सामान्य आदमी तक रहा है, शायद ही किसी दूसरी पत्रिका को मिला हो। गीता प्रेस के प्रकाशन-आयोजन पर 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में अज्ञेय ने टिप्पणी की थी, ''एक बहुत ही सीमित क्षेत्र में गोरखपुर के गीता प्रेस ने जो काम किया उसका उद्देश्य सर्जनात्मक साहित्य का प्रचार तो नहीं था, लेकिन एक विशेष प्रकार के सत्साहित्य के प्रचार का तो था ही, और उसने यह भी असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर दिया कि अच्छा साहित्य शुद्ध और प्रामाणिक संस्करणों में कितना सस्ता बेचा जा सकता है और कितना ग्राह्य होता है।'' इस तरह का पहला प्रयास खेमराज बजाज ने 'वेंकटेश्वर प्रेस' के माध्यम से किया था और लोक-सम्मान अर्जित किया था। 'कल्याण' की प्रकाशन-यात्रा भी 'वेंकटेश्वर प्रेस' बम्बई से खेमराज बजाज के सक्रिय सहयोग से शुरू हुई थी। पत्र-प्रकाशन की प्रेरणा अपने समय के शीर्षस्थ उद्योगपति घनश्यामदास बिड़ला ने दी थी। सं. १९८३ में दिल्ली में अनुष्ठित 'मारवाड़ी अग्रवाल महासभा' के वार्षिक अधिवेशन में माहेश्वरी समाज के शिरोमणि बिड़लाजी भी सम्मिलित हुए थे। वहीं उन्होंने हनुमान प्रसाद पोद्दार को प्रेरित करते हुए कहा था, 'भाई जी....यदि तुम लोगों के पास अपने ही विचारों और सिद्धान्तों का एक 'पत्र' होता तो तुम लोगों को और भी सफलता मिलती। तुम लोग अपने विचारों का एक पत्र निकालो।'[1] किन्तु पत्रकारिता विषयक अपनी अनुभवहीनता के चलते इस दिशा में पैर रखने में पोद्दार जी को सहज संकोच था। बिड़ला जी ने आग्रह किया 'प्रयास करो।' पोद्दार जी के जीवनी-लेखक डॉ. भगवती प्रसाद सिंह ने लिखा है कि ''यह चर्चा 'कल्याण' मासिक के जन्म का हेतु बन गयी।'' सेठ जयदयाल जी गोयनका और उनके अनुगत सेठ लच्छीराम जी मुरोदिया ने अपने व्यवहार-कौशल से हनुमान प्रसाद पोद्दार का असमंजस तोड़ दिया। फिर 'वेंकटेश्वर प्रेस' के मालिक खेमराज श्रीकृष्णदास के आग्रह और सक्रिय सहयोग के आश्वासन से पोद्दार जी इस दिशा में प्रवृत्त हुए। पत्रिका का नामकरण भाई जी ने ही किया। और श्रावण कृष्ण ११, सं. १९८३ को बम्बई से 'सत्संग भवन' के तत्त्वावधान में 'कल्याण' का पहला अंक प्रकाशित हुआ।

अपनी देश-भक्ति, राजनीतिक गतिविधि और विप्लवी चर्या के चलते पोद्दार जी कारावास और नजरबंदी की सजा भोग चुके थे। और नजरबन्दी-काल में ही उनके नैसर्गिक संस्कार में नया प्रस्थान शुरू हुआ। राजनीतिक चर्या धर्म-अध्यात्म में रूपान्तरित हो गयी। लोकयात्रा का उपसंहार जिस बिन्दु पर हुआ, महामनीषी और अध्यात्म-साधक पं. गोपीनाथ कविराज ने सहज भाव से टिप्पणी की थी, 'हनुमान प्रसाद पोद्दार जन्मना महापुरुष।' नि:सन्देह मारवाड़ी अग्रवाल समाज के श्रेष्ठ चरित्र के रूप में अनायास आधुनिक युग की दो विभूतियों पर दृष्टि पड़ती है। एक जमनालाल बजाज और दूसरे हनुमान प्रसाद पोद्दार।

पोद्दार जी की आस्था उस सनातन धर्म में थी, जिसे स्पष्ट करते अपने 'उत्तरपाड़ा अभिभाषण' में श्री अरविन्द ने कहा था, 'सनातन धर्म जीवन है। यह उतना विश्वास करने की चीज नहीं है, जितना जीने की चीज है। सनातन धर्म मनुष्यत्व-प्राप्ति और बन्धन से मुक्ति का धर्म है।' और परमहंस रामकृष्ण देव ने सनातन धर्म को अपनी जीवन-चर्या में मूर्त कर, हिन्दू धर्म का मर्म समझाया था कि परधर्म-सहिष्णुता, औदार्य, आचार-धवलता,

१. कल्याणपथ: निर्माता और राही, पृ. ११४

भूत-दया, करुणा, मैत्री, सत्य और अहिंसा ही सनातन धर्म है। इसी सनातन धर्म में पोद्दार जी की अटूट आस्था थी। इसी आस्था-अनुशासन में 'कल्याण' की सम्पादन-यात्रा सम्पन्न हुई, और पोद्दार जी की दूसरी सारी लोक-सेवामूलक चर्या की प्रेरक-शक्ति यही आस्था थी।

जयदयाल जी ने गोरखपुर में गीता प्रेस खोल दिया था। किन्तु प्रेस में अपेक्षित काम की कमी थी। प्रेस की अस्तित्व-चिन्ता से सेठ जयदयाल जी गोयनका ने संस्कार-प्रतिमा अपने मौसेरे भाई हनुमान प्रसाद पोद्दार को, 'कल्याण' और पूरे कार्यालय सहित, बम्बई से आग्रहपूर्वक गोरखपुर बुला लिया। हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास का यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि प्रेस के अस्तित्व की रक्षा और उन्नति का हेतु पत्रिका बनी। 'कल्याण' से जुड़ कर ही गीता प्रेस उन्नति के शिखर पर पहुंचा और लोक-मंगल का निमित्त बना। १३ अंक बम्बई के 'श्री वेंकटेश्वर प्रेस' से प्रकाशित हुए थे। १४वें अंक का प्रकाशन गीता प्रेस से हुआ। 'दूसरे वर्ष के विशेषांक के प्रकाशन से 'कल्याण' का आशातीत प्रचार हुआ। ग्राहक संख्या सोलह सौ से बढ़ कर पांच हजार हो गयी।'[१] ध्यातव्य तथ्य है कि यह हिन्दी की कदाचित् एक मात्र पत्रिका है जिसके किसी अंक में कभी विज्ञापन नहीं छपा है। इस प्रकार 'कल्याण' पत्रकारिता के इतिहास में एक अव्यावसायिक सफल प्रयोग है, और इस तथ्य का प्रमाण कि व्यावसायिक राह से अलग रह कर पत्रिका के स्तर को कायम रखते, उसके अस्तित्व की रक्षा की जा सकती है।

'कल्याण' के प्रथम सम्पादकीय वक्तव्य में संतोचित विनम्र भाषा में हनुमान प्रसाद पोद्दार ने अपनी अक्षमता और मनोरथ की ओर संकेत किया है, "जिसको इस 'कल्याण' के सम्पादन का भार दिया गया है, वह भली-भांति जानता है कि उसमें 'कल्याण' - संपादन की योग्यता और साम्यर्थ नहीं, वह अभी 'कल्याण' से दूर है, परन्तु वह कल्याण-कामी अवश्य है। इस 'कल्याण' की किंचित् सेवा से उसकी कल्याण-कामना में बहुत कुछ सहायता प्राप्त हो सकती है, इसी विश्वास से वह सब प्रकार से अपनी अयोग्यता का अनुभव करता हुआ भी परमात्मा की पल-पल पर प्रकट होने वाली अपार अनुकम्पा और पूजनीय महापुरुषों की विशाल कृपा के भरोसे इस कार्य का भार उठा रहा है।"

"सम्पादक का विचार है कि इस 'कल्याण' के द्वारा यथासम्भव उन प्रातःस्मरणीय ऋषि-मुनियों और महापुरुषों की दिव्य वाणी का ही प्रचार किया जाय, जो अपने अलौकिक तेज से पथ भ्रष्ट पथिकों को कल्याण के सुन्दर मार्ग पर लाने में समर्थ हैं। स्वलिखित लेखों में भी यथासाध्य महापुरुषों के वचनों को ही आधार बनाने का विचार है।'[२]

पोद्दार जी की सम्पादन-दक्षता को रेखांकित करते रामनाथ सुमन ने कुछ पंक्तियों में उनकी स्वकीय महत्ता उद्घाटित की है, "सम्पादन में दो-तीन नाम, उनके साथ रखे जा सकते हैं। आई हुई रचनाओं पर वह बड़ा परिश्रम करते थे, प्रायः उन्हें फिर से लिखते। जब तक सब सामग्री पर एक बार नजर न डाल लेते, उन्हें संतोष ही न होता था। उन्होंने कई बार मुझसे कहा कि अब पहले जैसी परिमार्जित रचनाएं और शुद्ध भाषा-शैली दिखाई

१. कल्याणपथ: निर्माता और राही, पृ. ११४

२. सम्पादकीय टिप्पणी और वर्ष १ अंक-१ की विषय-सूची और वार्षिक विशेषांक तालिका परिशिष्ट में द्रष्टव्य।

नहीं पड़ती। लेखक के रूप में कठिन विषय को सुबोध शैली में समेट लेने के तो वह आचार्य थे। देश-भक्ति में वह बहुत आगे थे और राष्ट्रीय जागरण का प्रत्येक युग उनके सक्रिय सहयोग और पथ-दर्शन से ऊर्जस्वित हुआ है। वह इस देश की धरती को बड़ी गहराई से प्यार करते थे और उसके सर्वोत्तम प्रतिनिधियों में से एक थे। तिलक, मालवीय और गांधी तीनों उनके राष्ट्रीय अनुराग में प्रस्फुटित हुए थे। भारतीय संस्कृति उनमें अपनी सीमा पर पहुंची थी। उनकी मानवता साम्प्रदायिकता या क्षेत्रगत बन्धनों के ऊपर थी। वह भक्ति के रस में आकंठ डूबे हुए, प्रभु के प्रति सम्पूर्णतः समर्पित और सौहार्द के आकर थे। निरभिमानता, मृदुलता, परदुःख-कातरता, शालीनता-कोई ऐसा गुण दिखाई नहीं देता, जिसका उनमें आदर्श रूप में विकास न हुआ हो।''[१] इसी गुणवत्ता का सहज प्रभाव था कि देश के गुणी लोगों का सक्रिय सहयोग उन्हें अपनी लोकयात्रा के प्रत्येक चरण पर सुलभ होता रहा। 'कल्याण' के लेखक-सहयोगियों में देश के विभिन्न विद्या-विभाग के पांक्तेय लोग थे। इसी प्रकार सम्पादन-सहयोगियों में श्री शान्तनुर्बिहारी द्विवेदी (परवर्तीकाल में ज्ञानी संत के रूप में स्वामी अखण्डानन्द नाम से प्रख्यात संन्यासी), श्री लक्ष्मण नारायण गर्दे, श्री चिम्मन लाल गोस्वामी, श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री राजबली पाण्डेय, श्री भुवनेश्वर मिश्र 'माधव', श्री दुलीचन्द पुजारी और श्री चन्द्रदीप त्रिपाठी जैसे विद्या-विशिष्ट लोग थे, जिन्हें परवर्ती काल में अपनी साधना के बल पर विद्या-जगत् में ऊंची प्रतिष्ठा मिली। सम्पादक हनुमानप्रसाद पोद्दार के विशिष्ट व्यक्तित्व का ही प्रताप था कि 'कल्याण' को विचक्षण लोगों की सेवा उपलब्ध हो सकी, और 'कल्याण' एक महत् प्रयोजन की सिद्धि का निमित्त बन सका।

मुख्यतः धर्म-अध्यात्म और पुरा-संस्कृति के प्रवक्ता के रूप में ख्यात 'कल्याण' अपने समय की संवेदना-समस्या से उदासीन नहीं था। 'कल्याण'-सम्पादक हनुमानप्रसाद पोद्दार लोक-मंगल के पक्षधर थे। मनुष्य की महिमा को गिराने वाली स्थिति उनके साधु-संस्कार के लिये सह्य नहीं थी। इसलिए मनुष्य को महत् से विच्छिन्न करने वाली, विरूप और छोटा बनाने वाली स्थिति पर 'कल्याण' के माध्यम से वे टिप्पणी करते थे। औचित्य का पक्ष लेकर किसी अप्रीतिकर प्रसंग पर चोट करते, उन्हें तनिक संकोच नहीं होता था। साम्प्रदायिक उन्माद के शिकार 'प्रताप'-सम्पादक गणेशशंकर विद्यार्थी की नृशंस हत्या से मर्माहत होकर पोद्दारजी ने टिप्पणी की थी, ''कानपुर के वर्तमान पाप-कांड से न मालूम आज कितने लोग पीड़ित हो रहे हैं। बड़े खेद की बात है कि इस पैशाचिक उन्माद का शिकार एक ऐसा मनुष्य भी हो गया है, जो इस कलहाग्नि को शान्त करने के लिए, पागल हत्याकारियों से लोगों को बचाने के लिए, आरम्भ से ही प्रयत्न करता था। उसी शुभ प्रयत्न में उसके शरीर का बलिदान हो गया। उसका नाम था गणेशशंकर विद्यार्थी।'' प्रत्येक सच्चे हिन्दू की तरह हनुमानप्रसाद पोद्दार साम्प्रदायिक सौमनस्य-सौहार्द के आग्रही थे। 'कल्याण' के सम्पादन की नीति[२] पत्रिका-संपादक हनुमानप्रसाद पोद्दार और 'गीता प्रेस' के उदयोक्ता की उदार मानवीय दृष्टि को द्योतित करती है। सभी धर्मों के उत्तम सिद्धांतों के प्रति आदर-

---

१. रामनाथ 'सुमन'- मैंने स्मृति के दीप जलाये, पृ. ४०

२. नौ सूत्री निर्देशक सिद्धान्त थे, द्रष्टव्य कल्याण पथ: निर्माता और राही, पृ. २६४-६५

भाव, किसी भी धर्म-सम्प्रदाय के दोष-दर्शन और विरोध से विरति, किसी धर्म के छिद्रान्वेषण में रुचि न लेना 'कल्याण' का मुख्य आदर्श और सिद्धान्त था। पत्रिका सनातन हिन्दू-धर्म के उज्ज्वल पक्ष को वरीयता के साथ उद्घाटित-प्रकाशित करती थी, साथ ही इतर धर्म के मानव-हितैषी पक्ष के प्रति सम्मानशील थी। आजाद देश की समस्याओं के प्रति 'कल्याण'-सम्पादक हनुमानप्रसाद पोद्दार सचेत-संवेदनशील थे। हिन्दू कोड बिल के बारे में उन्होंने 'कल्याण' में तीखी सम्पादकीय टिप्पणी लिखी थी। 'कल्याण'-संपादक का सामाजिक सरोकार बहुत व्यापक और गहरा था। मानव-यातना के हर स्थल पर उनकी क्रियाशीलता और वैचारिक हस्तक्षेप आगे रहता था।[१]

'कल्याण' के वार्षिक विशेषांकों की अपनी विशिष्टता है। इस विशिष्टता के आधार पर 'कल्याण' हिन्दी की अद्वितीय पत्रिका है, जिसके उद्योक्ता-संपादक राजस्थानी थे और जिसके सम्पादन में पांक्तेय विद्या-साधकों की कृती भूमिका रही है। पर उस विशिष्ट उपक्रम के मूल में हनुमानप्रसाद पोद्दार की एकांत साधना रही है। और तथ्य है कि 'कल्याण' हिन्दी की अकेली पत्रिका रही है, जिसके पाठक और प्रशंसक, किसान से लेकर मनीषी और अध्यात्म-सिद्ध विशिष्ट पुरुष रहे हैं। पं. गोपीनाथ कविराज का साक्ष्य है, ''मेरे पूज्य गुरुदेव परमहंस विशुद्धानन्दजी महाराज ने मुझसे इस पत्र की कई बार भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।'' 'कल्याण' को कविराजजी जैसे महामनीषी का विचार-सहयोग प्राप्त था, जिसका एकांत श्रेय सम्पादक हनुमानप्रसाद पोद्दार के नैसर्गिक सौजन्य और व्यवहार-पाटव को था।'' 'कल्याण' की महत्ता को रेखांकित करते महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज ने लिखा है, 'कल्याण' पोद्दार जी के असामान्य कर्म एवं सेवा के प्रतीक रूप में प्रतिष्ठित है। इसके द्वारा भारतीय साधना जगत् के अनेक रहस्य पाठकों के समक्ष उपस्थित किये जा सकते हैं। भविष्य में जो लोग भारतीय साधना के इतिहास के सम्बन्ध में अनुसंधान करेंगे, 'कल्याण' के विशेषांक उनके लिए निस्संदेह अक्षय ज्ञानराशि के कोष सिद्ध होंगे। भारतवर्ष का पाठक-समाज, पोद्दारजी के इस असामान्य ऋण से कभी मुक्त नहीं हो सकता।'' निःसन्देह, 'कल्याण' और गीताप्रेस का हिन्दी-भाषी समाज पर भारी ऋण है। 'कल्याण' और 'कल्याण' के विशेषांकों द्वारा गीता-प्रेस ने हिन्दी समाज को दुर्लभ सामग्री उपलब्ध कराई है। सस्ते मूल्य पर मूल्यवान पुरा साहित्य उपलब्ध कराना 'गीता प्रेस' का अनुकरणीय अवदान है। बड़े समाज को पढ़ने की ओर सुमुख करके 'कल्याण' ने विद्या-संस्कार की उर्वर जमीन रची है। कई पांक्तेय हिन्दी लेखकों ने स्वीकार किया है कि उनकी विद्या-स्पृहा को 'कल्याण' ने प्रोत्साहन-पोषण दिया है।'

आर्य-समाज[२] और जैन धर्म के विभिन्न मंचों[३] से राजस्थान और दूसरे प्रदेशों से कई

---

१. पोद्दारजी के व्यापक सामाजिक सरोकार और लोक- कल्याण की व्याकुल चिन्ता को समझने के लिये मारवाड़ी अग्रवाल महासभा के अधिवेशन को संबोधित वक्तव्य परिशिष्ट में द्रष्टव्य।

२. द्रष्टव्य: आर्य समाज के पत्र और पत्रकार डॉ. भवानीलाल भारतीय

३. हिन्दी पत्रकारिता : विविध आयाम- सं. डॉ. वेद प्रताप वैदिक

मूल्यवान पत्रिकायें प्रकाशित हुईं, किन्तु 'कल्याण' की भूमिका को विद्या-जगत् सर्वोच्च स्थान देता है, जिसे विवेक-प्रसूत मान्यता कहना अनुचित नहीं है।

शोध-संस्कृति की पत्रिकायें :

स्वत्व-जागरण का ही विधायक परिणाम था कि राजस्थान और देश के दूसरे राजस्थानी प्रवास-क्षेत्रों में सांस्कृतिक पुरा-साहित्य के सम्यक् अनुशीलन के उद्देश्य से राजाओं और राजस्थान के कृती श्रीमंतों द्वारा शोध-केन्द्रों की स्थापना हुई। इस क्षेत्र में पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, मुनि जिन विजयजी, पं. चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' और पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जैसी देश की शीर्षस्थ विद्या-विभूतियों का प्रेरक व्यक्तित्व क्रियाशील था। उनका विरल वैदुष्य और अनुशीलन-विवेक, विद्या-व्यापार में प्रवृत्त लोगों को शोध की नयी दिशा दिखाता था। झाबरमल्ल शर्मा और अगरचन्द नाहटा का सारस्वत कार्य इतिहास-स्वीकृत महत्त्वपूर्ण अवदान है।

प्रादेशिक संस्कृति-संपदा की महत्ता की व्यापक और सटीक परिचिति के लिए शोध संस्थान के उद्योक्ताओं को पत्रिका-प्रकाशन विवेक सम्मत जान पड़ा। शोध संगठनों के दूसरे कार्य-व्यापार से कम महत्त्वपूर्ण, पत्रिका का प्रकाशन नहीं था। साहित्य, लोक-धर्म और लोक कला की विविध विधा तथा संस्कृति के विभिन्न आयामों पर केन्द्रित गवेषणामूलक निबंध उन पत्रिकाओं में प्रकाशित होते थे। यद्यपि उन पत्रिकाओं की सामग्री राजस्थान के सांस्कृतिक परिदृश्य पर ही केन्द्रित होती थी, किन्तु देश का विचार-जगत् उन पत्रिकाओं को अपेक्षित गुरुत्व देता था।

पुरातत्त्व, संस्कृति, साहित्य और जातीय सभ्यता के उज्ज्वल पक्ष को उजागर करने वाली अनेक पत्रिकाओं का बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक से ही प्रकाशन शुरू हो गया था। सन् १९०७ में 'विद्या-भास्कर' का पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के सम्पादन में, वेद संस्थान, अजमेर से मासिक पत्रिका 'सविता' और परवर्तीकाल में कलकत्ता से 'राजस्थान' और 'राजस्थानी' तथा पिलानी से 'मरुभारती' का प्रकाशन हुआ। इसी चेतना-चरित्र की पत्रिका थी रामनिवास शर्मा के सम्पादन में निकलने वाली पत्रिका 'सौरभ'।

सन् १९३९ में कलकत्ता से 'राजस्थान' नाम से निकलनेवाली पत्रिका का एक अन्तराल के बाद 'राजस्थानी' नाम से प्रकाशन हुआ था। विभिन्न धर्म-मतों की पत्रिकाओं में भी संस्कृतिमूलक प्रचुर सामग्री छपती थी। जैन धर्म और आर्य समाज के तत्त्वावधान में निकलने वाली पत्रिकाओं की सांस्कृतिक विषयों में गहरी रुचि थी।

कलकत्ते के शोध-संस्थान 'राजस्थान-रिसर्च-सोसाइटी' के मुख-पत्र के रूप में त्रैमासिक पत्रिका 'राजस्थान' का अक्षय तृतीया सं. १९९२ वि. को प्रकाशन हुआ था। 'राजस्थान' ने अपने पाठकों-लेखकों को अपनी प्रतिबद्धता की विज्ञप्ति दी थी, "'राजस्थान' में राजस्थान के इतिहास, भाषा और साहित्य, संस्कृति और कला इन्हीं विषयों से संबंध रखने वाले

निबंध प्रकाशित होंगे।''[1] प्रथम सम्पादकीय वक्तव्य[2] से पत्रिका-प्रकाशन का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है, '''सोसाइटी' अपने उद्देश्य[3] की पूर्ति के लिये जिन प्रयासों, साधनों और साधकों का सहारा लेगी उनका परिचय जनता के सामने रखने के लिये इस पत्र का प्रकाशन किया जा रहा है। इसमें राजस्थान से संबंध रखनेवाले ऐतिहासिक, सांस्कृतिक साहित्यिक और कलात्मक निबंध प्रकाशित किये जायेंगे। सोसाइटी की ओर से जो अनुसंधान-अनुशीलन का काम हो रहा है उससे प्राप्त हस्तलिखित पुस्तकों, अलभ्य चित्रों और मौखिक गीतों का परिचय इसके द्वारा दिया जाएगा। समय-समय पर राजस्थान के अतीत इतिहास, गौरवमय साहित्य, अचल संस्कृति और लोक-ललाम कला के सम्बन्ध में प्रकाशित पुस्तकों का परिचय दिया जायेगा।'' पत्रिका के शेष में समाज-विशिष्ट लोगों की मंगल कामना दी गई है। प्रथम अंक में सेठ घनश्यामदास जी बिड़ला, संरक्षक, राजस्थान रिसर्च सोसाइटी', की शुभ-कामना प्रकाशित हुई है, ''राजस्थानी भाषा से हिन्दी को अत्यन्त सहायता मिल सकती है। यदि 'राजस्थान-रिसर्च-सोसाइटी' राजस्थानी साहित्य को पुनर्जीवित कर सके तो हिन्दी का भी बड़ा उपकार होगा।'' पिलानी से प्रो. नरोत्तमदासजी स्वामी ने शुभ-कामना भेजी थी,'' भारतीय भाषा-विज्ञान और मध्यकालीन भारतीय इतिहास का सुचारु अध्ययन, राजस्थानी भाषा और साहित्य के अध्ययन के बिना हो ही नहीं सकता। प्रत्येक प्रकार से ऐसे पत्र का प्रकाशन वांछनीय है।'' पं. सूर्यकरणजी पारीक ने 'राजस्थान' के प्रकाशन पर उल्लास प्रकट करते लिखा था, ''राजस्थानी का साहित्य-भंडार, असंख्य बहुमूल्य रत्नों से भरा पूरा है। आवश्यकता है केवल अध्यवसायपूर्ण खोज और प्रकाशन की। राजस्थानी की खोज से प्राचीन हिन्दी का एक बड़ा भारी अभाव पूरा किया जा कर हिंन्दी का गौरव बढ़ाया जा सकेगा, इस में संदेह नहीं है। ....मेरी और मेरे मित्रों की सहानुभूति और यथाशक्य सहायता की आप पूरी आशा रख सकते हैं।''

व्यावहारिक कठिनाइयों के चलते 'राजस्थान' का प्रकाशन स्थगित हो गया। बौद्धिक जगत् में इस की प्रतिक्रिया हुई और 'राजस्थान रिसर्च सोसाइटी' के अधिकारियों से राजस्थानी संस्कृति के पक्षपोषकों ने 'राजस्थान' के पुनर्प्रकाशन के लिये आग्रह किया। सोसाइटी के गुरुतर दायित्व को देखते अधिकारियों को भी अन्ततः मुख-पत्र का प्रकाशन जरूरी जान पड़ा। 'राजस्थान' सूर्यकरणजी पारीक के सम्पादन में 'राजस्थानी' नाम से जनवरी १९३९ में प्रकाशित हुआ, मगर दुर्योग ऐसा कि पत्रिका का नया अंक पूरा छपा भी नहीं था कि सम्पादक पारीकजी का आकस्मिक रूप से देहांत हो गया। दो वर्ष की यात्रा पूरी कर 'राजस्थान' का प्रकाशन स्थगित हो गया था। सम्पादक ठाकुर साहब किशोरसिंहजी वार्हस्पत्य की मृत्यु उसके प्रकाशन में बड़ी बाधा थी। 'राजस्थानी' जिसके आग्रह से प्रकाशित हुआ था उन्हीं सूर्यकरणजी पारीक पर सम्पादन-दायित्व सोसाइटी ने सौंपा था,

१. परिशिष्ट में कुछ अंकों की विषय-सूची दी गयी है, जो प्रमाण सकेत देती है कि पत्रिका- उद्योक्ता अपनी प्रतिबद्धता के प्रति बराबर सचेत रहे।

२. द्रष्टव्य : परिशिष्ट

३.'राजस्थान-रिसर्च सोसाइटी' की नियमावली 'राजस्थान' के शेष पृष्ठों पर प्रकाशित हुई थी, जिसे परिशिष्ट में अविकल उद्धृत किया गया है।

किन्तु उनकी लोकयात्रा बीच में ही शेष हो गयी। प्रो. नरोत्तमदासजी स्वामी ने पारीकजी के अधूरे काम को पूरा किंया श्रद्धया। 'राजस्थान रिसर्च सोसाइटी' के मंत्री रघुनाथप्रसाद सिंहानिया ने प्रकाशकीय वक्तव्य में लिखा है, "परन्तु स्वामी नरोत्तमदासजी ने भी अपने दिवंगत मित्र की अन्तिम इच्छा को पूर्ण करने की ठान ली थी। मेरे ढीले पड़ जाने पर फिर उन्होंने पत्र-व्यवहार द्वारा इसके प्रकाशन पर जोर डाला।" 'राजस्थानी' 'राजस्थान' का ही दूसरा नाम था, सो चरित्र और उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं था। प्रथम मार्मिक सम्पादकीय टिप्पणी परिशिष्ट में उद्धृत की गयी है। राय बहादुर रामदेव चोखानी 'राजस्थान रिसर्च सोसाइटी' के सर्वाधिक सक्रिय एक ऐसे स्तम्भ थे, जो राजस्थान की सांस्कृतिक सम्पदा के उद्धार और संरक्षण के लिये सदा व्याकुल तथा उद्योगशील रहते थे। वैसा ही श्लाघापूर्ण भाव अपनी संस्कृति के प्रति सूर्यकरण पारीक और प्रो. नरोत्तमदास स्वामी के हृदय में था।

शोधपरक और संस्कृति-प्रधान पत्रिकाओं के अलावा राजस्थानी आयोजन से निकलने वाली राजनीतिक-साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में भी राजस्थान की प्रादेशिक संस्कृति-स्वकीयता मुखर है, चाहे वे अजमेर, बूंदी और जयपुर से प्रकाशित हुई हों अथवा आरा, अकोला, मुम्बई और कलकत्ता से। साहित्यिक पत्रिका 'त्यागभूमि', सामाजिक पत्रिका, 'मारवाड़ी-सुधार', वर्धा से प्रकाशित- 'राजस्थान-केसरी' तथा सत्यदेव विद्यालंकार के संपादन में अकोला से प्रकाशित 'राजस्थान' और बम्बई से प्रकाशित 'श्री वेंकटेश्वर-समाचार' के संदर्भ में इसे लक्ष्य किया गया है। यह जातीय जड़ से संसक्त राजस्थानी मानस का प्रमाण है।

स्वाधीन भारत का परिदृश्य : अभाव और उपलब्धि

वृन्दावन हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (१९२५) को संबोधित करते पं. बाबूराव विष्णु पराड़कर ने समान धर्मा पत्रकारों को सचेत किया था, "देशभक्त बन कर भी स्वार्थ-सिद्धि की जा सकती है। यद्यपि हिन्दी में ऐसे सम्पादकों की संख्या कम है, पर खेद के साथ कहना पड़ता है कि कुछ ऐसे स्वार्थी भी कार्य-क्षेत्र में उतर आये हैं और सम्पादन-कार्य का गौरव नष्ट करने लग गये हैं। इस नये पर बढ़ने वाले रोग से आत्म-रक्षा का प्रयत्न करते रहना हम सम्पादकों का कर्त्तव्य होना चाहिये।" और पत्रकारिता की आदर्श-भित्ति में शुरू हुई ढाही को लक्ष्य कर 'प्रताप' के विचक्षण सम्पादक गणेशशंकर विद्यार्थी ने अपने कुलादर्श की रक्षा के प्रति १९३० में चिन्ता प्रकट की थी, "यहां भी अब बहुत से समाचार पत्र सर्व-साधारण के कल्याण के लिये नहीं रहे, सर्व-साधारण उनके प्रयोग की वस्तु बनते जा रहे हैं। एक समय था, इस देश में साधारण आदमी सर्व-साधारण के हितार्थ एक ऊंचा भाव लेकर पत्र निकालता था, और उस पत्र को जीवन-क्षेत्र में स्थान मिल जाया करता था। आज वैसा नहीं हो सकता।... इस देश में भी समाचार पत्रों का आधार धन हो रहा है। धन से ही वे निकलते हैं, धन के आधार पर वे चलते हैं और बड़ी वेदना के साथ कहना पड़ता है कि उनमें काम करने वाले बहुत से पत्रकार भी धन ही की अभ्यर्थना करते हैं। अभी यहां पूरा अंधकार नहीं हुआ है, किन्तु लक्षण वैसे ही हैं। कुछ ही समय पश्चात् यहां के समाचार-पत्र भी मशीन के सदृश हो जायेंगे, और उनमें काम करने वाले पत्रकार केवल मशीन के पुरजे। व्यक्तित्व न रहेगा, सत्य और असत्य का अन्तर न रहेगा, अन्याय के विरुद्ध जुट जाने और न्याय के लिये आफतों को बुलाने की चाह न रहेगी। रह जायेगा केवल खिंची हुई लकीर पर चलना।..... ऐसे बड़े होने की अपेक्षा छोटे और छोटे से भी छोटे, किन्तु कुछ सिद्धांतों वाले होना कहीं अच्छा।" मगर सिद्धांत-रक्षा के लिये भोग-सुख की सुविधा छोड़कर छोटा बनना आजाद भारत के धर्म को मंजूर नहीं था। इसलिये राजनेताओं और दूसरे वर्ग-विभाग के लोगों की तरह पत्रकार-कुल के लोग भी अपने पूर्व पुरुषों की शुभचिन्ता प्रसूत आदर्श-वाणी पर कर्णपात करने को कतई तैयार नहीं थे। अपनी संघर्षपूर्ण उज्ज्वल विरासत का ढोल पीटते वे उस पटरी को छोड़ चुके थे, जिसमें विलास-सुख की सम्भावना कम, यातना और जोखिम अधिक था, इसलिये वे निरुपाय थे पूंजी के वर्चस्व को स्वीकारने और आदर्श-उसूल पर अवसरवाद को वरीयता देने तथा राजसत्ता के प्रताप के सामने घुटना टेकने को। आजादी के आरम्भिक दशकों में मूल्यों के जागरूक प्रहरी बाबूराव विष्णु पराड़कर, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, लक्ष्मण नारायण गर्दे, झाबरमल्ल शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी, शिवपूजन सहाय, हरिभाऊ उपाध्याय, हीरालाल शास्त्री और जयनारायण व्यास जैसे जातीय जीवट के लोग अपने धर्म- धरातल पर क्रियाशील थे, जो हिन्दी-पत्रकारिता के संदर्भ में अल्पजीवी आश्वासन था। स्खलनको टोकने वाला एक आलोक-आश्वासन।

स्वदेशी आंदोलन-काल के योद्धा-सम्पादक पं. बाबूराव विष्णु पराड़कर ने स्वतंत्रता

दिवस (१५ अगस्त, १९४७) के 'आज' के अग्रलेख द्वारा, महात्मा गांधी के अंदाज में, देश को आगाह किया था, "आनन्द में विभोर होकर कहीं हम अपना कर्तव्य न भूल बैठें। स्वतंत्र होने के साथ-साथ हमारे कंधों पर जितना भारी उत्तरदायित्व आ गया है, उसे हमें न भूलना चाहिये। हमारी लेश-मात्र की असावधानी का परिणाम अत्यन्त घातक हो सकता है। हम जरा-सा चूके नहीं कि सर्वनाश हमारे सम्मुख उपस्थित है।" मगर दीर्घ संघर्ष के बाद उपलब्ध भोग-सुख के अवसर ने देश के उन रहनुमाओं के विवेक को भी कमजोर कर दिया था, जो आजादी की लड़ाई के अगले मोर्चे के योद्धा थे। भोग-लिप्सा ने गांधी जी के सत्तासीन अनुयायियों को अपने प्रधान नायक के आदर्श-निर्देश के प्रति उदासीन बना दिया था। और आजादी के आदि चरण में ही मूल्यों की ढाही इतनी तेज हो गयी थी कि महात्मा गांधी की वह आवाज, जो साम्राज्यशाही को कंपाती और करोड़ों देश-वासियों को प्रभावित-प्रेरित करती थी, प्रभावहीन हो चली थी और उनकी अकेलेपन की पीड़ा गहरी होती जा रही थी।[1] स्वदेशी सरकार ने जो प्रशासन-पंथा अपनायी थी वह गांधीजी के आदर्श-अनुशासन को कतई स्वीकार्य नहीं थी। मगर स्वदेशी सत्ता में प्रवेश कर रहे प्रदूषण को नियंत्रित करने के लिये उन्होंने जो परिकल्पना[2] तैयार की थी वह प्रशासन के अधोगामी प्रवाह को विकट प्रत्यूह जान पड़ती थी और इतिहास में यह त्रासदी टांकी गयी कि अहिंसा के मसीहा की लोकयात्रा को हिंसा का तमस लील गया। इतिहास का यह त्रासद तथ्य है कि जिस सत्याग्रह के बल पर आजादी हासिल हुई थी उसी सत्य को स्वदेशी प्रशासन ने छोड़ दिया, मानो आजादी के साथ ही गांधीवादी मूल्यों का संहार हो गया।[3] ओर देश के प्रत्येक राह-घाट तथा जीवन के हर विभाग में अनुशासनहीनता की औद्धत्य-लीला शुरू हो गयी। अनुशासनहीनता का अंधड़ और विलासप्रियता की सनकी स्पर्द्धा दिन-दिन समृद्ध होती जा रही है।

आजादी के बाद पत्रकारिता के चेहरे-चरित्र में उल्लेखनीय परिवर्तन आया है। पूंजी का वर्चस्व पुष्ट हुआ है। साधन-सुविधा में अभूतपूर्व समृद्धि आई है। अपने पद की गुरुता-महत्ता से उदासीन आज का पत्रकार 'देश के दुर्भाग्य को अपना दुर्भाग्य' मानने और अपनी विरासत के उज्ज्वल अध्याय को अपना आदर्श बनाने को तैयार नहीं है। साम्प्रतिक परिदृश्य को देखकर पं. बाबूराव विष्णु पराड़कर की आशंका बरबस याद आती है, जो उन्होंने सन् १९२५ में वृन्दावन में आयोजित प्रथम सम्पादक सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से प्रकट की थी, "पत्र निकाल कर सफलतापूर्वक चलाना बड़े-बड़े धनियों अथवा सुसंगठित कंपनियों के लिये ही सम्भव होगा। पत्र-सर्वांग सुन्दर होंगे। आकार बड़े होंगे, छपाई अच्छी होगी, मनोहर, मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक चित्रों से सुसज्जित होंगे, लेखों में विविधता होगी, कल्पना होगी, गम्भीर गवेषणा की झलक होगी, ग्राहकों की संख्या लाखों में गिनी जायेगी। वह सब कुछ होगा पर पत्र प्राणहीन होंगे। पत्रों की नीति देशभक्त, धर्मभक्त अथवा मानवता

---

1 MY DAYS WITH GANDHI---NIRMAL KUMAR BOSE, P.6

2. INDIA. FROM CURZON TO NEHRU & AFTER—DURGADAS, P. 276-77

3. INDIA. FROM CURZON TO NEHRU & AFTER-DURGADAS, P. 279

के उपासक महाप्राण सम्पादकों की नीति न होगी- इन गुणों से सम्पन्न लेखक विकृत *मस्तिष्क समझे जायेंगे, सम्पादक की कुर्सी तक उनकी पहुंच भी न होगी। वेतन-भोगी सम्पादक, मालिक का काम करेंगे और बड़ी खूबी के साथ करेंगे। वे हमलोगों से अच्छे* होंगे। पर आज भी हमें जो स्वतंत्रता प्राप्त है वह उन्हें न होगी। वस्तुत: पत्रों के जीवन में यही समय बहुमूल्य है। इंग्लैंड और अमेरिका के पत्रों ने उन्हीं दिनों सच्चा काम किया था जब उनके आकार छोटे थे, समाचार कम होते थे, ग्राहक थोड़े होते थे पर सम्पादक की लेखनी में ओज और प्राण था। उन देशों की इस उन्नति के बहुत कुछ कारण वे ही सम्पादक थे, जिनसे धनी घृणा करते थे, शासक क्रुद्ध रहा करते थे और जो हमारे ही जैसे एक पैर जेल में रखकर धर्मबुद्धि से पत्र-सम्पादन किया करते थे। उनके परिश्रम से और कष्ट से पत्रों की उन्नति हुई पर उनके वंश का लोप हो गया। अब संचालक और व्यवस्थापक सर्वेसर्वा हैं, संपादक कुछ नहीं है।'' दुर्भाग्यवश पराड़करजी की आशंका ही आज का यथार्थ है। पर आजादी के पिछले पचास वर्ष की हिन्दी-पत्रकारिता का इतिहास, इस तथ्य का भी साक्ष्य देता है कि पूंजी-प्रतिष्ठान की पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन कुछ ऐसे कृती सम्पादकों ने किया है, जिनमें पत्रकारिता की मर्यादा और सम्पादक की अस्मिता-बोध का स्तर काफी ऊंचा था, और अपने विवेक तथा प्रतिभा से उन्होंने अर्थ-शक्ति और समृद्ध साधन का रचनात्मक उपयोग किया। अपने विवेक-स्वातंत्र्य को अक्षत रखते पूंजीपति-प्रतिष्ठान की शक्ति का साहित्यिक सांस्कृतिक उपयोग किया। ऐसे ही सम्पादक थे अज्ञेय, बालकृष्ण राव, धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय, मोहन राकेश, मनोहरश्याम जोशी, जो अपने समय के शीर्षस्थ रचनाकार रहे हैं। समृद्ध राजस्थानी प्रतिष्ठान की पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन द्वारा देश के बड़े साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रयोजन को उन्होंने पूरा किया, अपनी दक्षता द्वारा अंग्रेजी-पत्रकारिता के समक्ष हिन्दी-पत्रकारिता का स्वाभिमान उन्नत किया।

'कल्पना', 'नया समाज', 'ज्ञानोदय', 'कादम्बिनी', 'सारिका', 'नवनीत' 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'धर्मयुग', 'दिनमान', 'दैनिक हिन्दुस्तान', 'नवभारत टाइम्स', 'जनसत्ता', 'राजस्थान-पत्रिका' स्वाधीन देश की विशिष्ट मासिक और साप्ताहिक पत्रिकायें तथा राष्ट्रीय दैनिक पत्र के रूप में हिन्दी-जगत् में लोकप्रिय और सम्मानित रहे हैं। राजस्थान के उद्योगपति-प्रतिष्ठान के तत्त्वावधान में हैदराबाद, बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली और जयपुर से प्रकाशित इन लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओं की प्रसिद्धि, साहित्यिक-सांस्कृतिक प्रयोजन को वरीयता देने के कारण रही है। राजस्थानी उद्योग ने हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में दो नये प्रकाशन-प्रयोग किये आजादी के बाद। विदग्ध विचार के परिवेशन के उद्देश्य से बम्बई से 'नवनीत' (हिन्दी-डाइजेस्ट) और 'टाइम्स ऑफ इंडिया', दिल्ली, से सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' के संपादन में साप्ताहिक संवाद-पत्रिका 'दिनमान' का प्रकाशन एक नया प्रयोग था, जो अत्यन्त लोकप्रिय और सम्मानित हुआ। पत्रकारिता-विषयक राजस्थानी भूमिका पर विचार करते, अनायास व्यावसायिक प्रतिष्ठान के इस धन पक्ष पर दृष्टि पड़ती है कि उनके उद्योग का हिन्दी-जगत् को विधायक लाभ मिला।

हिन्दी-पत्रकारिता में उद्योगपतियों का प्रवेश, जिसे पत्रकारिता की स्वायत्तता में व्यावसायिक हस्तक्षेप माना जाता है, बिड़ला के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' और डालमिया-साहू जैन के 'टाइम्स आफ इंडिया' प्रतिष्ठान द्वारा हुआ। इसी श्रेणी का प्रकाशन-प्रतिष्ठान रामनाथ गोयनका का 'इंडिया एक्सप्रेस ग्रुप' है, जिसकी जुझारू भूमिका स्वाधीन भारत के इतिहास का उज्ज्वल तथ्य है। राजस्थानी उद्योगपतियों के इन व्यावसायिक प्रतिष्ठानों से अलग, राजस्थानी न्यास-आयोजन से स्वाधीन भारत से दो महत्त्वपूर्ण साहित्यिक पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ, कलकत्ता से 'नया समाज' और हैदराबाद से 'कल्पना'।

नया समाज

जुलाई १९४८ में कलकत्ता से 'विशाल-भारत' के प्राक्तन सम्पादक मोहनसिंह सेंगर के सम्पादन में साहित्यिक मासिक पत्रिका 'नया समाज' का प्रकाशन हुआ था। 'नया समाज ट्रस्ट' के न्यासधारी और सम्पादक राजस्थानी थे। पत्रिका के प्रकाशन-उद्योक्ता और संपादक की गांधी-विचार-दर्शन के प्रति पुष्ट निष्ठा थी।[१] स्वदेशी शासन शुरू होने के ग्यारह महीने बाद 'नया समाज' का प्रकाशन हुआ था। और आजाद देश की सबसे बड़ी त्रासदी-स्वतंत्रता संग्राम के प्रधान नायक महात्मा गांधी की हत्या इस बीच (३० जनवरी १९४८) घटित हो चुकी थी। सदियों बाद भारत का पराधीनता से मुक्त होना और अहिंसा के मसीहा का हिंसा का शिकार होना बीसवीं शताब्दी, की भारत के संदर्भ में, सबसे बड़ी घटना है। 'नया समाज' की पहली सम्पादकीय टिप्पणी इसी पर केन्द्रित है।[२] और प्रथम अंक में ही पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी का बहुचर्चित ललित निबंध 'नाखून क्यों बढ़ते हैं?' प्रकाशित हुआ था, जो मनुष्य के पाशव भाव पर ललित शैली में चोट करता है। गांधीजी की हत्या पर गहरी वेदना प्रकट करते उस ऐतिहासिक दुर्घटना पर तीखी टिप्पणी के साथ 'नया समाज'- सम्पादक ने अपने वक्तव्य का उपसंहार किया था, ''गांधी जी की हत्या भारत ही नहीं, विश्व-इतिहास की एक बहुत बड़ी दुर्घटना है। उसका अपराधी एक विक्षिप्त व्यक्ति बताया जाता है पर उनके स्थूल शरीर की इस हत्या से भी कहीं बड़ी ऐतिहासिक दुर्घटना है उनके उन आदर्शों और सिद्धांतों की हत्या, जिनके लिये गांधीजी जिए, जीवन- भर तप किया, और अन्त में उन्हीं के लिए मरे। इस हत्या का खून या पाप आज लाखों कांग्रेसियों के ललाट पर कलंक का बदनुमा धब्बा बनकर लगा हुआ है। बुद्ध और ईसा के स्थूल शरीरपात के बाद सदियों तक उनके आदर्श सिद्धांत जीवित रहे और आज भी किसी सीमा तक हैं तथा उनके लाखों शिष्य एवं अनुयायियों ने उनकी पवित्रता एवं सचाई को अक्षुण्ण-अकलंक रखने के लिये अपने प्राण न्यौछावर कर दिए। गांधीजी के बलिदान को तो अभी सिर्फ ५ ही महीने हुए हैं। पर इतनी जल्दी ही हमने उन्हें और उनके आदर्श सिद्धांतों को भुला दिया। आज प्रधानतया कांग्रेस और सामान्यतया देश का वातावरण देखकर ऐसा

---

१. 'नया समाज ट्रस्ट' के सदस्य थे सीताराम सेकरिया, भागीरथ कानोड़िया, भंवरमल सिंघी और नन्दलाल कानोड़िया, जो गांधीवादीसमाज-सेवक के रूप में ख्यात थे। सम्पादक मोहन सिंह सेंगर भी गांधीवाद के प्रति उतने ही आस्थाशील थे।

२. परिशिष्ट में द्रष्टव्य- प्रथम अंक की सम्पादकीय टिप्पणी और वर्ष १ अंक १ की विषय-सूची।

लगता है मानो हम कृतघ्न और कपटी जनों ने, गांधीजी की वाणी को सुनकर भी नहीं सुना। उनके आदर्श-सिद्धांतों पर अमल करने का रुख दिखाकर भी अन्त:करण से उन्हें नहीं माना और उन्हें पूरा धोखा दिया। अपनाया हमने केवल गांधीजी का कागजी चित्र, संस्थाओं के साइन बोर्ड पर उनका नाम और बिना मन-प्राण के उच्चारण से 'रघुपति राघव राजा राम' की जल्पना।''

'नया समाज'- सम्पादक मोहन सिंह सेंगर की निष्ठा गांधीवाद के प्रति थी, पर वे उस प्रतिबद्धता के पक्षपोषक नहीं थे, जो अन्याय-अनौचित्य से समझौता करने को विवश करती है। महात्मा गांधी स्वयं विवेक-स्वातंत्र्य के हिमायती थे, और विचार-स्वातंत्र्य सच्चे गांधीवादी के लिये मूल्यवान सम्पत्ति थी। स्वदेशी शासन-आसन पर बैठे गांधीवादियों के स्खलन पर गांधीजी के ही अंदाज में 'नया समाज'- सम्पादक ने प्रथम अंक में ही सम्पादकीय टिप्पणी की है,''जिस तेजी और तत्परता से शासन में अयोग्यता, भ्रष्टता और नमकहरामी का बोलबाला हुआ, बाजारों में मूल्य-नियंत्रण की ओट में चोर-बाजार पनपा, कपड़े और खाद्य-पदार्थों का कृत्रिम अभाव सृष्ट किया गया, कानून और शासन के नाम पर खुली चोरी और डकैती आरम्भ हुई और औसत आदमी अधिक झूठा, बेईमान, मक्कार और भ्रष्ट हो गया, विश्वास नहीं होता कि हम आजादी के वातावरण में सांस ले रहे हैं और ये उसी के वरदान हैं। तब क्या १५ अगस्त को इसी के लिये खुशियां मनाई गईं और रोशनी की गई? ऊपर की उस खुशी और रोशनी का क्या यही दुखद और अंधकारमय परिणाम होना था? तब तो कोई आश्चर्य नहीं, यदि कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि इससे तो गुलामी और साम्राज्यवादी शोषण का अभिशाप ही शायद अधिक सुखद और सुविधाजनक था।'

यही मानसिकता उन तमाम संवेदनशील बौद्धिक और सामान्य देशभक्तों की, आजाद देश के उदास और क्रमश: मैले होते चेहरे को देखकर कुछ ही महीनों में बन गयी थी, जिन्होंने देश के दुर्भाग्य-मोचन के लिये रचनात्मक भूमिका, किसी न किसी रूप में अदा की थी, देश के सौभाग्य का उज्ज्वल सपना देखा था। 'नया समाज' के उद्योक्ता और संपादक ऐसे ही कृती पुरुष थे, जो देश के दुर्भाग्य को अपना दुर्भाग्य मानते थे। आजादी के ग्यारहवें महीने में 'नया समाज' के प्रकाशन के मूल में जातीय चिंता थी, टूटते सपनों का दर्द था। मूल्यों की ढाही के प्रति आजाद देश के लोगों को संवेदनशील और जागरूक बनाने का विवेक था, सदियों बाद पराधीनता-अभिशाप से मुक्त भारत में एक सभ्य सुसंस्कृत समाज-रचना की वैचारिक आबोहवा तैयार करने की प्रेरणा से 'नया-समाज' प्रकाशित हुआ था। प्रथम सम्पादकीय टिप्पणी में पत्रिका के उद्देश्य का संकेत है, ''यों तो 'नया समाज' नाम स्वत: ही एक उद्देश्य की घोषणा है पर किन आदर्शों को लेकर हम नये समाज की स्थापना चाहते हैं, इसका उत्तर, हम चाहते हैं कि 'नया समाज' में प्रकाशित रचनाओं से ही मिले। हमारी घोषणा अथवा कथनी व्यर्थ और निरर्थक होगी, यदि हम कार्य-रूप में उसे न उतार सकें। किसी वाद, मत या दल-विशेष का अंधानुकरण अथवा अवलम्बन करके हम पाठकों पर जबर्दस्ती उसे थोपना न सिर्फ अनावश्यक एवं अनुपयुक्त ही समझते हैं, बल्कि हानिकारक भी।

''लोक-कल्याण, लोक-शिक्षण और लोकोन्नयन की दृष्टि से हम अपने और सहयोगी लेखक कवियों के विचार, सुझाव, समीक्षाएं आदि पाठकों के सम्मुख रखेंगे और इस मार्ग एवं उद्देश्य में बाधक होनेवाली सभी बातों, नीतियों, वादों, संस्थाओं और व्यक्तियों की स्पष्ट, किन्तु सद्भावनापूर्ण, निष्पक्ष और कटुताविहीन आलोचना भी करेंगे। एक वाक्य में कहें, तो हमारा आदर्श होगा साध्य और साधनों की समान रूप से पवित्रता तथा सचाई। हम समाज का नव-निर्माण चाहते हैं पर किसी की अहित या अकल्याण-कामना करके नहीं। इस साधु उद्देश्य की पूर्ति भी हम असाधु, अपवित्र, गुप्त और विघातक साधनों से कदापि नहीं चाहेंगे, क्योंकि न वह टिकाऊ होगी और न जनता की आत्मा का बल और न दिली समर्थन ही उसके पीछे होगा।'' 'नया समाज' की यही मूल प्रतिज्ञा थी, जो गांधीजी के दर्शन-आदर्श की प्रतिध्वनि भी मानी जा सकती है। पर गांधीवादी संपादक मोहनसिंह सेंगर की स्वतंत्र और विचक्षण सम्पादन-दृष्टि का प्रमाण 'नया-समाज' का समृद्ध साहित्यिक वैचारिक स्तर है। प्रसिद्ध कथाशिल्पी मोहनसिंह सेंगर 'विशाल-भारत' जैसी पत्रिका की सम्पादन-दक्षता का प्रमाण देकर कृती सम्पादक के रूप में हिन्दी-जगत् में कीर्तिमान हो चुके थे। और 'नया समाज' की प्रखर सम्पादकीय टिप्पणियां इस तथ्य को पुष्ट करती हैं कि अपने समय की नब्ज की सूक्ष्म धड़कन की सटीक पकड़ उनमें थी। औचित्य के आग्रह से बड़ी-बड़ी हस्तियों पर निर्भीक मुद्रा में टिप्पणी लिखना उनकी सत्य-निष्ठा और गांधी-निष्ठा को तो द्योतित करती ही है, साथ ही उनके विवेक-स्वातंत्र्य के प्रखर कोण का भी संकेत देती हैं। मार्च १९५८ के अंक में एक सम्पादकीय टिप्पणी राजगोपालाचार्य के हिन्दी-विरोधी आचरण पर केन्द्रित है। 'राजाजी और हिन्दी' शीर्षक टिप्पणी की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं, ''हिन्दी की अक्षमता बताते हुए आपने यहां तक कह डाला कि दक्षिणवालों के लिये वह अंग्रेजी से भी अधिक विदेशी है। राजाजी-जैसे आदरणीय और वयोवृद्ध नेता के लिये ऐसी अर्द्ध-सत्य, असत्य और विघटनकारी बातें करना जितना अशोभन और दुखद है, उतना ही लज्जास्पद है उनका 'मुन्नेत्तर द्राविड़ कड़घम' जैसी प्रतिगामी संस्था से, हिन्दी के खिलाफ अपवित्र गठबंधन करना। आचार्य कृपलानी के शब्दों में हम उनसे केवल यही निवेदन कर सकते हैं कि यदि वे हिन्दी को राष्ट्रभाषा नहीं चाहते, तो कोप, कटुता और असत्य का सहारा लेकर इस मतभेद का स्तर इतना नीचा तो न करें। अगर वे तटस्थ होकर पिछले ४० वर्षों के इतिहास पर नजर डालें तो उन्हें स्पष्ट पता चलेगा कि दक्षिण पर किसी ने आज तक हिन्दी को जबरदस्ती थोपने की चेष्टा नहीं की।....... जब राजाजी मद्रास-राज्य के मुख्यमंत्री थे, तो उन्होंने हिन्दी को अनिवार्य बनाया और उसके विरोधियों को नि:संकोच जेल में ठूंसा (इस जबरदस्ती से हिन्दी थोपने के उनके ढंग का तब 'नया समाज' ने विरोध किया था।) अगर राजाजी की स्मरण-शक्ति धोखा नहीं दे रही, तो वे अपने दिल पर हाथ रखकर सोचें कि सचमुच कौन हिन्दी को दक्षिणवालों पर थोप रहा है?'' स्वाधीन देश की ऐसी सामयिक समस्याओं पर, जो देश के चरित्र और नियति को दूर तक प्रभावित करने वाली थीं, 'नया समाज'- सम्पादक नि:संकोच तीखी टिप्पणी करने में कभी चूकते नहीं थे। जनवरी १९५८ के अंक में 'नेहरूजी और फिजूलखर्ची'

शीर्षक ऐसी ही एक टिप्पणी प्रकाशित हुई थी। गांधीवादी प्रधानमंत्री और भारत के सर्वाधिक लोकप्रिय राजनेता जवाहरलाल नेहरू को 'नया समाज' सम्पादक ने राष्ट्र की धन-शक्ति के अपव्यय के प्रति सचेत करते लिखा था, "अगर वे एकदम बेखबर और चन्द खुशामदियों के हाथों में ही नहीं खेल रहे, तो उन्हें स्वयं महसूस करना चाहिये कि उनके स्वागत के लिये बनने वाले मंच, तोरण-द्वारों, रास्तों की सफाई, पुलिस और सैनिकों की सुरक्षा-व्यवस्था और उसके कारण रुकने और नियंत्रित किया जाने वाला यातायात, पुराने वाइसरायों के समय के इंतजाम को भी मात करने लगा है और यह बात जनसाधारण को खटकने भी लगी है। अच्छा हो यदि अधिक बदनाम होने से पहले ही इन्हें रोकने की चेष्टा की जाय।" मोहनसिंह सेंगर, राजाजी और नेहरूजी की महत्ता से भली प्रकार परिचित थे, और महात्मा गांधी से इनकी निकटता का भी उन्हें ज्ञान था, साथ ही उनका जागरूक विवेक यह भी समझ रहा था कि शीर्ष स्थानीय गांधीवादी राजनेताओं ने सत्ता के प्रलोभन-प्रभाव में पड़कर गांधीजी की राह छोड़ दी है या बड़ी तेजी से छोड़ते जा रहे हैं, और इनकी जीवन-पंथा, देश के आम आदमी के चरित्र को प्रभावित करेगी जो देश के लिये अमंगलकारी सिद्ध होगा। गांधीजी द्वारा सुझाये गये सादगी और अहिंसा के मार्ग को ही 'नया समाज'-सम्पादक, देश और मानव जाति के लिये विधायक मानते थे। अपनी इस अवधारणा की सम्पुष्टि में उन्होंने बीसवीं सदी के शीर्ष प्रज्ञा-पुरुष, विज्ञानवेत्ता आइंस्टीन का विचार, जुलाई १९५० के अंक की 'गांधी की भावना को अपनावें' शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणी में उद्धृत किया था, "विश्व के उदारचेता और विवेकशील व्यक्ति जिन्हें इस या उस वाद अथवा इस या उस गुट से कुछ कुछ लेना-देना नहीं, धीरे-धीरे गांधी जी के अहिंसा-मार्ग के नैतिक और भौतिक महत्त्व के कायल होते जा रहे हैं। गत १९ जून को लेक-सक्सेस में संयुक्त राष्ट्र-संघ की ओर से की गई एक रेडियो-भेंट में सुप्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता डॉ. एल्बर्ट आइन्सटाइन ने कहा - 'शान्ति का एक मात्र रास्ता महात्मा गांधी का यह सिद्धान्त है कि जिसे तुम बुरा समझते हो, उसमें शामिल न होओ। महात्मा गांधी के विचार हमारे युग के सबसे अधिक प्रकाशपूर्ण उच्च विचार हैं। हमें उन्हीं की भावनाओं को अपना कर तदनुसार ही काम करना चाहिए। ....शस्त्रास्त्रों की यह मरणान्तक प्रतियोगिता अन्ततः हमें युद्ध के मुँह में ही झोंकेगी। झगड़ों को रोकने या हल करने का यह निकृष्टतम तरीका है। मेरी राय में तो जिन राष्ट्रों के पास परमाणु बम हैं, उन्हें वे किसी सर्वोच्च अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता को सौंप दें। मेरे दिमाग में ऐसी सत्ता का जो नक्शा है, वह एक प्रकार की विश्व-सरकार ही है।'" इसी आधुनिक विवेक द्वारा मोहनसिंह सेंगर ने राजस्थानी प्रकाशन-उद्योग को अपने सर्जनशील संपादन से रचनात्मक आयाम और विशिष्ट स्तर से सम्पन्न किया।

'नया समाज' अपने समय की विशिष्ट मासिक पत्रिका थी। संपादक मोहनसिंह सेंगर स्वयं प्रतिष्ठित कथा-लेखक थे, और 'विशाल भारत' जैसी उच्चस्तरीय पत्रिका का सम्पादन-अनुभव उनकी बड़ी पूंजी था, इसलिए रचना और विचार-जगत् से उनका सीधा सम्पर्क था। अपनी इस उपलब्धि का उन्होंने 'नया समाज' में उपयोग किया। समय-संस्कृति का मोहन सिंह सेंगर को सटीक ज्ञान था। जन- स्वास्थ्य पर, शिक्षा-संस्कृति पर, जातीय मूल्यों

पर उनकी प्रहरी-दृष्टि उनकी जागरूकता का संकेत देती है। जन-स्वास्थ्य, परिवार-नियोजन और संस्कृति जैसे ज्वलन्त प्रश्नों पर केन्द्रित 'नया समाज' के विशेषांक अपने समय के चर्चित पत्रिका-विशेषांक थे। गांधी के विचार, विदग्ध विचार 'चयनिका' और 'नव प्रकाशन-परिचय' के पत्रिका में स्वतंत्र पृष्ठ थे।

आजादी की अर्द्धशती की इस विशेष वेला में, आज हिन्दी की ऐसी एक भी पत्रिका, कलात्मक साज-सज्जा के बावजूद, नहीं दिखाई पड़ती जो 'नया समाज' की तरह प्राण-पुष्ट हो। निःसन्देह यह ढाही का ही सूचक है, जो देश और हिन्दी के दुर्भाग्य का सूचक है।

कल्पना

हिन्दी नवलेखन को रचनात्मक प्रोत्साहन-प्रवर्द्धन देने वाली पत्रिकाओं में 'प्रतीक' के बाद 'कल्पना', 'ज्ञानोदय' और 'कादम्बिनी' ऐसी विशिष्ट पत्रिकायें हैं, जिनके उद्योक्ता राजस्थानी हैं।

अहिन्दी भाषी क्षेत्र हैदराबाद से अगस्त १९४९ को बद्री विशाल पित्ती के उद्योग से द्वैमासिक के रूप में 'कल्पना' का प्रकाशन हुआ था। प्रधान सम्पादक डॉ. आर्येन्द्र शर्मा थे। सम्पादक-मण्डल के सदस्य थे डा. रघुवीरसिंह, प्रो. रंजन, मधुसूदन चतुर्वेदी और बद्री विशाल पित्ती। प्रथम अंक की विषय सूची[1] कल्पना के उज्ज्वल भविष्य का संकेत देती है।

पत्रिका-प्रकाशन के लक्ष्य को प्रथम सम्पादकीय टिप्पणी स्पष्ट करती है, "प्रकाशन तथा सम्पादकों का एक मात्र ध्येय हिन्दी के स्तर को उन्नत करना है। ...'कल्पना' के सम्पादक इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिये, हिन्दी को उसके महत्त्व के अनुरूप विकसित तथा उन्नत बनाने के लिये भरसक प्रयत्न करेंगे---भले ही अन्य प्रकार की हानियां हों।" इसी सम्पादकीय वक्तव्य में 'कल्पना' की सम्पादन-नीति पर प्रकाश डाला गया है, 'कल्पना' में केवल उत्कृष्ट कोटि की रचनाओं को स्थान दिया जायेगा और उनकी उत्कृष्टता का निर्णय लेखकों की प्रसिद्धि के आधार पर नहीं, अपितु उन रचनाओं की अपनी विशेषताओं के आधार पर किया जायेगा। इस सिद्धान्त के अनुसरण में हम किसी का 'लिहाज' नहीं करेंगे।...'कल्पना' का सम्पादक-मंडल उपर्युक्त सिद्धान्त का दृढ़ता से अनुसरण करेगा, और केवल उत्कृष्ठ कोटि की तथा स्थायी महत्त्व की रचनाओं को ही पत्रिका में स्थान देगा। 'सामयिक' रचनायें अथवा लेख 'कल्पना' में नहीं छपेंगे, और न वह देश अथवा विदेश की राजनीति से किसी प्रकार का सम्बन्ध रक्खेगी। सम्पादकों का आदर्श यह रहेगा कि 'कल्पना' का कोई अंक-उसका कोई अंश-कभी 'पुराना' न हो, आज से पचास वर्ष बाद भी उसकी उपयोगिता और आकर्षकता वही रहे, जो आज है।"

अपने इस आदर्श के प्रति 'कल्पना' अपनी पूरी यात्रा में सचेत रही। मूल परिकल्पना के मुताबिक द्वैमासिक साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रिका के रूप में 'कल्पना' का प्रकाशन दो वर्षों तक चला और दो वर्षों में पूरे हिन्दी जगत् में इसकी लोकप्रियता छा गई। और प्रबुद्ध पाठकों के आग्रह से व्यावहारिक कठिनाइयों के बावजूद, 'कल्पना' को तीसरे वर्ष से

---

१. परिशिष्ट में द्रष्टव्य प्रथम अंक की विषय सूची।

द्वैमासिक से मासिक रूप में प्रकाशित करना पड़ा। तीसरे वर्ष के प्रथम अंक की सम्पादकीय टिप्पणी में नये रूप और नयी व्यवस्था का संकेत देते सम्पादक ने लिखा था, '''कल्पना' अपने द्वैमासिक रूप में दो वर्षों से हिन्दी-भाषा और साहित्य की सेवा में प्रयत्नशील रही है। इस बीच में हमारे अनेक पाठकों और शुभ-चिन्तकों ने बार-बार आग्रह किया कि 'कल्पना' प्रतिमास प्रकाशित होनी चाहिये; इस प्रकार की साहित्यिक पत्रिका दो मास के अन्तर से देखने को मिले, यह ठीक नहीं है। 'कल्पना' के संचालक और संपादक यह जानते हुए भी कि द्वैमासिक पत्रिका को मासिक रूप में देने का अर्थ अपने श्रम और व्यय का भार बढ़ा लेना है, सहृदय पाठकों के आग्रह को टाल न सके, और उन्होंने तीसरे वर्ष के प्रारंभ से 'कल्पना' को प्रतिमास प्रकाशित करने का निश्चय कर लिया।.....इस प्रकार 'कल्पना' का मूल्य बिना बढ़ाये अपने व्यय और श्रम का भार बढ़ा कर भी हम इसलिए संतुष्ट और प्रसन्न हैं कि हमारा ध्येय हिन्दी-भाषा और साहित्य की सेवा है। जैसा हमने प्रथम अंक में निवेदन किया था, 'कल्पना' हिन्दी-पत्रिकाओं की संख्या में वृद्धि, अथवा ग्राहकों का मनोरंजन करके धनोपार्जन करने के उद्देश्य से नहीं निकाली गयी है। उसके प्रकाशक तथा सम्पादकों का एक मात्र ध्येय हिन्दी के स्तर को उन्नत करना है।''''कल्पना'-सम्पादक की यह अतिरिक्त महत्त्वाकांक्षा या बड़बोलापन नहीं था। 'कल्पना' की प्रबुद्ध समाज में लोकप्रियता इस तथ्य का प्रमाण रही है कि घोषित महत् साहित्यिक-सांस्कृतिक प्रयोजन को कायदे से रूपायित करने में वह कृतकार्य रही है और 'कल्पना' में प्रकाशित सामग्री उस सम्पादकीय विवेक का साक्ष्य है कि सामग्री के चयन में लेखकों-रचनाकारों के नाम का दबाव नहीं, साहित्य-विवेक निर्णायक रहा है। इस प्रकार शुद्ध वैदुष्य और सर्जनशीलता को वरीयता देते, प्रतिष्ठित और अख्यात रचनाकारों को 'कल्पना' ने समान बहुमान दिया है। निःसन्देह इस सम्पादन-विवेक की दृष्टि से 'कल्पना' अपने समय की अद्वितीय पत्रिका रही है। सामग्री-समृद्धि और प्रस्तुति-कौशल के स्तर को देखते 'कल्पना' को हिन्दी-जगत् ने आजादी के बाद की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका का सम्मान दिया है।

पुरा-भारतीय साहित्य-संस्कृति पर बलदेव उपाध्याय, क्षितिमोहन सेन, चन्द्रबली पाण्डेय, मंगलदेव शास्त्री और वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे अधिकारी विद्वानों की महत्त्वपूर्ण सामग्री छापने वाली 'कल्पना' ने 'नवलेखन-विशेषांक' के दो मोटे अंक निकाले, जिनका सौजन्य-सम्पादन काशी से नयी पीढ़ी के प्रतिष्ठित कथाकार शिवप्रसाद सिंह ने किया था। हिन्दी-नवलेखन के सम्यक् मूल्यांकन पर केन्द्रित वह विशेषांक हिन्दी-जगत् में काफी चर्चित-प्रशंसित हुआ था। वैदिक-औपनिषदिक साहित्य से अधुनातन लेखन तक के प्रति 'कल्पना' की उदार दृष्टि थी। 'कल्पना' के सम्पादक-मंडल के लिए नवता-प्राचीनता का प्रश्न गौण था, मुख्य थी सर्जनशीलता और विवेक-वैदुष्य-प्रसूत विवेचन, जिसे 'कल्पना' के सम्पादक अपनी मूल प्रतिज्ञा के मुताबिक बहुमान देते थे। और प्रतिष्ठित शीर्ष स्थानीय लोगों के प्रति सम्मानशील होते हुए उनके स्तर-स्खलन पर टिप्पणी छापने में 'कल्पना' को संकोच नहीं था। एक महत्त्वपूर्ण स्तम्भ था 'कल्पना' में 'साहित्य-धारा'।[१] जून १९५४ के अंक में

१. जुलाई १९५४ के अंक से 'साहित्य धारा' परिशिष्ट में अविकल उद्धृत की गयी है।

'साहित्यधारा' के आरम्भ में ही अज्ञेय और अमृतराय की रचना पर तीखा कटाक्ष है - '' 'कल्पना' के अप्रैल-अंक में प्रकाशित 'अज्ञेय' का स्केच 'देवीसिंह' आपने पढ़ा होगा और सम्भवत: मेरी तरह इसी नतीजे पर पहुंचे होंगे कि रचयिता का आग्रह जब हार्दिक न होकर बौद्धिक हो जाता है, तो रचना में निष्प्राणता के तत्त्व उभरने लगते हैं और धीरे-धीरे यह निष्प्राणता कभी भाषा के चमत्कार, कभी वस्तु की निरंतर एक-रूपता में बदलती जाती है। आग्रह तो आग्रह ही है, फिर चाहे व राजनीतिक फार्मूलों के लिये हो, चाहे उन्हें नकारने के लिये। ठीक इसी तरह का आभास आपको 'कहानी' में प्रकाशित अमृत राय की कहानी 'एक अनहोनी बात' पढ़ कर भी हुआ होगा। पाठक रचना पढ़ते समय जीवन की सच्ची अनुभूति मांगता है, प्रचार नहीं।'' ध्यातव्य है, 'कल्पना' में प्रकाशित रचना पर भी टिप्पणी करते 'साहित्य-धारा'-लेखक चक्रधर को संकोच नहीं होता था। और 'कल्पना' में प्रकाशित समीक्षा के विरोध में विचार प्रकाशित करने में 'कल्पना'-सम्पादक उदार थे। पं. शांतिप्रिय द्विवेदी की टिप्पणी दिसम्बर १९५४ में प्रकाशित हुई है, जो उनकी पुस्तक 'प्रतिष्ठान' की उस समीक्षा के विरोध में लिखी गयी थी, जो 'कल्पना' के अक्टूबर १९५४ के अंक में प्रकाशित हुई थी। 'प्रतिष्ठान' लेखक द्विवेदीजी ने अपना पक्ष ओजस्वी अंदाज में स्पष्ट किया है। 'पाठकों के पत्र' में प्रशंसात्मक प्रतिक्रिया और सम्मतियां नहीं, प्रबुद्ध पाठकों के विचारोत्तेजक पत्र छपते थे, जो हिन्दी पाठक-समाज की जागरूकता और बोध-स्तर का परिचायक था। 'कल्पना' का महत्त्वपूर्ण पृष्ठ था 'पाठकों के पत्र' शीर्षक पृष्ठ, जो पत्रिका की लोकप्रियता और साहित्यिक महत्त्व का परिचय देता था। ऐसा ही महत्त्वपूर्ण स्तम्भ था साहित्य-धारा, कमलाकान्त की डायरी और सम्पादकीय पृष्ठ। बालकृष्ण राव, मार्कण्डेय और शिवप्रसाद सिंह की रचना ही नहीं, गंभीर निबंध और विचारोत्तेजक टिप्पणियां प्राय: प्रकाशित होती थीं, जो वैचारिक उद्वेलन की सृष्टि करती थी। सम्पादकीय लेख मुख्यत: प्रधान सम्पादक डॉ. आर्येन्द्र शर्मा लिखते थे, जो भाषा, साहित्य और संस्कृति-संदर्भ पर केन्द्रित होते थे। भाषा-संस्कार के प्रश्न पर कल्पना-सम्पादक उतने ही संवेदनशील थे, जितने इस शताब्दी के आरम्भ में भारत मित्र-सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त।[१]

कल्पना के सम्पादक-मंडल में थे मुनीन्द्र, वृन्दावनबिहारी मिश्र, भवानीप्रसाद मिश्र, रघुवीर सहाय और ओमप्रकाश निर्मल प्रयाग तथा शुक्ल का कालान्तर में सक्रिय सम्बंध हुआ। 'कला' -पक्ष को जगदीश मित्तल देखते थे। मकबूल फिदा हुसैन की व्यापक परिचिति में भी 'कल्पना' का योगदान है। 'कल्पना' के उद्योक्ता बद्रीविशाल पित्ती, राजस्थानी व्यवसायी परिवार के हैदराबाद-प्रवासी थे। मगर पूरी जागरूकता के साथ उन्होंने 'कल्पना' के साहित्यिक-सांस्कृतिक चरित्र को व्यवसाय-संस्कृति से अप्रभावित

---

१. भाषा स्खलन पर 'नई धारा' सम्पादक रामवृक्ष बेनीपुरी ने जिस सम्पादकीय टिप्पणी में चिन्ता प्रकट की थी, बेनीपुरी जी जैसे प्रतिष्ठित गद्यशिल्पी के उसी लेख में डॉ. आर्येन्द्र शर्मा ने भाषा की भूलों को रेखांकित किया था। भाषा विषयक कल्पना का सम्पादकीय लेख परिशिष्ट में अविकल उद्धृत किया गया है।

रखा। इसी प्रकार पित्तीजी का राजनीतिक विचार डॉ. राम मनोहर लोहिया के समाजवाद से जुड़ा था,[१] पर उनकी पत्रिका 'कल्पना' अपनी मूल प्रतिज्ञा के अनुसार किसी राजनीतिक विचार-विश्वास को प्रश्रय-प्रचार देने से सदा विरत रही। 'कल्पना' के नवम्बर १९५८ के अंक में 'भारतीय विश्वविद्यालयों में खोज-कार्य' शीर्षक सारस्वत विषय पर केन्द्रित लोहियाजी का महत्त्वपूर्ण निबंध छपा था, जो उनकी सांस्कृतिक- चिंता का परिचायक है।[२] 'कल्पना' के प्रथम सम्पादकीय लेख में एक गुरुतर राष्ट्रीय प्रयोजन की ओर संकेत किया गया था, "हैदराबाद, उत्तर और दक्षिण का संधि-बिन्दु' है, आर्य और द्रविड़ का संयोजक है, और अनेक दृष्टियों से राष्ट्र का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। 'कल्पना' साहित्यिक तथा सांस्कृतिक पत्रिका है, वह उत्तर और दक्षिण की भाषाओं, साहित्यों और संस्कृतियों को परस्पर अधिक-से-अधिक निकट लाने का प्रयत्न करेगी, और उसे अपने इस प्रयत्न में हैदराबाद की उपर्युक्त विशेषताओं से निश्चय ही बहुत कुछ सहायता मिलेगी।"

'कल्पना' की जीवन-यात्रा की पड़ताल इस धारणा को पुष्ट करती है कि देश के गुरुतर सांस्कृतिक प्रयोजन को पूरा करने वाली 'कल्पना' स्वाधीन भारत की ऐसी विशिष्ट हिन्दी-पत्रिका रही है, जिसमें छपना सरल नहीं था, और नये रचनाकार का 'कल्पना' में प्रकाशित होना गौरव की बात थी, क्योंकि उसमें छपने का अर्थ था रचनाकार के रूप में प्रतिष्ठित होना।

यद्यपि स्वाधीन भारत के आरम्भिक दशक में स्तरीय साहित्यिक पत्रिकाओं से पत्रकारिता-परिदृश्य आज जैसा खाली नहीं था। कई कृती सम्पादकों के सम्पादन में हिन्दी-प्रदेशों से अच्छी पत्रिकायें प्रकाशित हो रही थीं, तथापि सुसम्पादित 'कल्पना' विशिष्ट और प्रबुद्धजन-प्रिय पत्रिका थी, जो हिन्दी के श्रेष्ठ विवेक और सर्जनशील प्रतिभा का प्रकाशन-माध्यम थी।

कादम्बिनी

'नया समाज' और 'कल्पना' से किंचित् भिन्न प्रकृति थी 'कादम्बिनी' के प्रकाशन-प्रतिष्ठान 'हिन्दुस्तान टाइम्स लिमिटेड' की। व्यावसायिक प्रतिष्ठान के समृद्ध साधन को बालकृष्ण राव, सच्चिदानन्द वात्स्यायन और धर्मवीर भारती ने 'कादम्बिनी', 'दिनमान' और 'धर्मयुग' के सम्पादन-माध्यम से रचनात्मक रूप दिया। ऐतिहासिक तथ्य है कि 'हिन्दुस्तान टाइम्स लिमिटेड' की मासिक पत्रिका 'कादम्बिनी' और 'टाइम्स आफ इंडिया

---

१. डॉ. राम मनोहर लोहिया के राजनीतिक विचारों पर केन्द्रित प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'जन' १९५८ में यूनाइटेड कमार्शियल प्रेस, कलकत्ता से प्रकाशित हुई थी। उद्योक्ता और संपादक राजस्थानी थे। प्रकाशक थे बालकृष्ण गुप्त और डॉ. राममनोहर लोहिया। लोहिया जी ओम प्रकाश दीपक के सहयोग से पत्रिका का सम्पादन करते थे। राजनीतिक विचार-प्रधान 'जन' के माध्यम से लोहिया जी ज्वलंत सांस्कृतिक विषयों को अपने विचार का प्रायः उपजीव्य बनाते थे। विचारोत्तेजक प्रश्न रचने में 'जन' अपने समय की चर्चित विचार पत्रिका थी।

२. 'कल्पना' नवम्बर १९५८ में प्रकाशित डॉ. राममनोहर लोहिया का उक्त निबंध परिशिष्ट में अविकल उद्धृत किया गया है। लोहिया जी के स्वकीय सारस्वत विचारकोण को समझने के लिए उक्त निबन्ध द्रष्टव्य।

प्रकाशन' की साप्ताहिक पत्रिका 'धर्मयुग' तथा साप्ताहिक-पत्रिका 'दिनमान' को अपने समय की श्रेष्ठ हिन्दी पत्रिका की प्रतिष्ठा प्राप्त थी। 'कादम्बिनी' की यात्रा नवम्बर, १९६० में प्रयाग से बालकृष्ण राव के सम्पादन में शुरू हुई थी। राव साहब के कृती व्यक्तित्व के सहज प्रभाव से 'कादम्बिनी' के प्रति हिन्दी का सृजनशील साहित्य-जगत् और चिन्तनशील पांक्तेय जन सहज ही सुमुख हो गये थे। बालकृष्ण राव की सम्पादन-अवधि बहुत छोटी थी, किन्तु उस छोटी कालावधि में ही 'कादम्बिनी' को श्रेष्ठ मासिक पत्रिका का सम्मान प्राप्त हो गया था और राव साहब के विचक्षण संपादन में निकलने वाली 'कादम्बिनी' में छपने की सहज साध रचनाकारों में, प्रतिष्ठित लेखकों-रचनाकारों में भी जग गयी थी।

अपने पाठकों को सम्बोधित करते बालकृष्ण राव ने प्रथम सम्पादकीय वक्तव्य में लिखा था, ''काल निरवधि है, हो, पृथ्वी विपुला है, हुआ करे, जहाँ तक हमारे प्रयास की सिद्धि का प्रश्न है, उसके लिए तो एक मात्र प्रमाण अपने समसामयिक, सहवर्ती समाज द्वारा स्वीकरण ही हो सकता है।'' और तथ्य है कि 'कादम्बिनी' को बड़े हिन्दी समाज ने श्रेष्ठ मासिक पत्रिका के रूप में स्वीकार किया, ऐसी पत्रिका के रूप में उसका स्वागत हुआ जो रस-कोष और बोध-धरातल को समृद्ध करती है।

१९६२ में बालकृष्ण राव की जगह 'कादम्बिनी' रामानन्द दोषी के सम्पादन में निकलने लगी। १९७२ में राजेन्द्र अवस्थी सम्पादक बने। साधन और सम्पादकीय निष्ठा में कमी न होने के बावजूद कालान्तर में 'कादम्बिनी' पोषण की जगह मनोरंजन-प्रधान पत्रिका हो गयी। और इसी रूप में आज तक जीवित है। यह एक प्रमाण है इस तथ्य का कि सम्पादक का व्यक्तित्व ही पत्र-पत्रिका में प्रधान होता है।

'कादम्बिनी' के प्रकाशन-उद्देश्य को स्पष्ट करते आदि-सम्पादक बालकृष्ण राव ने प्रथम सम्पादकीय टिप्पणी[1] में लिखा था, ''कादम्बिनी' किसी प्रश्न, समस्या या मान्यता के प्रति ध्यान आकर्षित कराने अथवा किसी क्षेत्र में किसी प्रकार का प्रचार-कार्य करने के उद्देश्य से नहीं किन्तु मात्र इस अभीष्ट सिद्धि के लिए आपके सामने उपस्थित हो रही है कि देश के दिनों दिन बढ़ते हुए हिन्दी-पाठी समुदाय के लिए उच्च कोटि की पाठ्य-सामग्री उपलब्ध कराने के व्यापक प्रयास में यत्किंचित् योग दे सके। हमारा विश्वास है कि हिन्दी को एक नहीं अनेक अच्छे मासिकों की अपेक्षा है। यही विश्वास 'कादम्बिनी' के प्रकाशन का प्रेरणा-स्रोत बन सका, और इसी विश्वास से दृष्टि पाकर वह आज अपने चारों ओर प्रतियोगियों की जगह सहयोगियों और निर्णायकों की जगह अभिभावकों को देख रही हैं।'' 'कादम्बिनी' की मूल प्रतिज्ञा का एक कोण समकालीन समाज की अभिरुचि और मनोवृत्ति के परिष्कार-संस्कार पर केन्द्रित है। इस पक्ष के प्रति सम्पादक की संवेदनशीलता एक वर्ष की विषय-सूची से स्पष्ट हो जाती है। साहित्यिक-सांस्कृतिक रुचि-बोध पैदा करना 'कादम्बिनी' का प्रधान लक्ष्य था। सामग्री-चयन और उसकी कलात्मक प्रस्तुति के मूल में पाठकों के संस्कार-उन्नयन की चिन्ता प्रधान चिन्ता थी, जो व्यावसायिक प्रतिष्ठान

१. *प्रथम सम्पादकीय लेख परिशिष्ट में द्रष्टव्य।*

की पत्रिका के सन्दर्भ में विशेष बात है, और जो ध्यातव्य है। स्तरीय साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रिकायें, अपनी विधायक भूमिका द्वारा इस धारणा का निरास करती हैं कि व्यावसायिक घराने के प्रकाशन-उद्योग से निकली पत्रिकायें, सामाजिक विकृति, अपराध-बीज और अप-संस्कृति का प्रसार ही करती हैं। हिन्दी-पत्रकारिता के सन्दर्भ में यह धारणा अप्रामाणिक सिद्ध हो चुकी है।

यह संयोग भी हो सकता है, मगर सन्दर्भ-विशेष में मूल्यवान संयोग है, कि 'अशोक के फूल' के बाद अर्थात् स्वाधीन देश में रचे गये, सर्वश्रेष्ठ ललित निबंधकार पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी के दो श्रेष्ठ निबंध, बालकृष्ण राव के सम्पादन में निकलने वाली पत्रिका में ही प्रकाशित हुए। चंडीगढ़-प्रवास-काल में लिखित 'देवदारु', 'माध्यम' में छपा था और 'कुटज' 'कादम्बिनी' के प्रथम अंक में प्रकाशित हुआ था। आहत संवेदना[१] सर्जनशील आयाम से जुड़ कर कितनी बड़ी रचना बन जाती है, द्विवेदीजी के उक्त दोनों निबंध प्रमाण हैं। और हिन्दी की विधा-विशेष की समृद्धि के भी ये निबंध प्रमाण हैं। पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी की कुछेक श्रेष्ठ रचनाओं में इनका विशिष्ट स्थान है।

बालकृष्ण राव के सम्पादन में निकलने वाली 'कादम्बिनी' की विषय-सूची परिशिष्ट में दी गयी है, जिससे पत्रिका के साहित्यिक स्तर की समृद्धि का अन्दाज मिल जाता है।

ज्ञानोदय

भारतीय ज्ञानपीठ अपने साहित्यिक-सांस्कृतिक आयोजन के लिए देश-ख्यात शीर्षस्थ प्रतिष्ठान है, जिसको, ऊंची सांस्कृतिक महत्त्वाकांक्षा से शान्तिप्रसाद जैन और रमा जैन ने खड़ा किया था। 'ज्ञानपीठ पुरस्कार-योजना' शुरू कर भारतीय ज्ञानपीठ ने विशेष कीर्ति अर्जित की। 'ज्ञानपीठ-पुरस्कार' की प्रतिष्ठा आज तक अक्षत है। उतना ही स्तरीय ज्ञानपीठ का साहित्य-प्रकाशन-प्रकल्प भी रहा है। पुरा भारतीय साहित्य से लेकर हिन्दी-नवलेखन के प्रकाशन-उन्नयन में 'भारतीय ज्ञानपीठ' की भूमिका अद्वितीय रही है। नवलेखन को प्रवर्द्धन-प्रोत्साहन देने वाली मासिक पत्रिका थी 'ज्ञानोदय', जिसका प्रकाशन हिन्दी पत्रकारिता की जन्मभूमि कलकत्ता से प्रख्यात गद्यशिल्पी कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' और लक्ष्मीचन्द्रजैन के विचक्षण आयोजन-सम्पादन में हुआ था। प्रभाकरजी के बाद लक्ष्मीचन्द्र जैन के सहयोगी बने जगदीश, शरद देवड़ा और रमेश वक्षी। इस प्रकार कई सम्पादन-स्पर्श से 'ज्ञानोदय' रूपायित होता रहा, पर सम्पादन में नवलेखन की पक्षधरता मुखर थी। और पत्रिका की रूप-रचना में उद्योक्ता का किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं था, जो व्यावसायिक घराने के प्रतिष्ठान से निकलने वाली पत्रिका के सन्दर्भ में बड़ी बात थी। उन्मुक्त उदार विचार-मंच के रूप में लेखकों-रचनाकारों का सहयोग उसी प्रकार सुलभ था, जैसा 'नया समाज', 'कल्पना' और 'कादम्बिनी' को उपलब्ध था। यहां तक कि पूंजीपति-प्रतिष्ठान की पत्रिका से यत्नपूर्वक दूरी बरतने वाले मार्क्सवादी समीक्षक डॉ. नामवर सिंह तक ने

१. राजनीतिक दुश्चक्र के चलते काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का निष्कासन हुआ था। पंजाब विश्वविद्यालय में हिन्दी विभागाध्यक्ष के रूप में काम करते द्विवेदी जी ने उक्त ललित निबंध लिखे थे। इन रचनाओं में निबंधकार की प्रतिभा उत्कर्ष पर दिखाई पड़ती है।

'ज्ञानोदय' को लेखन-सहयोग दिया था। नयी काव्य-धारा का नामवर सिंह द्वारा विवेचन जब 'ज्ञानोदय' में प्रकाशित हुआ तो लेखन-जगत् में उसकी व्यापक स्तर पर चर्चा हुई। नवलेखन की पक्ष-पोषक पत्रिकाओं में 'ज्ञानोदय' का निर्विवाद रूप से विशिष्ट स्थान है। यह ऐतिहासिक तथ्य भी उल्लेखनीय है कि पं. हरिभाऊ उपाध्याय के सम्पादन में प्रकाशित 'त्यागभूमि' के बाद राजस्थानी उद्योग से स्वाधीन भारत में प्रकाशित 'नया समाज', 'कल्पना', 'कादम्बिनी' और 'ज्ञानोदय' ऐसी साहित्यिक मासिक पत्रिकायें रही हैं, जिन्हें विशिष्ट हिन्दी पत्रिका के रूप में हिन्दी-समाज की शीर्ष प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

नवनीत [हिन्दी डाइजेस्ट]

जनवरी, १९५२ में बम्बई से प्रकाशित मासिक पत्रिका 'नवनीत' हिन्दी पत्रकारिता में एक अभिनव प्रयोग था। ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न सरणियों के, न केवल भारत बल्कि विश्व के, पांक्तेय कृती पुरुषों के चिन्तन-परिवेशन द्वारा हिन्दी पाठक-समाज के ज्ञान-कोष को समृद्ध करना नवनीत-प्रकाशन का एकान्त उद्देश्य था। पत्रिका के उद्योक्ता श्रीगोपाल नेवटिया ने प्रथम प्रकाशकीय वक्तव्य में पत्रिका-प्रकाशन के लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए लिखा था, " 'नवनीत' आशान्वित है कि वह ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी स्थायी अभिरुचि के चुने हुए प्राचीन व अर्वाचीन साहित्य को संक्षिप्त रूप में संकलित करके - उस नवनीत को अपने घट में प्रस्तुत करके बहुतों की ज्ञान-क्षुधा तृप्त करने में समर्थ होगा।" ज्ञान-पिपासु पाठक- समाज में 'नवनीत' की लोकप्रियता प्रमाण है कि हिन्दी-समाज का एक जरूरी प्रयोजन-'नवनीत' के प्रकाशन द्वारा काफी अंशों तक पूरा हुआ।

रतनलाल जोशी के सम्पादन में राजस्थानी प्रचेष्टा से प्रकाशित हिन्दी की अप्रतिम पत्रिका-'नवनीत' की प्रथम प्रकाशकीय विज्ञप्ति और प्रथम वर्ष की विषय-सूची परिशिष्ट में उद्धृत की गयी है, जिससे इस मासिक प्रकाशन का उद्देश्य और चारित्रिक वैशिष्ट्य स्पष्ट हो जाता है। श्री नारायणदत्त का विचक्षण सम्पादन स्पर्श भी 'नवनीत' को उपलब्ध हुआ था। नारायण दत्त जी ने 'नवनीत' को समृद्ध स्तर दिया। अपने निजी सम्पर्क और प्रभाव से ज्वलंत संदर्भ-सभ्या पर गणेश मंत्री जैसे जागरूक और अधीत लेखक से 'नवनीत' के लिये सामग्री तैयार करायी थी। और इस प्रचेष्टा-व्यवस्था से 'नवनीत' को नयी मुद्रा और विधायक आयाम से संपन्न किया था।

हिन्दी-समाज को विश्व-मनीषा का 'नवनीत' उपलब्ध कराने की चिन्ता-प्रेरणा के साथ श्री गोपाल नेवटिया का व्यावसायिक मनोभाव नहीं जुड़ा था, कदाचित् तभी 'नवनीत' के प्रकाशन का एक सार्थक प्रयोग के रूप में हिन्दी जगत् ने व्यापक स्तर पर स्वागत किया था।

मासिक पत्रिकाओं के अलावा व्यावसायिक प्रतिष्ठान से कुछ ऐसे साप्ताहिक-दैनिक पत्र प्रकाशित हुए, जिनकी राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठा रही है, और जो स्वाधीन देश के श्रेष्ठ साप्ताहिक-दैनिक के रूप में प्रबुद्ध वर्ग द्वारा सम्मानित रहे हैं। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'धर्मयुग', 'दिनमान' और 'दैनिक हिन्दुस्तान', 'नवभारत टाइम्स', 'जनसत्ता' और 'राजस्थान पत्रिका' ऐसे ही पत्र हैं।

साप्ताहिक हिन्दुस्तान

बिड़ला प्रतिष्ठान 'हिन्दुस्तान टाइम्स लिमिटेड' की ओर से २ अक्टूबर १९५० को मुकुटबिहारी वर्मा के सम्पादन में 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' का दिल्ली से प्रकाशन हुआ था। अजमेर की पत्रिका 'त्यागभूमि' के सम्पादकीय विभाग में कार्य करते मुकुटबिहारी वर्मा ने सम्पादन-कौशल और साहित्य-जगत् से परिचिति अर्जित कर ली थी। उक्त कमाई का लाभ, 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के सम्पादन-काल में उन्हें अपेक्षित रूप में मिला और 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' लोकप्रिय हिन्दी-साप्ताहिक के रूप में चर्चित हुआ। वरीयता पुरानी पीढ़ी के आदर्शवादी लेखकों और प्रतिष्ठित रचनाकारों को ही दी जाती थी। समसामयिक राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर स्तरीय टिप्पणियां भी प्रकाशित होती थीं। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के विशेषांक की विशेष चर्चा रहती थी, जिनमें स्थायी महत्त्व की सामग्री प्राय: प्रकाशित होती थी। वर्माजी के बाद जब बांकेबिहारी भटनागर सम्पादक हुए, 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' का साहित्यिक स्तर अपेक्षाकृत अधिक उन्नत हुआ। भटनागरजी के १५ वर्षों के सम्पादन-काल में जो सामान्य अंक और विशेषांक प्रकाशित हुए उनमें से अधिकांश संग्रहणीय थे। बांकेबिहारी भटनागर के सम्पादन-काल में एक आदर्शवादी साप्ताहिक पत्रिका के रूप में 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' की लोकप्रियता बहुत उन्नत हुई। गोविन्दप्रसाद केजड़ीवाल और रामानन्द दोषी ने 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' का कुछ दिनों तक सम्पादन किया।

मनोहरश्याम जोशी, मृणाल पांडे की सम्पादन-नवता ने 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' को नयी मुद्रा से सम्पन्न किया। नयी साहित्य-संचेतना का 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में सही रूप में प्रवेश मनोहरश्याम जोशी के संपादन-काल में हुआ। और हिन्दी-नवलेखन से जुड़े लोगों ने भी 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में गहरी रुचि दिखायी। नयी सर्जनशील संचेतना के ज्येष्ठ पुरस्कर्ता अज्ञेय से दो महत्त्वपूर्ण लेख-माला मनोहरश्याम जोशी ने व्यक्तिगत सम्बन्ध के आधार पर आग्रहपूर्वक 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के लिए लिखवायी, जो कालान्तर में 'युगसन्धियों पर' और 'स्मृति-लेखा' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। समसामयिक रचनाकारों के व्यक्तित्व पर केन्द्रित निबंध 'स्मृति-लेखा' में संकलित हैं। ये निबंध प्रमाण हैं कि अपने समय और समय-सहचर कृती पुरुषों में अज्ञेय की कितनी गहरी संसक्ति थी, और वे उनके सर्जनशील व्यक्तित्व के प्रति कितने सम्मानशील थे।

'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में प्रकाशित समय-संस्कृति पर केन्द्रित टिप्पणियों की लेखन-बाध्यता का उल्लेख करते सच्चिदानन्द वात्स्यायन ने लिखा है, "'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के सम्पादक और अपने एक-चौथाई शती के प्रिय सहयोगी मनोहरश्याम जोशी का मैं ऋणी हूँ कि उनके आग्रह और आतंक ने मुझसे एक के बाद एक ये लेख लिखवा लिये।" अज्ञेय के महत्त्वपूर्ण निबंधों और ज्वलंत समस्याओं पर केन्द्रित टिप्पणियों ने 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' की साहित्यिक प्रतिष्ठा बहुत उन्नत कर दी थी और यह सम्पादक मनोहर श्याम जोशी की विचक्षण सम्पादन-कौशल का ही सुफल था कि 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में व्यवसायवाद पर सजर्नशील चिन्तन का वर्चस्व प्रतिष्ठित हुआ। संस्कारी पाठक-समाज पर सम्पादक

मनोहरश्याम जोशी की दृष्टि केन्द्रित थी, और एक बड़े समूह के संस्कार का सम्पादकीय विवेक भी उनमें था। इसी विवेक'-चिन्ता से मनोहर श्याम जोशी 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' की सामग्री का और उपयुक्त लेखक का चयन करते थे। अज्ञेय के साथ 'दिनमान' का सम्पादन करते मनोहरश्याम जोशी ने जो कठोर साधना की थी उसी की उपलब्धि थी सम्पादन-दक्षता, जिसके बल से उन्होंने व्यावसायिक प्रतिष्ठान की पत्रिका 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' को स्तरीय साहित्यिक रूप दिया था। मनोहरश्याम जोशी के सम्पादन ने पत्रिका के विक्रय-स्तर को कितना प्रभावित किया, यह उसका व्यावसायिक पक्ष है। और इस बिन्दु पर 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में अज्ञेय ने सटीक टिप्पणी की थी कि "बिक्री का प्रश्न अगर रुचि का प्रश्न न होकर बिक्री का प्रश्न है तो वह बाजार का प्रश्न है और बाजार का प्रश्न तो व्यवसाय के नियमों के अधीन ही हल किया जा सकेगा।" मनोहरश्याम जोशी, अज्ञेय, धर्मवीर भारती और रघुवीर सहाय की तरह मूलत: रचनाकार हैं, इसलिए उनके विवेक के सामने स्पष्ट है कि "साहित्यकार स्वयं अपने समाज का निर्माण करता है। अपने समाज के निर्माण-संस्कार की चिंता, कृती सम्पादक की प्रधान चिंता होती है; होनी चाहिए।" मनोहरश्याम जोशी का सम्पादन-कर्म इसी चिन्ता पर केन्द्रित रहा है।

धर्मयुग

'टाइम्स आफ इंडिया ग्रुप' की हिन्दी साप्ताहिक पत्रिका 'धर्मयुग' सर्वाधिक लोकप्रिय और सबसे ऊंचे विक्रय-स्तर की साप्ताहिक पत्रिका थी। इसका प्रकाशन १९५० में बम्बई से हुआ था कथाशिल्पी इलाचन्द्र जोशी के सम्पादन में। कालान्तर में डॉ. हेमचन्द्र जोशी इसके सम्पादक बने। मगर जोशी बन्धुओं के सम्पादन में 'धर्मयुग' वह ऊँचाई नहीं उपलब्ध कर सका, जिस साध से उसका प्रकाशन हुआ था और जो डॉ. धर्मवीर भारती के सम्पादन ने उसे उपलब्ध कराई। भारती के सम्पादन में ही 'धर्मयुग' स्वाधीन भारत का सर्वाधिक लोकप्रिय साप्ताहिक पत्र बना।

जनवरी सन् ६० में डॉ. भारती का 'धर्मयुग' के सम्पादकीय विभाग में प्रवेश हुआ, प्रधान सम्पादक के रूप में। १३ मार्च ६० यानी होली अंक में छोटी किन्तु महत्त्वपूर्ण संपादकीय घोषणा प्रकाशित हुई थी। इसी अंक से सही अर्थ में भारती की परिकल्पना के अनुसार 'धर्मयुग' का प्रकाशन शुरू होता है। भारती ने हिन्दी-पाठक के सम्बन्ध में चलती चली आ रही उस धारणा का प्रतिवाद किया कि 'हिन्दी-पाठक खरीद कर पत्र-पत्रिका नहीं पढ़ता और यह कि वह सस्ती कुरुचिपूर्ण सामग्री की तलाश में रहता है। भारती इसे 'मिथ' यानी मिथ्या धारणा मानते हैं कि "हिन्दी में पाठक-वर्ग है ही नहीं, न केवल यह कि हिन्दी का पाठक है, बल्कि बहुत बड़ी संख्या में है, और यह भी कि वह स्थिर या जड़ नहीं है सक्रिय है,गत्यात्मक है। आप दो कदम आगे बढ़िये तो वह चार कदम आगे बढ़ कर स्वागत करने को तत्पर है, पर आप उस तक पहुँचने की पगडंडियां खोज तो निकालिये। एक दूसरी मिथ है, वह यह कि हिन्दी का पाठक महज सस्ती कुरुचिपूर्ण सनसनीखेज सामग्री और भोंड़े चित्र पसन्द करता है। जो लोग किसी भी कारण से हिन्दी के पाठक को गिरी निगाह से देखते हैं वे इस 'मिथ' पर विश्वास जमाये रखना चाहते हैं और इसका

निष्ठापूर्वक प्रचार करते हैं।" इस 'मिथ' पर चोट करते हुए भारती ने हिन्दी-पाठक के सजग मानस के प्रति आस्था प्रकट की, "वे यह नहीं जानते कि अपने गांव की चौपाल में बैठकर, या छोटी-सी दूकान में बैठकर जो कबीर की उलटबांसी का अर्थ बूझता है; सूर के पद तन्मय होकर गाता है और बैलगाड़ियों पर सवार होकर राजधानी में अन्तर्राष्ट्रीय अतिथियों को देखने जाता है, वह हिन्दी का अर्द्धशिक्षित पाठक भी न तो ऊंचे संस्कारों वाली अपनी परम्परा से कटा हुआ है और न आधुनिक समस्याओं से बिल्कुल अनजान है। बड़ी से बड़ी, गहरी से गहरी और अहम से अहम बात को समझने की सामर्थ्य उसमें बीज रूप में मौजूद है।" हिन्दी पत्रकारिता की नैतिक जिम्मेवारी की ओर संकेत करते भारती ने उसी टिप्पणी में लिखा था, "यह तो हिन्दी पत्रकारिता का काम है कि उस पाठक के मर्म तक पहुँचने के सही रास्ते खोज निकाले। केवल सस्ते या भोंड़े तरीकों से आसान रास्ते खोजना, या सिर्फ बौद्धिक असमंजस में पाठक-वर्ग से मुँह मोड़ कर बैठ रहना, ये दोनों गलत रास्ते हैं। उस पाठक तक पहुंचना, पहुंच कर उसकी जरूरतों को सहानुभूति से समझना और कुशलता से अपनी बात उसे समझाना, चाहे यह जितना ही श्रमसाध्य हो पर यह एक नैतिक जिम्मेवारी है।" इसी जिम्मेवारी को ढाई दशकों में सचित्र साप्ताहिक 'धर्मयुग' के माध्यम से डॉ. धर्मवीर भारती ने पूरा किया। देश-विदेश में लाखों की संख्या में बिकने वाली इस पत्रिका के रूप - वैशिष्ट्य और विक्रय-स्तर को देखते हुए हिन्दी-पाठक की विद्या-रुचि और सहज संस्कृति-स्पृहा के सम्बन्ध में फैली और मन्तव्य-विशेष से फैलाई गयी अन्यथा धारणाओं का अनायास निरसन हो जाता है।

व्यावसायिक प्रतिष्ठानों की ओर से प्रकाशित होने वाली पत्रिका के प्रति प्रबुद्ध और संस्कृति-सचेत मानस में अन्यथा भाव का होना स्वाभाविक है। पुरानी पीढ़ी के यशस्वी हिन्दी-पत्रकार बाबूराव पराड़कर, गणेशशंकर विद्यार्थी और शिवपूजन सहाय ने व्यावसायिक प्रतिष्ठानों से जुड़ी पत्रकारिता के प्रति बड़ी साफ भाषा में अपनी अनास्था-आशंका प्रकट की है। परवर्ती पीढ़ी ने भी अन्यथा मंतव्य प्रकट किया है। स्वाभाविक है यह धारणा कि समृद्ध साधनों के बल पर व्यावसायिक प्रतिष्ठानों की ओर से निकलने वाली पत्रिका में व्यावसायिक दृष्टि होगी-अर्थाश्रयी और अर्थोन्मुख दृष्टि, जो साहित्य और संस्कृति के धरातल और सहज रूप को कमजोर बनाती है, मारती है। सामान्य धारणा रही है कि आर्थिक सुविधा-सुख भोगने वाले पत्र-सम्पादक की निष्ठा कमजोर होती है, जातीय संस्कृति और जन-रुचि के प्रति उसमें दायित्व-सजगता का अभाव होता है, सत्य के समर्थन में उसकी कलम काँप जाती है अर्थात् पत्रकार की उस महत् भूमिका से वह अनिवार्यतः च्युत हो जाता है जो एक मनीषी साहित्यकार की भूमिका होती है, और जो भौतिक सुविधाओं को निछोह धक्का मार कर, सत्य का निर्भीक समर्थन करते, नाना प्रकार के खतरों को आमंत्रित करने वाली भूमिका है। व्यावसायिक संस्पर्श इस भूमिका को म्लान कर देता है, और तब सम्पादक घटिया स्तर पर उतर कर अपने मालिक को प्रीत करने के लिए अर्थार्जन का नया आधार रचने लगता है, साहित्य-चेतना को कुंठित करने को मजबूर होता है। उसकी नियति कुछ की कुछ हो जाती है और यह बोध मर जाता है कि पत्रकार

की भूमिका सच्चे लोक-नायक की भूमिका होती है एवं एक मनीषी साहित्यकार की तरह दिशाहारा समाज को अपेक्षित दिशा-निर्देश देना, कुरुचि की बाढ़ में डूब रहे लोक-मानस को संस्कृति-संस्पर्श से उबारना है, देश की चिति पर छा रहे कुहासे को अपनी वाग्दीप्ति से विदीर्ण करना, खंडित संस्कृति-चेतना के उन्नयन की सक्रियता, रूढ़ि-विवर्जित प्रज्ञा की रचना के प्रति प्रातिभ-सजगता और थथमग्रस्त वर्तमान को गत्वर भविष्य की ओर उन्मुख करना, पत्रकार का शीर्ष दायित्व होता है। इस दायित्व को पूरा करते, अज्ञेय ने पत्रकारिता के माध्यम से व्यक्तित्व की शक्तिमत्ता का और भारती ने व्यवहार-पाटव का प्रमाण दिया है। स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय पत्रकारिता विशिष्ट दायित्व को पूरा करने में, अपने मूल धर्म और विशिष्ट भूमिका को पूरा करने में एक अंश तक विफल सिद्ध हुई है। राजनीतिक और व्यावसायिक दबाव भी इसका बड़ा कारण है।

विपुल व्यावसायिक साधन-शक्ति से पत्र-पत्रिका का बाहरी आकर्षण बढ़ जाता है, लेकिन सम्पादक की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है, व्यक्तित्व टूट जाता है और वह 'एक खिंची हुई लकीर पर चलने को' विवश होता है। व्यावसायिक प्रलोभनों के कारण इस नियति को पत्रकार चुपचाप स्वीकार कर लेता है। भारती इस खतरे के प्रति सचेत थे जब उन्होंने 'धर्मयुग' में सम्पादक के रूप में प्रवेश किया। हाथी दांत की मीनार में प्रवेश कर वे निरापद जीवन जीने के आकांक्षी नहीं थे। अपने व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए लोकप्रिय पत्रकारिता में नये प्रयोग की महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर उन्होंने 'धर्मयुग' से सम्बन्ध जोड़ा था। चूँकि व्यावसायिक प्रतिष्ठान की रीति-नीति और अभाव-उपलब्धि को भारती अच्छी तरह समझते थे, अपने व्यक्तित्व और धर्म के प्रति सचेत थे, नये प्रयोग की अपनी महत्वाकांक्षा को समझते थे, इसलिए स्वयं उनके मन में यह आशंका थी, जिसे उन्होंने मराठी की सुप्रसिद्ध पत्रिका 'चित्रमय जगत्' द्वारा आयोजित विशेष परिचर्चा में स्वीकार किया है, ''प्रयाग विश्वविद्यालय में साहित्य की प्राध्यापकी छोड़ कर 'धर्मयुग' का सम्पादन ग्रहण करने बम्बई आया था, तब क्या यह सारी बातें मेरे सामने इतनी स्पष्ट थीं? नहीं, तब केवल एक धुंधला-सा सपना था इस बात का, और जिज्ञासा थी कि एक सार्थक, संस्कारपूर्ण साहित्यिक पत्रकारिता का लोकप्रिय प्रयोग करके देखा जाय। सफलता मिलेगी या नहीं, मिलेगी तो कहां तक मिलेगी, यह सब कुछ अज्ञात था लेकिन फिर भी चुनौती स्वीकार करने का साहस किया मैंने।''

''लेकिन रास्ता इतना आसान नहीं निकला। सभी के मन में आशंका थी, संशय थे और भ्रान्तियां थीं। आरम्भ में कुछ दिनों तक इस नये माध्यम से जूझना पड़ा। इसकी सीमाएं और सम्भावनाएं बहुत स्पष्ट नहीं हो पायीं। कुछ दिन तक पाठक-वर्ग नये परिवर्तनों का स्वागत करने में संकोचशील रहा, सर्कुलेशन स्थिर हो गया बल्कि एक-दो हजार गिर भी गया, लेकिन संचालकों ने धैर्य का परिचय दिया और कुछ नुकसान उठाते हुए भी सम्पादक के नये प्रयोग के प्रति सहानुभूति और समझदारी का रुख अपनाया और साल-डेढ़ साल में ही परिणाम दृष्टिगोचर होने लगा। फिर जो सर्कुलेशन बढ़ना शुरू हुआ तो हम सभी को एक सुखद आश्चर्य हुआ और सम्पादक को एक गौरव-भरा आत्मतोष कि साधारण पाठक

की सुरुचि में जो उसकी धुंधली-सी आस्था थी, वह सही सिद्ध हुई।"

असल में व्यावसायिक प्रतिष्ठान से जुड़ना महज इसलिए बुरा है कि पत्रकार व्यावसायिक प्रलोभनों के दबाव से उस व्यक्तित्व को गंवा बैठता है जिसकी ओर पराड़करजी ने संकेत किया है, और फिर गणेशशंकर विद्यार्थी की धारणा के मुताबिक वह 'खिंची हुई लकीर' पर चलने को विवश हो जाता है यानी पूरी तरह व्यक्तित्वहीन हो जाता है। दरअसल प्रश्न व्यक्तित्व का ही है। व्यक्तित्व-सम्पन्न सम्पादक, व्यावसायिक सुविधा-क्षमता का नियोजन अपने विवेक के अनुसार करता है। व्यावसायिक क्षमता ही नहीं, नीतियों को भी अपनी दृष्टि के अनुसार नवाता-झुकाता है। और जब ऐसा नहीं कर पाता और उसकी प्रातिभ स्वतंत्रता पर बाहरी दबाव और हस्तक्षेप हावी होने लग जाता है यानी उसके व्यक्तित्व को झुकाने की चेष्टा शुरू हो जाती है तो उसकी रक्षा के लिए वह उचित निर्णय लेता है। वैसा ही निर्णय जैसा बालमुकुन्द गुप्त ने 'हिन्दोस्तान' और 'हिन्दी-बंगवासी' से अपना संबंध समेट कर लिया था, अपने विवेक की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए। वैसा ही निर्णय धर्मवीर भारती और उनके मित्रों ने 'आलोचना' से अपना सम्बन्ध समेट कर लिया। 'कल्पना' के 'नवलेखन विशेषांक' में श्री ठाकुर प्रसाद सिंह ने स्वीकार किया है कि उनकी लेखकीय स्वंतत्रता को जब प्रतिबंधित करने की चेष्टा शुरू हुई तो सामने आजीविका का कोई सहारा न होते हुए भी उन्होंने 'सर्वोदय' पत्रिका के सम्पादकीय विभाग से अपने को अलग कर लिया। इस स्वातंत्र्य-सजगता का अभाव वहीं दिखाई देता है जहां प्रातिभ-शक्ति कमजोर होती है या प्रतिभा होती ही नहीं, प्रतिभा की छायामात्र होती है, और जहां अहंकार-औद्धत्य मुखर रहता है, जो अदना प्रलोभन के सामने शिथिल हो जाता है, संकट की घड़ी में कांप उठता है। प्रतिभा, आदेशों-निर्देशों पर नहीं चलती और न तो बड़े-से-बड़े प्रलोभन और बड़ी से बड़ी सत्ता के सामने झुकती है, मगर जो सुविधा के हर मौके पर सरासर झुके रहते हैं वे साहित्य संस्कृति की राह के राही नहीं है, गलत महत्त्वाकांक्षा के चलते यह राह पकड़ ली है। इस गलती के चलते भटकते रहना उनकी नियति है। वे बदनाम करते रहेंगे इस राह को अपनी भूल-भुलैया के चलते किन्तु अन्ततः इस भटकाव की पीड़ा उन्हें ही झेलनी पड़ेगी, राह उन्हें किनारे छोड़ कर आगे निकल जायेगी और वे हर हवा से तालमेल बैठाने में जूझते रह जायेंगे। भारती को दूसरे कारण से जूझना पड़ा है, गिरी लोकरुचि को उठाने के लिये, व्यावसायिक शक्ति को संस्कृति की राह पर नियोजित करने के लिए निःसंदेह उन्हें जूझना पड़ा है। और 'धर्मयुग' का स्तर प्रमाण है इस बात का कि भारती, हवा में मुक्का नहीं मारते रहे हैं। पराड़करजी की आशंका थी कि पत्र की विक्रय-संख्या लाखों में होगी, किन्तु उसमें सम्पादक का व्यक्तित्व न होगा। लाखों की संख्या में बिकने वाले 'धर्मयुग' के पीछे महज व्यावसायिक क्षमता नहीं, बल्कि उसका समुचित नियोजन करने वाले सम्पादक का कृती व्यक्तित्व है, जो 'धर्मयुग' के प्रत्येक अंक में मुखर है। यह मुखर है सामग्री-चयन-दक्षता और प्रस्तुति कला में।

आजाद देश के अंधकार काल-सरकारी आपात काल में 'धर्मयुग' के 'गणतंत्र-दिवस-अंक' में अक्षर-स्वातंत्र्य के प्रवक्ता लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, माखनलाल

चतुर्वेदी और गणेशशंकर विद्यार्थी के व्यक्तित्व और वैचारिक स्वकीयता को उजागर करने वाले लेख अधिकारी-व्यक्तियों से लिखवाना और अपनी पत्रिका में छापना, भारती की विचक्षण सूझ तथा साहसी चरित्र का परिचायक है। उस काल के शासनतंत्र के निरंकुश मिजाज को देखते, भारती की यह व्यवस्था परोक्ष प्रतिरोध की जोखिम-भरी व्यवस्था थी, मगर खतरों से खेलना 'धर्मयुग'- सम्पादक धर्मवीर भारती के चरित्र की नैसर्गिक पहचान थी। गणेश मंत्री जैसे विचक्षण सहयोगी[1] की 'धर्मयुग' के रूपायन में कृती भूमिका थी। देश-विदेश की राजनीति के प्रखर पारखी गणेश मंत्री के सम्पादन में 'धर्मयुग' का स्तर अस्खलित रहा।[2]

'प्रतीक' में अज्ञेय ने लिखा था, "तथ्य यह है कि इधर हिन्दी में सुदृढ़ व्यावसायिक आधारवाली साहित्यिक पत्रिकाएं, जिनकी व्यावसायिकता आदर्श विरोधी न हो पर जिनके पैर भूमि पर टिके हों और जिन्हें गगन-बिहार की कोई आकांक्षा न हो, नहीं के बराबर हैं।" ऐसी ही दुर्लभ साहित्यिक पत्रिका 'धर्मयुग' थी। व्यावसायिक आधारवाली इस सचित्र साप्ताहिक पत्रिका का वैचारिक, साहित्यिक और कलात्मक स्तर भारती के संपादन में वैसे ही उन्नत हुआ जैसे अज्ञेय की परिकल्पना और सम्पादन ने 'दिनमान' को लोकप्रिय और विशिष्ट साप्ताहिक संवाद-पत्रिका बनाया और यह धारणा गलत सिद्ध हुई कि व्यावसायिक प्रतिष्ठान पत्रकारिता के स्तर को गिराता ही है। सच्चाई यह है, जिसकी ओर पहले संकेत

---

१ (क) 'बड़ा सम्पादक हमारे यहां बहुधा बरगद का पेड़ होता है, जिसके तले कुछ उगता-पनपता नहीं, किन्तु डॉ. भारती ने गणेश से पत्रकारिता के रोजमर्रा के काम कराते हुए भी उसे अपने नाम से 'धर्मयुग' में लिखने और लेखक व राजनीति-विवेचक के रूप में अपनी छवि बनाने का पूरा अवसर दिया। उन्होंने गणेश की विद्वत्ता और लेखन-शक्ति का और एक छोटे से दौर में उसके राजनीतिक परिचयों का भी पूरा लाभ, धर्मयुग और उसके पाठकों को दिलाया। वह धर्मयुग का सर्वोत्तम काल था और उसमें गणेश ने अपने आयुष्य के सर्वोत्तम वर्ष और शक्ति का सर्वोत्तम अंश धर्मयुग को दिया।'

-नारायण दत्त

(प्रभात खबर, रांची, २२ नवम्बर, १९९८)

(ख) 'हमारे गणेश जी विद्यार्थी जी की परंपरा के वाहक थे और यह परंपरा भारतीय पत्रकारिता की एक निधि है। एक और बात, आज की पत्रकारिता का जगत एक वीभत्स व घिनौना जगत है, जिसमें पर-निंदा और तिकड़म का बोलबाला है। इस जगत में गणेशजी अजातशत्रु रहे। अपने आसपास के लोगों की समझ बढ़ाने, उन्हें संवेदनशील बनाने और युवा साथियों को अपने ज्ञान और अनुभव से समृद्ध करना ही उन्होंने अपना धर्म माना था। हमारे खयाल से एक बुद्धिजीवी का यही धर्म होता है।'

-अशोक सेकसरिया

(प्रभात खबर, रांची, २२ नवम्बर, १९९८)

२.'जिस दौर में गणेश धर्मयुग में आया तब कविता-कहानी-उपन्यास-नाटक यही औसत हिंदी पत्रकार की पढ़ाई की चौहद्दी समझी जाती थी। शास्त्राध्ययन को कुल मिलाकर हिन्दी पत्रकारिता में फैशन-विरुद्ध और सिरफिरे की निशानी ही समझा जाता था। गणेश इसका शानदार अपवाद बना रहा। इस चीज ने उसके लेखन को गहराई दी और पत्रकारीय लेखन की निरी सामयिकता से बचाया।'

-नारायण दत्त

(प्रभात खबर, रांची, २२ नवम्बर, १९९८)

किया गया है कि पत्रकारिता के आदर्श और स्तर में गिरावट आती है व्यक्तित्व के ह्रास से, इसलिए जैसा कि एक-दूसरे संदर्भ में अज्ञेय ने लिखा है, "मूलत: समस्या वही है: एक स्वाधीन व्यक्तित्व का निर्माण, विकास और रक्षण। लेखक को वह स्थिति और वातावरण खोजना और गढ़ना है जिसमें स्वाधीन व्यक्तित्व पनप सके, उन साधनों को बनाना और पाना है जिसके द्वारा यह अभिव्यक्त हो सके। उसे न समष्टि में विलीन हो जाना है, न निरे स्वच्छन्दतावाद में पलायित होना है, न सर्वसत्तावाद स्वीकार करना है, न सम्पूर्ण अराजकता।" इसी जागरूक भूमिका से भारती ने 'धर्मयुग' के माध्यम से पत्रकारिता सम्बन्धी नये प्रयोग की अपनी परिकल्पना को रूपायित किया। सम्पादक में व्यक्तित्व था, इसलिये व्यावसायिक पक्ष से कोई बाधा नहीं उठी, और व्यक्तित्व था इसीलिए नये प्रयोग की परिकल्पना थी, सत्य के समर्थन में चुनौती को आमंत्रित करने और उससे पंजा लड़ाने का साहस था।

दिनमान

टाइम्स आफ इंडिया से २१ फरवरी १९६५ को दिल्ली से सच्चिदानन्द वात्स्यायन के सम्पादन में साप्ताहिक संवाद-पत्रिका 'दिनमान' का प्रकाशन हुआ था। हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में 'दिनमान' का प्रकाशन एक नया प्रयोग था। देश और दुनिया की बात हिन्दी भाषी समाज के आम आदमी तक पहुंचाने के संकल्प से अज्ञेय ने 'दिनमान' का सम्पादन-दायित्व स्वीकार किया था। इसके पूर्व 'विशाल भारत' और 'प्रतीक' के कृती सम्पादक के रूप में अज्ञेय की स्वकीय प्रातिभ-पहचान हिन्दी जगत् में प्रतिष्ठित हो गयी थी।

'दिनमान' के प्रकाशन का राजनेताओं और साहित्यकारों की दुनिया ने समान रूप से स्वागत किया था।[१] अज्ञेय के इस नये प्रयोग से हिन्दी की शक्तिमत्ता का सहज ही उद्घाटन हुआ था। सम्पादक की प्रातिभ सूझ ने व्यावसायिक घराने के साधन का नियोजन ऐसी रचनात्मक जागरूकता से किया था कि हिन्दी के संदर्भ में उस सर्वथा नवीन प्रयोग का स्वगत हर वर्ग के पाठकों ने किया था। साहित्य और पत्रकारिता की स्वायत्तता को वरीयता देने वाला कृती सम्पादक ही पैसे की प्रभुता के सामने नमित नहीं होता और अपने प्रातिभ व्यक्तित्व से पूंजीतंत्र को लोकमंगल में नियोजित कर पाता है। अपनी नैसर्गिक मनस्विता,

१. (क) 'दिनमान' 'सही' दिशा में हमारे लिये कल्याणकारी हो, यही कामना है - मैथिलीशरण गुप्त
(ख) 'अज्ञेय' का नाम साहित्य में सुरुचि, शालीनता, नवीनता और प्रौढ़ि का वाचक समझा जाता है। मुझे पूरा विश्वास है कि उनकी सम्पादकता में निकलनेवाला 'दिनमान' दिनमान के ही समान प्रतापी और जाज्वल्यमान होगा- रामधारी सिंह 'दिनकर'।
(ग) 'दिनमान' हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में एक नया और मौलिक व्यक्तित्व लेकर आया है इसका आभास उसके प्राय: सभी पाठकों को होगा। मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई है कि उसकी सामग्री सुगठित साथ ही सुपाठ्य रूप में प्रस्तुत की गयी है। आपके सम्पादकत्व में उन्नति हो सकेगी इसका मुझे विश्वास है।
-हरिवंश राय बच्चन
(घ) 'यह बात निर्विवाद है कि हमारे देश में ऐसे असंख्य लोग हैं जो राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय गतिविधियों का दर्शन और दिग्दर्शन किसी अन्य भाषा की अपेक्षा हिन्दी के माध्यम से अधिक आसानी से ग्रहण कर सकते हैं। इस दृष्टि से मैं 'दिनमान' का स्वागत करता हूं और इसकी सफलता की कामना करता हूं।
—मोहम्मद अली करीम चागला, शिक्षा-मंत्री, भारत-सरकार

विरल प्रतिभा और विवेक-स्वातंत्र्य का प्रमाण सच्चिदानन्द वात्स्यायन अज्ञेय ने 'दिनमान' के सम्पादन द्वारा दिया था। स्मरणीय तथ्य है कि अज्ञेय हिन्दी के विरल रचनाकार थे जिन पर राजतंत्र और पूंजी-प्रभुत्व का आतंक कभी किसी रूप में नहीं चढ़ सका, और तभी वे ऐतिहासिक महत्व के प्रयोग करने में सदा कृतकार्य हुए। स्वदेशी संस्कार और हिन्दी-स्वाभिमान के प्रति अतिशय संवेदनशील अज्ञेय ने अंग्रेजी और अंग्रेजियत को अनावश्यक महत्त्व नहीं दिया। और तथ्य है कि उनकी मनस्वी साधना ने हिन्दी के स्वाभिमान को उन्नत किया। विश्व-संवेदना से जुड़े उनके विवेक की भारतीय पक्षधरता को, दुर्भाग्यवश कुटिल कौशल से, प्राय: अनदेखा किया जाता रहा है, मगर उनके प्रातिभ प्रयोग की महत्ता स्वीकार करने को इतिहास निरुपाय रहा है।

'दिनमान' मुख्यत: सामयिक समस्या-संवाद पर केन्द्रित होते हुए साहित्यिक-सांस्कृतिक परिदृश्य के प्रति संवेदनशील था। 'तार सप्तक' के कवि भारतभूषण अग्रवाल का पत्र हिन्दी-भाषी समाज के प्रबुद्ध वर्ग की भावना को प्रकट करता है, "इधर कई वर्षों से मैं इस बात से बड़ा चिन्तित रहा हूं कि मैंने अपने बच्चों को अंग्रेजी नहीं पढ़ाई, और हिन्दी में सही सामग्री के अभाव के कारण उनके सामान्य ज्ञान का स्तर असंतोषजनक ही बना रहा।

(ङ) 'मुझे आशा है कि ठोस सामग्री से सम्पन्न और ऊंचे स्तर की सचित्र साप्ताहिक पत्रिका देश और विदेश की जनता में हिन्दी-भाषा सीखने की प्रवृत्ति को जगाने, और उसके प्रति अनुराग को बढ़ाने में सहायक सिद्ध होगी।'

'वात्स्यायनजी हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित रचनाकार हैं। मुझे आशा है कि उनके निर्देशन में यह पत्रिका, भारतीय पत्रकारिता के क्षेत्र में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर सकेगी — ' इन्दिरा गांधी, सूचना एवं प्रसार मंत्री

(च) 'दिनमान' टाइम्स आफ इंडिया संगठन द्वारा प्रकाशित और आपके द्वारा सम्पादित हो रहा है, यह इस बात की गारंटी है कि पत्र अपने नाम के अनुरूप ही होगा और पत्रकारिता के क्षेत्र में एक नये कीर्तिमान की स्थापना करेगा। पत्र के उज्ज्वल भविष्य के लिये मेरी मंगल कामनाएं स्वीकार करें — अटल बिहारी वाजपेयी।

(छ) समाचार पत्र सदैव सम्पादक के विचारों का द्योतक और उनके व्यक्तित्व का प्रतीक होता है। मुझे पूरी आशा है कि आपकी तरह 'दिनमान' भी निर्भीकता के साथ देशभक्ति, नैतिकता और एकीकरण की पताका को ऊंचा उठाकर राष्ट्रीय विकास के महान कार्य में सहायक होगा।- महावीर त्यागी, पुनर्वास मंत्री, भारत सरकार।

(ज) 'दिनमान' की पहली किरण में नहा चुका हूँ।.... 'जय हो- जय हो' मन में गूंज रहा है।.... हमें अभिमान करने का मौका मिला — फणीश्वरनाथ रेणु, पटना।

(झ) इस पत्र ने कम से कम मेरा यह विश्वास बढ़ा दिया है कि यदि जागरूक साहित्यकार प्रयत्न करें तो हिन्दी भाषा और उसका साहित्य विश्व की भाषाओं और साहित्यों के बीच उच्च स्थान के अधिकारी हो सकते हैं — डॉ. भगीरथ मिश्र, पूना।

(ञ) आपने अनेक प्रकार के उद्वेलनों और आंदोलनों के बीच उठती-गिरती, भागती-दौड़ती जीवन धारा को बड़े समय सतर्कता, सहजता और सफाई के साथ हिन्दी माध्यम से व्यक्त करके हिन्दी की व्यावहारिक क्षमता के प्रति अविश्वास व्यक्त करने वालों की चुनौती स्वीकार करके एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है। गोरखपुर की हिन्दी-प्रेमी जनता की ओर से मैं 'दिनमान' का अभिनन्दन करता हूँ। — रामचन्द्र तिवारी, गोरखपुर विश्व विद्यालय, गोरखपुर।

अब मुझे पूरी आशा है कि आपके पत्न से वे देश-विदेश की गतिविधि का सम्यक् परिचय पाते रहेंगे। मेरे बच्चे ही क्यों, एक पूरी पीढ़ी आपके इस प्रयास से अनुगृहीत होगी, यह मैं जानता हूं।

"मुझे सबसे बड़ा संतोष इस बात का है कि आखिरकार हिन्दी में एक ऐसा पत्न प्रकाशित हुआ जिसका मुंह भविष्य की ओर है और पीठ अतीत की ओर।" अतीत के अन्त:स्पन्दन के अचूक पारखी अज्ञेय, विरासत की रोशनी की प्रासंगिता को सटीक कोण से समझते थे, और उसे भविष्योन्मुख करने की राह रचने का उनमें प्रातिभ कौशल था।

अज्ञेय और 'दिनमान' के सम्पादन सहयोगी (मनोहरश्याम जोशी, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, श्रीकांत वर्मा और रघुवीरसहाय) मूलत: विशिष्ट रचनाकार थे, इसलिये 'दिनमान' में सूखा संवाद नहीं, सर्जनशीलता की दीप्ति थी। संवाददाताओं की रपट और समय के ज्वलन्त प्रश्नों पर केन्द्रित टिप्पणियां भी, सामान्य से भिन्न सर्जनशील प्रकृति की होती थीं। शुरू से ही अज्ञेय में यह विवेक बहुत प्रखर रहा है कि रचनात्मक पथ पर अपना सहयात्नी किसे बनाया जाय, और पत्निका के लिये किस समस्या और विषय को उपजीव्य बनाया जाय तथा किस विषय पर किससे लिखवाया जाय? बिहार के त्नासद सूखे पर फणीश्वरनाथ रेणु से और प्रयाग के कुंभ पर निर्मल वर्मा से अज्ञेय ने 'दिनमान' के लिये मार्मिक रिपोर्ताज लिखवाया था। इसी जागरूक विवेक से अपनी अनुज पीढ़ी को सहचर बनाकर पथ की विहित-विधि का अपेक्षित प्रशिक्षण देना अज्ञेय के निजी अनुशासन का मूल्यवान कोण था। और ऐतिहासिक साक्ष्य है कि साहित्य और पत्नकारिता में अज्ञेय के प्रशिक्षण-प्रोत्साहन से एक सर्जनशील पीढ़ी तैयार हुई, जिसने रचना और पत्नकारिता के क्षेत्न में कीर्तिमान रचा और इस प्रकार अपने कृती व्यक्तित्व का प्रमाण दिया।

'दिनमान' और दैनिक 'नवभारत टाइम्स' के सम्पादन द्वारा अज्ञेय ने संवाद-भाषा का प्रतिमान रचा। भाषा में अनवधानता उन्हें सह्य नहीं थी। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी लिखावटों में पुन: पुन: चिन्ता प्रकट की है।

'दिनमान' के सम्पादकीय लेख देश और दुनिया के ज्वलंत विषय पर केन्द्रित होते थे। विचार का कोण सर्जनशील साहित्यकार का होता था, सामान्य पत्नकार का नहीं। 'दिनमान' के सम्पादकीय वक्तव्य सम्पादक सच्चिदानन्द वात्स्यायन के प्रखर समय-बोध और संस्कृति संसक्त मानस के प्रमाण हैं। 'दिनमान' के रूपायन में अज्ञेय के संस्कृति-सचेत मन की ही प्रधान भूमिका रही है। समाजनीति और राजनीति जैसा ही महत्व था 'दिनमान' में साहित्य और ललित कला की विभिन्न सरणियों का। 'दिनमान' की पूरी परिकल्पना के मूल में हिन्दी भाषी समाज के संस्कार-उन्नयन की सम्पादकीय चिन्ता मुखर है। यह महत् जातीय चिन्ता राजस्थानी पूंजी प्रतिष्ठान के समृद्ध साधन द्वारा अज्ञेय के विचक्षण सम्पादन-कौशल से रूपायित हुई। उस सम्पादन-परम्परा को अज्ञेय के बाद रघुवीर सहाय ने क्रियाशील रखा।

स्वाधीन भारत में हिन्दी पत्रकारिता के पितामह पं. बाबूराव विष्णु पराड़कर की सम्पादकीय भूमिका दैनिक 'आज' में सक्रिय थी, और 'आज' की प्रतिष्ठा सम्पूर्ण हिन्दी जगत् में दैनिक

पत्र के रूप में सर्वश्रेष्ठ थी। इसी प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर 'दैनिक हिन्दुस्तान', नवभारत टाइम्स और 'जनसत्ता' आजाद देश के श्रेष्ठ दैनिक पत्र के रूप में सम्मानित पत्र रहे हैं।[१] राजस्थान और दूसरे प्रदेश से राजस्थानी उद्योग से कई दैनिक पत्र स्वाधीन भारत में प्रकाशित हुए, पर 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के 'हिन्दुस्तान', 'टाइम्स आफ इंडिया ग्रुप' के 'नवभारत टाइम्स' और 'इंडियन एक्सप्रेस ग्रुप' के 'जनसत्ता', जयपुर से निकलने वाले 'राजस्थान-पत्रिका' की श्रेष्ठ दैनिक पत्र के रूप में राष्ट्रीय लोकप्रियता रही है। 'हिन्दुस्तान' की राष्ट्रीय भूमिका स्वतंत्रता-संग्राम-काल में भी महत्त्वपूर्ण थी। 'नवभारत टाइम्स' को अक्षयचन्द्र जैन, राजेन्द्र माथुर, अज्ञेय और विद्यानिवास मिश्र जैसे कृती सम्पादक का प्रातिभ स्पर्श मिला है। दैनिक पत्रों की साप्ताहिक-सांस्कृतिक भूमिका भी महत्वपूर्ण होती है। 'आज' और 'भारत' की महत्त्वपूर्ण भूमिका को इतिहास श्लाघा के साथ स्मरण करता है। 'हिन्दुस्तान', 'नवभारत टाइम्स', 'जनसत्ता' और 'राजस्थान-पत्रिका' साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रयोजन के प्रति संवेदनशील रहे हैं। स्वाधीन भारत के अंधकार काल-आपातकाल-में रामनाथ गोयनका के 'इंडियन एक्सप्रेस ग्रुप' की भूमिका सबसे महत्त्वपूर्ण रही है। श्री प्रभाष जोशी के सम्पादन से 'जनसत्ता' देश का लोकप्रिय हिन्दी दैनिक बना। राष्ट्रीय पत्रों में उसका विशिष्ट स्थान है। राजनीति और साहित्य की दुनिया के अग्रणी लोगों से प्रभाष जोशी का व्यापक सम्पर्क रहा है। 'जनसत्ता' का स्तर उन्नत करने में प्रभाष जोशी ने अपनी सम्पर्क-सम्पदा से अपेक्षित लाभ उठाया। उनके भाषा-प्रयोग के प्रति एक प्रबुद्ध वर्ग की अन्यथा धारणा जरूर रही है।

सन् १९६० के पूर्व-पश्चात् लघु पत्रिका-आन्दोलन पूंजीपति-प्रतिष्ठान की पत्र-पत्रिकाओं के प्रतिपक्ष के रूप में शुरू हुआ था। राजस्थानी मानस भी इस प्रतिरोधी आन्दोलन के प्रति संवेदनशील था। राजस्थान और देश के दूसरे स्थानों से राजस्थानियों के उद्योग से अनेक पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। अजमेर की 'लहर', बीकानेर की पत्रिका 'वातायन' और कलकत्ते की शरद देवड़ा की 'अणिमा' विशिष्ट लघु पत्रिका के रूप में पूरे देश में चर्चित रही। इसी प्रकार 'बिन्दु' और 'अकथ' राष्ट्रीय परिचिति की राजस्थान की लघु पत्रिकायें हैं।

---

१. 'दैनिक हिन्दुस्तान' (दिल्ली, १२ अप्रैल, १९३६), 'नवभारत टाइम्स' (दिल्ली ४ अप्रैल, १९४७), 'जनसत्ता' (१९८३), 'राजस्थान पत्रिका' (जयपुर, ९ मार्च १९५६), के रविवासरीय अंक साहित्यिक-सांस्कृतिक सामग्री से सम्पन्न होते हैं। इस जरूरी पक्ष के प्रति पहले के दैनिक अपेक्षाकृत संवेदनशील थे। दैनिक हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय भूमिका १९४२ के 'भारत छोड़ो आन्दोलन'-काल में जातीय संस्कार-निष्ठा की आभा से दीप्त थी। सम्प्रति राजस्थान और प्रवासी राजस्थानियों के उद्योग से दूसरे स्थानों से कई दैनिक पत्र निकल रहे हैं। कलकत्ते के 'सन्मार्ग', 'छपते-छपते' प्रमुख दैनिक हैं, 'जनसत्ता' के अलावा, जिनके उद्योक्ता राजस्थानी ही हैं। इसी प्रकार रांची से 'रांची-एक्सप्रेस' और 'प्रभात खबर' के उद्योक्ता राजस्थानी हैं। श्री हरिवंश की सम्पादन-दक्षता ने 'प्रभात खबर' को पूर्वी भारत के श्रेष्ठ दैनिक पत्र के रूप में प्रतिष्ठित किया है। राजस्थान (जयपुर से) से प्रकाशित 'राजस्थान पत्रिका' राजस्थान का सर्वाधिक लोकप्रिय दैनिक है, जिसकी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा है। 'राजस्थान पत्रिका' के अलावा राजस्थान के विभिन्न स्थानों से, और दूसरे प्रदेशों से राजस्थानी उद्योग से अनेक स्तरीय दैनिक पत्र आज प्रकाशित हो रहे हैं।

जयपुर से यशदेव शल्य और मुकुन्द लाठ के सम्पादन में दर्शन की महत्त्वपूर्ण त्रैमासिक पत्रिका 'उन्मीलन' का प्रकाशन होता है। इसी प्रकार कलकत्ता की मासिक पत्रिका-'वागर्थ' और 'बात सामयिकी' राजस्थानी संस्थान से निकलने वाली स्तरीय साहित्यिक पत्रिकायें हैं। सम्प्रति साहित्यिक हिन्दी पत्रिकाओं में 'वागर्थ' सर्वाधिक लोकप्रिय पत्रिका है।

हेतु और उपलब्धि

निष्कर्ष

पत्रकारिता विषयक राजस्थानी भूमिका के देशव्यापी परिदृश्य की पड़ताल से निष्कर्ष-तथ्य स्पष्ट होता है कि पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के कई हेतु थे। राजस्थान और दूसरे प्रदेशों के विभिन्न नगरों से राजस्थानियों ने भिन्न-भिन्न उद्देश्य से अनेक पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित कीं। छोटी-बड़ी बिरादरी के कुसंस्कार-मोचन, सम्यक् विकास के विकट प्रत्यूह के रूप में दीर्घकाल से जीवन का अंग बन कर साथ-साथ यात्रा करने वाले कुरीति-कलुष के प्रक्षालन, धर्म-प्रचार, सांस्कृतिक विरासत का बोध-जागरण, राजसत्ता के अन्याय-अनौचित्य का प्रतिरोध और देश की अस्मिता को साम्राज्यशाही अभिशाप से मुक्त करने की बलवती अभीप्सा पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन की मूल प्रेरणा रही है, और स्वाधीन देश में व्यावसायिक प्रयोजन भी पत्रकारिता से जुड़ा एक बड़ा प्रयोजन रहा है किन्तु सारे प्रयोजन का विधायक परिणाम, समाज, देश-दशा, भाषा, साहित्य और संस्कृति के सन्दर्भ में विशिष्ट रहा है। धार्मिक मनोभाव और उद्देश्य से प्रकाशित 'कल्याण' हो अथवा व्यावसायिक प्रतिष्ठान से प्रकाशित पत्र-पत्रिकायें, हिन्दी-भाषी बड़े समूह को सीधे संबोधित करने वाली पत्रिकायें थीं, जो संवेदना के विकास और भाषा-संस्कार के उत्थान के मूल्यवान हेतु सिद्ध हुई हैं। राजस्थानी उद्योग का यह उपलब्धि-पक्ष है।

बंगाल से शुरू होकर पत्रकारिता की यात्रा जातीय अस्मिता का जागरण-मंत्र लेकर देश के दूसरे प्रदेशों में शिक्षा के साथ पहुँची। आधुनिक शिक्षा का प्रवेश राजस्थान में चूंकि किंचित् विलम्ब से हुआ, इसलिए पत्रकारिता को वहां विलम्ब से प्रवेश मिला। उन्नीसवीं शताब्दी में पत्रकारिता के क्षेत्र में राजस्थान और राजस्थानी उद्योग से विशेष उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ। महर्षि दयानन्द सरस्वती और स्वामी विवेकानन्द की प्रचेष्टा से राजस्थान में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की जमीन तैयार हो चली थी। नवजागरण के इन शीर्ष नायकों ने राजतंत्र को दायित्व-सचेत करते लोक-मानस में आधुनिक ज्ञान-ज्योति जगाने की भूमिका रच दी थी। प्राच्य विद्या के अध्ययन-अनुशीलन की प्रवृत्ति का विधायक परिणाम था कि समृद्ध सांस्कृतिक विरासत का बोध जातीय अस्मिता-चेतना को प्रखरतर करने लगा था। स्वामी दयानन्द सरस्वती की प्रेरणा का सुफल था कि श्यामजी कृष्ण वर्मा और स्वामी जी के दूसरे प्रबुद्ध भक्तों ने राजस्थान में नवजागरण और आधुनिक चेतना के विकास की पुष्ट भित्ति रच दी थी। 'आर्य समाज' के तत्त्वावधान में अजमेर और दूसरे स्थानों से संस्कार-उन्नयन के उद्देश्य से पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हो गया था।

आदि-पर्व के अधिकांश पत्र देशी राजाओं के संरक्षण में प्रकाशित हुए, जिनका उद्देश्य राज्य और प्रशासन के पक्ष की विज्ञप्ति सामान्य-जन तक पहुँचाना था। जयपुर, उदयपुर, भरतपुर, बूंदी, अजमेर इत्यादि से कई पत्रिकायें प्रकाशित हुईं जिनसे पत्रकारिता का सही स्वरूप नहीं प्रकट होता। १८८२ में अजमेर से 'राजपूताना-गजट' का प्रकाशन पत्रकारिता में नया प्रस्थान था। प्रशासकीय अनौचित्य के प्रतिरोध के अपराध में संपादक को शासक

विद्यार्थि सम्मिलित.

हरिश्चंद्र चंद्रिका और मोहन चंद्रिका.

[illegible]
[illegible]

॥ कविजन कुमुदगन हिय विकासि चकोर रसिकन सुख भरै ॥
॥ प्रेमिन सुधा सों सींचि भारत भूमि आलस तम हरै ॥
॥ उद्यम सुओषधि पोखि विरहिन तापि खल चोरन दरै ॥
॥ हरिचन्द मोहन चन्द्रिका परिकास जग मंगल करै ॥

कला ८] उदयपुर, चैत्र, संवत १९३८ [किरण १.

वर्षोत्सव.

[illegible]



टेश्वर

THE SHREE VENKATESHWAR

स्वराज्य की व्याख्या.

हिन्दी नवजीवन

सम्पादक—मोहनदास करमचंद गांधी

वर्ष १ | अहमदाबाद—भाद्रपद कृष्ण १ संवत् १९७८ | अंक १

गुरुवार, तारीख १९ अगस्त, १९२१ ई०

हिन्दी-नवजीवन

यद्यपि मुझे मालूम है कि "नवजीवन" को हिन्दी में प्रकाशित करना कठिन काम है तथापि मित्रों के आग्रह होकर और साथियों के उत्साह से "नवजीवन" का हिन्दी अनुवाद निकालने की सूचना मैं करता हूं। मेरे विचार पर मेरा प्रेम है। मेरा विश्वास है कि उसके अनुसरण से जनता को लाभ है। इस लिए उसको हिन्दी में प्रकट करने की इच्छा मुझे बहुत समय से थी। परन्तु आजतक प्रयत्नवाने उसे सफल नहीं किया था। हिन्दुस्तानी को भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा बनाने का प्रयत्न मैं हमेशा करता आता हूं। हिन्दुस्तानी के सिवा दूसरी भाषा राष्ट्र-भाषा नहीं हो सकती। इस में कुछ भी शक नहीं। जिस भाषा को करोड़ों हिन्दू-मुसलमान बोल सकते हैं वही अखिल भारतवर्ष की सामान्य भाषा हो सकती है, और उसमें जबतक "नवजीवन" न निकाला गया तबतक मुझे दुःख था।

हिन्दुस्तानी-भाषानुरागी "हिन्दी-नवजीवन" में उत्तम प्रकारकी हिन्दी की आशा न रक्खें। "नवजीवन" और "यंग इंडिया" का अनुवाद ही उसमें दिया जायगा। मुझे न तो इतना समय है कि हमेशा हिन्दुस्तानी में लेख आदि लिख कर दे सकूं और न बहुत हिन्दुस्तानी लिखने की शक्ति ही मुझ में है।

"हिन्दुस्तानी-भाषा का प्रचार" इस साहस का मुख्य हेतु नहीं है। "शान्तिमय अ-सहयोग का प्रचार" ही इस का उद्देश समझना चाहिए। हिन्दुस्तानी भाषा जानने वाले जबतक अ-सहयोग और शान्ति के सिद्धान्त नहीं जानेंगे [illegible] तबतक शान्तिमय अ-सहयोग की सफलता मुश्किल सी है। इस लिए "हिन्दी-नवजीवन" की आवश्यकता थी। परमात्मा से प्रार्थना है कि जो लोग [illegible] हिन्दुस्तानी का उपयोग है वहां "हिन्दी नवजीवन" सफल हो।

मोहनदास करमचन्द गांधी

टिप्पणियां।

शान्तिका सामर्थ्य

मैं जगह जगह देखता हूं कि जहां लोगों ने शान्ति की महिमा को ठीक ठीक समझ लिया है वहां वे बहुत आगे बढ़ गये हैं। जो शान्ति भय और कमजोरी के कारण धारण की जाती है वह शान्ति नहीं है। सच्ची शान्ति तो वही हो सकती है जिसमें [illegible] हो। जिस प्रकार हमें अंग्रेजों के [illegible] शान्ति [illegible] है उसी प्रकार हमें [illegible] सरकारी कर्मचारियों, [illegible] और पुलिस के [illegible] [illegible] ने मुझसे पूछा [illegible] शान्ति का [illegible] [illegible] पस में भी ? [illegible] यदि हम [illegible] भी हार [illegible] रखता है, [illegible] प्रहार [illegible] [illegible] होना चाहिए। [illegible]

मारवाड़ी-सुधार ❀

सचित्र

मासिक पत्र

वर्ष १

संवत् १९७८ चैत्र—फाल्गुन

अङ्क १—१२



सम्पादक

"हिन्दी-भूषण"

श्रीयुत शिवपूजन सहाय



प्रकाशक

[illegible]

मारवाड़ी-सुधार-समिति, आरा (बिहार)

(ARRAH—E. I. R.)

[illegible]



खण्ड १ } ❀ दीपावली १९७८ वि० ❀ { संख्या १

सन् १९२१

शुभाभिलाष

—

साहित्याचार्य पं० रामप्रसाद पाण्डेय, 'विशारद'

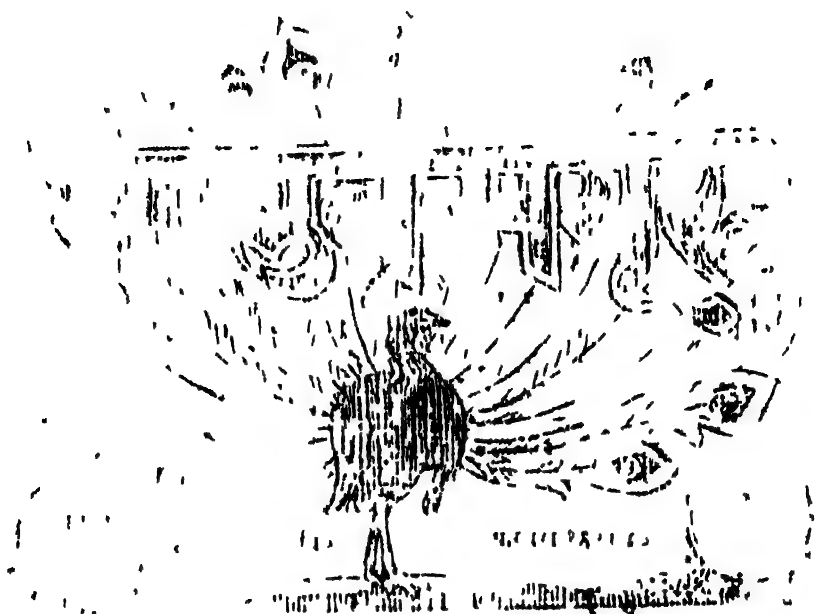
कान्त्या काञ्चन सन्निभा, करयुगे पद्मद्वयं बिभ्रती ।

मत्तेभेन्द्र करे सुधारस, [illegible] ॥

पद्मा पद्मनिभानना, सुविकसत्[illegible] भास्वरा ।

[illegible], सर्वं करोतु सुधा ॥

—[illegible]



|| श्री ||

राजस्थान

[illegible] हिंदी मासिक पत्र.

[illegible] दानको, [illegible] को समाजधन [illegible]
[illegible] मर्जीवन, [illegible] जन।
[illegible] सहकार, [illegible]
[illegible] राजस्थान ॥

विक्रमी सं० १९८२, अक्टोबर सन १९२५ | संख्या १

"दानशीलता"

[illegible] की आवश्यकता है। [illegible] [illegible] के अध्या- [illegible] और कहा कि आपको [illegible] सलाह [illegible] दानवीरोंके देनेकी और उन्हें [illegible] यह मानलेनेका कोई कारण नहीं है [illegible] है। मारवाड़ी भाई सदा गोरक्षक [illegible] है। परन्तु उसमें हमेशा [illegible] नहीं किया जाता। यदि गोरक्षाकी संभावना [illegible] वह है मारवाड़ी भाइयोंके साहस से। क्योंकि [illegible] द्रव्यका और व्यापारिक बुद्धिका प्रश्न है। ये दोनों उनके पास है। यदि विवेक-पूर्वक उसका उपयोग हो तो उन के हाथों [illegible] [illegible] यथार्थ में गोरक्षा होगी। (महात्मा गांधी)

श्री [illegible]

वर्ष १

श्रावण कृष्ण ११ संवत् १९८३

अगस्त १९२६

संख्या १

कल्याण।

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और धर्म सम्बन्धी मासिक पत्र.

[illegible] ।

[illegible] ॥

[illegible] ।

[illegible] हरिः ॥

वार्षिक मूल्य ४)

विदेशोंके लिये ५॥)

एक संख्या [illegible]

विदेशोंके लिये [illegible]

[illegible]



(राजस्थान की जीवन, जागृति, बल और बलिदान की पत्रिका)

आत्म-समर्पण होम जहाँ, जहाँ विशुद्ध बलिदान ।
मर मिटने की साध जहाँ, वहाँ है श्रीभगवान ॥

खण्ड १ | सस्ता-साहित्य मण्डल अजमेर। | विजयादशमी
अंक १ | | संवत १९[illegible]

झोली भर दें !

हे ब्रह्मचर्य व्रत के पालक हे ! तरुण तपस्वी [illegible] उठो !
हे ज्ञान मार्ग के अथक पथिक ! हे अचल मनस्वी, उठो [illegible] !
हे ब्रह्म [illegible] की सजग रश्मि ! हे दिव्य नेत्र की शुभ्र प्रभा
हे माता के मन मानस की सुन्दर-मर्म [illegible] सुधा

(२)

अब आओ, जीवन-यज्ञ रचा हम परम पूर्णता प्राप्त करें !
निज सुभग सरोरुह के सौरभ से सकल सृष्टि सुरभित कर दें
हां, अन्तस्तल का अन्तिम कण तक मातृ-चरण अर्पण कर दें !
वह अमर भिखारी द्वार खड़ा है, उसकी भी झोली भर दें ।

नेति-नेति

राजस्थान

संपादक

प्रोफेसर रामलोचन शर्म्मा

एम. ए.

RĀJASTHĀN

EDITOR

PROF RAMLOCHAN SHARMA

M.A.

प्रकाशक

मंत्री: राजस्थान रिसर्च सोसायटी

कलकत्ता

राजस्थान

वर्ष १] अक्षय तृतीया सं० [illegible] [संख्या १

मंगलाचरण

[स्वर्गीय रामनाथजी कविया, अलवर]

बड़कै डाढ़ वराह, [illegible] ।
धड़कै नाग धराह, [illegible] ।
करनल किनियाणीह, [illegible] ।
आ[illegible] मन आणीह, [illegible] ।
विषम [illegible] नई ।
शरणाई [illegible] करनला ।
सुणियां शाद [illegible] ।
जगदंब इळ ज्यूं जेज, करी इती तैं करनला ।।
देवी [illegible] देशाणेह, धर थोकाणै तूं धणी ।
[illegible] ओपाणेह, मानीजै मेहासदू ।।

मारवाड़ी

वर्ष १] जनवरी, १९३६ [संख्या १

मंगलाचरण

(स्वर्गीय जगाजी खिड़िया)

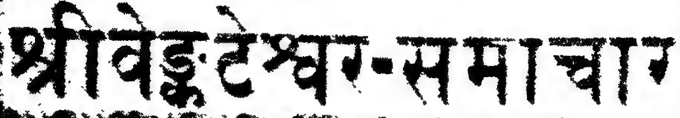
छप्पय

परमेसर पद्धरै होवै आणन्द घणांई ।
परमेसर पद्धरै कदे नहिं चिन्ता कांई ॥
परमेसर पद्धरै दुख तिस भूख न आवै ।
परमेसर पद्धरै आठ सिध नव निध पावै ॥
कवि जगा राखि दृढ़ जीव कर, मिटै न लेख करम्मरो ॥
मह दीह सबै ही पद्धरै, ज्यां परमेसर पद्धरो ॥

(२)

राम भरोसो राखि थप्यो संकर अविनासी ।
राम भरोसो राखि लंक बभीखण वासी ॥

श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार







श्रीवेङ्क

THE WEEKLY

SHRI VENKAT

राष्ट्रीय झण्डे की महान विजय





वर्ष १]   हैदराबाद दक्षिण, अगस्त, १९४९   [अंक १

सम्पादकीय—

"कल्पना" का प्रथम अंक पाठकों के सामने है। इसके गुण-दोषों का विवेचन, और उसकी उपादेयता अथवा निस्सारता का निर्णय तो सहृदय पाठक ही करेंगे। हम केवल इतना निवेदन कर देना चाहते हैं कि "कल्पना" हिन्दी पत्रिकाओं की संख्या में वृद्धि, अथवा ग्राहकों का मनोरंजन करके धनोपार्जन करने के उद्देश्य से नहीं निकाली गई है। उसके प्रकाशक तथा सम्पादकों का एकमात्र ध्येय हिन्दी के स्तर को उन्नत करना है। हिन्दी-भाषियों की संख्या के आधार पर संसार की भाषाओं में हिन्दी का स्थान दूसरा या तीसरा है, किन्तु साहित्यिक विकास की दृष्टि से हिन्दी को संसार की प्रमुख भाषाओं में स्थान देना ही कठिन है, यहाँतक कि, एक दो भारतीय भाषायें भी हिन्दी से कुछ आगे ही हैं। बात साधारण है, प्रतिदिन कही जाती है, बार-बार कही जाती है किन्तु उपेक्षणीय नहीं है। और न स्तर को उन्नत करना सरल है, यद्यपि यह लक्ष्य भी सामान्य ही प्रतीत होता है। "कल्पना" के संपादक इस लक्ष्य तक पहुंचने के लिये, हिन्दी को उसके महत्त्व के अनुरूप विकसित तथा उन्नत बनाने के लिये, भरसक प्रयत्न करेंगे भले ही अन्य प्रकार की हानियां हों।

इस प्रयत्न की सफलता अधिकांश में कवियों और लेखकों पर निर्भर है। किन्तु उच्चतर श्रेणी के कवियों और लेखकों का सहयोग सुलभ नहीं, विशेष कर "कल्पना" जैसी नवजात



का कोपभाजन बनना पड़ा था। इसी प्रकार महर्षि दयानन्द के विचार-प्रवक्ता के रूप में अजमेर से १८८९ में 'राजस्थान-समाचार' का प्रकाशन एक उल्लेखनीय घटना है। बाद में अजमेर और दूसरे स्थानों से आर्य-समाज और जैन-धर्म की कई पत्रिकायें प्रकाशित हुईं। बम्बई से सन् १८९६ में 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' का प्रकाशन, राजस्थानी उद्योग से जुड़ी एक ऐतिहासिक घटना है। पूर्ववर्ती पृष्ठों में संकेत दिया गया है कि 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' के उद्योक्ता खेमराज बजाज ने पं. अमृतलाल चक्रवर्ती, पं. रुद्रदत्त शर्मा और पं. लज्जाराम शर्मा-जैसे हिन्दी के पांक्तेय सम्पादकों को संपादन-दायित्व सौंप कर अपने जागरूक विवेक का प्रमाण दिया था और उनकी उस विचक्षण व्यवस्था का ही सुफल था कि 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' अपने समय का पूरे देश में चर्चित पत्र था।

यह एक रोचक और किंचित् विलक्षण लगने वाला प्रेरक प्रसंग है कि राजस्थानी उपक्रम की जातीय महत्ता उन पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से उजागर हुई जो राजस्थान से नहीं, देश के दूसरे क्षेत्र से प्रकाशित हुईं। राष्ट्रीय चरित्र की अनेक महत्त्वपूर्ण पत्र-पत्रिकायें भिन्न-भिन्न नगरों से प्रकाशित हुईं बीसवीं शताब्दी में, जिनकी कृती भूमिका को इतिहास श्लाघापूर्वक स्मरण करता है। और स्मरणीय है यह महत्वपूर्ण तथ्य कि दुर्गाप्रसाद मिश्र, अमृतलाल चक्रवर्ती, रुद्रदत्त शर्मा, लज्जाराम शर्मा, माधव प्रसाद मिश्र, लक्ष्मण नारायण गर्दे, झाबरमल्ल शर्मा, हरिभाऊ उपाध्याय, सत्यदेव विद्यालंकार, रामनाथ सुमन, शिवपूजन सहाय, नन्ददुलारे वाजपेयी, चिम्मनलाल गोस्वामी, अज्ञेय, बालकृष्ण राव, इलाचन्द्र जोशी, मोहनसिंह सेंगर, धर्मवीर भारती, विद्यानिवास मिश्र, भवानीप्रसाद मिश्र, रघुवीर सहाय, रतनलाल जोशी, नारायण दत्त, आर्येन्द्र शर्मा, मोहन राकेश, कमलेश्वर, मनोहरश्याम जोशी, गणेश मंत्री जैसे कृती सम्पादकों और और पांक्तेय पंडितों-रचनाकारों के सम्पादन-स्पर्श से पत्रकारिता विषयक राजस्थानी आयोजन रूपायित हुआ है।

जाति-बिरादरी के अभ्युत्थान के उद्देश्य से गठित मंचों-संस्थाओं और धर्म-आस्था की प्रेरणा से प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं का जातीय अस्मिता के जागरण में, भाषा-संस्कार में और साहित्य-संवेदना के उन्नयन में महत्त्वपूर्ण अवदान है।

समय-संवेदना के प्रति राजस्थानी विवेक सजग-सुमुख था। विद्या-निष्ठ रूडमल गोयनका के उद्योग से सन् १९०७ में कलकत्ता से पं. दुर्गाप्रसाद मिश्र के सम्पादन में प्रकाशित 'मारवाड़ी बन्धु' स्वदेशी आन्दोलन की प्रेरक जातीय संवेदना से संसक्त होकर देश-बन्धु की भूमिका पर क्रियाशील था। इसी प्रकार जमनालाल बजाज की प्रचेष्टा से गांधी जी के संपादन में अहमदाबाद से प्रकाशित 'हिन्दी नवजीवन' देश की तत्कालीन अभीप्सा का सबल प्रवक्ता था, जिसकी आवाज ब्रिटिश सरकार के लिए कड़ी चुनौती थी और पराधीन भारत के लिए जागरण-मंत्र का काम करती थी।

विभिन्न संस्कृति-संस्थानों के मुख-पत्र के रूप में ऐसी अनेक शोध-प्रधान पत्रिकायें प्रकाशित हुईं राजस्थानी उद्योग से, जिनसे भारत की सांस्कृतिक विरासत की अनेक मुखी समृद्धि का साक्ष्य प्रकाशित हुआ। पिछले पृष्ठों में किंचित् विस्तार से इस ऐतिहासिक तथ्य को रेखांकित करने की चेष्टा की गयी है कि पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का हेतु, चाहे

प्रादेशिक संस्कृति की महत्ता उजागर करना हो, चाहे प्रादेशिक भाषा-साहित्य की चिंता हो, चाहे जाति-बिरादरी की मंगलेच्छा से अनुशासित अथवा व्यावसायिक प्रयोजन से प्रेरित हो, उसकी उपलब्धि मूल्यवान है, राष्ट्रीय संदर्भ में उसकी भूमिका विधायक रही है।

स्वातंत्र्य-संग्राम-काल में पत्रकारिता का समग्र परिदृश्य एक महत् आदर्श से अनुप्रेरित था तथा आजाद देश में भी राजस्थानी उद्योग का परिणाम विधायक और विशिष्ट रहा है। स्वाधीन देश की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन-उद्योक्ता राजस्थानी रहे हैं, यह कोरा संयोग भी हो, तो भी अध्येताओं का ध्यान आकृष्ट करने वाला तथ्य है और प्रामाणिक साक्ष्य के आधार पर हिन्दी पत्रकारिता के इस विशिष्ट पक्ष पर पिछले पृष्ठों में विस्तार से विचार किया गया है। स्मरणीय तथ्य है कि पूंजी-वर्चस्व के प्रतिरोध में लघु पत्रिका आन्दोलन १९६० के पूर्व-पश्चात् प्रारम्भ हुआ तो राजस्थान की भूमिका समग्र हिन्दी परिदृश्य के साथ क्रियाशील हुई थी। राष्ट्रीय स्तर पर अपनी विशिष्टता के लिए चर्चित कई लघुपत्रिकायें राजस्थान से और दूसरे स्थानों से राजस्थानी उद्योग से प्रकाशित हुईं।

सर्वेक्षण-निष्कर्ष यह कि बहुआयामी जातीय संवेदना के विकास में पत्रकारिता के माध्यम से क्रियाशील राजस्थानी उद्योग की विशिष्ट भूमिका है और राजस्थानी मानस में नवजागरण की आधुनिक ज्योति रचने में पत्रकारिता का विशिष्ट अवदान है।

॥ परिशिष्ट ॥

परिकल्पना के रूपायन को यथासम्भव पूर्णता देने के उद्देश्य से 'परिशिष्ट'-व्यवस्था समुचित जान पड़ी। 'परिशिष्ट' को चार खण्डों में विभाजित किया गया है।

(क) में प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं की सम्पादकीय टिप्पणी दी गयी है। पत्र की प्रकृति और उद्देश्य को उजागर करने वाला यथा-उपलब्ध 'प्रथम सम्पादकीय वक्तव्य' उद्धृत किया गया है।

(ख) में विषय-सूची, समय-संदर्भ से जुड़ी टिप्पणियां और पराधीन भारत की समाज-दशा तथा काल-बोध का सटीक संकेत देने वाले आलेख संकलित किये गये हैं।

(ग) में सनातन-साम्प्रतिक महत्व के कुछ ऐसे निबंध उन पत्र-पत्रिकाओं से उद्धृत किये गये हैं जिनके प्रकाशन-उद्योक्ता राजस्थानी रहे हैं।

(घ) में 'कल्याण'-सम्पादक हनुमानप्रसाद पोद्दार का वह महत्वपूर्ण वक्तव्य दिया गया है, जो 'वेंकटेश्वर-समाचार' में प्रकाशित हुआ था, और राजस्थानी-समाज के लिये जिसकी प्रासंगिकता, उपभोक्ता-सभ्यता के अंधड़ को देखते, आज बढ़ गयी है।

परिशिष्ट की संकलित सामग्री पत्र-पत्रिकाओं से यथावत् उद्धृत की गयी है।

अपने अभिप्राय की सम्पुष्टि के लिये जिन सम्पादकों-लेखकों के आलेख और टिप्पणी 'परिशिष्ट' में उद्धृत की गयी हैं, उनके प्रति प्रस्तुत पुस्तक का लेखक आभारी है।

'परिशिष्ट' आयुष्मान पुरुषोत्तम तिवारी के सक्रिय सहयोग से तैयार हो सका। पुरुषोत्तम की मूल्यवान सेवा अविस्मरणीय है।

चि. कमलेश कृष्ण और स्नेहभाजन लखनकुमार सिंह की सेवा-सुमुखता मेरे लिये प्रीतिकर सम्बल है।

॥ क ॥



विद्यार्थि संमिलित,

हरिश्चन्द्र चंद्रिका और मोहन चंद्रिका

॥ विद्वत् कुलामल स्वति कुमुदामोद दायिका ॥
॥ आर्या ज्ञान तमोहंत्री श्रीहरिश्चंद्र चंद्रिका ॥

॥ कविजन कुमुदगन हियविकासि चकोर रसिकन सुखभरै ॥
॥ प्रेमिन सुधा सों सींचि भारत भूमि आलस तम हरै ॥
॥ उद्यम सुऔषधि पोखि विरहिन तापि खल चोरन दरै ॥
॥ हरिचन्द मोहन चन्द्रिका परिकास जग मंगल करै ॥

कला ८] उदयपुर, चैत्र, संवत १९३८. [किरण १.

वर्षोत्सव.

तासुत्रिनंदेंदु मिता स्थितासु यत्समासु साद्वेकमभूप कालतः
मधौ सुमासे सितपक्षपप्तनो निजाष्टमं स्वारभताब्द मुद्वात्
युता हरिश्चंद्र सुचंद्रिका तो विद्यार्थिना मोहन चंद्रिकाच॥
मुदं विधत्तां बुधता प्रवृत्त विद्या दृढार्येभ्य इवेज्यदत्ता॥

हमारे प्रिय पाठक महाशयो! आज हमारी परम प्रसिद्ध आर्य्यभाषा महारानी की पुत्री श्रीमती "हरिश्चन्द्र चंद्रिका और मोहन चंद्रिका" का वर्षोत्सव है अतएव हम आदौ सर्व शक्तिमान जगदीश्वर को अलौकिक भावसे कोटि कोटि धन्यवाद समर्पण करते हें और उसके अलौकिक सर्वाधिकारी स्वामी पंडित श्रीमोहनलाल विष्णुलाल पंड्या एफ. टी. एसादि कतिपय विद्वत्सभा प्रदत्त उपाधि अलंकारधारी दृढआर्य की आज्ञानुसार इस चंद्रिकाके उद्देशानुकूल विद्यावृद्धिके उत्साहनार्थ श्रीद्वारस्थ पाठशाला के योग्य बालकोंको विद्योपयोगी पुस्तक, स्लेट आदि वस्तु देकर साधारण दीन अनाथ ब्राह्मणोंको भोजन कराकर वर्षोत्सव मनाते हें.

आज उक्त चंद्रिकाका सातवां वर्ष सुखपूर्वक समाप्त होकर आठवां वर्ष प्रवेश होता है. इस चंद्रिकाको सात वर्षके वयमें अनेक सुख दुःख और व्याघात, समय समय पर सहन करने पडे हें. यह कुछ आश्चर्यकी बात नहीं है क्योंकि जिसका प्रकाश इस अनित्य संसार

में होताहै उसको सुख और दु:ख दोनों भोगने पड़ते हं. किन्तु हर्ष की बात यही है कि उक्त चंद्रिकाके शत्रुओंने अपने भरबस अनेक व्याघात उपस्थित किये परन्तु जैसी वासना से वे उपस्थित किये गये थे वैसे ही वे सफल भी हुए क्योंकि "अनिष्टचिंतकोन्येषां स्वतोनिष्टं प्रपद्यते।"

जबतक मनुष्य अपने किये हुये सत् वा असत् कार्योंको नहीं सोचता है तबतक उसके भावी परिणामभी अच्छे होनेका संभव नहीं देखा जाता. इसी रातिसे जब हम अपने गत वर्ष वा चंद्रिकाके नवीन प्रबंधकी सप्तम कलाको देखते हैं तो हमने क्या काम किया इसके उत्तरमें हमको इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि तीन पत्रोंका एकीभाव एकही वर्षमें ऐसा हुआ कि जिनसे हमारे पाठकों को ऐक्य वा निज मित्रताका स्वरूप सहजही प्रकट होगा.

यहभी एक लौकिकमें दोष गिना जाता है कि अपने मुखसे अपनेही कृत-कर्मोंका उच्चारण करना. इसीलिए अथवा पुनरुक्ति से वृथा पत्र भरनेके संकोच के लिये वह काम हम अपने पाठकों पर ही सोंपते हें. हां, इतना तो गतवर्षमें विशेष हुआ कि इस चंद्रिकाकी चमक, देशी राजस्थानों पर वा राजविषय पर कुछ विशेष रही. वैसेतो समयानुसार चाहे मरनेके कहिये चाहे अच्छे समझिये परंतु - प्राय: रसिकोंके हृदयतक इसकी कांति पहुंची ही होगी.

संस्कृत पत्र विद्यार्थीमे तो एक ही वर्षमें अपूर्व कविवर श्री हरिश्चंद्र विरचित चंद्राबली नाटिका भी पूर्ण प्रकाश मान हुई औरभी अन्य विषय आर्य जनोंके वा अपने कर्तव्य को पक्षपातरहित वा सहित सूचना करने वाले कई निकले. अस्तु.

श्रीमान जगतीचालक सकलमनोरथ सफलकारक श्रीहरीसे भी हम अत्यंत नम्रतासे यही प्रार्थना करते हें कि जिस रीतिसे यह विद्यार्थि संमिलित चंद्रिका वा तदध्यक्ष आर्योन्नतिमें बद्धपरिकर हें, वैसेही तुम भी इनके सत्य सुविचारोंकी पूर्णता करनेमें सिद्धरहो, और इसके लेखक ग्राहकादि सहायकों को इसी रीतिके कर्मोंमें अखंड आनंद उत्पन्न किया करो; जिससे यह आर्यवर्त व भारतवर्ष, ऐहिक क्या, पारत्रिक ज्ञान चंद्रिकामें अपना अवशिष्ट समय व्यतीत कर, जैसे अब हमको प्राचीन समयका स्मरण होता है वैसेही, भावि जनोंको इन दिनों का क्षण-क्षण स्मरण दिवावे. गतवर्षके किरणोंमें जो जो लेख समय-समय प्रकाश हुए वे विशेष करके अपने समस्त आर्य बन्धुओंको निष्कपट मनसे अपने ही समझकर इतने कटु लिखे गए थे कि जिससे मन में ग्लानि उत्पन्न होकर हमारा आर्य-कुटुंब, उन दोषों से रहितहो जोकि अनार्य लोग, देशके साथ हम दीन आर्यों पर आरोपण करते हें; न कि वे लेख हमने वा हमारे लेखद्वारा सहायता करने वाले सहायकोंने अपने आर्य बन्धुओं की निरी निन्दा करनेको ही लिखे थे —

जो हम हमारे बन्धुओंकी निन्दा करें तो क्या हे पाठको! वह निन्दा हमारी ही नहीं है? नि:संदेह हम हमारे हाथसे अपने ही पैर पर कुल्हाडा मारते हें, एसा हे.

किन्तु प्रत्येक लेख को भले प्रकारसे पढ़कर और मनन करके जो सारांश विचारा जाय तो हम उरहना देनेके योग्य कभी न ठहरेंगे. और जो कितनेक महाशय उक्त लेखको

दोषबुद्धिसे अवलोकन करते हैं, वह तभीतक ही जब तक कि हमारे सिद्धांत उनको भले प्रकार ज्ञात नही हुएहें, और जो जो असद् विचार उनके मनमें भरे हुए हैं, वे बाहर निकल कर सम्मत नहीं हुए हैं – हमारी स्वदेशोन्नति विषयक सम्मतिमें और बहुतसे हमारे बन्धुओंकी सम्मति मे बड़ा अंतर पड़ रहा हे। हम समझते हैं कि हमारी वर्तमान गवरमेंट की फौरेन पोलीसी (परत्न कार्य-कुशलता) संबन्धित शालाओंमें कितनेक वर्ष काम करने और इस राजकीय शाखा के आनुभविक अधिकारियों के साथ इस विषय में वाद विवाद करने से जो इस राजकीय विषय की व्युत्पत्ति का उपार्जन होता है वह ठीक है. और इतर बंधुओंको इस विषयका आंतरीय अनुभव निज कुशलतासे नहीं है. किन्तु बाहरी बातों पर ध्यान देकर ही है. अतएव वे वैसेही लेख लिखा करते हैं, और हमको हमारे बन्धु इस बातसे दोष देते हैं कि बहुत से विद्वान तो हमारे विचारों का अनुमोदन करते हैं, और सब देशीय भाषाके समाचार पत्न भी ऐसाही कहते हैं और एक चंद्रिका संपादकोंका कहना क्यों माननेके योग्य हो, इत्यादि. आज तो वह प्रसंगवशात् कुछ निवेदन हुआ है परन्तु शनैःशनैः हम हमारे राजकीय विचारोंको, अपने बन्धुओंकी सेवामें निवेदन कर एक सम्मति करेंगे और हमको पूर्ण आशा है कि जब कोई बात अभिमान रहित निवेदन कियी जाये तो वह विपक्षी निःसंदेह स्वीकार करलें, फिर हम और हमारे समस्त बन्धु वर्ग जिनके मूल सिद्धांत तो सर्व रीत्या एक ही हैं परन्तु बरताव के क्रममें प्रभेद होजाता है सो भी क्यों नहीं एक सम्मत होंगे?

हमारे यावत् सिद्धांतों का समावेश कर एक बृहत् आशयका सिद्धांत यही है कि जो जो बातें हम दूसरोंको उपदेश करते हैं, लिखते हैं, पढ़ते हैं और दूषित करते हैं उन सबसे प्रथम एकाकी अपने को ही हम सभ्य करें, क्योंकि जब हम यथार्थ रीतिसे आप सभ्यहों तब हमारे कहने, सुनने, लिखने, पढने, बरतने और दूसरोंको उपदेश करानेमें एक प्रकारकी शक्ति उत्पन्न होगी और वही शक्ति सर्व बातोंकी शोधक होकर हमको हमारा मन चाहा फल देगी, नही तो अरे प्रिय भाइयो! इस कान सुनी, उस कान अनसुनी होकर जैसे वर्तमान कालमें हमारे और आप महाशयोंके उपदेश का फल केवल "बकना" होता है वैसा ही होगा. अतएव हम सब बंधुओंको ही प्रथम सर्व विषयों में एक सम्मति होकर स्वदेश को उसी रीति से चलाने का उद्योग करना चाहिये. आजसे प्रारभ हुए वर्षमें हमारा विचार है कि जो जो विषय हमने स्वदेशोन्नति विषयक समझ रक्खे हें उनको एक २ कर अपनी सम्मति सहित वा रहित इस चंद्रिका द्वारा प्रकाश करेंगे और अपने सब बन्धुओंकी सम्मती पृथकर लेकर सिद्ध करते जायंगे फिर उसी सिद्धांत के अनुसार हम भी हमारे सर्व साधारण आर्यबन्धुओं को उपदेश करेंगे और सर्व संपादक और पाठक से भी कराते जायेंगे, जिससे हम सब अपने देशको लाभकारी हों, और एक मनुष्य अनुभव पर ही न रहकर, समस्त बन्धुओं की सम्मति एक व्यवस्थारूप होजाय.

संवत् १९३७ के वर्षमें अफगान युद्धकी समाप्ति इंगलेंडके कंसरवेटिव प्रधानेका परिवर्तन होकर लिबरैल-दल का प्रधाना स्थापन होना, लोर्ड लिटनका स्वदेश पधारना और लोर्ड रिपन महात्माका भारतखंडमें आकर कतिपय ऐसे भाषण करना, जिससे ह्रस्व विचारके

मनुष्यों का फूलउठना आदि विषय तो हमारे कितनेक बंधुओं ने अपने २ गतवर्ष की समालोचना में लिखे ही हें वरन पीसे हुए पिसानको क्या पीसें.

हमारी लेखनी प्राय: राजकीय विषयोंको प्रसन्न कर और इतर तुच्छ विषयोंको एक ओर रखकर जो अपनी मौजमें चलती है वह चलतीही है. हमको गत वर्षमें हमारी आर्यभाषाकी उन्नति और हिन्दू अपनेको आर्य समझने लगे और इन दोनों विषय रूपी भूतोंका आवेश इनके तन मनमें कुछ न कुछ आया देखकर तो अति प्रसन्नता हुई. और जयपुराधीश रामसिंहजी जैसे एक अपूर्व राजाके परम पद और मुन्शी इंद्रमणिजी जैसे हमारे कट्टर आर्य बन्धुओंके सिर पर एक आपत्ति आय पडने और उसका नि:शेष निवारण, हम कहनेके ही आर्योंकी पूरी पूरी सहायता न पहुंच सकनेसे जो खेद हमको हुआ है वह हम सर्वोपर समझते हें. जैसा वर्तमान राजकीयविद्याविशारद पुरुष होना चाहिये वैसे वे थे और जो आज विद्यमान राजा महाराजा महाशय हें उनमें सर सालारजंग के सिवा हमतो किसी को भी यह विशेषण नहीं देते क्योंकि जब हम हमारे अनुभवसे ठीक ठीक यह जान लेंगे कि अमुक महाशय अपनी उन्मत्त पदवी के सब अहंकार त्याग कर अपने को अपनी प्रजा का केवल एक सेवक समझते हें तब उक्त विशेषण नि:संदेह ललकार कर चौडे कहेंगे. हे पाठको! हमको तो इन दो विषयोंका सुख दु:ख अवश्य हुआ है और जबतक जीते रहेंगे तबतक ऐसी बातोंका ही होगा न कि लोर्ड लिटन वा लोर्ड रिपन, वा आर्म्स ऐक्ट, वा प्रेस-ऐक्ट, आदि के गोरख दंधेका, क्योंकि उन बातोंको तो हम "होली दिवालीके खंडन मंडन" वत् ही समझते हें. अंतमें हमारे सहायक विद्वद्वय इस चंद्रिकाके मूल भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्रजी और विद्वज्जन पंडित श्रीविनायक शास्त्री बेताल, पंडित श्रीराधाचरण गोस्वामी, बाबू काशीनाथ वर्म्मा, और बाबू दीपनारायण सिंह वर्म्मा. आदि महाशय जिनोंने कृपापूर्वक अपने अमूल्य लेखोंसे हमारी सहायता की उनको धन्यवाद देकर प्रार्थना करते हें कि ये सब इस वर्षभी उसी प्रकार सहायता करेंगे. इति शिवम्.

प्रेस एक्टकी बधाईमें बधाई चाहना.

आज कल अंग्रेजी भरतखंडके सब समाचार पत्र-संपादकोंको "प्रेस एक्ट" के रद्द हो जानेसे बडी प्रसन्नता हुई है और इसकी बधाई घर २ बट रही है अतएव हम भी हमारे अंग्रेजी राज्य निवासी भाइयोंकी प्रसन्नताको एक प्रकारसे अपनी ही प्रसन्नता समझ कर जय! जय!! शब्द का उच्चारण करते हैं और श्री श्री जगदीश्वरसे यही प्रार्थना करते हैं कि हमारे इन भाइयोंको सदैव आनन्दमें रक्खें :-

इस प्रेस एक्टके विषयमें हमने खूब विचार किया तौ हमको देशी राजस्थानों और अंग्रेजी भरतखंड की पोलासी अर्थात् राज्य सिद्धांतोंमें रात्रि-दिन जैसा अंतर होनेके कारण *उक्त एक्टके बहाल रहने और मन्सूख होनेकी सम्मतिमें* भी उतना ही अंतर जान पडा और *जब दोनों राज्य सिद्धांतोंके कारणोंसे सम्मतिमें अंतर सिद्ध है तो फिर देशी राजस्थानोंकी प्रजा अर्थात् समाचार-पत्र और अंग्रेजी भरतखंडकी प्रजा अर्थात् समाचार पत्रोंकी सम्मतिमें* परस्पर विकल्प क्यों न हो अर्थात् होनाही चाहिये क्योंकि अंग्रेजी भरतखंडके राजा और प्रजा की पोलीसी नियमित प्रजा( ) सत्ताक है. - अतएव यह स्वयं सिद्ध है कि हमारे विदेशी बंधुओंका वही काम है जो वे प्रतिदिन करते हें और हम सब देशी राजस्थान वालोंका यही काम है कि हमारे स्वदेशी राज सिद्धांतोंका मंडन करके अपने अपने राज्यके राजाको प्रसन्न रक्खें और उनकी सब आज्ञाओं को बिना शंकाके माने - यह हम निश्चय जानते हैं कि हमारे विदेशी बंधु केवल इतनी बात पर पूर्व पक्ष करैंगे कि देशी राजस्थान वालोंको अपने २ राजाकी वाजबी आज्ञा माननी चाहिये परंतु विचार करना चाहिये कि यह पूर्व पक्ष नियमित प्रजासत्ताक राज्य वालाही कर सक्ता है न कि केवल राजा सत्ताक वाला, और यह पूर्व पक्ष भी राजा सत्ताक वालेके प्रति कदापि हो ही नहीं सक्ता किंतु केवल राजा सत्ताक वालोंके प्रति राजा सत्ताक विषयका पूर्व पक्ष हो सक्ता है.

जो कदाचित् हमारे विदेशी बंधु अपनी सम्मतियोंको हमारे आर्य शास्त्रोंसे सिद्ध करैं तो उसी समय उनके अनुसार ही व्यवहार रहा, तथा है यह बात सिद्ध करनी चाहिये क्योंकि हम जो ऐसी सम्मतियों को रामायण और महाभारतादि ग्रंथों से सिद्ध करैं तो उस समयके महाशयोंको तौ हम महाशय ही समझते हैं अतएव केवल पक्ष समर्थ न करनेके वास्ते क्योंकर उनके उदाहरण मानें और उस समयको आज कितना समय हुआ है यह भी हमारे शास्त्रोंसे स्पष्ट ही है इससे जो राजनीति आज चार-पांचसौ वर्षसे जारी है और उसीके अनुसार हम सब बरतते हैं और जो उसको फेंरे तो महा अनर्थ होते हैं अर्थात् अपना सर्वस्व अपने हाथसे ही प्रजारूपी यज्ञमें स्वाहा होता है उसके क्योंकर बुरा बतावें और उसके त्यागकर अपने विदेशी भाइयोंके से आचरण करैं.

इस विचारके अनुसार देशी राजस्थान के वर्तमान समाचार पत्र जो हमारे विदेशी बंधुओंकी देखा देखी जोग साधते हैं सो उनकी बडी भारी भूल है क्यौंकि हमारे विदेशी भाई

जिस राज्यमें रहते हैं वे अपने राज्यकी पोलीसीके अनुसार जो लिखते हैं, पढ़ते हैं, और [illegible] पक्ष आदि करते हैं वह बहुत ठीक है क्योंकि जो वे ऐसा न करे तो उनके देशकी बड़ी हानि हो जावे परंतु हम जो उनके देखा देखी जोग साधें तो क्या हमारे देशकी राजनीतिके अनुसार छीजे काया बाढे रोग न होगा।

इस लेखको पढकर जो जो पूर्व पक्ष हो, विदेशी भाई अपनी अपनी समालोचना में करेंगे उनको विचारा तो उन सबके जैसे तैसे उत्तर जवाडी अकलसे तो हम क्या लिखें किन्तु बन्धु [illegible] कृपा कर अपने आपही प्रश्नोत्तर लेंगे तथापि एक प्रश्नजो यह है कि केवल राजा सत्ताक राज्यों में फिर वर्तमान समाचार पत्रोंका क्या काम? सो इसका एक बहुत छोटा सा उत्तर यही हमको उपस्थित होता है कि जो कामहै वह देशी राजस्थानों के वर्तमान समाचार पत्रके लेख रूपी दर्पणोंमें उस कामका नाम देख लीजिए कि प्रेस एक्ट की खुशी में एक उससे भी बढ़कर खुशी होगी—

हे हमारे विदेशी बन्धुओं आप कुछ आश्चर्य करैं और इसको एक नई बात न समझें कि आप सब महाशय जिस सर्व प्रकार की स्वतंत्रताको ही सर्वगुण-संपन्नताका हेतु निश्चय किये हुये हैं उस अपूर्व स्वतंत्रता को हम आपके विदेशी बन्धु स्वप्नमें भी देखना नहीं चाहते क्योंकि आप तो उस स्वतंत्रता में सर्वगुण संपन्नता समझते हैं और हमको दे—राजस्थानोंकी राजनीति की दृष्टि से उसमें सर्व अवगुण संपन्नता दीखती है आपकी सब प्रकारकी स्वतंत्रतामें हमारे देशी राज्योंके सिद्धान्तोंके अनुसार आप सर्व अवगुण संपन्नता स्पष्ट देखते जाते हैं तथापि हमारे इस लेख पर हमदर्दी करनेके बदले हास्यही करैंगे. देखिये और विचारिये कि हमारे उक्त सिद्धांतों के अनुसार आपकी स्वतंत्रताने आप सब हमारे प्रिय बंधुओंके लिये कैसी एक "प्रेस एक्ट" बनवा दियी थी कि जिसके पंजेसे आप सब राम-राम करके विमुक्त हुवे हैं क्या इस प्रत्यक्ष प्रमाण पर भी हमारे उक्त सिद्धांतोंका हास्यही करैंगे खैर यह एक प्रसन्नताका प्रसंग है और फाल्गुन मास भी नगीच आगया है अतएव आपके हास्य को भी हम सब लोग आप सब बन्धुओंकी ओरसे हमदर्दी ही समझेंगे और ज्यों त्यों करके चाहे वास्तवमें हम भी प्रेस एक्ट केसे पंजेमेंसे छुटे हैं या नहीं परंतु यही समझ लेंगे कि आप सब विदेशी बन्धुओंके सत्संगसे हम भी स्वतंत्रतारूपी तीर्थमें कुंभका एक गोता मार चुके इत्यलम् —

गलीसने

एक बलवन्तराव नाटूक मकान पर जा उनको और

गिरफ्तार किया। (यह

ने और

१भाग} कलकत्ता रबिबार; ८ आगष्ट, सन् १८९७ ईसवी

अनरेबल मिष्टर बाल गंगाधर तिलक का राज वि... पर पकड़ा जाना और महा वि...

हमारे पाठक मि. तिलकको [redacted] और केसरीपत्रको महाराष्ट्रभाषा में सम्पादन करते हैं। हाईकोर्टके वकील और बम्बइके श्रीमान गवर्नरके कौंशिलके मेम्बर हैं। महाराष्ट्र ब्राह्मणोंमें प्रतिष्ठित हैं इन पर राज विद्रोह और प्रजा भड़काने के लेखकी शंका सरकारको हुइ है और १२४A धाराके अनुसार वारण्ट निकाला और गत मंगलवार तारीख २ जुलाईको रात १० बजे गिरफ्दार किया। मि. तिलक उसी दिन सवेरे पूनासे बम्बइ आये थे और गिरगांव वैकटेश्वर अनरेबल मि० दाजी अबाजी खरे वकील हाईकोर्टके यहां टिके हुए थे। इधर संध्यासे इनकी खोज होही रही थी, पता लगते ही बस बहुतसे गोरे और काले कानष्टेबिल और कइ अफसर लिये हुए सरदार खां बहादुर मीर अबदुल अली सुपरिंटेन्डेण्ट आ हाजिर हुए पर मि० तिलकको यह पहचानते नहीं थे इसलिये अपने असिष्टेण्ट मि. जेमस गायडर जो जानते थे बुलवाया। उतनी देर चारों तरफ घर पुलिस पलटनसे घेर रक्खा था, उन्होंने पहचान कर वारण्ट द्वारा पकड़ लिया मि. *तिलक शान्तिसे पुलिसके अधिकार में होगये इसप्लेनेडकी पुलीस चौकीके एक अलग फाटकमें रक्खे गये और उनपर एक मुखा पहरा नियत हुआ यह बात सारे नगरभरमें उसी दम फैल गइ थी।*

दूसरेदिन पुलीस सुपरिंटेण्डेण्टने मि० तिलकको पुलीस अदालतमें हाजीर किया मि. तिलककी तरफसे मि० रसेल बारीष्टर और मि० एम० पी० खोडम् साहब वकील उपस्थित थे, पुलीस अदालत और पासके मैदानमें मनुष्योंके भीड़ और कोलाहलके मारे विश्राम नहीं था। मुकद्दमा खड़े होनेके पहले मि० रसेल ने कहा कि, मि० तिलकको जमानत पर छोड़े जानेकी प्रार्थना करनेका विचार है, पर मालूम पड़ता है कि, पवलिक पोसुक्युटर हाजिर न होनेके कारण ऐसे आवेदनपर अदालत हुकम न देगी। मजीष्टेट ने उनकी गैर हाजिरी में आवेदनपत्र नहीं लिया इस कारण मुकद्मा २ बजे तक रुका रहा। २ बजे फिर उपस्थित किया गया, सरकार की ओरसे मि० निकलसन पवलिक प्रोसीक्युटर हाजिर थें। मि० रसेलने मि० तिलककी ओरसे आवदेनपत्र उपस्थित कर जमानतपर छोड़ीकी प्रार्थना करी और अदालतकी जमानत धारा दिखाके इस कै फैसलेके कई मुकद्मों को नजीर दी और कहा कि, यह कभी नहीं हो सकता कि, इस अपराधी सरोसा भद्र आदमी अपने अनुसंधानके

लिए अदालत में वक्तपर हाजिर न हो और असल में अपराधी पुना जीला और अपने समाजमें प्रतिष्ठित समझा जाता है और श्रीमान् गवर्नरकी कौंशिलका मेम्बरभी हैं (जो दोष लगाया गया है यदि प्रमाण होनेसे सजा है) इसकी सूचनाभी मैं देख ली है। परन्तु उन लेखों को मैं अब तक नहीं देखा इस कारण नहीं कह सकता कि, वे शब्द उस धारामें पकड़े जाय, यह प्रामाणिक कारण है कि इस बातको अदालत जल्दी नहीं कह सकेगी इत्यादि इसलिये कहा जाता है कि, अपराधीको जमानत पर छोड़ देना उचित है और जितनी जमानत अदालत चाहै देनेको तैयार है और आशा है कि, अदालत मामलेकी अवस्थानुसार जमानत लेकर अपराधीको छोड़ देगी और बंगवासीकी नजीर दी कि इसी धाराका मामला चला था और अपराधी जमानतपर छोड़ दिये गये थे।

मि० निकलसन ने कहा कि मजिस्ट्रेटकी अदालतसे नहीं छुटे थे।

मि० रसेल ने कहा, मैं कोर्टपर निर्भर करता हूँ।

मि० निकलसनने कहा कि, ४९८ धारामें साफ कहा है कि, बिना अपराध का अपराधी जमानतपर छोड़ दिया जा सकता है, पर ऐसी अवस्थामें नहीं छोड़ा जा सकता है, यदि निश्चय हो जाये कि, जो अपराध लगाया है इसका दोषी है अब यह बात कोर्टको बिचार करना चाहिये कि, ऐसे कारण हैं या नहीं जिससे अपराधीका दोषी होना विश्वास किया जाय, अपराधीका इन लेखोंसे सम्बन्ध है या नहीं? अपराधीको दोषी समझनेके यथार्थ कारण हैं या नहीं? इत्यादि जमानतकी बात लेख देखनेसे निश्चय होती है इत्यादि २ मुझे यह निश्चय है कि अदालत कभी जमानत मंजूर नहीं करेगी।

तारीख १९ को अपराधीकी तरफसे विचारक श्रीमान पार्सन्स औ राणा दे महाशयके सम्मुख मि. खरेने जमानत पर छोड़ देनेके लिए प्रार्थना की और कहा कि, मि. तिलक एक रईस हिन्दू भद्र पुरुष है और अखबारका मालिक है, और सरकारके कौंसीलका मेम्बर है इनको जमानत पर छोड़ देना चाहिये।

इसपर मि० लैंग अडवोकेट जेनेरलने यह दर्शाके उजर किया कि, यह बहुत भयानक कसूर है इसमें ज्यादेसे ज्यादा आजन्म कालापानी और कम से कम ३ बरसकी सजा है और लेखका तर्जुमा भी पढ़ा इसलिए जमानत नहीं होनी चाहिये. और यह मामला गत शनिवारको पुलीस अदालतमें हुआ था और अभी तक मुद्रक नहीं पकड़ा गया है जो इनके सामील है और मामला चलानेकी देरीभी न होगी।

इस पर मि० खरेने कहा कि, लेखोंके सम्बन्धमें यह भयानक नहीं है यह विक्षात ग्रन्थ करताओंका, योद्धाओंका जीवन चरित्र लेख है और मिकालेकी रचनासे नजीर दी है।

फिर मिष्टर न्यायकर्त्ता राणादे महाशयके जवाबमें मि० खरेने कहा कि, एक चिट्ठी बेनामी "जस्टिस" नामसे सही की हुइ टाइम्स आफ इण्डियामें छपीथी जिसके उपर इनके असल लेखको शुद्ध कर दिया गया था। इसपर मि० न्यायकर्त्ता पार्सन साहबने कहा कि, जमानतपर मेजिष्ट्रेटके साम्हने छानबीन हो चुकी है और यह कसूर जामीनका नहीं है और केश अभी तक सुनाभी नहीं गया है और इसपर कोइ तरहकी राय नहीं प्रकाश की और जामीन ना मंजूर करी।

फिर इसीरोज सबेरे ६ बजे के अमले में मि० मिचलकेनेडी जीला-सुवरडण्ड पुलीसने बहुतसे गोरे और काले सहायकोंको लेके बलवन्तराव नाटूके मकान पर जा उनको और उनके भाई हरिपन्त रामचन्दर नाटू उर्फ तांतिया साहिबको गिरफ्दार किया। (यह नाटू महाशय लोक खानदानी रईस घरके है। इनके पड़दादा बाजीराव पेशवा के कर्मचारी थे और अपने स्वामी बाजीरावको पकड़वाने में सरकार अंगरेजको मदद दी थी। इससे सरकारने ९ गांव इनाम दिये थे। जिसकी सालाना आमदनी ३० हजार है, यह दक्षिणके दूसरे दरजे के सरदार बनाये गये थे यह तीन भाई हैं तीसरे भाईका नाम आना साहब है, वे राजनिती बखेड़े से अलग रहते हैं।

बलवन्तरावजी लिखेपढ़े योग्य कानुनी हैं इनपर भी राज बिद्रोह सुचक अभियोग है इनको घुड़दौड़ के घोड़े रखने का अैसा शोख है कि पुनामें एक सवारी सिखानेकी स्कूल बनाइ है) और इनके मकान की तल्लाशी ली गई और अस्त्र-शस्त्र जो थे वह पुलीस अपने दखल में किया और सदाशिव पेठमें जो इनका दूसरा मकान था वहां भी तल्लाशी ली, पर कोई चीज नहीं मिली इनकी जावतेमें रखकर पुनासे ११/१५ के बक्त चलान किया कहां भेजे गये पता नहीं मिला है.

फिर उसी समय पुलीस आर्य्य भूषण प्रेसमें गई वहां केशव माधब बालको पकड़ा इनको मि० तिलकका सहकारी समझा कि, केशरी पत्रके मुद्रक और प्रकाशक है। प्रेसकी तल्लासी ली गई और कागजात दखल किये और मेजिष्ट्रेट के साम्हने मामला करने को बम्बइ भेजे गये और भी पकड़े जानेका शोर था मि० कनेडी साहबके साथ सहकारी कलेक्टर भी थे।

जब यह रेलवे स्टेशन पर लाये गये घुड़सवार पुलीसका जाबता था और केशव माधब बालको हथ कड़ी पहनाया और ३५ कानष्टेबल के घेरेमें थे और बलवन्त राव नाटू और तांतिया साहब अलग सेकण्ड क्लास गाड़ीमें बैठाये गये थे, इनस्पेक्टर हमील्टन और मीर साहब कानिष्टेवल फिस और बहुतसे देशी अफसर डिटेक्टिव लोग उनको घेरे हुए थे, यह पुनेके नामी असामी है। कहा जाता है कि तांतिया साहब नाटू पहलेभी दौ वर्ष हुए उस झगड़ेमें शामील थे जो मुसलमानोंके बाजा बजानेपर था केशरी और मरहट्टा कार्य्यालयके कागजात लिये फिर तेलीगांवमें शंकर विश्वनाथके लकार सम्पादक और मालीक पूना बैभव भी पकड़े जाकर उसी ट्रेनमें बम्बईमें भेजे गये सहरमें पकड़ धकड़के भयसे बड़ी ही हलचल रही केशव माधव बाल मुद्रक केशरी पर भी १५ जूनके पत्रमें सरकारी कानूनके विरूद्ध अर्थात् राज-विद्रोही लेख छापने के कारण अभियोग है उस दिन मुलतवी रहा शनिवारको खड़ा हुआ और पूना बैभवके सम्पादक व मालीक का मामला सोमवारपर रहा इसपर अभियोग ११ अप्रैलके लेखसे हैं।

प्रोफेसर मि० गोखलेभी पुना कालीजके महामारी परीक्षामें एक हत्या प्रकाश की थी सो कहते हैं, एक बिश्वासी मित्रसे मिली थी झूठ होगी तो क्षमा प्रार्थना करूंगा।

मि. तिलक को हाईकोर्टसे शेष आगामी दायरेमें मि० तिलक, केलकार और बाल केशव इन तीनोंका मुकद्दमा होगा। सुनते हैं चन्दा ९ हजार रुपया है। मि० तिलक को एक लाख की जाम्मिन हुई है।

हिन्दी
नवजीवन

सम्पादक--मोहनदास करमचंद गांधी

वर्ष १} अहमदाबाद-भाद्रपद कृष्ण १, संवत् १९७८, {अंङ्क १

शुक्रवार, तारीख १९ अगस्त, १९२१ ई.

हिन्दी-नवजीवन

यद्यपि मुझे मालूम है कि ''नवजीवन'' को हिन्दी में प्रकाशित करना कठिन काम है तथापि मित्रों के आग्रहवश होकर और साथियों के उत्साह से ''नवजीवन'' का हिन्दी अनुवाद निकालने की धृष्टता मैं करता हूँ। मेरे विचारोंपर मेरा प्रेम है। मेरा विश्वास है कि उनके अनुकरण से जनता को लाभ है। इसलिए उनको हिन्दीमें प्रकट करनेकी इच्छा मुझे बहुत समयसे थी। परन्तु आजतक परमात्माने उसे सफल नहीं किया था। हिन्दुस्तानी को भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा बनाने का प्रयत्न मैं हमेशा करता आया हूँ। हिन्दुस्तानी के सिवा दूसरी भाषा राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। इस में कुछ भी शक नहीं। जिस भाषा को करोड़ों हिन्दू-मुसलमान बोल सकते हैं वही अखिल भारतवर्ष की सामान्य भाषा हो सकती है, और उसमें जबतक ''नवजीवन'' न निकाला गया तबतक मुझे दुःख था।

हिन्दुस्तानी-भाषानुरागी ''हिन्दी-नवजीवन'' में उत्तम प्रकारकी हिन्दी की आशा न रक्खें। ''नवजीवन'' और - ''यंग इंडिया'' का अनुवाद ही उसमें देना सम्भवनीय है। मुझे न तो इतना समय है कि हमेशा हिन्दुस्तानी में लेख लिख कर दे सकूं और न बहुत हिन्दुस्तानी लिखने की शक्ति ही मुझ में है।

''हिन्दुस्तानी भाषा का प्रचार'' इस साहस का मुख्य हेतु नहीं है। 'शान्तिमय अ-सहयोग का प्रचार' ही इसका उद्देश समझना चाहिए। हिन्दुस्तानी भाषा जानने वाले जबतक असहयोग और शान्ति के सिद्धान्त भली भांति न समझ लेंगे तब तक शान्तिमय अ-सहयोग की सफलता असम्भव सी है इस लिए ''हिन्दी-नवजीवन'' की आवश्यकता थी। परमात्मा से प्रार्थना है कि जो लोग केवल हिन्दुस्तानी ही समझते हैं उन्हें ''हिन्दी नवजीवन'' मददगार हो।

मोहनदास करमचन्द गांधी

टिप्पणियां

शान्तिका सामर्थ्य

मैं जगह-जगह देखता हूँ कि जहां लोगोंने शांति की महिमाको ठीक ठाक समझ लिया है वहां वे बहुत आगे बढ़ गये हैं। जो शांति, भय और कमजोरीके कारण धारण की जाती है वह शांति नहीं। सच्ची शांति तो वही हो सकती है जिसमें बल और तेज हो। जिस प्रकार हमने अंगरेजों के विषयमें अपनी शांति भंग नहीं होने दी उसी प्रकार हमें अपने हिन्दुस्तानी कर्म्मचारियों, सैनिकों और पुलिस के सम्बंध में भी शांति न खोना चाहिए। एक भाई ने मुझसे पूछा है कि हमें केवल अंगरेजों के ही प्रति शांति का व्यवहार करना चाहिए अथवा अपने आपस में भी? यह सवाल तो पैदा ही न होना चाहिए। यदि हम अपने लोगोंके प्रति शांति न रक्खेंगे तो भी हार जायंगे। अ-सहयोगी तो सबका लिहाज रखता है, सबके साथ शांति और नम्रता का व्यवहार करता है। मनुष्य को जितना शूर उतना ही शांत होना चाहिए, जितना बडा उतना ही नम्र होना चाहिए। आततायी मनुष्य जो बातबातमें गाली देने और मारने लगता है वह अपना बल, अपना सामर्थ्य, खो बैठता है। शांति भी एक सूक्ष्म वीर्य है। उसका संचय करने वाला भी प्रौढ़ ब्रह्मचारी होता है और तेजस्वी हो जाता है। हम लोगोंने ब्रह्मचर्य की व्याख्या को केवल स्थूल स्वरूप दे दिया और जो लोग प्रतिक्षण क्रोध करते रहते हैं उन्हें दोषी मानना छोड़ दिया है। जिस प्रकार स्थूल ब्रह्मचर्य का पालन शरीर-सुखके लिए आवश्यक है उसी प्रकार आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य की भी आवश्यकता है। मेरा तो यह निश्चित मत है कि हम लोगोंने सहयोगियों को कोस कर, पुलिसवालों को गालियां दे कर, इस संग्राम की अवधि बढा दी हैं। यदि हम तन, मन और वचन से सारे विरोधियों के साथ शांति, नम्रता और लिहाज से पेश आते तो अबतक सारी सत्ता हमारे हाथों में आ गई होती।

(नवजीवन से)

नकली माल

एक मित्र मदरास से लिखते हैं - "इसके साथ मैं एक कपड़े का नमूना भेजता हूँ। बाम्बे स्वदेशी स्टीमर के द्वारा यह मदरास में, १०-१५ आने गज के भाव, शुद्ध स्वदेशी खादी (अर्थात् हाथ-कती और हाथबुनी) के नाम से बेचा जाता है। ऐसी धोखेबाजी से लोगोंका बचाव किस तरह किया जाय? मुझे इसमें शक नहीं कि वह कपड़ा विदेश का बना हुआ है।"

मैंने नमूनेको देखा है। हाँ, इसमें तो जरा भी सन्देह नहीं कि वह न तो हाथ का बुना हुआ है और न उसका सूत ही हाथ का कता हुआ है। मुमकिन है कि वह हिन्दुस्तान की मिलों में तैयार हुआ हो। परन्तु मुझे तो उसकी चकचकाहट, हिन्दुस्तानी की अपेक्षा जापानी अधिक मालूम होती है। बड़े दुख की बात तो यह है कि ऐसा माल स्वदेशी स्टाअर्स में बेचा जाता है परन्तु ऐसी कुछ न कुछ धोखेबाजी तो होती ही रहेगी। यह बुलन्द आवाज से इस बात का प्रमाण देती है कि स्वदेशी का जोश बढ़ता जा रहा है। पर सवाल यह है कि यह किस तरह पहचानी और रोकी जाय। रामबाण उपाय तो इसका यही है कि हम अपने लिए खुद की सूत कातें और जुलाहों से, अपनी ही देख-रेख में, उसे बुनवा लें। निःसन्देह ऐसा समय आ रहा है। यदि हम खुद न कात सकें तो सारे देश में, जो हजारों कातने वाले तैयार हो रहे हैं उनसे कतवा लें। यदि हमसे यह भी न हो सके तो जब हम खादी पसन्द करने लगें तब जो कपड़ा किसी भी तरह मिलका बना सा मालूम हो उसे न छुएं। मोटे सूत के कपड़ों में यह पहचानना बड़ा ही कठिन है कि कौन तो विदेश से आया है और कौन यहाँ की मिलों में बना है। हाथ-कते सूत की खादी में मिल की निर्जीव चमक नहीं रहती, बल्कि वह देखने में मोटी, छितरी हुई, हलकी और छूने पर गुदगुदी मालूम होती है। वह चिकनी और चमकदार तो होती ही नहीं।

एक दूसरा बचाव का उपाय यह है कि कपड़ा रंगा हुआ न होना चाहिए। तीसरी एक और बात है, पर वह धोखे से खाली नहीं। प्रत्येक कांग्रेस-जिले में ऐसी स्वदेशी दुकानें होनी चाहिए जिन्हें कांग्रेस की ओर से लैसेंस दिया जाय। अच्छे जानकार निग्रहां रक्खे जायं जो लगातार ऐसी दूकानों के माल की जाँच किया करें। मुमकिन हो तो हरएक चीज पर मुहर लगी रहे। मैं जानता हूँ कि अभी हममें इतना संगठन नहीं हुआ है और हमें इतनी तालीम नहीं मिलीहै कि जिससे हम बहुत बड़े आकार में इस काम को उठासकें परन्तु जब तक कि हरएक जिला अपने लिए आवश्यक खादी तैयार न करने लगे तब तक कुछ ऐसी निगरानी की तो अवश्य आवश्यकता है और सच्चे दिलसे जो कुछ इस के लिए किया जा सकता है वह किया जाना चाहिए।

(यंग इंडिया से)

ग्वालियरमें अन्धकार

अलीगढ जाते हुए मैं ग्वालियर होकर गुजरा। मुझे देख कर आश्चर्य हुआ कि लोग स्टेशन पर हमारी गाड़ी के पास आते हुए डरते थे। प्लेटफार्म पर "स्वदेशी" का कोई चिन्ह नहीं था। दूसरे स्टेशनों पर तो लोगोंने अपनी विदेशी टोपियां ला लाकर हमें दी। पर ग्वालियर में यह भी न हुआ। मुझे शीघ्र ही इसका कारण मालूम हो गया। ग्वालियर में खादी की टोपी पहनना और चरखा घर में रखना जुर्म तो नहीं माना जाता है, पर ऐसा करने वाला रोष का पात्र अलबत्ते समझा जाता है। यह ख्याल नहीं हो सकता कि खुद महाराजा साहब के विचार ऐसे प्रतिगामी हैं। श्रीमान् महाराजा साहब के प्रति मेरी सहानुभूति है। वर्तमान सरकार का विषैला प्रभाव जितना देशी राज्यों में प्रकट होता है उतना और कहीं नहीं। देशी-राज्य महत्त्वपूर्ण सुधारों के लिए तो अधिकार-हीन हैं परन्तु अपनी प्रजा की स्वतन्त्रता कम करने के काम में प्राय: "अनिच्छुक हथियार" बना लिये जाते हैं। अधिक क्या, सार्वभौम सत्ता की छत्रछायाने तो उन्हें, अंगरेजी भारत की ही तरह, पौरुष-हीन और उत्तरदायित्व-हीन कर दिया है। फलत: जब कोई देशी राजा स्वयं प्रजा को दबाना चाहता है तब उस के पास अपनी रियासत के अन्दर अन्धाधुंधी मचाने के लिए बडे लाट से भी अधिक असीम सत्ता हो जाती है। वर्तमान शासन-प्रणाली की रगरग में भरे हुए दोषोंमें यह एक सब से बडा दोष है। तथापि मैं आशा करता हूँ कि ग्वालियर स्टेशनपर मुझे जो बात मालूम है वह बढ़ा कर कही गई होगी और ग्वालियर-राज्य में दमनने उतना उग्ररूप धारण नहीं किया होगा जितना कि बताया गया है.

(यंग इंडिया से)

शुक्रवार, भाद्रपद कृ. १ सं. १९७८

स्वराज्य की व्याख्या.

स्वराज्य की व्याख्याओं के सम्बन्ध में मैं अपने मनमें तो विचार किया ही करता हूँ। अब उन्हें पाठकों के सामने भी उपस्थित करता हूँ :-

१. स्वराज्य का अर्थ है - स्वयं अपने ऊपर प्राप्त किया हुआ राज्य। इसे जो मनुष्य प्राप्त कर चुका है वह अपनी व्यक्तिगत प्रतिज्ञा का पालन कर चुका।

२. परन्तु हमने तो उस के कुछ लक्षण, और स्वरूप की कल्पना की है। अतएव स्वराज्य का अर्थ है - देशके आयात और निर्यातपर, सेनापर और अदालतों पर जनता का पूरा नियंत्रण। दिसम्बर की प्रतिज्ञा का यह अर्थ है। इस में अंगरेजी साम्राज्य के साथ सम्बन्ध रखने के लिए जगह है भी और नहीं भी। यदि खिलाफत और "पंजाब-काण्ड" का निपटारा न हो तो, जगह नहीं।

३. परन्तु व्यक्तिगत स्वराज्य का तो उपभोग साधु लोग आज भी करते होंगे, और हमारी पार्लियामेंट स्थापित हो जाने पर भी लोगों की दृष्टि में सम्भव है, वह स्वराज्य न हो। इसलिए स्वराज्य का अर्थ है - अन्न-वस्त्र की बहुतायत। परन्तु वह इतनी होनी चाहिए कि किसी को भी उसके बिना भूखा और नंगा न रहना पडे।

४. ऐसी स्थिति हो जाने पर भी एक जाति और एक श्रेणी के लोग दूसरों को दबा सकते हैं। अतएव स्वराज्य का अर्थ है - ऐसी स्थिति जिसमें एक बालिका भी घोर अंधकार में निर्भयता के साथ घूम-फिर सके।

५. पूर्वोक्त चार व्याख्याओं में कितनी ही व्याख्याओं का समावेश दिखाई देगा। तथापि राष्ट्रीय स्वराज्य में प्रत्येक अंग सजीव और उन्नत होगा और होना चाहिए। इस दशा में स्वराज्य का अर्थ है - अन्त्यजों की अस्पृश्यता का सर्वथा नाश।

६. ब्राह्मण और अ-ब्राह्मण के झगड़े की समाप्ति।

७. हिन्दू-मुसलमान के मनोमालिन्य का सर्वथा नाश। इस का यह अर्थ है कि हिन्दू-मुसलमान की मर्यादा रक्खें और उसके लिए जान तक दे दें। इसी तरह मुसलमान हिन्दुओं की मर्यादा प्राण-पण से रक्खें। मुसलमान गो-हत्या करके हिन्दुओं का दिल न दुखावें; बल्कि आप हो कर गो-वध बन्द करें और अपने हिन्दू भाई के चित्त को चोट न पहुँचने दें तथा हिन्दू, बिना किसी तरह का बदला किये, मसजिदों के सामने बाजे न बजावें और मुसलमानों का जी न दुखावें, बल्कि मसजिदों के पास से जाते हुए बाजे बन्द रखने में बड़प्पन समझें।

८. स्वराज्य का अर्थ है - हिन्दू, मुसलमान, सिख, पारसी, ईसाई, यहूदी, सब धर्मोंके लोग अपने-अपने धर्म्म का पालन कर सकें और ऐसा करने में एक दूसरे की रक्षा करें और

एक दूसरे के धर्म्म का आदर करें।

९. स्वराज्य का अर्थ यह है कि प्रत्येक ग्राम चोरों और डाकुओं के भयसे अपनी रक्षा करने में समर्थ हो जाये और प्रत्येक ग्राम अपने लिए आवश्यक अन्न-वस्त्र पैदा करे।

१०. स्वराज्य का अर्थ यह है - देशी-राज्यों, जर्मीदारों और प्रजा में मित्र-भाव रहे, देशी-राज्य अथा जर्मीदार प्रजाको जेरबार न करें और रिआया राजा अथवा जर्मीदार को तंग न करे।

११. स्वराज्य का अर्थ है - धनवान् और श्रमजीवियों में परस्पर मित्रता। मजदूर उचित मजदूरी लेकर धनवान् के यहां खुशी से मजूरी करे।

१२. स्वराज्य वह है जिसमें स्त्रियां, माता और बहनें समझी जायं और उनका मनादार हो तथा ऊँच-नीचका भेद-भाव दूर होकर सब भाई-बहनकी भावना से वर्ताव करें।

इन व्याख्याओं से यह सिद्ध होता है कि -

(१) स्वराज्य में राज्य-सत्ता शराब, अफीम इत्यादि (मादक पदार्थों) का व्यापार न करे।

(२) स्वराज्य में अनाज और रूई के सट्टे न हों।

(३) स्वराज्य में कोई कानूनका भंग न करें।

(४) स्वराज्य में स्वेच्छाचार के लिए बिल्कुल स्थान न रहे, जिससे कोई अपने ही खिलाफ की गई शिकायत का फैसला, खुद ही काजी बन कर, न करे; बल्कि देशकी बनाई अदालत में अपने खिलाफ की गई फरियादका फैसला होने दे।

(नवजीवन से) **-मोहनदास करमचन्द गांधी**

अहमदाबाद में होने वाली राष्ट्रीय महासभा की स्वागतकारिणी समितिकी एक बैठक इसी सप्ताह हुई। उसमें श्रीयुत् चित्तरंजनदास, महासभा के सभापति और श्रीबल्लभभाई पटेल स्वागत-कारिणी सभाके सभापति चुने गये। श्रीयुत् दास के लिए प्रत्येक प्रान्तने मत दिया है।

मेरी भूल

परमात्मा अकेला जानता है कि मैंने कितनी बार भूलें की हैं। जो लोग यह समझते हैं कि मुझ से भूल नहीं होती वे मुझे नहीं पहचानते। मेरे निजी अनुभवोंने तो मुझे यही सिखाया है कि हम नम्रतापूर्वक इस बातको जानें और मानें कि भूलोंके साथ संग्राम करना ही जीवन है।

१९१९ में जब मैंने बड़े हर्ष के साथ सत्याग्रह आरम्भ किया, मैंने देखा कि मैंने बड़ी भारी गलती की। ज्यों ही मैंने नड़ियाद (गुजरात) में दूरंदेशी का अभाव पाया त्यों ही मैंने उसे "हिमालय के बराबर गलत-अन्दाजी" बताया। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं थी। और यदि इस से भारत की नैतिक उन्नति में हानि नहीं हुई है तो इसका कारण यह है कि भूल को साफ और पूरे तौरपर कुबूल करलेने की बुद्धि मुझमें थी। अब अगले कुछ सप्ताहों में "स्वदेशी" का आंदोलन एकाग्र होकर करना है। ऐसे समय, मैं एक और भूल स्वीकार कर लेना चाहता हूँ। अध्यापकों और विद्यार्थियों के साथ बातचीत में तो मैंने उसे पहले ही कबूल कर लिया है परंतु अपने चित्त की शांति और साथही वर्तमान स्वदेशी-प्रचार के कार्य्य के लिए उसे सब लोगों के सामने अधिक निश्चित रूपसे स्वीकार करलेना आवश्यक है। इन नौ महीनों के अनुभवों ने यह बात पक्की कर दी है कि सरकारी शिक्षा-संस्थाओं का बहिष्कार करना ठीक ही था परंतु उस समय विद्यार्थियों को जो मार्ग बताये गये उन में मेरी कमजोरी थी। इसे मैं कमजोरी इस लिए कहता हूँ कि मैंने अपने विश्वास का निश्चय, दूसरे को कर देने की क्षमता पर विश्वास नहीं किया। मैंने इसके नतीजे को भगवान् के भरोसे छोड़ देने के बजाय खुद ही उसकी चिंता की और इससे मुझमें दुर्बलता आगई एवं लडकों से कहा कि मदरसे छोड़ देने पर, चाहे गलियों में घूमते फिरो, चाहे वैसी ही पढ़ाई पढ़ो या, सबसे बेहतर, स्वराज्य के स्थापित होने तक हाथ-कताई के काम में लग जाओ। परंतु नागपुर कांग्रेस के प्रस्ताव के बाद ही मैंने जान लिया कि लड़कों को बहुतेरे मार्ग बताकर मैंने गलती की। परंतु अकाज तो पहले ही हो चुका था। वह पिछले सित्तम्बर में शुरू हुआ और जनवरी से मैं उसे सुधारने लगा। परंतु मरम्मत तो हमेशा पैबंद का काम देती है। और इसी तरह अधिकतर असहयोग के विद्यालयों में चरखा कातना एक अनावश्यक कार्य्य या कालक्षेप का साधन हो गया है। मुझे साहस करके सारी सच्ची बात कहनी चाहिए थी और बताना चाहिए था कि हाथसे कातना और बुनना शिक्षा संस्थाओं के बहिष्कार के प्रस्ताव का अभिन्न अंग है। हां, यह सच है कि इस से बहुत थोड़े लड़कों ने स्कूल छोड़े होते। परंतु उन्होंने उन लड़कों की बनिस्बत जिन्होंने इस मार्गके विषयमें निश्चित कल्पना किये बिना ही स्कूल और कालेज छोड़ दिये, बहुत ज्यादह काम किया होता। अबतक तो वे हाथ-कताई और हाथ-बुनाई में प्रवीण हो गये होते और हमारा स्वदेशी का काम ज्यादह आसान हो गया होता। मैं जानता हूँ कि असहयोग-विद्यालयों के अध्यापक और विद्यार्थी अपनी काफी शक्ति इसमें लगा रहे हैं परन्तु यह मानना होगा कि वे उसे दिक्कत के साथ कर रहे

हैं। वे सामान्य रूप से स्वदेशी या हाथ-कताई के विषय में कोई विश्वास लेकर नहीं आये हैं। उन्होंने इस प्रश्नपर सिर्फ शिक्षाकी दृष्टि से ही विचार किया। और ऐसा करनेका उन्हें अधिकार भी था। उनके लिए तो बस इतना ही काफी था कि वे सरकारी शिक्षालयों से निकल आये और सरकार का मान कर दिया। अब यह कहना उनको अखरेगा कि तुम्हारा बहिष्कार पूर्ण तभी हो सकता है जब तुम सूत और खादी तैयार करो, और इस नयी (स्वराज्यकी) शिक्षाविधि की आरम्भिक पढाई तो यही है कि इस संग्राम-समय में हाथ-कताई का तथा कपडा तैयार करनेकी दूसरी क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त किया जाय।

परन्तु अब जबकि गलती हो चुकी है तो मुझे उसकी सजा भोगना लाजिम है और वह इस रूपमें कि धीरज के साथ शंका-कर्त्ताओं को यह इत्मीनान दिलाने का प्रयत्न करूँ कि यदि मैंने असहयोग के शिक्षा-विभाग में हाथ-कताई को भी एक आवश्यक बात बनाने पर जोर दिया होता तो अच्छा होता। अतएव मैं उन सब लोगों को जिन का मत मुझ से मिलता है, आवाहन करता हूँ कि आप अब इस हानि को पूरा करने में जल्दी कीजिए और जिन राष्ट्रीय संस्थाओं पर आपका प्रभाव है, उनमें सूत और खादी तैयार कराने के काम में सरगर्मी से लग जाइए। शिक्षकों की मांगे मुझ से न कीजिए। मेरे पास ही बहुत थोड़े हैं। परंतु उन्हें मैं यह बताये देता हूँ कि कपडा बनाने के लिए गांठकी रूई पर जो, आम तौर पर मिलती है, कौनसी क्रिया किस तरह करनी चाहिए। सबसे पहले वह धुनी जानी चाहिए। हिंदुस्तान का ऐसा कोई हिस्सा नहीं जहां धुनिया या पिंजारे न मिलते हों। वे धुन दे सकते हैं और एक दो रोज ध्यान देने से आप उस रीतिको समझ सकते हैं। छः घंटा रोज के हिसाब से एक हफ्ते के अभ्याससे आप साधारणतः अच्छी तरह धुन सकते हैं। धुनी हुई रूई की अब पूनियां बना लीजिए। पूनी बनाना तो इतना सीधा काम है कि एकाएक कोई उस पर विश्वास भी नहीं करेगा।

अब रूई सूत कातने योग्य हो गई। सूत कातना तो कोई भी सूतकार सिखा सकता है। वही सूत 'सूत' हो सकता है जिसमें गर्द न लिपटी हो, जो बराबर-एकसा-हो और अच्छा बट खाया हुआ हो। एकसा और अच्छा बट खाया हुआ न होगा तो वह बुना नहीं जायगा।

इसके बाद मांडी लगाई जाती है। इसका अभ्यास कुछ कठिन है। मुझे उसका कोई वैज्ञानिक नियम मालूम नहीं जिससे यह बताया जा सके कि उसमें कौन वस्तु कितनी होती है। यह काम किसी तजरिबेकार जुलाहे-बुननेवाले-से जानना चाहिए।

सूत बांधने की क्रिया भी अलहदा सीखनी चाहिए। सायकल पर बैठना सीखने की तरह इसमें भी कुछ तरकीब से काम लेना पड़ता है, जो कि आसानी से आ सकती है।

अब रही बुनाई। यह केवल अभ्यास की बात है। इसका तत्त्व एक ही दिन में समझमें आजाता है। मैं दावेके साथ कहता हूँ कि इसकी क्रिया बड़ी आसानी के साथ सीखी जा सकती है। पाठक इस पर आश्चर्य न करें। सारा आवश्यक और स्वाभाविक कार्य्य आसान है। बस, प्रवीणता प्राप्त करने के लिए सिर्फ लगातार अभ्यास की जरूरत है, और यह काम के पीछे पड़े रहनेसे होता है। कामके पीछे पड़े रहने की योग्यता ही स्वराज्य है। यही योग है। और न पाठकों को वही काम बार बार करते हुए उक्ता ही जाना चाहिए। एक-रूपता

अर्थात् एक ही बात का बार बार होना, तो प्रकृतिका नियम ही है। सूर्य को देखिए, किस तरह वह बार बार उदय होता है। यदि सूरज, लहरी बनकर, कहीं मनोरंजन करने में अटक जाय तो ख्याल कीजिए, दुनिया पर कैसी आफत का पहाड़ टूट पड़े? एक-रूपता ही से रक्षा और एक-रूपता ही से संहार होता है। आवश्यक कार्यों की एक-रूपता से प्रफुल्लता और जीवन मिलता है। कारीगर अपनी कारीगरी से कभी नहीं उकताता। जो सूतकार सूत-कातनेकी विद्या में निपुण है वह निश्चय ही बिना थकावट के लगातार काम करता रहेगा। सूत कातने में जो संगीत निकलता है उससे अच्छा कातने वाला तुरंत ही आनंद लाभ करने लगता है। और जब भारतवर्ष सूत कातने के बलपर स्वराज्य को प्राप्त कर लेगा तो उसका यह काम सौंदर्यसृष्टि के नाम से प्रसिद्ध होगा और सदा के लिए आनन्द का विषय होगा। परंतु यह चरखे के बिना नहीं हो सकता। अतएव भारतवर्ष के लिए सबसे श्रेष्ठ राष्ट्रीय शिक्षा यही है कि बुद्धि-पूर्वक चरखे के काम को हाथ में लिया जाय।

(यंग इंडिया से) मोहनदास करमचन्द गांधी

मृत्यु का भय

स्वराज्य की बहुत सी व्याख्यायें मैं एकत्र कर रहा हूँ। उन में एक व्याख्या यह भी है - मृत्यु के भय का त्याग। जिस देश के लोग मौत के डर से घबड़ाये रहते हैं वह न तो स्वराज्य प्राप्त कर सकता है और न उसे संभाल ही सकता है। अंगरेज लोग तो मौत को जेब में लिए लिए घूमते हैं; अरबी और काबली मरण को एक मामूली बीमारी समझते हैं। जब उनके यहां कोई मर जाता है तो वे रोते-पीटते नहीं। बोअर-स्त्रियां तो जानती ही नहीं थी कि मरण भय क्या चीज है? बोअर-युद्ध के समय हजारों बोअर युवतियां विधवा हो गईं पर उन्होंने कुछ परवा न की। उन्होंने अपने दिल को समझाया कि "मेरे पिता या पुत्र मर गये तो क्या हुआ, मेरे देश की इज्जत तो कायम रही। यदि देश गुलाम हो जाता तो पति के रहने से भी क्या होता? अपने गुलाम बेटे को, पर्वरिश करने की अपेक्षा तो उसकी लाश को कब्र में दफना देना और उसकी आत्मा को याद करते रहना ही अच्छा है।" इस तरह धीरज रखकर असंख्य बोअर-रमणियों ने अपने प्रिय-जनों को बिछुड़ने दिया।

ये तो उन लोगों के उदाहरण हैं जो खुद तो मरते ही हैं पर दूसरों को मारते ही हैं। परन्तु जो लोग मारते नहीं, सिर्फ मरते भर हैं, उनकी क्या पूछना? ऐसों की तो संसार पूजा करता है। ऐसों के बदौलत देश का उत्कर्ष होता है। योरपीय महाभारत में अंगरेज और जर्मन दोनों आपस में लड़े। दोनोंने दूसरों को मारा भी और खुद मरे भी। फल यह हुआ कि शत्रुता बढ़ गई, अशांति बढ गई और आज योरप की दशा दयाजनक हो गई है; पाखण्ड की वृद्धि हुई है और एक दूसरे को फांसने की पेशबंदी कर रहे हैं। परंतु जिस मृत्यु-भय को छोड़ने का दीर्घ प्रयत्न हम कर रहे हैं वह तो एक शुद्ध-यज्ञ है और उसके द्वारा हम, थोडे ही समय में बडी भारी विजय प्राप्त करने की आशा रखते हैं।

जब हमें स्वराज्य मिल जायगा तब या तो हममें से अधिकतर लोगोंने मौत का डर छोड़ दिया होगा या - यह कहना चाहिए कि स्वराज्य मिला ही न होगा। अभीतक तो देश के ज्यादातर नौजवान लोग ही मरे हैं। अलीगढ़ में जितने लोगों की जानें गई हैं वे सब 21 वर्ष से कम अवस्थावाले थे। उन्हें तो कोई जानता भी नहीं था। पर, अब भी यदि सरकार को खून खराबी की हवस हो तो मैं आशा करता हूँ कि इस समय देशका कोई पहली श्रेणी का मनुष्य उस की गोलियों का ग्रास होगा।

बालक मरें चाहे जवान या बूढ़े मरें, हम इससे भयभीत क्यों हों? कोई पल ऐसा नहीं जाता जब इस जगत् में कहीं किसी का जन्म और कहीं किसी की मृत्यु न होती हो। पैदा होने पर खुशियां मनाना और मौत से डरना बड़ी मूर्खता है। यह बात हमें अवश्य सदा अनुभव करनी चाहिए। जो लोग आत्मवादी हैं - और हम में कौन हिन्दू, मुसलमान या पारसी ऐसा होगा जो आत्मा के अस्तित्व को न मानता होगा? - वे जानते हैं कि आत्मा कभी मरता नहीं। यही नहीं, बल्कि जीवित और मृत, समस्त प्राणी, एक ही हैं, उनके गुण

भी एक ही हैं। इस दशा में, जबकि जगत् में उत्पत्ति और लय पल पल पर होता ही रहता है, हम क्यों खुशियां मनावें? और किसलिए शोक करें ? सारे देश को यदि हम अपना परिवार मानें - यदि हमारी भावना इतनी व्यापक हो जाय। और देश में जहां कहीं किसी का जन्म हुआ तो उसे अपने यहां ही हुआ मानें तो, कितने जन्मोत्सव मनाइएगा? देश में जहां जहां मृत्युयें हों उन सब के लिए यदि हम रोते रहें तो हमारी आंखों के आंसू कभी बन्द ही न हों। यह सोच कर हमें मृत्यु का डर छोड़ ही देना चाहिए।

और देश के लोगों की अपेक्षा प्रत्येक भारतवासी ज्ञानी, अधिक आत्मवादी होने का दावा रखता है। तिस पर भी मौत के सामने जितने दीन हम हो जाते हैं उतने और लोग शायद ही होते हों। और उस में भी मेरा खयाल है कि हिन्दू लोग जितने अधीर हो जाते हैं उतने भारत के दूसरे लोग नहीं। अपने यहां किसी का जन्म होते ही हमारे घरोंमें आनन्द-मंगल उमड़ पडता है और जब कोई मर जाता है तब इतना रोना-पीटना मचता है कि आस-पास के लोग भी हैरान हो जाते हैं! यदि हम स्वराज्य लेना चाहते हैं और अपने को उसके योग्य सिद्ध करना चाहते हैं तो हमें मृत्यु का भय बिल्कुल छोड़ ही देना चाहिए।

और जो मनुष्य मृत्यु का भय छोड़ देगा उसे जेल का भय क्यों कर होगा? पाठक यदि विचार करेंगे तो उन्हें मालूम हो जायगा कि स्वराज्य-प्राप्ति में हमें जो विलम्ब हो रहा है उसका एकमात्त कारण है - हम लोगोंमें मृत्यु तथा उससे भी नीचे दरजे के दु:खों को सहने की शक्ति का अभाव।

ज्यों ज्यों अधिकाधिक निरपराध मनुष्य जान-बूझ कर मौत की भेंट के लिए तैयार होते जायंगे त्यों त्यों दूसरे लोगों का बचाव होता जायगा और दु:ख भी कम से कम होगा। जो दु:ख खुशी के साथ सहन किया जाता है वह दु:ख नहीं रहता, बल्कि सुख हो जाता है। जो दु:ख से जी चुराता है वह बहुत कष्ट उठाता है और संकट के उपस्थित होने पर निर्जीव-सा हो जाता है। जो आनन्द के साथ दु:ख का स्वागत करने के लिए पैर बढाता है उसे वह आरम्भिक दु:ख हो ही कैसे सकता है, जो केवल दु:खकी कल्पना से ही उत्पन्न होता है? और उसका आनन्द तो क्लोरोफार्म का काम करता है.

इस विषय पर इस समय जो मुझे इतना लिखना पडा वह इसलिए कि यदि हमें इसी वर्ष स्वराज्य प्राप्त कर लेना है तो मृत्यु का विचार भी कर लेना होगा। जो लोग पहले से तैयारी कर रखते हैं वे आपत्तिसे बच जाते हैं। हमारे विषय में भी चाहे ऐसा हो जाय। मेरा दृढ़ विश्वास है कि 'स्वदेशी आन्दोलन' हमारी पेशबंदी है। यदि इस में हमारी फतेह हो गई तो, मैं समझता हूँ, सरकार को अथवा किसी को हमारी 'अग्नि-परीक्षा' की आवश्यकता ही न रहेगी।

परन्तु, इतना होने पर भी, यह आवश्यक है कि हम गफलत में न रहें। सत्ता अंधी और बहरी होती है। वह अपने पास की घटनाओं को भी नहीं देख सकती। अपने कान के पास का कोलाहल भी वह नहीं सुन सकती। अतएव, नहीं कह सकते कि जो सरकार मदोन्मत्त

है वह क्या न कर बैठेगी ? इस लिए मेरे मन में यह खयाल उठा कि अब देश-सेवकों को मृत्यु, जेल अथा दूसरी आपत्तियों के स्वागत-एक मित्र की तरह स्वागत-करने की तैयारी कर रखनी चाहिए।

एक शूर-वीर जिस प्रकार हंसते हुए मृत्यु-का स्वागत करता है उसी प्रकार वह सावधान भी रहता है। शांतिमय संग्राम में तो गफलत के लिए जगह ही नहीं है। हम ऐसे अपराध करके कि जो नीति और सदाचार के विरुद्ध हैं, जेल नहीं जाना चाहते न फांसी पर लटकना ही चाहते हैं। हमें तो सरकार के अन्याय-मूलक कानूनोंका सामना करते हुए 'बलिदान' होना है।

(नवजीवन से) **मोहनदास करमचन्द गांधी**

मारवाड़ी-सुधार

(आरा, बिहार)

वर्ष-१, अंक १

चैत्र १९७८ वि., १९२१ ई.

सम्पादक का वक्तव्य

ब्रह्मा दक्षः कुबेरो यमवरुणमरुद्वह्नि चन्द्रेन्दुरुद्राः
शैला नद्यः समुद्रा ग्रहगणमनुजा दैत्यगन्धर्वनागाः
द्वीपा नक्षत्रतारा रविवसुमुनयो व्योम भूरश्विनौ च
संलीना यस्य सर्वे वपुषि स भगवान्पातु वो विश्वरूपः॥

जगदाधार जानकीजीवन की असीम कृपा से आज यह 'मारवाड़ी-सुधार' लेखमाला के रूप में प्रकट होता है। जिस परमात्मा की कृपा से यह सारा संसार चलता है, वही 'सुधार' को भी सच्चे मार्ग पर स्थिर रखे। इस 'सुधार' को सुधा-धार से सींचनेवाले उदार सज्जनों के प्रति हम बड़ी कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

इसे मासिक पत्र के रूप में निकालने का विचार किया गया था, किन्तु आश्चर्य और दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आज छः महीने का समय बीत गया, पर अभी तक डिक्लेरेशन पर प्रान्तीय सरकार की आज्ञा नहीं मिली। ग्राहकों, अनुग्राहकों, पाठकों एवं लेखकों के प्रबल अनुरोध तथा आग्रह से विवश होकर 'सुधार' को तबतक के लिए लेखमाला का रूप देना पड़ा, जबतक प्रान्तीय सरकार की आज्ञा नहीं मिलती। अतएव, इसी रूप में पाठक इसे तबतक के लिए स्वीकार करने की कृपा करें। जब सरकारी आज्ञा मिल जायगी, तब इसके रूप-रंग में आवश्यक हेर-फेर करके विशेष मनोहर और उपयोगी तथा चित्ताकर्षक बनाने की चेष्टा की जायगी। इस लेखमाला को प्रकाशित करने में भी बड़ी-बड़ी कठिनाइयां झेलनी पड़ी हैं, किन्तु परमेश्वर की दया से सभी विघ्न-बाधाओं को पारकर बड़े सौभाग्य से यह लेखमाला भी उत्सुक प्रेमियों की सेवा में भेंट की जा सकी है। अपनी अड़चनों का हाल सुना कर पाठकों को खिन्न बनाना अभीष्ट नहीं है। जिन महाशयों की सहायता से उत्साहित होकर यह 'सुधार' कर्मक्षेत्र में भेजा जा रहा है, उनको कोटि-कोटि धन्यवाद है।

इसका नामकरण इसलिए ऐसा किया गया कि यह 'आरा' की 'मारवाड़ी-सुधार समिति'[१] का मुखपत्र होगा। अपने उद्देश्यों के प्रचार और मन्तव्यों की सिद्धि के लिए उक्त समिति का यही एकमात्र प्रधान साधन होगा। इसके नाम से ही इसका मुख्य उद्देश्य लक्षित

---

१. आरा-नगर के तीन मारवाड़ी-नवयुवकों - श्रीनवरंगलाल तुलस्यान, श्रीहरद्वार प्रसाद जालान और श्रीदुर्गाप्रसाद पोद्दार - ने सन् १९२० ई. में इस समिति की स्थापना की थी। वे ही इसके संचालक भी थे। 'मारवाड़ी-सुधार' इसी संस्था का मासिक मुखपत्र था। उसके प्रकाशन के लिए सरकारी आदेश मिलने में विलम्ब होने के कारण उसके आरम्भिक दो अंक लेखमाला के रूप में निकले थे। -ले.

होता है।

इसका प्रधान उद्देश्य केवल मारवाड़ी-समाज की कुरीतियों को दूर करके उस समाज का वास्तविक परिष्कार करना ही है। इसके द्वारा समय-समय पर मारवाड़ी-समाज की कुप्रथाओं की तीव्र एवं निर्भीक आलोचना की जायगी। मारवाड़ी--जाति की उन्नति को अपना एकमात्र लक्ष्य बनाकर यह सदा निष्पक्ष भाव से अपने मन्तव्य पर डटा रहेगा। यदि इसके द्वारा मारवाड़ी-समाज का कुछ भी मंगल-साधन हो सका, तो यह अपना जन्म सार्थक समझेगा।

मारवाड़ी-समाज के अभ्युदय में तत्पर रहने के लिए ही इसने जन्म ग्रहण किया है। फिर भी यदि इसके मनोरथ छूछे पड़ गये तो इसका जन्म तो निरर्थक होगा ही, मारवाड़ी-समाज पर भी सदा के लिए अमिट कलंक की छाप लग जायगी। कारण यह है कि जबतक मारवाड़ी-समाज इसे अपना निजी हितू समझकर नहीं अपनावेगा, तबतक इसे किसी जन्म में सफलता मिल भी नहीं सकती। इसलिए मारवाड़ी भाइयों से सविनय निवेदन है कि वे इस खयाल से कि मारवाड़ी-समाज में एक ऐसे उत्तम हितैषी और स्पष्टवादी मित्र तथा सच्चे सुधारक की अत्यन्त आवश्यकता थी, इसको सहृदयता के साथ अपनावें। यदि ऐसे एकान्त शुभचिन्तक का अनादर करके मारवाड़ी भाई अपनी उसी सत्यानाशिनी नींद में पड़े रहेंगे तो फिर उन्हें कुछ ही दिनों में बहुत पछताना पड़ेगा।

इस 'सुधार' का अवतार इसलिए आवश्यक समझा गया कि मारवाड़ी अग्रवाल-महासभा के सिवा अभी तक ऐसा कोई साधन नहीं है, जिसके द्वारा मारवाड़ी-समाज का सुधार और उत्थान संभव समझा जाय। जबतक कोई सर्वोत्तम साधन देखने में नहीं आता, तबतक यही अपनी शक्ति के अनुसार कुछ समाज-सेवा करने के विचार से प्रेरित होकर कार्य्यक्षेत्र में उतरता है। यदि मारवाड़ी भाइयों ने इसकी आवश्यकता का महत्त्व समझ लिया तो यह आजन्म उनकी शुभकामना और वृद्धि में लीन रहकर कृतार्थ होगा।

यह कहना अनुचित न होगा कि मारवाड़ी जाति में सामाजिक सुधारों की बेहद गुंजाइश है। भारत की सबसे धनाढ्य जाति की जब यह दशा है, तब भला इस देश का शीघ्र कल्याण कैसे हो सकता है! सबसे बढ़कर सम्पत्तिशालिनी होकर भी यह जाति अपनी सामाजिक बुराइयों को नहीं जानती और यदि कुछ जानती भी है तो उसके निवारण का सफल प्रयत्न नहीं कर सकती। इसका कारण यह है कि इस जाति के लोगों में शिक्षा का सरासर अभाव है। मालदार मारवाड़ियों के पासंग में भी विद्वान मारवाड़ी नहीं हैं; क्योंकि मारवाड़ियों को विद्या से बहुत कम अनुराग है। उनका जितना काफी समय और प्रेम उनके व्यवसाय में लग जाता है, यदि उसका कुछ हिस्सा भी विद्योपार्जन और शिक्षा-प्रेम में खर्च होता, तो वे आज भारत की डगमगाती नैया के कुशल कर्णधार हो सकते।

हित की बात सचमुच बड़ी कड़वी होती है। इसलिए कुछ भाइयों को ऊपरवाली बात बेतरह खटकेगी, किन्तु अपने दृढ़ संकल्प और अटल नीति की ओर से देखते हुए ऐसा बरबस करना ही पड़ता है। जो मारवाड़ी-समाज के शुभचिन्तक हैं, उनके सामने सामाजिक कुरीतियों को उपस्थित करने में यह 'सुधार' कभी कोताही न करेगा। इस सुधार का जन्म

उसी दिन चरितार्थ होगा जिस दिन इसके द्वारा मारवाड़ी-भाइयों में जातीय गौरव जाग उठेगा, राष्ट्रभाषा हिन्दी का अविरल अनुराग उत्पन्न हो जायगा और उनका हृदय देशाभिमान के भव्य भावों का भरपूर भाण्डार हो जायगा।

मारवाड़ी भाइयों से यही विनीत प्रार्थना है कि वे इस प्रतिज्ञा पर विश्वास रखें कि प्रतिमास इस 'सुधार' का अंग अच्छे-अच्छे हितकर लेखों से सुशोभित रहा करेगा। मारवाड़ी-समाज के सच्चे सुधारों के पक्षपाती विद्वानों के लिखे हुए उत्तम लेख, कविता, गद्य, कहानी, प्रहसन और नाटक तथा स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी लेख आदि इस लेखमाला में निकला करेंगे। साम्प्रदायिक मतभेदों, संकीर्ण विचारों, आधुनिक राजनीति के अनर्थकारी झगड़ों और व्यक्तिगत आक्षेपों को इस लेखमाला में कभी स्थान नहीं दिया जायेगा। सब तरह के कलहों से किनारे रहकर केवल अपनी जाति और समाज में सदा नवीन युग का सच्चा सन्देश सुनाते रहना ही 'सुधार' का ध्येय होगा। जिस दिन मारवाड़ी भाइयों की आँखों के आगे प्राचीन आदर्शों की महत्ता की झलक दिखा कर यह 'सुधार' जातीय जागृति की जाह्नवी और भारतीय भावों की भगीरथी की निर्मल धारा से समस्त समाज को परिप्लावित कर देगा, उसी दिन इस प्रतिज्ञा की पूर्ति होगी।

हमारी समझ में मारवाड़ियों के जातीय महत्त्व की वृद्धि के लिए जिन अमोघ साधनों की आवश्यकता है, उनमें सर्वश्रेष्ठ है मारवाड़ी-अग्रवाल-महासभा में स्वीकृत प्रस्तावों को शीघ्र ही कार्य-रूप में परिणत करना। यदि करुणावरुणालय की कृपा-दृष्टि इसी प्रकार 'सुधार' पर सुधावृद्धि करके साहस की सृष्टि करती रहेगी, तो उन निश्चित प्रस्तावों की सफलता के आन्दोलन में यही 'सुधार' कर्णधार बनने की चेष्टा करेगा। किन्तु सब कुछ आप भाइयों की ही सहानुभूति पर निर्भर है। अतएव सभी भाइयों से यह अन्तिम प्रार्थना है कि जिस प्रकार आप लोगों की स्वाभाविक उदारता पर विश्वास करके जाति-हित और समाज-सेवा के साथ-साथ हिन्दी-साहित्य-सेवा करने के लिए - अपनी असमर्थता पर क्षोभ न करके, किन्तु अपने दुस्साहस पर लज्जित होते हुए भी - यह 'सुधार' युगान्तर उपस्थित करने वाली लेखमालाओं की घुड़दौड़ में सम्मिलित होने के लिए भेजा जाता है, उसी प्रकार आप लोग भी अब कृपा करके ऐसी उदारता दिखलावें कि यह 'सुधार' निराधार न होने पावे।

अन्त में हम उन सहृदय सहायकों के प्रति आन्तरिक कृतज्ञता प्रकट करना अपनी परम कर्त्तव्य समझते हैं; जिनकी ओजस्विनी लेखनी के सरस प्रसाद-वितरण से यदि हम वंचित रह जाते, तो सुधार का उद्धार ही नहीं होता - अधिक क्या कहें, उसका संसार-प्रवेश ही असंभव था। अतएव जिन महोदयों ने सुधार का सत्कार और उपकार किया है, उनका हम अनेक बार आभार अंगीकार करते हैं। अब हमारी अभिलाषा है कि आप सभी भाई मिल-जुलकर ऐसा शुभ आशीर्वाद दीजिए कि यह 'सुधार' सफलता-देवी के अभय वरद पाणि-पल्लव की सघन शीतल छाया में सुख-शान्तिपूर्वक निवास करे और अपने सब तरह के सच्चे सहायकों की कीर्त्ति-पताका का अखण्ड दण्ड बना रहे।

नवीन राजस्थान

(अजमेर)

वर्ष १, अंक १०, चैत्र शुक्ला ५ रविवार संवत् १९७९

राजस्थान और नववर्ष

नवीनता किसे बुरी लगती है! बुरी लगना तो दूर की बात है वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो संसार की सारी खटपटों की जड़ में नवीनता दबी ही वर्तमान मिलेंगी। जिसे देखिए वह नवीनता का आशिकज़ार मिलेगा। नवीन अवस्था प्राप्त करने ही के लिए मनुष्य घोर से घोर दुष्कर्म करते हैं और नवीन वासनाओं की पूर्ति के लिए ही रचे जाते हैं बड़े २ संग्राम एवं अच्छे से अच्छे यज्ञ। सजीव ही नहीं, निर्जीव और स्वर्गीय सृष्टि तक इस भयानक रोग से मुक्त नहीं। प्रकृति एक पुष्प को खिलाकर पूरी सुगंध फैलाने के पूर्व ही इसलिए उसे भूमि पर पटक देती है कि वह पुराना हो चुका है। सूर्य इसी लिए जल शोषण में तत्पर रहता है कि उसके लिए जल जगत सृष्टि को एक ही रूप में देखते रहना असह्य है, बिचारे चन्द्रमा को इसीलिए १५ दिन घटना और १५ दिन बढ़ना पड़ता है कि सुरपति उसे नित्य नवीन रूप में देखना चाहता है। सार यह कि सारा संसार नवीनता का उपासक है, भक्त है! परन्तु नवीनता संसार की भक्त नहीं। यह उसी की भक्त है जो पहले की सारी त्याज्य सामग्री कुर्बान कर उसके लिए पूरा स्थान रिक्त कर देता है- उसके पीछे फ़कीर-मजनू बन बैठता है। एक वृक्ष अपने पुराने पुष्प की बलि देकर ही फिर नए सुधा फल की आशा कर सकता है और बीज स्वयं बलि होकर ही वृक्षको जन्म दे सकता है, अन्यथा नहीं।

भारतवर्ष में यह सप्ताह नवीनता की इसी लीलामय स्मृति को उद्दीपित करता हुआ अवतरित होता है। वह अपनी नवीनता का परिचय केवल इतिहास के पृष्ठों या कथानकों से नहीं देता; कृति से देता है। वह जब आता है शिशर के सताए, किन्तु उस की चपेटों का सामना दृढ़तापूर्वक करके अपनी रक्षा कर सकने और नवीनता के लिए ही अपना सर्वस्व लगा देने वालों को हरे भरे कुसुमित बनाता ही आता है। पीड़ित प्रकृति उसके आगमन की सूचना-मात्र से पागल हो उठती है। स्वागत की तयारियों में वह दिन रात एक कर देती है। हरी२ दूब में नए पुष्पों को बिछा कर वह गलीचा बनाती है। लताओं को नवीन पल्लवों के वस्त्रों और गुल्मों को नवीन पुष्पाभरणों से सजाती है और ज्यों ही नूतन वर्ष आता है सब कुछ गद् गद् होकर उसके चरणों पर चढ़ा देती है! नूतन वर्ष इस भेंट से प्रसन्न हो शिशिर दलित सुदामा को मालामाल कर देता है, थोड़े ही दिनों में प्रकृति को अपनी शिशिराधीन अवस्था का स्मर्ण तक नहीं रहता।

× × × × × × ×

नूतन वर्ष और प्रकृति का यह अभिनय नवीनता के नए उपासक और नववर्ष को विशेष उत्सव के रूप में मानने वाले राजस्थान के लिए एक विशेष संदेश रखता है। उस का संदेश

हैं कि यदि तुम्हें वास्तव में अपनी वर्तमान अवस्था असह्य हो चुकी है, यदि अत्याचारों के धारा प्रवाही दृश्यों को देखते २ जी ऊब उठा है, यदि अपने भाइयों की वर्तमान दुरावस्था के कारण क्रोध और घृणा से तुम्हारा जी जल रहा है, यदि तुम किसी भी मूल्य पर नवीनता का स्वागत करने को तयार हो तो नवीन वर्ष तुम्हारे द्वार पर उपस्थित है और तुम्हें उसका स्वागत करने का पूर्ण अधिकार है। इस बात की आवश्यकता नहीं कि सारा देश इस अनुष्ठान के लिए तैयार हो, तभी यह हो सकता है। एक व्यक्ति भी इस अनुष्ठान को कर सकता है और उसका व्यक्तिगत अनुष्ठान भी देश के लिए एक महान उपयोगी और महत्व पूर्ण सामग्री हो सकती है। प्रह्लाद ने इस बात की प्रतीक्षा नहीं की थी कि अत्याचारों के नाश में सारा देश उसका साथदे। उसे अपनी, अपने देशवासियों की अनुचित परतंत्रता असह्य हुई और उसने अपने सुख एवं जीवन तक को बलिवेदी पर रख दिया-सत्याग्रह आरम्भ कर दिया। एक ओर पिता था दूसरी ओर पुत्र। इतना पितृत्व और पुत्रत्व के भावों का पुराना घटाटोप और इतना लोकनिन्दा का भय। फिर भी इस धार्मिक संग्राम में सत्याग्रह और दुराग्रह के युद्ध में किसी के शस्त्र में नरमी नहीं आई। पिता ने पुत्र को मारने के लिए सब सम्भव उपायों का प्रयोग किया। पर्वत से गिराया, जल में डुबाया, अग्नि में जलाया, प्रलोभन दिखाया और भय दिखाया। किन्तु दूसरी ओर प्रह्लाद टस से मस न हुआ। उसने कह दिया कि मैं अकेला हूं, तू सहस्त्रों साथी रखनेवाला है, मेरे दो भुजाएं हैं तेरे संकेत पर उठने वाली लाखों भुजाएं हैं, मैं निःशस्त्र और युद्ध सामग्री प्राप्त कर सकने में असमर्थ हूँ, तेरे पास अगणित सेना और युद्ध-सामग्री तैयार है, तू चक्रवर्ती शासक है, मैं एक साधारण निस्सहाय, माता पिता तक को शत्रु बना लेने वाला बालक हूं, परन्तु मुझे विश्वास हो गया है कि वर्तमान पापपूर्ण अवस्था में रहना धर्म के विरुद्ध है और इसलिए मैंने निश्चय कर लिया है कि या तो इस शासन व्यवस्था का नाश ही करके रहूंगा या इसके विरुद्ध संग्राम करते हुए समरशायी हूंगा। अन्त में इस अकेले बली योद्धा के प्रेम पर मुग्ध होकर नवीनता ने उसे वरमाला पहनाई और नृसिंह ने पुरानी व्यवस्था का एक ही मिनट में अन्त कर दिया। इटली का उद्धार कर्ता महात्मा मेज़िनी भी जिस समय अपने देश की अवस्था में नवीनता लाने को खड़ा हुआ तब उसका कोई साथी नहीं था। किन्तु उसने निश्चय कर लिया कि व्यक्तिगत रूप से यह जो कुछ कर सकता है और जो कुछ करना अपना कर्तव्य समझता है, उसे वह प्राण पण से करेगा। उसने नवीनता के लिये जेल, देश-निकाला आदि सब कुछ सहा और सुख, घर यार आदि सब कुछ त्यागा। नवीनता के स्वागत के लिये स्थान खाली कराने की उसे यहां तक जल्दी थी कि उसने उद्देश्य पूर्ति के लिये गुप्त समितियों और सशक्त सैनिकों तक का संगठन किया और चाहे जिस प्रकार, पुराने पापों के नाश का बीड़ा उठा लिया। अन्त में उसकी तपस्या पर नवीनता देवी प्रसन्न हुई और उसने उस परतंत्र देश को सनाथ किया। सुख भोगों और व्यक्तिगत इच्छाओं की विदा कर दिया जाय- सिर को हथेली पर रख लिया जाय। छिपे २ घूंघट में रोने और गलियों में बातें करने से स्वतंत्रता नहीं मिलती। इस मार्ग में पुष्पों के सुकोमल गलीचे नहीं बिछे हैं, विषाक्त कांटों की दीवारें हैं। खुला हुआ राजपथ नहीं, दुर्गम वन पूर्ण पथ विहीन पौर्वात्य है और है जल, तृण, छायाविहीन

धूप से जलते हुए मरुस्थल। इसमें ऊषा का शुभ्र निर्मल प्रकाश नहीं, स्वेच्छाचार का अन्धकार है अतः राजस्थानी युवको! यदि तुम्हें माता की सेवा का सच्चा अनुराग है, इसके मंदिर का जीर्णोद्धार करना तुम अपना कर्तव्य समझते हो और नूतन वर्ष को वास्तव में एक सच्चे नवीनता के उपासक की भांति मनाना चाहते हो तो पूरे बल से हार्दिक उत्साह से और इन सब कठिनाइयों का सामना करने का निश्चय करके क्षेत्र में उतर पडे!! निश्चय कर लो कि हमें मरुस्थल को ही मानसरोवर बनाना है, पर्वतों को ही नन्दन-कानन बनाना है और कांटों में ही हंसते हुए पुष्प खिलाने हैं। प्रण कर लो कि इस अंधकार में ही प्रकाश फैलाएंगे, कांटों पर दौड़ लगाएंगे, चने चबाएंगे किन्तु संग्राम से न हटेंगे। हमारी पूजा न किसी जाति के लिए होगी न किसी समुदाय के लिये! हम जब बाहरी रुकावटों को दूर करेंगे तो बस बाधाओं को भी शेष न रखेंगे! हमारी सेवा किसी व्यक्ति के चरणों पर अर्पित न होगा वह समष्टि रूप राजस्थान के चरणों में अर्पित होगी और इस पूजा के अन्त तक हमारा जाप मंत्र होगा—

हतो वा प्राप्यसि स्वर्ग जित्वा वा मोक्ष्यसे महीम्।

राजस्थानियों में भी इस समय नवीनता की पिपासा बेतरह बढ़ रही है। स्थान २ पर असंतोष का विस्फोट होना इस बात का द्योतक है कि इस वीरभूमि की संतानें अब वर्तमान अवस्था को एक क्षण के लिये भी पसंद नहीं करतीं। परन्तु प्रश्न यह है कि उन्होंने अपने घरों को नवीनता देवी के स्वागत के लिये तयार कर लिया है क्या? क्या उन्होंने उसमें से भीरुता और स्वार्थ का कूड़ा निकाल फेंका है और दमन की आग में तपाकर शुद्ध किए हुए कुछ सजीव पुष्प की भेंट के लिए तयार कर लिए हैं? क्या वे निश्चय कर चुके हैं कि नवीनता के स्वागत की जितनी परीक्षाएं हैं उन में उत्तीर्ण होने के लिए हम सब कुछ करेंगे और सहेंगे। यदि सरकारी नौकरी है तो निजी तौर पर इस पाठ को पढ़ेंगे (Prinate Study) करेंगे और नागरिक हैं तो कर्मक्षेत्र की पाठशालाओं में! यदि नहीं, तो उन्हें इस दुराशा का पीछा छोड़ देना चाहिए। किन्तु यदि उन्होंने इसके लिए कुछ तयारी कर ली है तो उनका कर्तव्य है कि वे दृढ़ता से उसे पूर्ण करते चलें।

× × × × ×

इस स्वागत में सबसे अधिक भाग देश के युवक ले सकते हैं और उन्हें ही लेना चाहिये। भावी अवस्था का सबसे अधिक अभाव उन्हीं के जीवन पर होगा और उन्हें ही उसका सामना करना होगा। पुराने झोपड़े चार दिन के मेहमान हैं, अतः उन्हें चिन्ता न होना स्वाभाविक है परंतु साथ ही आवश्यक है दृढ़ निश्चय की। स्वतंत्रता की लड़ाई, आधे मन से नहीं लड़ी जा सकती है। वह तभी लड़ी जा सकती है कि कम से कम युद्ध-काल के लिए सारे तय्यार हों तभी नूतन वर्ष तुम्हारे स्वागत को स्वीकार कर सकता है। तभी तुममें नवीन आशा, नवीन उत्साह, नवीन प्रफुल्लता और नवीन कार्यशक्ति का संचार हो सकता है और तभी तुम्हारी मातृभूमि इस दुर्वेश और दुर्दशा से मुक्त हो, नवीन शौर्य और सद्भावों से सुसज्जित हो सकती है।

हिन्दू संसार

(दिल्ली)

वसंत पंचमी १९८१

दिल्ली में हम

मंगलमय भगवान की प्रेरणा से कलकत्ता समाचार अपने दसवें वर्ष के आरम्भ में महिषासुर मर्दिनी भगवती कालिका के क्षेत्र कलकत्ते से स्थानान्तरित होकर धर्मराज युधिष्ठिर और पृथ्वीराज की कार्यस्थली नगरी इन्द्रप्रस्थ-दिल्ली से हिन्दू संसार नामकरण पूर्वक आज कार्य क्षेत्र में अवतीर्ण होता है।

महामाया श्रीकाली के चरणों ने जिस कलकत्ते को पवित्र कर रखा है, भगवती भागीरथी जिसके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हो, एक शाखा रूप में प्रवाहित हो रही है, जहां देश की वर्तमान पराधीनता का सूत्रपात हुआ, जहां लार्ड कर्जन के लिए बंग-भंग के परिणाम में देशवासियों में जागृति का संचार हुआ और हुआ राष्ट्रीय महासभा का यह निश्चय जिसने हमारी विद्यमान पराधीनता की जड़ खोखली कर दी। जो दस वर्ष पर्यन्त हमारा कार्य क्षेत्र रहा, उस स्थान से मोह होना हमारे लिये स्वाभाविक है परन्तु दूरस्थ होने पर भी हम कार्यरूप से कलकत्ते के सदा समीपस्थ ही रहेंगे।

अब दिल्ली हमारा कार्यक्षेत्र बन गया है। किन्तु दिल्ली की वर्तमान दशा को देखकर हमारे हृदय में रह-रह कर यह प्रश्न उठता है कि यह दिल्ली क्या वही है जो पाण्डव-गौरव से गौरवान्वित थी, महाराज युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में जहां देश देशान्तरों से समागत अतिथियों के पाद-प्रक्षालन का सेवा कार्य स्वयं भगवान कृष्ण ने स्वीकार किया था, पृथ्वीराज ने अपने शत्रुओं का दर्पदलन कर आर्य कीर्ति की पताका उड़ायी थी, मुगल सम्राट अकबर ने जहां बैठकर गोरक्षा फरमान जारी किया था और छत्रपति शिवाजी की विजयवाहिनी ने भी गौ-ब्राह्मण और देव मन्दिरों की रक्षा के लिये 'हर हर महादेव' के गंभीर उद्घोष के साथ अपना भगवा झण्डा फहराया था। आज वे सब बातें दिल्ली में दिखलाई नहीं देतीं, केवल उनकी स्मृति के सूचक खण्डहर जहां तहां पड़े हुए हैं। उन भग्नावशेष खण्डहरों की ईंटों और पत्थरों का एक-एक टुकड़ा अतीतकाल की उन सब कथाओं को कह रहा है और कह रहा है भगवती कालिन्दी के श्यामल कलेवर का तरंग-समूह जिसने मौन रह कर अब तक सब कुछ देखा है। भगवान करे दिल्ली को उसका गत गौरव पुन: प्राप्त हो।

यहां पाठक जानना चाहेंगे कि 'हिन्दू संसार' की नीति क्या होगी? परन्तु इसके संबंध में हमें कुछ विशेष वक्तव्य नहीं देना है। कलकत्ता समाचार की जो नीति थी वह हिन्दू संसार की नीति रहेगी। स्थान परिवर्तन के कारण केवल नाम बदला है, उद्देश्य नहीं। समाचार की अन्तिम संख्या में इसके अध्यक्ष महामना कुंवर गणेशसिंहजी ने अपने लेख में सब बातों का स्पष्टीकरण कर दिया था। श्रीयुत कुंवर-साहब ने लिखा था कि 'हिन्दू संसार'

जीवनहीन, गौरवहीन, मानहीन, हिन्दूजाति को उसके विश्ववन्दित पूर्वजों के गौरव का स्मरण करावेगा जिससे आजकल अपमानित तिरस्कृत और पददलित हिन्दू अपने घर में जहां के वे अधिपति थे, मनुष्य की तरह, हृदयवान की तरह सम्मान और प्रतिष्ठा के साथ रह सकें। न उनसे किसी को भय हो और न वे किसी से डरें। न वे किसी पर अत्याचार करें और न अत्याचार सहने के महापातक से लिप्त हों। अपने धर्म, अपने कर्म, अपनी उपासना, अपने विज्ञान, अपने शास्त्र, अपनी भाषा, और अपने उच्चादर्शों का महत्त्व प्रतिपादनकर सभ्य-जगत पर एक बार फिर अपने बड़प्पन की छाप लगा दे। हिन्दू-संसार का लक्ष्य होगा कि हिन्दू-जाति में अपने पवित्र धर्म का आग्रह और प्रेम भर देने का प्रयत्न करे और समझाये कि उसका अस्तित्व धर्म में ही सन्निहित है। धर्मविहीन जातियां बिजली की तरह चमककर विलीन हो जाती हैं। हिन्दू-संसार का दायरा बहुत विस्तृत है। यह विश्व में अपने पूर्वजों के शांति दायक, कल्याण कारक विचारों को फैलावेगा। थोड़े शब्दों में यों कह सकते हैं कि हिन्दू संसार, सनातनधर्म का अनुयायी और स्वराज्य का परमाकांक्षी है। स्वधर्मरक्षा-पूर्वक राष्ट्रसेवा की शुद्ध भावना को हृदय में धारण कर हिन्दुस्तान में बसने वाली मुसलमान, ईसाई और पारसी आदि सभी जातियों से बंधुभाव रखता हुआ यह अपने कर्तव्य पालने में सदा तत्पर रहेगा। उद्देश्य महान है और हमारी शक्तियां अल्प हैं। सर्वशक्तिमान भगवान श्रीकृष्ण हमारे मार्ग को प्रशस्त बनावें और शक्ति को बढ़ावें। शुभमस्तु।

हमारे कलकत्ते से विदा होने के समय जिन मानास्पद और प्रेमास्पद सहयोगियों ने अपनी कृपा प्रदर्शित की, उनके प्रति हम अपनी आन्तरिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं। आशा है कि वे सदैव इसी प्रकार बंधुभाव बनाये रखेंगे।

मालवमयूर

(इन्दौर)

वर्ष २, संख्या १, फाल्गुन १९८१

'मयूर' का नवीन वर्ष-

नये रंग-रूप को लेकर 'मयूर' अपने नवीन वर्ष में पदार्पण कर रहा है। उसका हृदय आशा, विश्वास और उमंग से भरा हुआ है। अपने पाठक-परिवार में भी वह नवजीवन का दर्शन करने के लिये लालायित है। यही उत्सुकता उसका जीवन है-

"यहि आसा अटक्यो रह्यो अलि गुलाब के मूल।
ऐहैं बहुरि वसन्त ऋतु इन डारन वे फूल॥"

पाठक देखेंगे कि इस साल 'मयूर' ने अपना बहिरंग गंभीर, सबल और भाव-पूर्ण बनाया है, जोकि उसके अन्तरंग के सर्वथा अनुकूल है और जिसमें पाठकों को कला की भी थोड़ी बहुत कला देखने को मिल सकती है। चित्रों के चुनाव में भी कला को प्रधानता देने का विचार है और उसकी झलक पाठकों को 'मीराबाई' के दर्शन में मिल सकती है। कितने ही मित्रों का अनुरोध है कि 'मयूर' में चित्रों की संख्या और उसकी चमक-दमक बढ़ाई जाय। उनसे मेरा निवेदन है कि कला बड़ी महंगी चीज है। गुण सस्ता कौन सा होता है ?

कला की जगह कला की नकल देना पाठकों की असेवा करना है। कुदरत की नकल कर देना कला नहीं कहाता। हृदय में आने वाले उदात्त भावों को चित्र का रूप देना कला है। उसके द्वारा जीवन की सेवा करनी होती है, सुधार होता है। पर ऐसे चित्रकार बिरले और इसलिए महंगे होते हैं।

सर्व-साधारण चमक-दमक को ही कला समझ रहे हैं। यह उनका भ्रम है। नकली मोती असली मोती से कहीं चमकदार होता है। कांच का टुकड़ा पारस से ज्यादह चमकीला होता है पर इससे कहीं वे असली मोती या पारस की गंभीरता, गौरव और पवित्रता को पा सकते हैं ? चमक पसंद करना बाल्यावस्था का सूचक है।

बालक की रुचि भावों को सहसा नहीं पहचान पाती। फिर सभी चमकीली चीजें चांदी नहीं होतीं। बिजली की रोशनी चाहे चमकदार ज्यादह हो, पर गुणकारी तो रेंडी के तेल का दीपक ही होता है। चमकीली चीज़ें आंखों को सुसंस्कृत तथा सुरुचिवान् व्यक्ति की आत्मा को आघात पहुँचाती हैं।

हमारे समाज में अभी कला और साहित्य में शुद्ध रुचि को जाग्रत करने की बहुत आवश्यकता है। 'मयूर' इसकी पूर्ति में अपना नम्र और अल्प योगदान देने के लिए उत्सुक

है। पर मैं कह चुका हूँ कि सच्ची और स्वच्छ कला महँगी होती है। पाठक ज्यों ज्यों अपने परिवार की वृद्धि करके अपने को कला-रसिक फगुआ का रंगीला रसिया नहीं साबित करेंगे त्यों त्यों 'मयूर' को वे अधिक सेवा-क्षम पावेंगे। इसे वे 'मयूर' का वचन ही समझें। यदि छोटे मुँह बड़ी बात न समझी जाय तो 'मयूर' का दिल और दिमाग सेवा की बीसों योजनाओं से भरा पड़ा है। अपनी स्थिति और योग्यता के अनुसार वह कदम बढ़ा रहा है। पाठक उसे अपने से पीछे न देखेंगे-उम्मीद तो वह आगे ही रहने की करता है।

ध्वनि जिस प्रकार काव्य की आत्मा है, उसी प्रकार व्यंजना कला का प्राण है। सरल भाषा में कहें तो कुछ ही रेखाओं से भाव का सूचना-मात्र कर देना उच्च कला कही जाती है। कला-सौंदर्य कहकर नहीं समझाया जा सकता। उसके लिए आँख और हृदय को ध्यान और समाधि की-अभ्यास की- जरूरत है। इस अभ्यांस में सहायक होने के हेतु 'मयूर' के इस नवीन बहिरंग का मर्म समझाने की कोशिश यहाँ करता हूं।

मुखपृष्ठ का कागज़, उसका रंग और 'मयूर' का नाम तथा आकृति, सबमें गंभीरता, प्रौढ़ता सामर्थ्य और गौरव-सूचित हो रहा है। 'मयूर' की मुखाकृति की विशिष्ट स्थिति इस पर काफी प्रकाश डाल रही है। मयूर सरस्वती का वाहन अतएव प्रतीक समझा जाता है और मालवे में मिलता भी बहुतायत से है इसीलिए इसकी स्थिति बहुत सार्थक है।

लेखारम्भ के पहले पृष्ठ पर मयूर पूर्व-दिशा की ओर 'आशा-जलद' से 'नवजीवन' बरसने की आशा में ऊँचा सिर किये पाठकों को पृष्ठ उलटने-नव नव केकारव का श्रवण-स्वाद चखने की प्रेरणा कर रहा है। 'साधु-चरित' सम पुनित कपासु नीरस विशद गुणमय फल जासु कपास भारत का कल्पद्रुम है। मालव देश में उसकी खान है। वह किसानों का रखवाला है। गरीबपर्वर है। व्यापारियों की फसल है। समाज की लाज ढाँकने के लिए निर्मित ईश्वरी कला हैं। मालव मयूर और मालवी कपास दोनों का साहचर्य है।* यह बन्धुता, यह मैत्री, एक हाथ से सादगी, सदाचार, स्वाधीनता, स्वावलम्बन और दूसरे हाथ से साहित्य, संगीत और कला का संदेश इस आर्य-देश 'भारत-उर' में फैलाने की सूचना दे रही है।

अब 'संपादकीय' मनः सृष्टि में प्रवेश कीजिए, सीधा-सादा देशी संपादक अपनी सृष्टि में लीन है। कलम उठाते ही 'सुदर्शन-चक्र' दिमाग में घूमने लगता है। चरखा उसका नित्य कर्म है- सन्ध्या वन्दन है फिर दलित-पीड़ित भाइयों का चित्र उसके मनश्चक्षु में खड़ा होता है। श्रद्धा से उसका सिर नम जाता है, करुणा आँखों से बहने लगती है। अनुताप से हृदय दब जाता है। अब आधुनिक स्त्री-जीवन का अंधकार उसे व्याकुल करता है। फिर बालकों और देशी-नरेशों का शोचनीय और प्रजा-जन का प्राणहीन दृश्य उसके हृदय को कँपा देता है। यह उसका मासिक क्रम है। यही भाव 'संपादकीय' रेखा-चित्र में व्यक्त

---

*. *खेद है कि भूल से कपास के पौधे की जगह सिर्फ एक पौधा ही चितेरे ने रख दिया है।*

व्यवस्थापक

किया गया है।

मीराबाई के जीवन-संदेश, भक्ति और उसके फल-स्वरूप मुक्ति, आजकल की भाषा में एकाग्रता और उसके फल-स्वरूप स्वतन्त्रता के साथ 'मयूर' अमृतमयी-वाणी की पवित्र प्रेरणा और लगन को हृदय में धारण करता हुआ अपने जीवन के दूसरे वर्ष के वास्तविक भुवन-भास्कर की नवजीवन-दामिनी किरणों के दर्शन करता है-

राग खमाच-दादरा

मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरा न कोई॥ धृ.॥
जाके सिर मोर-मुकुट मेरो पति सोई।
शंख, चक्र, गदा, पद्म, कंठ माल सोई॥ १॥
तात, मात सुत न भ्रात आपनो न कोई।
छांट दई कुल की कान क्या करेगा कोई॥ २॥
संतन संग बैठि बैठि लोक लाज खोई।
अब तो बात फैलि गई, जाने सब कोई॥ ३॥
अंसुअन जल सींच सींच प्रेम बेल बोई।
मीरा प्रभु लगन-लगी होनी हो सो होई॥ ४॥

ह. उ.

राजस्थान हिन्दी-सम्मेलन का प्रस्ताव

श्री क्षेमानन्द राहत, अजमेर और कुंवर मदनसिंह, करौली ने राजस्थान हिन्दी-सम्मेलन नामक संस्था स्थापित करने की विज्ञप्ति मुझे भेजने की कृपा की है और उस पर मेरी राय चाही है। मैं ऐसे प्रस्ताव का समर्थन ही कर सकता हूँ। इस सम्मेलन की कार्य-दिशा संक्षेप में इस प्रकार है- ग्राम ग्राम में पाठशालाएं खोल कर हिन्दी द्वारा शिक्षा देना, राज्य-कार्यों में हिन्दी-लिपि का प्रचार करना, राजस्थानियों में एकत्व, ममत्व और भ्रातृत्व की वृद्धि की सुविधा करना, प्राचीन पुस्तकों का शोध करना। सभी राजस्थानी ऐसे प्रस्ताव का हृदय से स्वागत करेंगे। भारतवर्ष के एक एक प्रान्त में और सो भी जीवन के हर विभाग में काम का इतना ढेर पड़ा हुआ है कि घर २ से यदि एक एक आदमी भी उसके लिए अर्पित हो जाय तो बस न होगा। जिसने राष्ट्र-निर्माण की शर्तों पर, आवश्यकताओं पर, विचार किया है वह एक इशारे में इस बात को समझ लेगा। अपनी भाषा की उन्नति और पुष्टि राष्ट्र-निर्माण का एक खास अंग है। इन्दौर के हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के कुछ समय पहले इसी उद्देश्य से इन्दौर में राजपूताना मध्य-भारत-हिन्दी साहित्य सभा की स्थापना हुई थी। पर अब वह

यथेष्ट उत्साह के अभाव में नाम मात्र की संस्था रह गई। यदि उसमें नवजीवन के संचार करने की गुंजाइश हो तो यह प्रयोग करके देख लेना उचित न होगा? उसके पास धन भी भी काफी है, जन की भी कमी न रहेगी, सिर्फ कसर है लगन की। यदि उसका उद्धार असंभव हो तो नई संस्था खड़ी करना लाज़िमी है। पर इसमें पहले बुनियाद मजबूत कर लेना जरूरी होगा। निःस्वार्थ सच्चे और पक्के कार्यकर्त्ता को धन की कमी कभी नहीं रह सकती। रही जन की बात, सो कार्य शुरू करने के पहले कुछ ऐसे कार्यकर्ता ज़रूर मिल जाने चाहिएँ जो स्थायी रूप से इसी काम में लगे रहें। हमारे राष्ट्र के जीवन में अब ऐसा समय आ गया है जब कि एक आदमी इस काम में न पड़े, बल्कि एक ही काम को हाथ में लेकर उसमें लगा रहे। दूसरे यह कि सबसे पहले और सबसे ज्यादह राष्ट्र के सेवकों की शक्ति उसी काम में लगनी चाहिए जो उसके लिए जरूरी से ज़रूरी हो जिसके बिना उसका काम बिल्कुल आगे नहीं बढ़ सकता। इन दो बातों पर विचार करके यदि इस संस्था की नींव डाली जायगी तो निस्संदेह उससे राजस्थान की बहुत सेवा होगी।

ह. उ.

प्रथम सम्पादक - श्री शोभालाल गुप्त (जेल में)

तरुण — राजस्थान

प्रवर्तक श्रद्धेय पथिकजी (जेल में)

एक साल का मूल्य ३॥)
छः मास का मूल्य २)
एक प्रति का ५ पैसा

वर्ष २} अजमेर फालगुन शुक्ला ७ रविवार ता० १ मार्च १९२५ ई० {संख्या ३३

तरुण राजस्थान

यश, वैभव, सुख की चाह नहीं,
परवाह नहीं, जीवन न रहे।
यदि इच्छा है, यह है, जग में,
यह स्वेच्छाचार दमन न रहे॥

रविवार, फाल्गुन शुक्ला ७ सं. १९८१

आजादी

तोप प्रणयिनी बने हमारी
सूली हो विभु याम!
हंस हंस कर बलि दे दें हम सब
तन मन धन जन जान!
प्रभो! हो भारत का उत्थान।

....

आजादी! आहा, कैसा प्यारा नाम है! कैसी अलबेली है इसकी चाल! एक आल्हाद है, एक मस्ती है, एक खुमार है जो हरदम उसकी आंखों में छाया रहता है: कैसी शोखी है, कितना चुलबुलापन है! गर्व और दर्प की तो बात ही मत पूछो; उसके मुख पर मोहकता है, मधुरता है, कोमलता है, पर देखो वह कठोरता और निष्ठुरता कैसी उसकी नस नस में भरी हुई है।

स्वतंत्रता! यहां पर एक आदि-कुमारिका है। अनादि-काल से इसी तरंगिणी के तट पर वह स्वयम्वर की जय-माल हाथ में लिये खड़ी है। लोग इसके अति रूप को देखकर तड़पते हैं, छटपटाते हैं। पर वह किसी कुशल शिल्पकार की बनाई मूर्ति की भांति, निश्चल और निश्चेष्ट खड़ी है। किसी की ओर दृष्टि-पात भी नहीं करती। जब कोई मनचला नवयुवक प्राणों की बाजी लगाकर, अपनी जान पर खेल कर उस सर्वनाश की नदी में कूद पड़ता है और उसके पास तक पहुंचने से बहुत पहिले ही सर्व-ग्रासी अथाह जल-राशि में विलीन

होते हुए उद्भ्रान्त प्रेम-दृष्टि से जब उसकी ओर देखता है तो वह केवल मुस्करा भर देती है।

न जाने कितने ही वीर इसी स्वतंत्रता के प्रेम में मर मिटे। जिनके हृदय में जीवन है, जिनकी नसों में खून है और जिनकी आत्मा में जोश है वह सर को हथेली पर रखकर आजादी की तलाश में घूम रहे हैं। हमारा भारत-वर्ष भी आजादी के लिये लालायित हो रहा है। पर अभी उसके अन्दर वह जोश नहीं वह उत्साह नहीं कि जो सब बाधा विघ्नों को पैरों तले रौंदता हुआ उसे स्वतंत्रता देवी के चरणों तक पहुंचा सके।

लेकिन यह निश्चित है कि आजादी के लिये छटपटाने वाला यह भारत अब आजाद हुए बिना दम न लेगा। बाधाओं के प्रहार पर प्रहार सह कर यह गरीब कुछ बे दम सा हो गया था और इसीलिये इन दिनों चारों ओर कुछ राजनीतिक शिथिलता सी दृष्टि-गोचर हो रही थी पर यह क्षणिक अवसाद मात्र था। भारत एक दम फिर ताजा हो कर और आशा है शान के साथ-पूरे दम खम के साथ उठेगा।

अहिंसात्मक असहयोग फल की दृष्टि से असफल हुआ पर इस नैराश्य का प्रभाव दूसरी ओर जाकर पड़ा। आज भारत एक ओर से हट कर दूसरी ओर देख रहा है। जगह-जगह क्रान्ति का उदय हो रहा है। स्वतंत्रता के मतवाले बेचैनी से तड़प रहे हैं। अभी तक बहुत से नवयुवक स्वराज्य-दल की ओर देख रहे थे। पर सरकार की चालबाजियों और भेद नीति ने वहां भी फूट डलवा दी। इसका भी स्वभाविक प्रभाव यह होगा कि लोग इस प्रकार के वैध आंदोलन की निस्सारता समझ लेंगे। महात्माजी ने भी वायसराय की अपमान-जनक अवज्ञा का जो उत्तर दिया है वह आने वाले और अवश्यम्भावी घटना-चक्र की ओर अंगुलि-निर्देश कर रहा है। गर्ज कि शीघ्र ही भारत में एक प्रलयकारी युद्ध होगा जो स्वतंत्रता का युद्ध कहलायेगा। यदि हम इस युद्ध में पूर्णतः सफल न भी हुए तब भी इसमें तो संदेह नहीं कि हम गुलामी की बहुत-सी जंजीरों को तोड़-फोड़ डालेंगे।

पर आवश्यकता इस बात की है कि यह सारी शक्तियें यदि हो सके तो सम्मिलित हो कर शत्रु के दुर्ग पर आक्रमण करें। मगर सब शक्तियें मिल सकेंगी कि नहीं-यह एक बड़ा-भारी प्रश्न है। सरकार भक्त अथवा सरकार की कृपा की प्रतीक्षा करने वालों को तो थोड़ी देर के लिये एक दम भूल जाओ। उन्हें कुछ दिन और प्रभुओं की चरण-रज को मस्तक पर धारण करने दो, पर हां, जिनके हृदय, देश की दासता से बेचैन हो रहे हैं जो सब कुछ छोड़कर स्वतंत्रता के लिये मर मिटने को तैयार हैं, उन्हें चाहिये कि वह आपस में एक मार्ग निश्चित करके कार्य प्रारंभ करें- युद्ध छेड़ें और ऐसा युद्ध छेड़ें कि जो अहिंसात्मक होने हुए भी हमारे विरोधियों के दांत खट्टे करके छोड़ें।

हमें अहिंसात्मक तो रहना ही चाहिये पर अब यह बात एकदम भुला देनी चाहिये कि हम अहिंसात्मक, मजबूरी से हैं। यह गलत है कि हम हिंसा द्वारा स्वराज्य प्राप्त नहीं कर सकते। सारे देशों के इतिहासों को देखो, सभी जगह लोगों ने इस मार्ग का अवलम्बन किया है। फिर यह बात कैसे मानी जावे कि ३३ करोड़ भारतवासी ही ऐसे हीन-वीर्य हैं कि जो लड़कर स्वराज्य प्राप्त नहीं कर सकते? माना कि हमारे पास शस्त्र नहीं है, माना कि हमारे पास मशीन-गन और ऐरोप्लेन का अभाव है किन्तु यदि हमारे अन्दर मर्दानगी है कि यदि हम मरने को तैयार हैं तो कोई शक्ति नहीं, हां कोई ताकत नहीं कि जो हमारे मार्ग में बाधा डाल सके। हम अब यह सुनना नहीं चाहते कि हम हीन वीर्य हैं, हम निस्सहाय हैं, हम

लड़कर जीत नहीं सकते और इसलिये मजबूर हो कर हमने अहिंसा को अपनाया है। हमें कहना चाहिये, हिंसा और अहिंसा दो मार्ग हैं। दोनों ही हमारे लिये खुले हैं। हम जी चाहे जिस पर चलें और जी चाहे जिसे छोड़ें। हम इन दोनों ही मार्गों से यदि चाहे तो अपने ध्येय को प्राप्त कर सकते हैं।

बड़े २ जवांमर्द शेरों के मुंह से यह सुनकर कि हम लड़ने के लायक नहीं, हम लड़ कर जीत ही नहीं सकते, बेचारा भारत अविश्वास और असामर्थ्य के बोझ के नीचे दब कर पहिले से भी अधिक कायर बनते रहा है। हमारी अशक्ति और हमारी असामर्थ्य पर जोर देकर हमारे नेता लोग अनिच्छापूर्वक अनजान में भारत के अन्दर शक्तिहीन और कायरता का महाभयानक विष फैला रहे हैं। अब नेताओं को अपने इस तर्ज को बदल देना चाहिये। और सर्व-साधारण को भी अब यह सुनने और विश्वास करने से इंकार कर देना चाहिये कि दुनिया के पर्दे पर हिन्दुस्तानी ही एक ऐसी नामर्द कौम है कि जो यदि लड़ना चाहे तो लड़ कर जीत ही नहीं सके। हमें खेद से कहना पड़ता है कि लोगों को अहिंसात्मक बनाये रखने के लिये ही इस तर्क पर इतना जोर दिया गया और हमारी अशक्ति और असामर्थ्य के मरसिए पढ़े गये। अहिंसा के प्रचार का यह सस्ता किन्तु बड़ा ही खतरनाक और गलत रास्ता था।

अहिंसा, भारत की जान है। अहिंसा हमें रखनी ही चाहिये और उस पर जोर भी देना चाहिये किन्तु इसलिये नहीं कि हम असमर्थ हैं, हिंसा कर ही नहीं सकते बल्कि इसलिये कि हम इन दोनों मार्ग में से अहिंसा के मार्ग को पसन्द करते हैं।

हिन्दुस्तान को जरूरत है मर्दानगी की, मृत्यु को गले लगाने की, उस उत्कृष्ट कामना की उस अदम्य लालसा की कि जो स्वतंतता युद्ध के प्रत्येक सैनिक के लिये आवश्यक है चाहे यह अहिंसात्मक हो अथवा हिंसात्मक। अब आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक नेता और प्रत्येक पत्त, जो भारत की स्वतंतता को अपना ध्येय बनाये हुए है।

लोगों के सोते हुए शौर्य को जाग्रत करे, निर्भीकतापूर्वक देश के लिये मर मिटने के लिये लोगों को सैकड़ों, हजारों, और करोड़ों की संख्या में आह्वान करे और फिर प्रसन्नतापूर्वक उन्हें फांसी के द्वारा गोली खाकर अथवा मशीनगनों में शौक से जलभुन जाने दे। हमें तलवार की जरूरत नहीं, रिवाल्वर की, जरूरत मशीन-गन और एरोप्लेन की जरूरत नहीं। पतंग जब जलने जाता है, तलवार बांध कर नहीं जाता। इसी तरह, आओ हम भी मरने चलें, हंसी खुशी गा-गा कर प्राण देने चलें। पूछते हो, इस पागलपनसे क्या होगा? क्या हम अंगरेजों को जीत सकेंगे? हम अंग्रेजों को जीत सकें या न जीत सकें मशीन-गनों के राक्षसी मुंह को हम थका सकें या न थका सकें पर इसके द्वारा भारत के उस ऐतिहासिक अद्वितीय शौर्य और वीर्य को हम एक बार जगा देंगे और यह निस्सन्दिग्ध और निर्विवाद है कि जिस दिन भारत की वह सोती हुई वीरता जाग उठी, जिस दिन हमारी मर्दानगी ने आंख खोल कर देखा उस दिन फिर इस साम्राज्य की क्षुद्र शक्ति तो क्या चीज है स्वर्ग, भूमि और पाताल की कोई भी शक्ति हमारी धर्मप्राण वीरत्व पूर्ण हुंकार के सामने न ठहर सकेगी।

इन दिनों क्रांतिवाद और हिंसामय क्रान्तिवाद का जोर बढ़ा रहा है और परिस्थिति ऐसी है कि वह और भी बढ़ता ही जायेगा। महात्माजी के आंदोलन से लोग निराश हो गये और अब स्वराज्यवादियों का कोन्सिल-युद्ध भी निरर्थक ही सिद्ध हो रहा है, ऐसी हालत में

देश-भक्तों को दूसरा कोई मार्ग ही नहीं सूझता। निराश होकर लोग क्रान्तिवाद का आश्रय ग्रहण करें यह बिलकुल स्वाभाविक ही है। पर महात्माजी यदि स्थिति को समझें और रोकना चाहें तो सम्भवत: रोक सकते हैं। पूर्ण अहिंसा, पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण सत्य की तरह बहुत ही कठिन है और यह तीनों ही चीजें अपने पूर्ण रूप में रेखा-गणित की सरल रेखा की तरह प्राय: कल्पना में ही रहती हैं इसलिये महात्माजी का व्यवहारिक राजनीति में उस आदर्श अहिंसावाद पर इतना जोर देना ठीक नहीं है। दूसरे अगर वह देश को हिन्सामय क्रान्ति की गोद में फेंक देना चाहते हैं तो आवश्यक है कि वह अपने आदर्श अहिन्सावाद से जरा नीचे उतर कर व्यवहारिक अहिन्सा पर आयें और यहां पर सम्भव है कि उग्र क्रान्तिकारी और व्यवहारिक अहिन्सावादी का मेल हो सके।

यहां पर प्रश्न हो सक्ता है कि जब हम बलपूर्वक स्वतंत्रता-प्राप्ति को असम्भव नहीं समझते तो फिर सशस्त्र क्रान्ति के विरुद्ध हम इतने सचेत क्यों हैं? इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि हम समझते हैं कि हिंसा और अहिंसा दोनों ही मार्गों से हम स्वतन्त्रता को प्राप्त कर सक्ते हैं और इसीलिए हम अहिंसा-मार्ग द्वारा स्वराज्य-प्राप्ति को पसन्द करते हैं। यह सच है, कि क्रान्तिकारी यह कहेगा कि सशस्त्र क्रान्ति द्वारा हम शीघ्र स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं और क्रान्तिकारियों की हिम्मत को देखते हुए यह असम्भव नहीं कि उनका कहना सच हो। लेकिन एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है जिसका ध्यान में रखना आवश्यक है। भारत की ही स्वतन्त्रता का प्रश्न होता तो कोई बात न थी पर भारत को ईश्वर ने इतनी आपत्तियों के होते हुए भी जो अभी तक जीवित रक्खा है, रोम, यूनान आदि भारत के प्राचीन सहयोगी अब नहीं रहे किन्तु भारत को अभी तक जो ईश्वर ने बचाये रक्खा है वह सिर्फ इसलिये नहीं कि भारत सुख की रोटियां खा कर मीठी, नींद सोये। उसके जिम्मे एक महान कर्त्तव्य है उसके पास ईश्वरमय सन्देश है जो उसे संसार के स्वतन्त्र और दुखित देशों को पहुंचाना है। और हमारा ख्याल है कि इसी लिए जगन्नियन्ता ने ऐसे अवसर पर गांधीजी को भारत में भेजा है। अभी एक महासमर के प्रभाव से संसार पनपने भी न पाया था कि दूसरे महासमर की तय्यारियाँ हो रही हैं। भारत को इसी लिये अपने ऊपर कष्ट सह कर भी अपने इस मिशन को पूरा करना चाहिये।

पर यह कब और कैसे होगा? इधर आदर्श हिंसावादी अपनी कट्टरता को छोड़े और इधर क्रांतिकारी छोड़े अपने शस्त्र-प्रेम को। महात्माजी अपनी मनस्थिति को बदले कि अनजान में ही हिंसा हो जाने के भय से कार्यक्रम को स्थगित कर दिया जाये और फिर किसी जोरदार और पुरअसर प्रोग्राम को तैयार करके देश के साथ-ही-साथ क्रांतिकारियों को भी योग देने के लिए आह्वान करें। अहिंसावादी हिंसावाद को छोड़े और क्रांतिकारी गुप्त षडयन्त्रों को छोड़ कर आपस में मिल कर कन्धे-से-कन्धा मिला कर खुल्लमखुल्ला देश को जागृत करके उसे मरने के लिए तैयार करेंगे। स्वराजी भी अब कौंसिलों का मोह छोड़कर देश को निर्भीक बनाने में योग दें। हम चाहते हैं कि महात्माजी ही इन दलों को मिला कर उनका संचालन करें किन्तु यदि वह आगे न आयें तो किसी दूसरे नेता को आगे बढ़ कर यह काम अपने हाथ में लेना चाहिये। मरना, मरना, मरना - यही मूल मंत्र है, यही सिखा कर भारत को निर्भीक बनाओ। इसी से आजादी मिलेगी, इसी से भारत का निस्तार होगा।

राजस्थान

(अकोला)

वर्ष १, संख्या १, दिपावली सं. १९८२, अक्टोबर, १९२५

राजस्थान

राजस्थान-निवासी या प्रवासी मारवाडी-समाज की सेवा के लिये आज दिवाली के शुभमुहुर्त पर 'राजस्थान' कार्य-क्षेत्र में आया है। मारवाडी-समाज की सेवा के उद्देश्य से ही अनेक सार्वजनिक संस्थायें स्थापित हुई हैं। अनेक साप्ताहिक और मासिक पत्र इस समय भी मारवाड़ी-समाज की सेवा के उद्‌देश्य से ही निकल रहे हैं। इन सब के होते हुए 'राजस्थान' का क्या आवश्यकता है ? यह प्रश्न 'राजस्थान' देखते ही बहुत से भाई करेंगे। आशा है ऐसे भाइयों को उनके प्रश्न का उत्तर 'राजस्थान' के पन्ने उलटने और उनको पढने से मिल जायगा पर, फिरभी यहां कुछ शब्दों में 'राजस्थान' के प्रकट होने की आवश्यकता को लिखना अनुचित न होगा।

'राजस्थान' का जन्म बडी-बडी उमंगों, अभिलाषाओं और महत्वाकांक्षाओं को साथ लेकर हुआ है। यह समय वह है, जब कि संसार में चारों ओर क्रांति की भयंकर ज्वालायें लाल-पीले नीले रंग में उछल कूद मचा रही हैं। परिवर्तन की रणभेरीकी ध्वनि चारों ओर वायुमणडल में गूंज रही है। मृत्यु की शांति कूच कर रही है और जीवन की क्रांति मुंह फैलाये दौडी चली आ रही है। यह निश्चित है कि जो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र इस क्रांति को समझते हुये उसके अनुसार अपने जीवन में परिवर्तन करने को तत्पर नहीं है वे इस संसार की इस रणस्थली में सदा के लिये सो जायेंगे, क्रांति की लपटों में लिपट कर राख हो जायेंगे। दूसरे उन्हीं की लाशों पर, उन्हीं की राखों की ढेरी पर अपने विशाल महल खड़ेकर स्वर्गीय आनंद की मौज लूटेंगे। संसार का इतिहास इस बात की साक्षी है। प्रकृति की रात दिन होने वाली घटनायें इस का प्रमाण है। मनुष्य, समाज और राष्ट्र का कर्तव्य है कि वह इतिहास का स्वाध्याय और प्रकृति की इन घटनाओं का अध्ययन कर अपने को जीवित बनाये रखने का यत्न करें। वैसे भी व्यक्ति प्रतिक्षण प्रत्येक, समाज और राष्ट्र प्रतिदिन इसके लिये यत्न करते ही रहते हैं। व्यक्ति के सब यत्न इसीलिये हैं कि वह इस संसार में जैसे भी हो वैसे जीवित बना रहे। अन्धा, लंगड़ा और कोढ़ी संसार की सब यातनाओं को भोगता हुआ भी मरना नहीं चाहता है। शरीर छूटने पर भी व्यक्ति का आत्मा, परिवर्तन के बाद तुरंत नया जीवन धारण कर लेता है। शरीर स्थूल है, इसीलिये मृत्यु की समस्या उपस्थित होने पर पराजय स्वीकार करता है और आत्मा क्रान्तिशील है, इसीलिये वह अजर, अमर शाश्वत, नित्य, अछेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है अर्थात् परिवर्तन का समय उपस्थित होने पर तुरन्त नया जीवन धारण करने से वह जन्म मरण की मर्यादा से ऊपर उठा हुआ है। इसी प्रकार जो समाज और राष्ट्र, परिवर्तन के समय संभल कर अवस्था के अनुसार अपना जीवन बना लते हैं वे ही जन्ममरण की समस्या की उलझन से बचे रहते

हैं पर, जो समाज और राष्ट्र अपनी अनुदारता, संकुचित वृत्ति, दुराग्रह, हठ, या रूढि के वशीभूत हो, केवल पुरानी लकीर के फकीर बने रहते हैं, वे निश्चय ही परिवर्तन की थपेड़ों को न सहकर धराशायी होजाते हैं। क्रांति की लपटों में लिपट कर स्वाहा होजाते हैं। इस समय मारवाडी समाज, परिवर्तन के थपेड़ों को सहन करने में असमर्थ होगया है, क्रांति की धधकती ज्वालाओं को देखकर उसकी आंखें चुंधिया रही हैं। यदि यही अवस्था बनी रही तो भय है मारवाडी-समाज के भी शीघ्र ही भूधरशायी हो जाने का। कोई समय था, जब कि मारवाडी-समाज ने परिवर्तनों के थपेड़ों को बड़ी वीरता से सहन किया। महाराज अग्रसेन की क्षत्रिय सन्तान ने तलवार छोडकर तराजू हाथ में लेने में और रण-मैदान छोडकर दूकानों की तिजोरियों को संभाल कर वैश्य बनने में संकोच नहीं किया। महेश की सन्तान ने भी क्षत्रियत्व का बाना उतार कर बनिया बनने में आगा पीछा नहीं किया। मारवाड, मेवाड आदि की, राजस्थान की भूमि को छोडकर व्यापार-व्यवसाय के लिये भारत के कोने कोने में बिखरने में मारवाडियों ने कुछ कमी नहीं की। यह सब बातें प्रगट करती हैं कि किसी दिन मारवाडी समाज का जीवन भी क्रांतिशील था, परिवर्तनों को स्वीकार करने के लिये वह सदा तत्पर रहता था। पर, आज उसने अपनी इस विशेषता को खो दिया है इसीलिए वह जीवन को खोकर मृत्यु की ओर जा रहा है। हिंदु-समाज की भी यही दशा है। पर, उसमें संगठन व शुद्धि की जो लहर चली है, वह उसे क्रांतिशील बना रही है। हिंदू-संगठन का ही दूसरा नाम सामाजिक-क्रांति है। पर हिंदु-समाज में यह क्रांति या संगठन तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि हिंदू-समाज के अंग-प्रत्यंग-भूत प्रत्येक समाज उसके लिये तय्यार न हों। राजस्थान-निवासी व प्रवासी मारवाडी व राजस्थानी, हिंदु-समाज के हृदयस्थानी हैं। हृदय में जब तक ये विचार स्थान नहीं पायेंगे, तब तक क्रिया या व्यवहार में कुछ होना संभव नहीं है इसलिये हिंदु-समाज की सामाजिक क्रांति के लिये या हिंदु-समाज को जीवित बनाये रखने के लिये ही मारवाड़ी-समाज को जीवित-समाज बनाना उसे क्रांति के लिये तय्यार करना पहिला और आवश्यक कार्य है। 'राजस्थान' का जन्म इसी उमंग, अभिलाषा और महत्वाकांक्षा से हुआ है। 'राजस्थान' की यही उमंग है कि वह मारवाडी-समाज में विचार-क्रांति करे। बिना विचार-क्रांति के कोई भी क्रांति, किसी भी क्षेत्र में सफल न हुई और न हो सकती है। इस समय की सार्वजनिक संस्थायें, सभा या सम्मेलन, सामाजिक क्रांति नहीं करा सके क्यों कि उन्होंने समाज के विचारों को पलटने का निरंतर यत्न नहीं किया। वार्षिक समारोहों का प्रभाव नियमित मात्रा में ही हुआ और वह भी बहुत कम। साप्ताहिक-समाचार पत्र सामयिक प्रश्नों पर विचार प्रगट कर सकते हैं, पर जीवन और मृत्यु की समस्या पर विचार करना उनके क्षेत्र से बाहिर की बात है। उसके लिये मासिक पत्र की ही आवश्यकता है। यह कहते दु:ख होता है कि इस समय तक एक भी मासिक पत्र मारवाडी समाज में ऐसा नहीं है जो इस समस्या की छानबीन करता हो। 'राजस्थान' इस कमी को पूरा करने का यत्न करेगा और निरंतर उद्योग करेगा सामाजिक विचार-क्रांति के लिये। उसका ध्येय रहेगा मारवाडी-समाज के एक २ बच्चे को क्रांति की लाल पीली नीली लपटों से खेलनेके लिये समर्थ बनाने का, और उसका कार्य रहेगा नवीन व प्राचीन को मिला कर देश, काल व पात्र के अनुसार हर एक समस्या का हल

समाज के सामने रख देने का।

इस विचार-क्रांति के साथ ही साथ विचार क्रांति को सफल बनाने के लिये ही वह यह भी यत्न करेगा कि मारवाड़ी-मात्र, एक राजस्थानी समाज में संगठित हो जाय। इस समय घडीके पुरजों की तरह मारवाडी जगह-जगह, कई भेदों, अनेकों उपभेदों और छोटे-छोटे टुकडों में बिखरे पड़े हैं। सामाजिक कुरीतियां, पुराने विचार और परम्परागत रूढि का जंग उन पुरजों को खाता चला जा रहा है। इसी के साथ वह धर्म के मर्म को, शास्त्रों की शिक्षाको, धर्मग्रंथोंके आदेश को भुलाकर रूढ़ि की दलदल में धंसता चला जा रहा है। मारवाडी-समाज अपने अतीत गौरवको भुला चुका है। महाराणा प्रताप की वीरता और दानवीर भामाशाह की दानशीलता के आदर्श को वह भूल चुका है। अतीत गौरव को भुलाकर कोई भी समाज अपने वर्तमान व भविष्यको उज्ज्वल नहीं बना सकता। 'राजस्थान' की यही अभिलाषा है कि यह मारवाडी-समाज के वर्तमान व भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिये उसके अतीत गौरव का आदर्श उसके सामने सदा बनाये रखे। महाराणा प्रताप, त्यागी भामाशाह, वीर दुर्गादास की याद उन्हें हमेशा कराता रहे। रूढ़िकी दलदल में से उसका हाथ पकडकर उसे बाहिर निकाले। उसके सामने धर्मका मर्म रखते हुये सामाजिक कुरीतियों के जालके बन्धनों को काटे। इसीके साथ 'राजस्थान', उन प्रवासी-राजस्थानियों को जो कि व्यापार-व्यवसाय के लिये अपनी जन्मभूमि 'राजस्थान' को छोडकर बाहिर जाकर उसे भूल जाते हैं, उन्हें अपनी जन्मभूमि की सदा याद कराता रहेगा और उसके प्रति उनके कर्तव्य की उन्हें याद दिलाता रहेगा। समाज में नैतिकबल के सम्पादन के लिये, अनाथ व विधवाओंकी सहायता के लिये, कुंवारोंकी विचित्र अवस्था के लिये एवं ऐसी ही अन्य अनेक सामयिक आवश्यकताओं के लिये भी निरन्तर आन्दोलन करेगा। सारांश, उस हरएक समस्या के' लिये 'राजस्थान' निरन्तर उद्योग करेगा, जिससे समाज नैतिक बल का उपार्जन कर सकेगा, वह परिवर्तनों को पचा सकेगा और क्रांति के स्वागत के लिये तय्यार हो सकेगा।

नि:सन्देह कार्य बड़ा कठिन है, दुस्साध्य है, पर असम्भव नहीं। समाज के पुराने विचारों, परम्परागत रूढ़ि और सामाजिक कुरीतियों से लड़ाई मोल लेना कुछ साधारण बात नहीं है। इसके लिये साहस चाहिये, असीम शक्ति चाहिये और गहरी लगन चाहिये। यह कांटों का मार्ग उस सत्याग्रही के लिये है जिसमें सारे समाज का विरोध सहन करने का सामर्थ्य है, जिसमें सत्य के लिये अकेले खडे होकर मर मिटने का धैर्य है। 'राजस्थान', वीर सत्याग्रही का यही बाना पहिन कर मारवाडी-मात्र की सेवा के लिये कार्यक्षेत्र में उतरता है। भगवान की कृपा हो, सहृदय पाठकों का अनुग्रह हो, प्रतिभा-सम्पन्न लेखकों की उदार सहायता हो, और अपने आत्मा में विश्वास, श्रद्धा व लगन हो जिससे 'राजस्थान' इस कण्टकाकीर्णमार्ग को लांघ कर, मोल ली हुई लड़ाई में विजयी होकर अपने उद्देश्य और कार्य में सफल होवे। भगवान की यह वाणी 'राजस्थान' के लिए अक्षर-अक्षर सत्य सिद्ध हो :—

नहि कल्याणकृत्यकश्चि -

दुर्गतिं तात गच्छति।

दुसरों का कल्याण करने की शुभ कामना से उठाया हुआ कार्य कभी भी असफल नहीं होता है।

-संपादक

वर्ष १, संख्या १, दिपावली, अक्टोबर १९२५ ई.

संपादकीय अवलोकन

राजस्थान

श्रीमान् वृजलालजी वियाणी देरसे 'राजस्थान' सरीखे एक पत्र की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे, क्योंकि सामाजिक क्षेत्रमें कार्य करते हुये वे इस बातको भली प्रकार जान चुके थे कि जबतक समाज के विचारों में क्रान्ति न की जायगी तबतक व्यवहार में क्रान्ति होना असंभव है। सामाजिक सुधारोंके लिये समाजका दिमाग बदलना चाहिये और कुरीतियोंका नाश करने के लिये उनको जडोंसे ही उखाडना चाहिये। उनकी यह चिर-अभिलाषा आज पूरी हो रही है। मुझे उनकी इस अभिलाषाकी पूर्ति करनेमें सहायक होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ देखकर जो प्रसन्नता हो रही है उसे प्रकट करना अशक्य है। पिछले कुछ वर्षों से मारवाडी-समाजका कार्य करने का मुझे अभिमान है। इस सेवाकाल में मेरा यह विश्वास दृढ हो चुका है कि राजस्थान के भलाईके कार्यका बड़ा हिस्सा उनपर निर्भर है जो राजस्थान छोडकर व्यापार-व्यवसाय करनेके लिये बाहिर आ बसे हैं। दु:ख है कि वे राजस्थान को भूल जाते हैं। केवल दो बालिश पेटके पीछे वे अपनी जन्मभूमिको भुला बैठते हैं, यह उपेक्षा और भी असह्य हो जाती है, यह देखकर कि सामाजिक कुरीतियों, रीति रीवाजों और रूढिमें प्रवासी-राजस्थानी, इस बुरी तरह जक्डे हुये हैं कि उसीके कारण वे किंकर्तव्यमूढ हैं। इसीलिये 'राजस्थान' का विशेष लक्ष्य प्रवासी-राजस्थानियों को इन बन्धनोंसे मुक्त करना है। इसी लक्ष्यकी पूर्तिके लिये यह आवश्यक है कि 'राजस्थान' के लेख, प्रमाण व युक्तिसे पूर्ण और शब्दाडम्बरसे रहित हों। 'राजस्थान' किसी पक्ष विशेषका पत्र नहीं है। 'राजस्थान' की यही इच्छा है कि समाजके सामने सब तरह के विचार, उपस्थित किये जाय और समाज जिन्हें आदेय समझे, उन्हें ग्रहण करे। इसीलिये 'राजस्थान' में विधवा-विवाह, समुद्रयात्रा, सवर्ण-विवाहों इत्यादि विषयों पर भी अनुकूल व प्रतिकूल दोनों तरहके लेख रह सकेंगे किन्तु यह आवश्यक होगा कि लेख सयुक्तिक, सप्रमाण और विचारपूर्ण हों। केवल परपक्ष की निन्दाके लेख 'राजस्थान' में स्थान नहीं पा सकेंगे। इसी लिये हम लेखोंके लिये नये व पुराने विचारोंके सभी लेखकोंको निमन्त्रित करते हैं। यदि 'राजस्थान' विचार विनिमयकी प्रवृत्तिको समाज में थोडा-सा भी जगा सका तो वह अपने जन्मको सफल हुआ समझेगा। 'विचार-स्वातन्त्रय' की स्थापना ही 'राजस्थान' के लिये मोक्ष-प्राप्तिका सुख होगा- आशा है कि मारवाडी भाई, 'राजस्थान' की इस सेवाको स्वीकार कर उसे और भी अधिक सेवाका अवसर प्रदान करनेमें कोई बात उठा न रखेंगे।

क्या चाहिये ?

हमें यह जानकर विशेष प्रसन्नता हुई है कि वर्धा में अभी ५ सितम्बर को हुये मारवाडी-विद्यालयके भूतपूर्व व वर्तमान छात्र सम्मेलनोंमें एक प्रस्ताव में 'राजस्थान' का स्वागत

किया गया है। निस्सन्देह, किसी भी पत्र की सबसे बडी आवश्यकता ग्राहकों की ही होती है और 'राजस्थान' भी उस आवश्यकता से बरी नहीं है। पर 'राजस्थान' की उससे भी बडी आवश्यकता यह है कि मारवाडी समाज के सुविज्ञ लेखक विद्वान और विचारशील सज्जन उसकी लेखों द्वारा सहायता करें। लेख जितने युक्तियुक्त, सप्रमाण और विचारपूर्ण रहेंगे, उतनी ही 'राजस्थान' की यह आवश्यकता पूर्ण होगी इसलिये हम 'राजस्थान' प्रेमियों से पहली यही प्रार्थना करना चाहते हैं कि वे जहां ग्राहक द्वारा आर्थिक सहायता करेंगे ही, वहां वे उपयोगी लेखों द्वारा सहायता करने में कोई कमी न रहने दें। विचारशील विद्वान सज्जन इस प्रार्थना पर अवश्य ही योग्य ध्यान देने की कृपा करें। सम्मेलन के प्रस्ताव के भी दो भाग हैं। पहिले में सम्मेलन के सदस्योंसे ग्राहक बन कर और बना कर सहायता करने के लिये कहा गया है, दूसरे में लेखादि द्वारा सहायता करने का उल्लेख किया गया है। हम प्रस्तावके दूसरे भाग की और सम्मेलन के सदस्योंका ही नहीं, किन्तु सभी मारवाडी-भाइयोंका ध्यान विशेष रूप में आकर्षित करतै हैं।

एक बात

'राजस्थान' का यह अङ्क बडी शीघ्रता में तय्यार किया गया है। दूरवर्ती स्थान से पत्र सम्पादन की कठीनता का अनुमान 'राजस्थान' प्रेमी सहज में कर सकते हैं और मराठी प्रांत के किले में बैठे हुये हिन्दी की पताका उठाना भी उतना सुगम नहीं है। ऐसी ही और भी कठिनाइयां हैं, जिनमें से सहसा पार होना सम्भव नहीं है। धीरेधीरे सब कठिनाइयां हल होंगी। इसलिये इस अंक से अगले अङ्क अधिक उपयोगी होंगे - इसका राजस्थान प्रेमियों को विश्वास रखना चाहिए कि इस समय हमारा सब ध्यान इसी ओर रहेगा कि 'राजस्थान' स्थिर साहित्यकी एक अमूल्य चीज बन जाये। सामाजिक विषयों के सम्बंध में परस्परिक चर्चा के लिये 'राजस्थान' एक क्रीड़ाक्षेत्र बन जाय। सामाजिक साहित्य की दृष्टि से हम 'राजस्थान' को प्रतिमास अधिक उपयोगी, अधिक कीमती और अधिक उपादेय बनाने का निश्चय किये हुये हैं। बस 'राजस्थान' प्रेमियों से यही एक बात कहनी है की वे इसी अङ्क से सन्तोष न मान लें किन्तु अगले अंक को और भी अधिक उत्सुकता से देखने के लिये तय्यार रहें।

दूसरी बात

ग्राहक बनने या बनानेवाले सज्जनों से दूसरी यह बात कहना भी अनुचित नहीं होगा कि 'राजस्थान' का वार्षिक-मूल्य ४) रखते हुये एक दूसरा नियम यह भी रखा गया है कि एक साथ १०१ रुपया देने वालों को 'राजस्थान' सदा मिलता रहेगा। १०१ रुपया देकर पत्रके आजन्म ग्राहक बननेवाले सज्जन इस बात का ध्यान रखें कि पत्र की नीति आदि के सम्बन्ध में उन्हें किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करने को नहीं मिलेगा। पत्र-संचालकों की नीति, सच्चाई और पत्र के लक्ष्य की पवित्रता में विश्वास करते हुये ही उन्हें इस प्रकार निश्चल भाव से ग्राहक बनने के लिये तय्यार होना चाहिये।

आदर्श भाव

मारवाडी-समाज के एक होनहार युवक की गृहदेवीका अभी स्वर्गवास हुआ है। दोनों *पतिपत्नी अच्छे कुलीन घर के और शिक्षित थे।* पत्नीकी मृत्युपर पतिदेव दूसरा विवाह करते जरा नहीं लजाते। इसीलिये समाजमें ऐसों की संख्या कम नहीं है जो एक पत्निकी मृत्यु पर दूसरा, दूसरी की मृत्युपर तीसरा, चौथा तक विवाह किये हुये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे बहु-विवाह करनेवाले लोग स्त्रीको उस पवित्र दृष्टि से नहीं देखते, जिससे कि उन्हें देखना चाहिये। प्रसन्नता यही है कि समाज में से यह प्रवृत्ति उठ रही है, स्त्रियों के प्रतिष्ठाके भाव समाजमें पैदा हो रहे हैं और युवकों का मन ऐसे बहु-विवाह से हट रहा है। वस्तुतः ऐसा बहु-विवाह न उचित है और न धर्मानुकूल ही है। इस सम्बन्धमें पत्नी-वियोग में अत्यन्त दु:खी उस युवक के आदर्शभावों को समाजके सामने रखना हमें अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। पत्र निजू है इसलिये निजू बातोंको छोडकर शेष पत्र गिचे दिया जाता है।

श्रीमान् पण्डितजी,

सविनय वन्दे

पत्र आपका मिला। इस समय मनकी अवस्था बडी विचित्र है।....दुकान का मेरे मनपर लेषमात्रभी असर नहीं है। न उसके कारण मैं सहृदयता ही खो बैठा हूँ। मैं मेरे जीवन-साथी को असमय खो बैठा हूँ इसलिये सहृदयताही नहीं, किन्तु घरबार भी छोडकर कहीं चलदेने का विचार है।....मुझे दुकान में क्या संसार ही में ऐसी चीज नहीं दीखती जिसके सहारे जीवन के शेष दिन काट सकूं।.... जिसके साथ मेरा एक-एक क्षण कटा है, उसके एकाएक आंख छिपाकर चले जाने से मैं पागल सा होगया हूँ। मरकर भी यदि वह मुझे मिल सके तो मैं उसके लिये भी तय्यार हूँ। उसके बिना मेरा जीना मरना एकसा है। मैं हतबुद्धि हो रहा हूँ। भाईके बाद सबसे बडा आघात मुझपर यही हुआ है। आधा अंग मेरा टूट गया है। समझ नहीं पडता कि कहां जाऊँ और क्या करूं? मारवाडी समाज, स्त्री को बडी तुच्छ दृष्टिसे देखता है, परन्तु संसार को स्वर्ग बनानेवाली स्त्री ही होती है। माताजी कायम हैं, नहीं तो किसी श्मशान में जाकर रहना, मैं अधिक पसन्द करता। मुझे दर-दर भीख मांगनी पडती, सुखी रोटियां खानी पडतीं, तो भी उसके साथ मैं स्वर्गसा आनन्द अनुभव करता। किन्तु आज मुझे मकान और दुकान खानेको दौड रहे हैं। केवल आज्ञापालन के लिये कविता भेजी है। ...इतना मैं कह सकता हूँ कि देवी के जीवित रहने पर उसमें जो रस और जोश आ सकता था, वह कदापि नहीं आया।.... इस समय में हतोत्साह हो रहा हूँ। घरके लोगोंका विवाह के लिए आग्रह है। पर, विवाह का नाम सुनतेही आत्महत्या करने के भाव दिल में उठते हैं। दूसरा विवाह करना स्वर्गीय पत्नीको धोखा देना है। विवाह वही होता है जो एक के स्वर्ग-नरक जानेपर भी कायम रहे। परमेश्वर मुझे पूरी तरह से आत्मसंयमी होने का बल देवें - यही एकमात्र मेरी इच्छा है।

आपका स्नेही बंधु

मारवाडी भाई इन भावोंको ध्यानसे पढें और थोडा-सा विचार करें। इस समय के युवकों के यही आदर्शभाव समाजके भविष्य को आशामय बनाते हैं। आशा है 'स्नेही बन्धु' इस पत्रको प्रकाशित हुआ देख कर कुछ नाराज न होंगे।

अनुकरणीय-साहस

पिछले मासकी १२ता० को अकोलाके दो,मारवाडी-ब्राह्मण युवक श्रीजगन्नाथप्रसाद बंशीलाल और श्री भैरवप्रसाद शिवनाथ कानूनका अध्ययन करने के लिये विलायत गये हैं। अकोलाके प्राय: सभी मारवाडी भाईयोंने उनको बड़े प्रेम और उल्हासके साथ बिदा किया है। मारवाडी-समाजमें विलायत यात्राके अंगुलियोंकी गिनतीमें ही आनेवाले कुछ दृष्टान्त पहिले भी हो चुके हैं, पर उनमें वह साहस, प्रेम और उत्साह नहीं दिखाया गया जो कि इसमें दिखाया गया है। मारवाडी समाज की समुद्रयात्राके सम्बन्ध में अनुदारवृत्ति है ही किन्तु हिन्दुमात्रभी इस सम्बन्धमें यथेष्ट उदार नहीं हुये हैं। विलायत से लौटकर लोकमान्य तिलकने जो प्रायश्चित्त किया था, वह इस सम्बन्धमें हिंदु-समाजकी अनुदारता कुछ कम महत्व नहीं रखती है। समाजकी मनोवृत्ति के विरुद्ध इन युवकोंका यह साहस निश्चयही प्रशंसनीय और अनुकरणीय है। अकोला के मारवाडी भाइयोंका उनके प्रति प्रकट किया गया प्रेम व उत्साह भी वन्दनीय है। युवकोंके भविष्यको उज्वल रूपमें अङ्कित किया है और बता दिया है कि समाजमेंसे अनुदारता व संकीर्णता कूच कर रही है। मारवाडी-समाज के युवक सामयिक आवश्यकताओं की पूर्तिके लिये पुराने विचारों, रिवाजों और रूढिकी हद्दको पार कर समाजोत्थान के कार्यको जी-जान से करनेके लिये तैयार है। विशेष प्रसन्नता हमें यह देखकर हुई है कि सिवा एक सहयोगी 'मारवाडी-ब्राह्मण' कलकत्ता के युवकों ने इस साहसकी सराहना की है। 'मारवाडी-ब्राह्मण' ने भी खुले शब्दों में विरोध या निन्दा करने का दुस्साहस नहीं किया है। केवल 'इस समय इस विषय में कुछ न लिख कर शेगांव की मारवाडी-ब्राह्मण-सभा और कलकत्ता-मारवाडी ब्राह्मण-सभा का ध्यान इधर आकर्षित किया है।' हमें आशा है कि कोई भी सभा, संस्था या सहयोगी युवकों के साहस की प्रशंसा नहीं, तो कम-से-कम निन्दा या विरोध तो न करेगा क्योंकि युवकों के सत्कार्य का विरोध या निन्दा करना स्वयं अपना मजाक करना है। मारवाडी-समाज में ब्राह्मण वर्ग-द्वारा समुद्र-यात्रा का यह 'श्रीगणेश' शुभ और मंगलकारी हो।

फरवरी, १९२६

मारवाडी-समाज व उसका विकृतस्वरूप

उपर समाज-रचना विषय की तात्विक चर्चा की गई है जो व्यावहारिक नहीं और न इस लेख में व्यावहारिक-चर्चा करने की हमारी विशेष इच्छा ही है पर व्यावहारिक दृष्टि से इतना ही बताना है कि इस समय 'समाज' शब्द का प्रयोग बहुत ही संकुचित अर्थों में किया जाने लगा है। जिस प्रकार वर्ण को जाति का नाम देकर, वर्णों के भीतरी छोटे-छोटे भेदों

को भी 'जाति' शब्द से कह कर जाति शब्द के अर्थ को अति संकुचित कर दिया गया है, वैसे ही 'समाज' शब्द का अर्थ भी अत्यन्त संकुचित कर दिया है। इस समय 'समाज' शब्द का सभ्यता से उतना सम्बन्ध नहीं, श्रद्धा, विश्वास, सदाचार से भी उतना सम्बन्ध नहीं और न किसी पारस्परिक समझौते से ही कुछ सम्बन्ध है, विश्वप्रेम के आदर्श की छाया भी सामने नहीं है। आजकल 'समाज' शब्द का प्रयोग होता है देश-विशेष में रहनेवाले लोगों के लिये, समुदाय-विशेष के मानने वाले व्यक्तिसमूह के लिये, कुलविशेष में पैदा होने वाले मनुष्यों के लिये और व्यवसायविशेष के करनेवालों के लिये। आर्य-समाज, प्रार्थनासमाज, ब्राह्म-समाज, देवसमाज, सत्यशोधक-समाज आदि में 'समाज' शब्द सम्प्रदाय-विशेष का द्योतक है। नाई, धोबी, कुम्हार, चमार आदि के साथ समाज शब्द का प्रयोग, जन्म व व्यवसाय की दृष्टि से किया जाता है। कांठियावाडी गुजराती, पंजाबी, मद्रासी, बंगाली, मारवाडी, आदि के साथ 'समाज' शब्द का प्रयोग, देश-विशेष को प्रकट करने के लिये किया जाता है। इसलिये 'मारवाडी' से उस व्यक्तिसमूह का बोध होता है, जो कि राजपूताना या राजस्थान (दूसरे शब्दों में मारवाड व मेवाड) का निवासी है। निश्चय ही मारवाडी-समाज का भूतकाल बड़ा उज्ज्वल है। उसका पिछला इतिहास बड़ा चमकीला है। प्रात:स्मरणीय महाराणा प्रताप, राणा सांगा, त्यागमूर्ति भामाशाह, वीर दुर्गादास राठौर दुर्गादास आदि मारवाडी समाज की कीर्ति को सदा अक्षुण्ण बनाये रखेंगे। चित्तौड की मिट्टी में मिली हुई पतिव्रता-देवियों की भस्म, चिरकाल तक मारवाडी-समाज का पुण्यगान करती रहेगी। अतीत शौर्य सदियों तक याद किया जाता रहेगा पर, वर्तमान अवस्था बडी निराशापूर्ण है। इस समय समाज में न वह वीरता है और न त्याग। देवियों में न वह कुलीनता है और न साहस। कुरीतियों ने समाज को खोखला बना रखा है। कुप्रथाओं ने समाज को जर्जरित किया हुआ है। रूढियों ने समाज को गुलाम बनाया हुआ है। समाज का अंग-प्रत्यंग इतना बिखरा हुआ है कि मारवाडी-समाज के भीतर भी अनेकों समाज बने हुए हैं। ब्राह्मणों से वैश्य अलग, वैश्यों से शूद्र व अछूत अलग। फिर ब्राह्मणों और वैश्यों आदि में अनेकों भेद, उन भेदों में और कितने ही छोटे-छोटे उपभेद। ओसवालों को लीजिये, कितने मार्ग कितने पन्थ माहेश्वरियों में कितनी खापें, नख, गोत्र आदि? विवाह व खानपान के दायरे इतने अधिक संकुचित कि सुनकर सहम जाना पड़ता है। बीकानेर की कन्या, बीकानेर से बाहिर नहीं जा सकती। जैसलमेरी पोकरण-फलोदी परस्पर विवाह नहीं कर सकते, छोटी मारवाड बडी मारवाड का अलग झगडा। कितनी संकुचित दृष्टि और कितना संकुचित व्यवहार है? वैश्य-मात्र में परस्पर खानपान व विवाह की बात तो बहुत दूर की है, पर आज माहेश्वरी-मात्र-अग्रवाल मात्र व ओसवाल-मात्र भी परस्पर विवाह व खानपान नहीं कर सकते। कितनी दु:खपूर्ण व शोचनीय स्थिति है। ब्राह्मण-समाज का भी यही हाल है। उनमें भी सैकडों भेदभाव घर किये हुए हैं। इस दुर्दशा का फल मारवाड़ी-समाज भोग रहा है। गृहस्थ या परिवार की ईकाई से समाज का जन्म हुआ है और आज मारवाडी-समाज की वर्तमान सामाजिक दुर्दशा के कारण वही ईकाई नष्टभ्रष्ट हो रही है। खान पान व विवाह सम्बन्ध का

दायरा इतना अधिक संकुचित हो गया है कि वर और कन्या का परस्पर सम्बन्ध करते हुए, उनके गुण, कर्म, स्वभाव का तनिक भी खयाल नहीं रखा जाता है। कई कन्यायें और युवा अपने दायरे का, वर व वधू न मिलने से कुंवारी व कुंवारे बने रहते हैं। इच्छापूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रत का आयुभर पालन करना आदर्श है, पर इस प्रकार बाधित होकर कुंवारी या कुंवारा रहना समाज के सदाचार के लिए अत्यन्त घातक व नाशक है। जहां समाज रचना के मौलिक-सिद्धान्त, सदाचार की दीवार गिरनी शुरू हुई कि श्रद्धा, विश्वास व समझौता टिके ही नहीं रह सकते। समाज के प्रति गृहस्थ का कर्तव्य, योग्य-सन्तान पैदा करना है। मारवाडी-समाज के गृहस्थ, उपर्युक्त कारणसे इस तरह बिगड रहे हैं कि वे समाजके प्रति अपने इस कर्तव्य को अदा कर ही नहीं सकते। समाजकी ईकाई को इस प्रकार तहस-नहस कर यदि समाज-सुधार की आशा की जाय तो यह रेत से तेल निकाले के समान है। पश्चिम में गृहस्थ व समाज की ईकाई को अधिकार की लालसाने बिगाडा है और पूर्व में या मारवाडी-समाज में, समाज के छोटे-छोटे दायरों ने इस ईकाई को गहरी हानि पहुंचाई है। इसी सम्बन्ध में दो शब्द विधवाओं की स्थिति पर भी लिखने आवश्यक हैं। मारवाडी समाज में कठिनाई से ही कोई ऐसा घर मिलेगा जिसमें एक, दो या इससे भी अधिक बाल वा युवती विधवायें न होंगी। उनमें सैंकड़ों आचार-पतित होती हैं। भीतर-ही-भीतर काम-वासना की भट्टी पर उनकी जननशक्ति राख होती रहती है। समाज कितनी जननशक्ति की भारी सम्पत्ति को इस प्रकार लुटने देता, बिगड़े देता और बिखरने देता है? कुंवारों के सम्बन्ध में भी यही सचाई ध्यान रखने योग्य है। मारवाडी-समाज के सम्बन्ध में पहली बातें यही कहनी है कि समाज के भीतरी छोटे-छोटे दायरों को एकदम तोड डालना अत्यन्त आवश्यक व अभीष्ट है। यहां इस विषय पर केवल समाज-शास्त्र की दृष्टि से ही विचार किया गया है और समाजशास्त्र की दृष्टि से ही हम यह बार-बार निश्चयात्मक रूपमें कह सकते हैं कि जबतक मारवाडी-समाज, छोटे-छोटे टुकड़ों में बटा हुआ है और छोटे-छोटे दायरों में बंटा हुआ है तबतक उसका अभ्युदय होना सम्भव ही नहीं है। पारस्परिक भातृप्रेम की पहली शर्त, परस्पर खानपान व विवाह सम्बन्ध का होना है। जिस समाज में पारस्परिक विवाह व खान-पान के लिये इतना संकोच हो, वहां विश्वप्रेम की बात क्या करनी, पारस्परिक प्रेम भी पैदा नहीं हो सकता है। उपर बताया गया है कि जिस समाज के महल की नींव विश्व-प्रेम पर नहीं, वह दुनिया में चिरस्थायी नहीं, अमर नहीं है।

इसी सम्बन्ध में दूसरी आवश्यक बात यह है कि पूर्वीय समाज-रचना का आधार कर्तव्य है, अधिकार नहीं है। इसी कर्तव्य की निष्ठा का यह फल है कि मारवाडी-समाज में समाजको 'गंगा' से उपमा दी जाती है। उसका स्वरूप परम पवित्र माना जाता है। सामाजिक-परिषदों को, 'त्रिवेणी के संगम' का नाम दिया जाता है। समाज के प्रति जैसी पवित्रता की बुद्धि, मारवाडी-समाज में पायी जाती है, वैसी शायद ही किसी दूसरे समाज में मिलती हो। पर दु:ख होता है यह कहते हुए कि जातीय गंगा की यह पवित्रता नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी है। नि:संदेह, पंचों को परमात्मा मानना उचित था, किन्तु आज पंच-लोग अपने

उस ऊंचे आसन से नीचे गिर चुके हैं। वास्तविकता तो यह है कि गृहस्थ या परिवार, समाज के लिये मॉडल (आदर्श) था, जिसमें बूढे लोग शासन करते और युवा, बिना नुनच किये, श्रद्धा से आज्ञा का पालन करते हैं। यही एक-सत्तात्मक सामाजिक जीवन है। शासक पर ही सब जवाबदारी रहती है। युवाओं के स्वास्थ्य, शिक्षा, सुख, प्रसन्नता-आदि सब के लिये वही जिम्मेवार है। अव्यवस्था, सन्ताप, दारिद्रय, दु:खादि का सब दोष उसी पर आता है न कि युवाओं पर। इस समय समाज के पंच अपनी इस जवाबदारी व जिम्मेवारी को भूल गये हैं। उन्हें समाज के अभ्युदय, स्वास्थ्य, शिक्षा, सुख व प्रसन्नता की चिन्ता नहीं और न उनके समाज के पतन, संतोष, अव्यवस्था, दारिद्रय, दु:ख आदि का ही कुछ खयाल है। जब तक उनको इस बात की चिन्ता थी, तब तक वे पंच-परमेश्वर, पतितपावन, उद्धारक आदि सब-कुछ थे किन्तु, जब कि आज समाज के अभ्युदय की उनको चिन्ता नहीं, समाज के सुख का उनको खयाल नहीं और सामाजिक समस्याओं को हल करने का उन्हें कुछ भी विचार नहीं, तब भला वे परमेश्वर, पतितपावन व उद्धारक कैसे रह सकते हैं? आजकल के पंचों को विवाह व औसर के अवसरपर पत्तलों की चिन्ता जरूर रहती है, लड्डुओं की संख्या का खयाल जरूर रहता है, शक्कर की माला का विचार अवश्य रहता है और खिचडी के घी की फिकर जरूर रहती है। वर-वधू के योग्य जोडे, उनकी योग्य आयु, शिक्षा आदि से उन्हें क्या मतलब? वे तो घोडा-घोडी के झगडों, लेन-देन के फैसलों और कपड़े लत्ते को अच्छा-बुरा बताने के लिये रहते हैं। आज किन पंचों को समाज के भीतर सामाजिक कुरीतियों की भभकती हुई आग को बुझाने की चिन्ता है? किन पंचों को कुंवारों व विधवाओं की आहों से झुलसते हुए सदाचार को बचाने की आज फिकर है? किन पंचों को छोटे-छोटे टुकडों में बिखरे हुए समाज के शरीर को एक बनाने का खयाल है? समाज की ईकाई गृहस्थ व परिवार की पवित्रता की ओर किनपंचों का तनिक भी ध्यान है? कौन पंच है जो समाज को कुरीतियों के गड्ढे में से बाहर निकालना चाहते हैं? कौन है जो समाज को रूढ़ियों की गुलामी से छुटकारा दिलाना चाहते हैं? इन सब प्रश्नों का उत्तर स्पष्ट है कि कोई भी नहीं? इसलिये इन पंचों के हाथ में समाज की बागडोर रखकर अपने को अंधकार में डालना है और ऐसे भयानक अंधकार में डालना है कि उससे उद्धार होना सदा के लिये कठिन हो जायेगा। इसलिये जातीय गंगा की पवित्रता को बनाये रखने के लिये आवश्यक है कि ऐसे पंचों के हाथ में से समाज की बागडोर निकाल ली जाय या ऐसे पंचों को उस पवित्र आसन से उठा दिया जाय, जिसे साक्षात् भगवान का नाम दिया जाता है। मारवाडी-समाज के विकृत स्वरूप को आजकल के पंचों का व्यवहार इतना अधिक स्पष्ट कर रहा है कि उसको देखते हुए भी यदि सावधान न हों तो यह हमारा दौर्भाग्य ही समझना चाहिये। अस्तु,

५ सुधार

सुधार के सम्बन्ध में कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, ऊपर यथास्थान योग्य

संकेत कर दिया गया है। समाज-रचना के विषय की इतनी विस्तृत व्याख्या इसीलिये की गई है कि प्रत्येक व्यक्ति यह समझ सके कि उसका अपने वैयक्तिक जीवन और उसका परिवारिक जीवन ही समाज का सामाजिक जीवन है। समाज का जीवन, व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन का ही फोकस है। आशा है मारवाडी-भाई, समाज-रचना की इस सच्चाई पर खूब गहरा विचार करेंगे और यह समझेंगे कि उनके जीवन का, समाज के जीवन पर कितना गहरा प्रभाव पडता है? यदि प्रत्येक व्यक्ति इस सच्चाई को समझ ले तो आज समाज का सुधार हुआ पडा है। इसलिये इस विषय में कुछ भी अधिक न लिखकर हम इतना ही लिखना पर्याप्त समझते हैं कि सामाजिक जीवन को पवित्र बनाने के लिये या उसके सुधार के लिये प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत व पारिवारिक जीवन की पवित्रता व सुधार की ओर पूरा लक्ष्य रखना चाहिये। जिस दिन ऐसा होगा, उसी दिन समाज-सुधार के कार्य का श्रीगणेश होगा, पहले नहीं। तथास्तु-

सत्यदेव विद्यालङ्कार

ॐ

श्री परमात्मने नमः ।

वर्ष १

श्रावण कृष्ण ११ संवत् १९८३
अगस्त १९२६.

संख्या १

कल्याण ।

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और धर्म सम्बन्धी मासिक पत्र.

सत्यं शौर्य्यतपः क्षमाऽमृतवचोऽहिंसाश्च श्रद्धालुताम्
प्रीतिं भूतदयां जनेपि सकले सौहार्दमापादयन् ॥
भक्तिं कल्मषनाशिनीं भगवतीमानन्ददां वर्द्धयन्
कल्याणं वितनोतु नोऽभयकरः कल्याणरूपो हरिः ॥

वार्षिक मूल्य ३)
विदेशोंके लिये ४॥)

प्रति संख्या १=)
विदेशोंके लिये ॥)

बम्बईके सत्सङ्ग-भवन-द्वारा प्रकाशित ।

सम्पादकीय टिप्पणियां.

जगत्के जीव संङ्कटमें:-

समाचार पत्रोंके देखनेवाले सज्जनोंको यह भलीभांति विदित है कि आजकल जगत्के जीव किस प्रकार संकटमें पड़ रहे हैं। हम लोगोंका जिस प्राणी-जगत्से परिचय है उसमेंसे अधिकांश पर संकट है! यूरोपसे आये दिन इतने अधिक कंपा देनेवाले समाचार आरहे हैं कि जिन सबका स्मरण रखना कठिन हो रहा है। न मालूम इन थोड़ेसे दिनोंमें यूरोपके कितने प्राणी जलप्लावन में बह चुके, कितनी खेती नष्ट हो गयी, कितने मनुष्य गृह और वस्तु-शून्य हो गये! भूकम्प से कितने ग्रामोंका सत्यानाश हो गया! अग्नि कोपसे कितनी भयानक हानि हुई! किरासिन तैल के भयानक अग्निकाण्ड को अभी अमेरिका भूला ही नहीं था कि उस दिन बारूदके एक बड़े भारी कारखानेमें आग लग गयी, लाखों टन बारूद और लाखों गोले- जो किसी समय नरहत्याके लिए बनाये गये थे- खाक हो गये। आसपासके अनेक शहर और गावोंका कितनाही भाग उड़ गया। कहते हैं कि इस अग्निकांडमें अनुमान तीस करोड़ रुपयेका नुक्सान हुआ, नरहत्या भी थोड़ी नहीं हुई!!

परस्परके वैर-बिरोधसे प्राय: सभी दु:खी हैं, कहीं विद्रोह है, कहीं राजहत्याके लिए आयोजन है, कहीं गरीबों पर अमानुषिक अत्याचार है तो कहीं धनियोंको लूटकर सबको बराबर कर डालनेका विफल प्रयास है। सारांश यह कि प्राय: समस्त यूरोप और अमेरिकाके जीवों पर संकट छाया हुआ है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक, तीनों प्रकारके ताप क्रमश: बढ़ते चले जा रहे हैं!

यही दशा एसियाकी है, चीनसे विद्रोह ेर मारकाटके समाचार प्राय: आते रहते हैं। जापानमें विप्लव आरंभ हो चुका है। ईरानमें गड़बड़ मची हुई है और अन्यान्य स्थानों पर भी इसी प्रकारके संकट हैं। महंगाई और बेरोजगारीका प्रश्न तो जगत भर को चिन्तित कर रहा है। इधर भारतवर्षमें और सब उत्पात तो प्राय: हैं ही परन्तु इस समय इस एकही देशमें रहनेवाली दो विशाल जातियां परस्परमें एक दूसरेका सर्वनाश करनेके लिए उतारू हो रही हैं। मन्दिर और मस्जिद टूट रहे हैं, खून-खराबियां हो रही हैं, अबला स्त्रियों पर अत्याचार करनेमें धर्मकी वृद्धि तथा बहादुरी समझी जाती है और गरीब,अनबोल निरपराध तथा उपकारी पशुओंके रक्तसे भूमि लाल होने चली है। कहां तक गिनाया जाय! यह सब क्यों होरहा है? इसीलिए कि हम लोगों ने प्राय: सर्वव्यापी परमात्माकी अखण्ड सात्ताका अनादर करना आरंभ कर दिया है। हमने धर्मको एक खिलौना मान लिया है। हमारा ज्ञान प्राय: घोर नास्तिकतामें परिणत होने चला है। हम पापोंकी सेवासे सुखकी प्राप्ति का स्वप्न देख रहे हैं, सारांश कि हम पतनकी ओर जा रहे हैं! यदि जगत्के मनुष्य इस भयानक पतनोन्मुखी प्रवाहसे शीघ्र ही अपना छुटकारा न करवालेंगे तो संभव है कि परिणाम और भी भयंकर हो!

हिन्दू-मुस्लिम समस्याः—

आज कल इस समस्याको लेकर देश भरमें बड़ी हलचल मची हुई है। परस्परमें मनौमालिन्य बढ़ रहा है; स्थान-स्थान पर मार-काट मची हुई है; अवसर पाते ही अपना बैर निकालनेके लिए दोनों ओरसे तैयारियां हो रही हैं। देवमूर्तियां भङ्ग होती हैं, स्त्रियोंका सतीत्व बलात्कारसे हरण किया जाता है, बच्चों को भुलाकर उनका सर्वनाश किया जाता है; राह चलते निरीह लोगों पर कायरतान्य भरे आक्रमण होते हैं और जरा जरासी बातके लिए सैकड़ों के सिर तोड़ दिये जाते हैं। देश में इस प्रकार घृणित कृतियों का आरंभ हो चुकाहै और बड़ी तेजी के साथ इनकी वृद्धि हो रही है। यह बड़ा ही अशुभ लक्षण है! यदि विवेक पूर्वक विचार किया जाय तो यह मालूम होता है कि इन साधनों से देश के लोग अपने स्वार्थ और परमार्थ, दोनोंसे भ्रष्ट हो रहे हैं। न इससे हिन्दू धर्म का प्रचार होता है और न इस्लामकी ही तरक्की होती है। मोक्षके महान् लक्ष्य से दोनोंको ही च्युत होना पड़ता है!

जहां एक देशमें एक गांवमें और एक मुहल्लेमें रहने वाले लोगोंको परस्पर पड़ोसी की तरह भाई-भाई का सा बर्त्ताव करना चाहिए था, वहां आज परस्परमें एक दूसरेको प्राणघातकी आशंका हो रही है! कितनी लज्जाकी बात हैं! हमारी इस दशा पर यदि अन्य जातियां हंसै तो इसमें कौन सा आश्चर्य है? खेद है कि हम अपने बाहरी भावोंकी रक्षाके लिये तो इतने आतुर होते हैं परन्तु हम सबके अन्दर जो एक परमात्मा समान रूपसे विराजमान है उसे तुरन्त भूल जाते हैं! द्वेष-भाव से परस्पर एक दूसरे पर आक्रमण कर, क्या हम उसका अपमान नहीं करते? दूसरे स्थानोंको बचाते हैं परन्तु परमात्माके पवित्र स्थान को बचाने की हमें कोई चिन्ता नहीं है। यही कारण है कि हमारा इतना अध:पतन हो रहा है और जहां हमलोग उस सर्वव्यापी प्रभुको अपने हृदय-सिंहासन पर भलीभांति विराजित न देखेंगे और जहां तक हमें सबके अन्दर उसी हमारे अन्तस्तल में रहनेवाले प्रभुका दर्शन नहीं होगा वहां तक हमारा वास्तविक उत्थान तो अत्यन्त ही कठिन है।

जहां तक हमारा मन परस्परमें शुद्ध न हो जाय वहां तक कोई भी सरकार कितने ही प्रबंधसे पूर्ण शान्तिरक्षा कैसे कर सकती है? यदि एक जगह सरकार प्रबंध करेगी तो हम दूसरी जगह भिड़ जायेंगे क्योंकि हमारा अन्तर तो प्रतिहिंसासे नलसे भस्म हुआ जाता है इसलिए जहां तक हो सके दोनों जातियों के पक्षपात हीन उत्तरदायी नेताओंको जनताके हृदयोंमेंसे प्रतिहिंसाको निकाल कर उसके स्थानमें प्रेम को बैठानेकी चेष्टा करनी चाहिए। जलती हुई अग्निमें घृतकी आहुति न डालकर शीतलजल का प्रवाह बहाना चाहिए परन्तु यह काम दोनों ओरसे हो तभी इसका फल सबसे उत्तम हो सकता है।

साथ ही अपनी भावना और श्रद्धाके अनुसार परमात्माका स्मरण करना और यथा-साध्य उनके पवित्र आदेशोंका पालन करना चाहिये। लोग कह सकते हैं कि "घरमें तो आग लगी हुई है और यह परमात्माके भजन स्मरण की बात कहता है, परन्तु ऐसा कहने वाले माननीय भाई इस बातको भूल जाते हैं कि आगमें दाह करने की शक्ति कहांसे आती है और हमलोगोंके अन्दर उसे शान्त करने की शक्ति कहां से आती है? जिसके भय से सूर्य और अग्नि तपते हैं, वायु बहता है, जिसके भयसे भयाधिपति यमराज अपने व्यापारीमें लगे

रहते हैं, और जगत् के समस्त देवता-दानव जिसके नियमोंमें बंधे हुए हैं'' उस शरणागत-वत्सल परमात्माकी शरण जानेसे ही भयका नाश होगा! जो सबका प्रेरक और नियोजक है- जो सब समय हमारा कल्याण करने के लिए, पुकारते ही तैयार मिलता है। उस भय-हारीकी शरणसे ही हमारा भला होगा।

जब-जब जगत् में संङ्कट आया है तब-ही-तब जगत्का कल्याण चाहनेवाले महा मनीषी ऋषिमुनियों ने उस परमात्माकी शरण ली है और उसी की शरण से सबका बेड़ा पार हुआ है। यदि रागद्वेष को छोड़कर, सच्चे हृदयसे आज हम उसकी शरण हो जायँ तो आज-अभी वह हमें अभयदान दे सकता है। हममें उस दिव्यशक्ति का प्रादुर्भाव हो सकता है कि जिसके सामने समस्त लौकिक शक्तियां तत्काल ही परास्त हो जायं! अतएव हमारे मतसे सबसे पहले इसी परम साधन की आवश्यकता है और वास्तव में यही हमारे कल्याण का सच्चा साधन है।

दूसरा गौण उपाय है "सब प्रकारसे अन्तमें बल संचय करना" इसलिए नहीं कि उस बलसे असहाय गरीबों को सताया जाय। इसलिये नहीं कि, उस बलसे दूसरेके धर्म पर अन्यायपूर्वक आघात किया जाय। इसलिए नहीं कि उस बल से गर्वित होकर, स्वेच्छाचारिताको आश्रय दिया जाय और इसलिए नहीं कि उस बलके मद में "सारे बलोंके बल और निर्बलके एक मात्र बल" परमात्माको भुला दिया जाय; परन्तु इसलिए कि उस बलसे धर्मकी रक्षा की जाय। अन्याय और अत्याचारसे असहाय और गरीबोंको बचाया जाय, स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा की जाय, हमारे घर पर जबरदस्ती हमला करनेवाले आततायियों से आत्मरक्षा के लिए सामना किया जाय और ऐसा करते हुए परमात्मा की आज्ञा पालन-रूप सेवा से उसे प्रसन्न किया जाय!

जो रागद्वेष रहित सच्चे बलवान पुरुष होते हैं वे किसी दूसरे के धर्म, धर्मस्थान या उसकी बहू-बेटियों पर आक्रमण नहीं किया करते हैं। वे तो सदा सबका भला चाहते हैं। जो कोई अज्ञानसे या भ्रमसे दूसरों पर बलात्कार करता है, गरीबों पर अत्याचार करता है, असहायों को सताता है और किसी के धर्म पर अन्यायसे आघात करता है, उसका भी भला करनेके उद्देश्य से ऐसे लोग पहले उसे समझा बुझाकर कुकृत्यों से बचाने का प्रयत्न किया करते हैं परन्तु जब यह देखते हैं कि- यह अब किसी प्रकारसे भी नहीं समझ सकता और इस संक्रामक रोगका विष दूसरों में भी फैलाना चाहता है तब उसे अपने शारीरिक बल से परास्त कर दूसरों को सावधान कर देते हैं इसीलिए शारीरिक बल आवश्यक है।

इसीके साथ संघ-बलकी भी बड़ी आवश्यकता होती है। दूसरोंके अन्याय और अधर्म-प्रेरित आक्रमणोंसे बचने लिए न्यायानुमोदित और हर तरहसे सुसज्जित संघ-बल के बिना काम नहीं चलता।

इस बातको सदा स्मरण रखना चाहिए कि कायरता का नाम अहिंसा नहीं है! अहिंसा और क्षमा निर्भीक तथा बीर पुरुषोंका धर्म है। भागकर घर में घुस जाने वाले कायरों और कापुरुषोंका नहीं!!

कल्याणकी आवश्यकता।

सम्पादकका निवेदन।

कल्याण की आवश्यकता सबको है। जगत् में कौन ऐसा मनुष्य है जो अपना कल्याण नहीं चाहता? इसी आवश्यकता का अनुभव कर आज यह "कल्याण" भी प्रकट हो रहा है। शुभ, मङ्गल, शिव और भद्र आदि कल्याण के पर्यायवाची शब्द हैं परन्तु इनका अर्थ करने में अपने अपने उद्देश्य के अनुसार बड़ा अन्तर डाल दिया जाता है। कोई स्त्री, पुत्र, धन, मान और बड़ाई की प्राप्ति को शुभ मानते हैं तो कोई इन सबको त्याग कर, निर्जन प्रदेश में निवास करना ही शुभ समझते हैं, कोई पर-धन-अपहरण में ही अपना मङ्गल मानते हैं तो कोई परार्थ अर्थ के उत्सर्ग को मङ्गल समझते हैं, इस प्रकार अपनी रुचि के अनुसार लोग कल्याण का भिन्न-भिन्न अर्थ किया करते है। वास्तविक कल्याण किस वस्तु में है, इसका एक मत से निर्णय आज तक नहीं सका है। परन्तु त्रिकालज्ञ ऋषि मुनियों ने, महात्माओं ने और जगत् के बड़े-बड़े धीमान्-पुरुषों ने, अपनी दिव्य दृष्टि से 'परमात्मा की आज्ञानुसार शुभ कर्म करते हुए अन्त में परमात्मा की प्राप्ति कर लेने को ही' परम कल्याण माना है। इसी को ब्रह्मवेत्ता महापुरुष मोक्ष कहते हैं, इसी को भक्तों ने अपनी रसीली वाणी से श्यामसुन्दर का 'अनन्य प्रेम' कहा है और यही सबका एक मात्र सम्पादनीय परम पुरुषार्थ है। यही एक ऐसा विषय है, जिसमें सबका समान अधिकार है, इसमें स्त्री-पुरुष और ब्राह्मण-शूद्र का कोई भेद नहीं! धन ऐश्वर्य, रूप-गुण, विद्या कला और वर्ण-जाति आदि से यहां कुछ भी सम्बन्ध नहीं-यहां तो बस-

जिसने उत्कट उत्कण्ठासे उस प्रियतमको बुलवाया
उसने ही तत्काल उसे अपने समीपमें है पाया

भगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है:-

'मांहि पार्थ व्यपाश्रित्य योपिस्यु: पापयोनय:।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यांति परां गतिम्'॥ ९/३२

"हे पार्थ! स्त्री, वैश्य, शूद्रादि या पापयोनिवाले जो कोई भी हों, मेरे शरण होते ही वे परम गति को प्राप्त होते हैं।"

"पुरुष नपुंसक नारि नर जीवन चराचर कोइ।
सर्वभाव भजि कपट तजि मोहिं परम प्रिय सोइ॥"

(गो. तुलसीदासजी)

''जिनका उस परमपिता परमात्मा में प्रेम है, जो जगत् के जीवमात्र को उस परमात्मा की प्रिय सन्तति समझ कर सबसे ''आत्मवत्'' प्रेम करते हैं, जो उसकी आज्ञानुकूल अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, दान, क्षमा, शौच, तप और सन्तोषाआदि व्रतों को पालते हैं, जो निरन्तर उस प्रियतम की त्रिभुवनमोहिनी मधुर मूर्तिका ध्यानकर-उसके परम प्रेममय प्रभाव को पलपल में स्मरण कर, उसके पावन नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए अश्रुपूर्ण लोचन और अवरुद्ध कण्ठ होकर अपने आपको भूल जाते हैं, जो चन्द्र-सूर्य, नक्षत्र-अग्नि, व्योम-वायु, जल-स्थल, समुद्र-सरिता, वृक्ष-पर्वत, देवता-मनुष्य, यक्ष-राक्षस और पशु-पक्षी आदि समस्त जड़-चेतन में केवल उसी का प्रकाश देखते हैं और जो इन सबके भिन्न-भिन्न रूपों में उसी एक अरूप का ''नित्य रूप'' दर्शन करते हैं बस, वे ही उसको प्राप्त करने के अधिकारी हैं और उसे प्राप्त कर लेना ही परम कल्याण है।'' इसी बात का प्रचार करने के लिये, उसी कल्याण के स्वामी की पवित्र प्रेरणा से और कुछ कल्याणमय तथा कल्याणकामी महानुभावों की अनुमति से इस ''कल्याण'' का जन्म हुआ है।

जिसको इस ''कल्याण'' के सम्पादन का भार दिया गया है वह इस बात को भलीभांति जानता है कि उसमें कल्याण के सम्पादन की योग्यता और सामर्थ्य नहीं, वह अभी कल्याण से दूर है परन्तु वह कल्याणकामी अवश्य है, इस ''कल्याण'' की किञ्चित् सेवा से उसकी कल्याण-कामना में बहुत कुछ सहायता प्राप्त हो सकती है, इसी विश्वास से वह सब प्रकार से अपनी अयोग्यता का अनुभव करता हुआ भी परमात्मा की पलपल पर प्रकट होने वाली अपार अनुकम्पा और पूजनीय महापुरुषों की विशाल कृपा के भरोसे इस कार्य का भार उठा रहा है।

सम्पादकका विचार है कि इस ''कल्याण'' के द्वारा यथासम्भव उन प्रातःस्मरणीय ऋषि-मुनियों और महापुरुषोंकी दिव्य वाणीका ही प्रचार किया जाय जो अपने अलौकिक तेजसे पथभ्रष्ट पथिकोंको कल्याणके सुन्दर मार्ग पर लानेमें समर्थ है! स्वलिखित लेखोंमें भी यथासाध्य महापुरुषोंके वचनोंको ही आधार बनाने का विचार है। मनुष्यके विचारोंका कार्यमें परिणत होना प्रेरक प्रभुके अधीन है। उस मङ्गलमयकी इच्छासे जो कुछ भी हो रहा है सो सभी कल्याण है, उसका कोई भी कार्य कल्याणसे रहित नहीं होता। विज्ञ पाठक और पाठिकाएं अनुग्रहपूर्वक अपने प्रेम का वह बल दें कि जिससे इस ''कल्याण'' का यह तुच्छ सम्पादक भी प्रभुकी प्रत्येक क्रियाको कल्याणमय समझनेके योग्य बन सके।

-सम्पादक

विजय दशमी　　दूसरी वार　　खंड १, अंश १

त्याग-भूमि

आशीर्वाद

'त्यागभूमि' नाम तो बड़ा अच्छा है परन्तु आजकल नाम के बराबर काम नहीं होता। मेरा तो विश्वास है कि 'त्याग-भूमि' इस बुरी आदत को दूर करने का सम्पूर्ण प्रयत्न करेगी। और मेरी दृष्टि से हिन्दुस्थान में इस युग में जो भारतवर्ष की सेवा करना चाहता है उसके त्याग का आरंभ खादी और चर्खा से ही हो सकता है। मेरी आशा है कि 'त्यागभूमि' भी अपने यश का आरम्भ चर्खा-प्रचार से ही करेगी।

मोहनदास गांधी

सम्पादक　श्री हरिभाऊ उपाध्याय
श्री क्षेमानन्द 'राहत'

वार्षिक मूल्य ४)　सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर से प्रकाशित　एक संख्या का ॥)
छमाही मूल्य २॥)　　विदेशोंके लिए ५)

वर्ष १, अंक १, विजया-दशमी, संवत् १९८४

'त्यागभूमि'

"आता हूँ, मैं आता हूँ- तव चरणों को चुम्बन करने।
आकुल हो तेरे हाथों में, अपनेको अर्पण करने॥"

जब 'मयूर' का जन्म हुआ, विन्घ और कठिनाइयों की ठोकरों से थकी हुई व्यवहार-बुद्धि को यह शंका ही थी कि वह एक साल भी कैसे पूरा होगा! परन्तु दूर एक कोने में खड़ी हुई सचाई और लगन की जननी, सजीव श्रद्धा, उसके खोखलेपन पर मुस्कुरा रही थी। ईश्वर की कृपा से इस तीसरे ही वर्ष में 'मयूर' 'त्याग-भूमि' के रूप में पाठकों के सामने उपस्थित है। जहाँ ऊजड़ भूमि थी, तहाँ आज हरियाली दिखाई पड़ने लगी है।

राजस्थान 'मयूर' का विहार क्षेत्न था। त्यागभूमि से बढ़ कर राजस्थान का गौरव, गुण और महिमा किन शब्दों में गाई जा सकती है? वीरभूमि पद तो उसे प्राप्त हो ही चुका है, पर 'त्यागभूमि' के रूप में जब वह बलिदान के लिए हमें आह्वान करता है तब बड़े-बड़े वीरों के सिर भी उसके चरणों में, झुके हुए नज़र आने लगते हैं। त्याग, वीरता का बलिदान-संस्करण है। आजकल की वीरता में से यदि हिंसा और प्रतिहिंसा का अंश निकाल दिया जाय तो शेष त्याग या बलिदान ही बच रहता है। राजस्थान बलिदान का पुराण है, राजस्थान शहीदों का स्मृति-मन्दिर है, राजस्थान स्त्रियों के आत्म समर्पण की अग्निशिखा है, राजस्थान-जौहर का जौहर है। राजस्थान मीरा की भक्ति है, राजस्थान प्रताप की मुक्ति है, राजस्थान दुर्गादास, जयमल, फत्ता, विक्रम की शक्ति है। राजस्थान, अहल्या का धर्म है, मण्ढन का कर्म है, भोज का साहित्य है, कालिदास की कला का सौंदर्य है, लक्ष्मी और आल्हा-ऊदल की वीरता है। आबू उसके ऐश्वर्य का अचल झण्डा है, विन्ध्या और नर्मदा अपना वैभव उसके चरणों में चढ़ाते हैं, पंचनद उसके सिर पर अमृत की धारा है, पुष्कर उसका तपोवन, उज्जयिनी विद्यापीठ। चित्तौड़ उसके पुण्य-प्रताप का खण्डहर, सांची धर्म और कला का शिलालेख। हल्दीघाटी उसका धारा-तीर्थ है। ऐसा वीर वैरागी राजस्थान, जब बलि-वेदी पर अपने पुत्नों को भुजा उठा कर बुलाता है तब कौन ऐसा अभागा होगा, कपूत होगा, जो दौड़ न पड़ने लगे। त्यागभूमि राजस्थान, तुझे शतशः प्रणाम है। तू भारत के हृदय में बसने वाली बलिदान की सजीव शक्ति है। तेरी जय हो!

'त्यागभूमि' 'मयूर' के जीवन-कार्य की दूसरी सीढ़ी है। 'मयूर' अपनी मीठी कूक से राजस्थान को जगाने आया था। कुछ सुनाकर, कुछ बताकर, अब 'त्यागभूमि' के द्वारा वह कुछ कराने की आकांक्षा रखता है। 'त्यागभूमि' राजस्थान के प्राचीन त्याग-बलिदान की समयोचित आवृत्ति करना चाहती है। राजस्थान आज क्षीण और मलीन क्यों है? उसके पुत्न उसके लिए मन लगाकर कुछ करते नहीं, आगे बढ़-बढ़ कर कुछ सहते नहीं! उन्हें कुछ दुःख हैं, कष्ट हैं, शिकायत हैं- वे यदि दूर हो जायँ तो सुख से, प्रलय तक, इस नरक-वास को वे अहोभाग्य समझते रहेंगे। मनुष्यत्व का, स्वतन्त्नता का न पूरा खयाल है, न उसकी बेचैनी। स्वाधीनता मनुष्य का जीवन है, पराधीनता मृत्यु। राजस्थान के पुत्न अभी स्वाधीनता

के मतवाले नहीं हुए। संघर्ष और विपत्तिमय स्वाधीनता उन्हें भयभीत करती है। और शमशान की निर्जीव एवं वीभत्स शान्ति उन्हें रमणीय मालूम होती है। उनकी इस मूर्च्छा को दूर कर के उनके दिल में अपनी जन्मभूमि के लिए कुछ करने, देने और सहने की तड़प यदि 'त्यागभूमि' ने पैदा कर दी, तो उसके जीवन का कार्य समाप्त हो गया समझिए। राजस्थान के जीवन के एक-एक अंग में गहरी उथल-पुथल मचाने की धुन इसे सवार है। उसके सड़े-गले अंश को यह निष्ठुर बन कर काटेगी और दुनियां से जीवन-पोषक अंशों और तत्वों को ला कर उसे हृष्ट-पुँष्ट और बलिष्ठ बनावेगी। 'त्यागभूमि' केवल बुद्धि की भूख बुझाने नहीं आई है, बल्कि आत्मा को बल देने के लिए आई है। 'त्यागभूमि' के मन्तव्य, नीति और कार्य क्रम की रूप-रेखा इन शब्दों में व्यक्त की जा सकती है—

१. 'त्यागभूमि' मनुष्यत्व और स्वाधीनता को एक ही वस्तु मानती है, स्वाधीनता को वह मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार ही नहीं, उसकी जन्म-जात स्थिति मानती है।

२. 'त्यागभूमि' उस राज्य-प्रणाली को सर्व श्रेष्ठ मानती है जिसमें प्रजा के सच्चे प्रतिनिधि, प्रजा के हित के लिए, प्रजा की सुव्यवस्था करें।

३. 'त्यागभूमि' धर्म को मुक्ति का सड़क मानती है। उसकी राय में मुक्ति स्वतंत्रता की अंतिम और पूर्ण अवस्था का नाम है। वह नीति को धर्म का जीवन समझती है।

४. 'त्यागभूमि' मानती है कि सत्य, मनुष्य का परम साध्य और अहिंसा उसकी परम नीति है। मुक्ति पाना और सत्य को पहुँचना एक ही बात है फलतः त्यागभूमि की नीति खुली, सीधी और मधुर होगी। 'त्यागभूमि' छिपाव को पाप मानती है और विश्वास-पालन को पवित्र कर्त्तव्य।

५. 'त्यागभूमि' असत्य, अन्याय, अत्याचार और अ-समता का सविनय विरोध करेगी और दीन-दुखियों, अबलाओं, अनाथों की सेविका बनने की आकांक्षा रक्खेगी।

६. सामाजिक कुरीतियों और दुर्बलताओं की यह दुश्मन होगी और समाज-सुधार में सदा आगे कदम बढ़ावेगी।

७. किसानों, मजदूरों, अछूतों और विधवाओं को तो वह अपने 'स्वजन' समझती है और उनके लिए अपने बस वश-भर कोई बात न उठा रक्खेगी।

८. शहरों की अपेक्षा ग्राम उसके हृदय के अधिक नज़दीक हैं। वह गांवों को ऊपर उठाने का और शहरों को बुराइयों से छुड़ाने का यत्न करेगी।

९. 'सर्व-भूत-हित' को अपना पथ-प्रदर्शक मानती हुई राष्ट्रीयता और प्रान्तीयता की पुष्टि करेगी।

१०. एक सपूत की तरह अपने पूर्वजों की अच्छी विरासत की रक्षा करेगी और उत्तम नई बातों का स्वागत करके उस पूंजी को बढ़ावेगी।

११. माता हिन्दी का प्रचार और हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि का उसका एक निश्चित कर्त्तव्य होगा।

१२. राजस्थान के देशी-राज्य ही प्रायः उसका कार्यक्षेत्र है। 'त्यागभूमि' का ख़याल है कि देशी-राज्यों की वर्तमान नाजुक स्थिति राजनैतिक आन्दोलन करने के योग्य नहीं है

इसलिए राजनीति में वह केवल सिद्धांतों के विवेचन और प्रचार पर ही सन्तुष्ट रहेगी, जब तक कि कोई खास स्थिति न उत्पन्न हो।

१३. 'त्यागभूमि' अनुभव करती है कि भारत में एक नये प्रकाश और नये चैतन्य की बाढ़ आ रही है। भारत, जगत को कुछ देने की पूर्व तैयारी कर रहा है। 'त्यागभूमि' की आकांक्षा है कि वह उस नव-संदेश का नम्र वाहन बने।

१४. दुर्व्यसनों, अश्लील और विलासिता तथा कामुकता को बढ़ाने वाले चित्रों, विज्ञापनों एवं पुस्तकों आदि के प्रचार का यह विरोधं करेगी।

१५. 'त्यागभूमि' खादी और चर्खे को भारत का युग धर्म मानती है और अपने जीवन का पवित्र व्रत।

मैं मानता हूँ कि 'त्यागभूमि' की यह आकांक्षा बहुत बड़ी है। इसकी पूर्ति के लिए जो दर्शन, जो बल, जो तप चाहिए वह हर एक के नसीब में नहीं होता। 'त्यागभूमि' तो अपनी शक्तिभर ही सेवा कर सकती है। हाँ, वह यह विश्वास पाठकों को दिला सकती है कि अपने बस-भर वह इन बातों के लिए कुछ न उठा रक्खेगी।

सस्ता-साहित्य-मंडल ने जो 'त्यागभूमि' को अपनाने का निश्चय किया है, उससे 'त्यागभूमि' की शक्ति अवश्य बहुत बढ़ गई है। परमात्मा उसे ऐसा आशीर्वाद दें कि मण्डल को इस निश्चय पर खेद न हो और 'त्यागभूमि' से कुछ असली और अमली सेवा हो सके।

बेवकूफ़ी से कहिए अथवा सेवा के मोह से कहिए मैंने अपनी शक्ति से ऊपर कहे कामों का बोझ अपने सिर पर उठा रक्खा है; जिससे एक तो सब काम अच्छी तरह नहीं हो पाते और, दूसरे, मेरे स्वास्थ्य पर भी उसका बुरा असर होता रहता है। ऐसी अवस्था में मैं भाई राहतजी को धन्यवाद दिये बिना कैसे रह सकता हूँ, जिन्होंने आगे बढ़ कर 'त्यागभूमि'-सम्बन्धी मेरे भार को हल्का करने की कृपा की है। राहतजी हिन्दी-संसार में सुपरिचित हैं। मद्रास में हिन्दी-प्रचार करने के बाद उन्होंने 'भारत-तिलक' नामक हिन्दी साप्ताहिक पत्र निकला था और एक साल तक देश-भक्तों के लिए अंग्रेज़ी सरकार की बनाई तपोभूमि में रहकर वह राजस्थान में खिंच आये हैं। बलिदान और वीरता की यह आदर्श भूमि, प्रताप की ममतामयी माता, उन्हें अपनी माता के समान ही पूजनीय है। प्रताप उनके हृदय के राजा हैं। वह भावुक और कवि हैं। हृदय से लिखने वालों में हैं। मेरी उम्र बढ़ जाएगी, जिस दिन वह 'त्यागभूमि' का सारा भार अपने ऊपर ले लेंगे।

एक बात पाठकों से भी। 'मयूर' के थोड़े पृष्ठों, छपाई-सफाई संबन्धी अनेक त्रुटियों समय पर न निकलने के दोष, प्रचार की ओर उपेक्षा-भाव, समुचित व्यवस्था के अभाव आदि के रहते हुए भी उन्होंने 'मयूर' को जिस प्रेम से अपनाया, उसका मुझे एक तरह से गर्व है। राजस्थान जैसे पिछड़े और सोये हुए प्रान्त में सब प्रकार के आकर्षणों से हीन पत्र के लिए, पाठकों को कई बातों का असंतोष रहते हुए भी, बिना विशेष प्रयास के २५०-३०० ग्राहकों का मिल जाना और घटी की पूर्ति हो जाना, मैं तो समझता हूँ, 'मयूर' की कम सफलता नहीं है। इसके लिए 'मयूर' के पाठकों और मित्रों को मैं किन शब्दों में धन्यवाद दूँ? हमारी त्रुटियों के कारण जिन पाठकों को कष्ट पहुंचा हो, मानसिक क्षोभ हुआ हो,

उनसे मैं हृदय से क्षमा चाहता हूँ। अपना एक दुःख भी उनके सामने रख दूँ? मुझे मालूम हुआ है कि इधर कुछ पाठकों ने व्यवस्थापकों को कड़े पत्र लिखे हैं और एकाध ने तो हमें बेईमान और धोखेबाज तक कह दिया है! हम अपनी त्रुटियों के लिए बहुत शर्मिन्दा हैं। इनके रहते हुए हमें, ऐसे गुरुतर कामों का भार उठाना ही न चाहिए था। पर, यदि हो सके तो, उन सज्जनों को मैं इतना विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि 'मयूर' को निकाल कर चाहे, हमने भूल की हो, पर आप लोगों की सेवा के पागलपन ने ही हमसे भूल कराई है। इसका जो कुछ दण्ड आप कृपा करके दें, वह हमें सादर शिरोधार्य है। जब तक यह पागलपन सवार है, हमसे ऐसी भूलें होना अपरिहार्य है।

जिन मित्रों ने लेखों, कविताओं, समाचारों, सत्परामर्शों आदि के द्वारा हमारी सहायता की, उनके हम अत्यंत ऋणि हैं। आगे भी, मैं आशा करता हूँ, इसी तरह वे अपने ऋण का दरवाजा खुला रक्खेंगे। चक्रवृद्धि-ब्याज सहित, किसी न किसी रूप में, हम उनसे उऋण होने का यत्न करेंगे।

अन्त में अपने राजस्थानी भाइयों से प्रार्थना है। 'त्यागभूमि' आपकी एकमात्र मासिक पत्रिका है। इसके द्वारा हमसे सेवा लेना न लेना आपके हाथ की बात है। आपने इसे अपनाया तो हमारा उत्साह और साथ ही सेवा की क्षमता भी बढ़ेगी। आप उदासीन रहे, हमारी टूटी-फूटी सेवा आपको न जंची, तो भगवान की मर्जी! हमने तो राजस्थान की सेवा का व्रत ले लिया है। उसके लिए जीने और मरने की तैयारी कर रक्खी है। यही हमारा बल है, यही हमारी पूंजी है। हमने तो अपने को ईश्वर के हाथों में सौंप दिया है। वह जिस रूप में, जिस तरह, अपना काम हमसे कराना चाहेगा करा लेगा। सुधरेगा तो उसका काम और बिगड़ेगा तो उसका काम।

मैं क्या हूँ; उसके हाथों की इक पुतली, एक खिलौना हूँ।
जो चाहे, सेवा ले मुझसे, छोटा सा उसका छौना हूँ॥

-हरिभाऊ उपाध्याय

अपनी बात

'त्यागभूमि' का यह प्रथमांक जैसा कुछ बन सका आज, विजयादशमी के दिन, आपकी भेंट है। यह आपके सेवकों का प्रेम मय उपहार है। दोषों और त्रुटियों की तो इसमें कमी नहीं, फिर भी क्या हम आशा करें कि आप इसे स्वीकार कर हमें उत्साहित करेंगे? यदि आपने इसे अपनाया, अपनी सेवा के योग्य इसे समझा, तो हमारे हृदय को संतोष होगा। यह स्वाभाविक ही है पर तिरस्कृत होने पर भी सेवक का प्रेम निराश क्यों हो? उसमें तो अपने को अधिक सक्षम और सुयोग्य बनाने की प्राण-मयी प्रेरणा है!

'त्यागभूमि' का छपना जब प्रारम्भ हुआ तो उसके प्रवर्तक श्रीहरिभाऊजी जा बैठे बम्बई। नया काम, नया प्रेस, हमें भी विशेष अनुभव नहीं; ऐसी दशा में पग-पग पर कष्ट किन्तु छपाई का काम वह सौंप गये थे उत्साही और विश्वस्त हाथों में। हमारा यह प्रथमांक हमारे ही प्रेस में छप सका, इसका श्रेय प्रेस के मैनेजर श्री नन्दकिशोरजी द्विवेदी को है, जिन्होंने अनेक कठिनाइयों के रहते हुए भी अल्प समय में पत्रिका को छाप दिया। उन्हें

बधाई देते हुए याद आता है उनका वह मुखड़ा जो सम्बोधित होते ही चिन्ता की चिक को हटा कर अपनी स्वाभाविक सस्मित-सजीवता के साथ खिल उठता है।

लेखकों और कवियों का आभार प्रदर्शन मैं क्यों कर करूँ? जिन महानुभावों ने अपनी बहुमूल्य सुन्दर कृतियां भेजी है उन्होंने हमें सदा के लिए अपना ऋणी बना लिया। हमें आशा है, वे 'त्यागभूमि' पर अपनी कृपा बनाये रखेंगे, साथ ही हमहिन्दी-जगत के अन्य परिचित मित्रों से सानुरोध प्रार्थना करते हैं कि वे 'त्यागभूमि' को अपने देश-बंधुओं की सच्ची सेविका बनने में सहायता दें। हमारे हृदय में भी महत्त्वाकांक्षा की एक सूक्ष्म-सी गुदगुदी है। हमें विश्वास है, बहुत ही शीघ्र हम 'त्यागभूमि' की आत्मा और उसके कलेवर, दोनों को, अधिक सौरभपूर्ण, सुदृढ़ और विकसित बना सकेंगे।

महात्माजी ने इस अंक के लिए, जो संदेश भेजा है उसका परिमल और भी अधिक सुरभित प्रतीत होता है जब हम यह देखते हैं कि बीमारी की अवस्था में भी उन्होंने हमें 'दो शब्द' लिख भेजे। उनके इस पावन संदेश को 'त्यागभूमि' शिर पर धारण करती है और बड़े प्रेम के साथ पाठकों के सामने उसे पेश करती है। लालाजी का 'राजपूताना', अपनी बोलती हुई भाषा और फड़कते हुए भावों के कारण हृदय को आकर्षित किये बिना न रहेगी। उसमें एक आकुल हृदय की व्यग्रता की झलक है। 'अमर कला' की लेखिका हैं श्रीमती लूसी सुलतान अहमद। आपका विशिष्ट परिचय तो हम फिर किसी समय देंगे, यहां पर इतना ही कहना काफी है कि वह एक चतुर चित्रकार है और कला की आत्मा में उनका गहरा प्रवेश है, जिसका आभास उनके सुन्दर और हृदय को ऊंचा उठाने वाले लेख से पाठकों को मिलेगा। 'त्यागभूमि' पर उनकी कृपा है, समय-समय पर उनकी कलामयी कृतियां पत्रिका में प्रकाशित हुआ करेंगी।

पूज्य ओझाजी, सरदार कीबे और श्री बिड़लाजी के लेख भी अपनी दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बा. मैथिलीशरण गुप्त और ठा. गोपालशरणसिंहजी हिन्दी के विख्यात कवि हैं, उन्होंने अपनी सुन्दर रचनायें भेज कर हमें सम्मानित किया है। 'राणा प्रताप' शीर्षक कविता ओजस्विनी मेवाड़ी-भाषा में है और उसके रचयिता महाराज चतुरसिंहजी मेवाड़ राज-वंश के सुप्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। आप सरल, सात्विक और साधु-प्रकृति के सज्जन और कवि हैं। आपकी कवितायें, समय-समय पर टिप्पणी सहित निकलती रहेंगी। काका कालेलकर गुजराती-जगत् के प्रसिद्ध सात्विक विचारक हैं, आपका सन्देश और क्षात्र-धर्म दोनों ही माननीय हैं। आशा है, 'त्यागभूमि' की अन्य चीजों को भी पाठक पसंद करेंगे। कुछ लेख और आवश्यक टिप्पणियां इस अंक में न दे सके, इसके लिए लेखक और पाठक क्षमा करें।

एक बात अपने विषय में भी। श्री हरिभाऊजी ने जिन शब्दों में मुझे याद किया है उसके लिए मैं उनसे लड़ा हूँ। उचित से अधिक आशा करना अपने पर और अपने मित्र पर दोनों पर अन्याय करना है! हाँ यह सच है, मैं अपने को 'त्यागभूमि' की सेवा करता हुआ पाता हूँ और धीरे-धीरे मेरा मन भी उसमें रम रहा है। इसमें संदेह नहीं मुझे बड़ी खुशी होगी, यदि 'त्यागभूमि' के द्वारा मैं अपने राजस्थानी-बंधुओं की कुछ सेवा कर सका।

मैं मानता हूं, राजा और प्रजा राजस्थान की दो आंखें हैं। दोनों के मिले बिना राजस्थान का कल्याण नहीं। मैं इसी भाव को लेकर राजस्थान की सेवा में प्रवृत्त हुआ हूं और इसी ढंग से काम करने का विचार करता हूं। व्यक्तिगत हैसियत से मैं उन्हीं विचारों के लिए जिम्मेदार रहूंगा, जो मेरे नाम से प्रकाशित होंगे।

भगवान मुझे शक्ति दें कि मैं अपने को, अपने भाइयों की सेवा के योग्य बना सकूँ। ये मेरे बनाने वाले कोई! जब तक तू काट-छाँट कर मुझे अपने हाथों का औजार बनने के योग्य नहीं बना लेता तब तक अपने सेवकों का सेवक तो मुझे बनने दे!

-क्षेमानन्द 'राहत'

राजस्थान

(कलकत्ता)

वर्ष १ | अक्षय तृतीया सं. १९९२ | संख्या १

हमारा निवेदन

आज हम राजस्थान-रिसर्च-सोसाइटी के मुख-पत्र 'राजस्थान' को अपने पाठकों के सामने उपस्थित करते हैं। राजस्थान से हमारा तात्पर्य राजपूताना और राजस्थानी से, राजपूताना-निवासी है, चाहे वे इस समय किसी भी प्रान्त या स्थान में रह रहे हों। यहां पर हम अपने राजस्थानी पाठकों से, राजस्थान के गौरव-कामुकों से तथा राजस्थान के हितैषियों से दो शब्द कहना चाहते हैं। वह यह कि, जो राजस्थान किसी समय गौरव और ज्ञान का केंद्र था आज वह अज्ञानता के गर्त में गिरकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो बैठा है। जिसने किसी समय अपनी प्रतिष्ठा और प्रण को प्राणों की आहुति देकर बचाया आज उसकी संसार में कहीं पूछ तक नहीं होती। उसकी बातें सुनी अनसुनी हो जाती हैं। जो आन-बान का पुतला था वह आज दूसरों के हाथ का खिलौना हो रहा है। आज उसे अपनी अतीत गौरव-गाथा स्वप्न-कथा सी प्रतीत हो रही है। वह क्या था, और क्या हो गया इसकी ओर दृष्टिपात कर दूसरे दांतों तले अंगुली दबाते हैं, मगर उसे अपनी स्थिति पर ध्यान देने तक का अवकाश नहीं। लोग उसकी वीरता, शौर्य और सभ्यता से आत्मसम्मान, प्रण-पालन और जातीयता की शिक्षा पाते हैं, परन्तु वह अपने अतीत इतिहास से स्वयं अर्नभिज्ञ है; फिर उसकी अपनी वस्तु आज अपनी कैसे रह सकती है?

हम सोये हुए हैं वह सोया हुआ है।
वह जौहर का गौहर भी खोया हुआ है।

इसका कारण क्या है? इसका उत्तर एक ही है और वह है एक विश्व-विख्यात तपोनिष्ठ विद्वान् के शब्दों में- जिस जाति ने अपनी सम्पत्ति खो दी, साम्राज्य खो दिया, सुख-सम्भोग की सामग्रियां गँवा दी उसने कुछ नहीं खोया कुछ नहीं गंवाया अगर उसने अपने साहित्य को नहीं भुलाया; क्योंकि खोया हुआ धन प्राप्त हो सकता है, गया राज्य लौटाया जा सकता है, परन्तु नष्ट साहित्य फिर हाथ नहीं आता। यदि राष्ट्र शरीर है तो साहित्य उसकी आत्मा है, यदि राष्ट्र मनोहर फूल है तो साहित्य उसका सुरभित पराग। यह ठीक है कि बिना शरीर के आत्मा का दर्शन दुर्लभ है, परन्तु साथ ही यह भी अचल सत्य है कि बिना आत्मा के शरीर का कहीं आदर नहीं, मृत शरीर घृणित और त्याज्य है। भला सुगन्धिहीन फूल को अपनाना कौन चाहेगा? जो व्यक्ति या राष्ट्र साहित्य से प्राङ्मुख हो जाता है वह आत्मविस्मृति के गर्त में जा गिरता है। साहित्य उन्नत-राष्ट्र का गौरव-केतु है

तो अवनत जाति का मार्ग-दर्शक। साहित्य में जातीय जीवन का लक्ष्य आह्लादकर आभूषणों से आभूषित सवाक् प्रतिमा के रूप में प्रतिभासित रहता है। फिर जो जाति साहित्य के प्रति उदासीनता दिखायेगी वह लक्ष्य-विरहित क्यों नहीं होगी? उसे इधर-उधर-मारे फिरने के सिवा और चारा ही क्या है? जिसे निर्दिष्ट स्थान का ज्ञान नहीं उसे दूसरा सहारा ही क्या देगा? सहारा पाकर भी वह एक पग आगे नहीं बढ़ सकता। साहित्य वह कल्पवृक्ष है जो पतित जाति को विपत्ति में धैर्य, अधीरता में आश्वासन और अकर्मण्यता में उत्साह प्रदान करता हैं। साहित्य वह संजीवनी जड़ी है जो मरी जाति को जिला सकती है,यह वह ज्योति है जो अज्ञान के अंधकार को दूर कर अमल आभा बिखेर देती है। कहा भी है-

अंधकार है वहां, जहाँ आदित्य नहीं है।

मुर्दा है वह देश, जहाँ साहित्य नहीं है॥

परन्तु प्रसन्नता की बात है कि राजस्थान का पवित्र स्थल साहित्य की प्रभा से अभी भी पूत-भूत है। किसी समय वहां साहित्य की वह धारा प्रवाहित हुई थी कि जिसमें गोते लगाने के लिये, मन की मैल धो बहाने के लिये, और पुनीत होने के लिये दूर-दूर से यात्रियों का समूह अपूर्व आनन्द और उल्लास के साथ दौड़ लगाते नहीं थकता था। आज भी उस झरने की झर्-झर् ध्वनि दूर तक स्पष्ट सुनाई पड़ती है, परन्तु पास के रहने-वाले सुनते ही नहीं, गङ्गा के मेढ़क की तरह रात-दिन न्हाते-धोते भी पवित्र नहीं होते-- बहरे की भांति उस ओजस्विनी कलकल निनाद से आनन्द नहीं लेते। राजस्थानी-साहित्य अभी उस हीरे के समान है जो कोयले के ढेर में छुपा हुआ है और इसीलिये राजस्थान-निवासी अपने आदर्श से गिर गये हैं, वे सब कुछ रखते हुए भी अकिंचन हैं। गड़ा धन जबतक उखाड़ा नहीं गया तब तक किस के काम आया? इसी प्रकार जब तक राजस्थान-निवासी अपनी लुप्तप्राय प्रच्छन्न सम्पत्ति को खोज नहीं निकालते तब तक उनके लिये कल्याण नहीं, तबतक वे जीते हुए भी मरे के समान हैं और गौरव की डींग हांकते हुए भी अपमानित होते रहेंगे।

सबेरे का भूला अगर शाम को घर लौट आये तो उसे भूला नहीं कहते। अब भी यदि वे अपने लुप्तप्राय साहित्य और कला के पुनरुद्धार का प्रयास करें तो कुछ बिगड़ा नहीं है। इसी पुनीत उद्देश्य को सामने रखकर 'राजस्थान-रिसर्च-सोसाइटी' की स्थापना हुई है। सोसाइटी अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये जिन प्रयासों, साधनों और साधकों का सहारा लेगी उनका परिचय जनता के सामने रखने के लिये इस पत्र का प्रकाशन किया जा रहा है। इसमें राजस्थान से संबंध रखनेवाले ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और कलात्मक निबंध प्रकाशित किये जायेंगे। सोसाइटी की ओर से जो अनुसन्धान और अनुशीलन का कार्य हो रहा है उससे प्राप्त हस्तलिखित पुस्तकों, अलभ्य चित्रों और मौखिक गीतों का परिचय इसके द्वारा दिया जायेगा। समय-समय पर राजस्थान के अतीत इतिहास, गौरवमय साहित्य, अचल संस्कृति और लोक-ललाम कला के सम्बन्ध में प्रकाशित पुस्तकों का परिचय भी दिया जायेगा।

संपादकीय

अखिल भारतवर्षीय मारवाड़ी सम्मेलन-

कलकत्ते के मारवाड़ी समाज में गत ३०-३१ दिसम्बर को काफी चहल-पहल रही। यहां "राजस्थान रिसर्च-सोसाइटी" के सभापति रायबहादुर रामदेवजी चोखानी एम. एल. सी. के सभापतित्व में उपरोक्त सम्मेलन का आयोजन किया था। उपस्थिति काफी थी। लोगों ने समाज की सभी परिस्थितियों पर निदिध्यासनपूर्वक विचार किया। सभापति महोदय ने अपने भाषण में राजस्थानी साहित्य और सोसाइटी के विषय में जो कुछ कहा उसके लिये हम उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए आशा करते हैं कि वे बराबर हम पर अपना कर कमल इसी तरह बनाये रखेंगे। उन्होंने अपने भाषण में कहा है-

राजस्थान को न भूलिये

"यद्यपि आज हम अपनी मातृभूमि राजस्थान से विच्छिन्न होकर, दूर-दूर प्रान्तों में जा बसे हैं किन्तु उसके प्रति हमारा जो कर्त्तव्य है उसकी ओर से उदासीन न बनिये। राजस्थान की भूमि को जिन विश्व-विभूतियों को उत्पन्न करने का गौरव प्राप्त है वह गौरव भारत के इतिहास में अनन्त-काल तक स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। राजस्थान का अतीत आज भी भारतवर्ष के लिये गर्व करने का कारण है। राजपूताने के प्राचीन साहित्य में जो अमर निधियाँ उपेक्षित रूप में जहाँ-तहाँ पड़ी हैं उनका उद्धार करके उन्हें प्रकाश में लाइये। उनमें जाति के लिये जो अनुप्रेरणा है उससे जाति को उद्‌बोधन मिलेगा। अपने भविष्य को, अतीत के अनुरूप गौरवशाली बनाने की अदम्य आकांक्षा उत्पन्न होगी। "राजस्थान रिसर्च सोसाइटी" नामक संस्था की स्थापना इसी उद्देश्य को लेकर हुई है जिसकी ओर मैं आप लोगों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करता हूँ। इस संस्था की ओर से 'राजस्थान' नामक एक त्रैमासिक पत्र भी प्रकाशित होता है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम इसे पढ़कर अपने प्राचीन साहित्य, सभ्यता और संस्कृति आदि विषयों के संबंध में जानकारी प्राप्त करें।'

आशा है यहां का राजस्थानी समाज उपरोक्त शब्दों पर खूब अच्छी तरह सोचेगा और अपने प्राचीन साहित्य की रक्षार्थ सचेष्ट होगा।

मारवाड़ी छात्र-निवास और "सचित्र मारवाड़ी गीतसंग्रह"-

'मारवाड़ी छात्र-निवास' में भारत के सभी प्रान्तों के शिक्षित नवयुवक रहते हैं। वे समाज के भावी आशास्थल हैं- समाज के होनहारों, समाज के भावी कर्णधारों का वहां जमाव है।

कुछ दिनों पहले स्थानीय प्रसिद्ध पुस्तक-प्रकाशक, श्रीयुक्त बैजनाथजी केड़िया ने उपरोक्त नाम की एक पुस्तक प्रकाशित की है।

यद्यपि यह पुस्तक यहाँ के अन्य तीन प्रकाशकों ने भी निकाल रखी है- पर सचित्र नहीं है और यह पुस्तक आठ रंग-बिरंगे चित्रों से सुसज्जित है अत: हम आज सबसे पहले इसमें प्रकाशित कुछ चित्रों पर ही अपना विचार प्रकट करेंगे।

(१) सबसे पहला चित्र दूसरे भाग के 28वें पृष्ठ के सामने दिया गया है। यह तिरंगा है। इस चित्र का भाव यह है- एक पणिहारी कुंवे से पानी भर रही है। एक मुसाफिर सामने खड़ा है। उसकी आंखों में अवांछनीय मादकता है- उससे पणिहारी कह रही है- 'हे मुसाफिर! धीरे-धीरे बोलो। दिल में धीरज रखो- हम फिर शीघ्र ही आकर मिलेंगे।' इस भाव को उस चित्र के नीचे निम्न दो पंक्तियों को देकर दरशाया गया है-

"होलां होळां बोलो मुसाफिर-
दिल में धीरज राख-फेर मिलां वेगा आई।"

ये पंक्तियां उस 'पणिहारी' के गीत की बताई गई है जो कि पृष्ठ 28 पर छपा है। पणिहारी का गीत कितना भावपूर्ण है यह पाठक, राजस्थान के इसी अंक में अन्यत्र प्रकाशित गीत से समझ सकेंगे। अत: गीत के भावों को तो जो बिगाड़ा गया है सो बिगाड़ा गया ही है, पर यह चित्र देने से यही अर्थ निकलता है कि "मारवाड़ी, समाज में खुलेआम व्यभिचार होता है। वहाँ सतीत्व का कोई मूल्य नहीं। स्त्रियाँ भी व्यभिचार-पूर्ण भावों से भरे गीत ही गाती हैं। उनका चरित्र बहुत अधिक गिरा हुआ है। अन्य समाज का कोई भी व्यक्ति इस चित्र को देखकर तथा गीत को अश्लील समझ उपरोक्त निष्कर्ष ही निकालेगा।

यह चित्र मारवाड़ी-समाज की इज्जत पर धब्बा लगाने वाला है। इस चित्र से हमारी स्त्रियों की, गृह ललनाओं की,मातृ-जाति की बेइज्जत होती है।'

(२) दूसरा चित्र दूसरे भाग के ४२वें पृष्ठ के सामने दिया गया है। यह एकरंगा है। इस चित्र का भाव यह है-

एक सद्गृहस्थ के घर पर एक साधु भीख मांगने आया है। गृह-ललना भिक्षा के लिये कुछ लेकर घर से निकली है। वह जो कुछ देना चाहती है वह साधु नहीं लेना चाहता। वह नालायक उससे उसके हृदय का हार ही मांगता है। इस भाव को उसके नीचे निम्न दो पंक्तियों को देकर बताया गया है-

"मोती मूंगा एक चनणा घर घणांजी
कोई दे दे तेरे हीवड़ै को हार"

अर्थात् वह साधु कहता है कि 'हे चनणा! मोती और मूंगे तो मेरे घर में बहुत पड़े हैं। मुझे तो तेरे हिये का हार चाहिये-तू मुझे वही दे।'

इसका मतलब क्या है? जिस व्यक्ति के घर पर मोती-मूंगों का ढेर है वह साधु काहे का। वह मांगता भी है 'हृदय का हार' यह साधु वाणी नहीं, लंपट वाणी है। उसकी यह

लंपटता, उसकी आँखें डंके की चोट बता रही हैं।

यह चित्र किताब में छपने से यह बता रहा कि मारवाड़ी समाज की ललनाओं से हर कोई छेड़खानी कर सकता है- किसी के लिये रोक-टोक नहीं। अतः यह भी मारवाड़ी समाज का घोर अपमान सूचक है।

चौथा चित्र तीसरे भाग के पृष्ठ ३७ के सामने दिया गया है। यह तिरंगा है। इस चित्र का भाव यह है-

एक मारवाड़ी बालक अपने से बड़ी उम्र की बालिका से विबाह करके लौट रहा है। बालिका उसके विषय में कह रही है कि "मैंने असी कलियों का घाघरा पहन रखा है- यह पति तो मेरे घाघरे में ही छिप सकता है।'

आज मारवाड़ी-समाज उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा है। समाज में जागृति के लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं। इस समय बाल-विबाह और बृद्ध-विवाह भी कम होते जा रहे हैं। उपरोक्त चित्र में वर्णित 'अनमेल-विवाह' तो बीसों वर्ष पहले बंद हो चुके हैं। पर यह चित्र इस पुस्तक में प्रकाशित होकर संसार को बता रहा है कि मारवाड़ी-समाज में अब भी ऐसी प्रथा मौजूद है। समाज आज भी ऐसी ही मूर्खता करता आ रहा है। यह चित्र जिस गीत से सम्बन्धित किया गया है- वह गीत मारवाड़ी-समाज की कोई भी ललना कभी भी नहीं गाती। किसी भी सद्‌गृहस्थ के घर में वह गीत सुनने को नहीं मिल सकता। वह गीत है ही नहीं, वह तो गीत के ढंग पर बनी हुई एक धमाल है जिसे मन चले युवक, होली के दिनों में डफ पर रास्ते में गाते हुए जाते हैं। इसीसे पाठक समझ सकते हैं कि यह संग्रह और चित्रों का चुनाव कितना सुन्दर हुआ है।

यह गीत जब लोगों के सामने जायगा- तब संसार मारवाड़ी-समाज के नाम पर हंसेगा। चित्र देखकर दुनिया उसकी दिल्लगी उड़ावेगी। संग्रहकर्त्ता ने जानबूझकर उपरोक्त धमाल को गीत बताकर राजस्थानी साहित्य के प्रति भी अन्याय किया है।

पांचवां चित्र चौथे भाग के पृष्ठ २७ के सामने दिया गया है। यह एक रंगा है। इस चित्र का भाव यह है-

एक मर्द स्त्री की ढुढ्डी को पकड़े खड़ा है और उससे कह रहा है कि 'तुझे सारी को खा जाऊं, तूं ये हरिण के नेत्र कहाँ से चुरा लाई है?'

कितनी विभत्स कल्पना है। विभत्सता की हद हो गई। कोई भी व्यक्ति किसी को खा सकता है-ऐसी कल्पना करना आज के इस जमाने में बर्बरता प्रकट करना है। बचपन में सुनते थे कि संसार में एक ऐसा जंगली देश है जहां मुर्दे और आदमियों का माँस भी खा लिया जाता है। पर जीवित स्त्रियों को समूची निगल जाने की कल्पना, कभी सुनने को नहीं मिली थी- वह संग्रहकर्त्ता जानकार महाशय ने सुना ही नहीं दी, पर चित्र छाप कर आंखों के सामने ला रखी धन्य हैं वे!

इस चित्र का सम्बन्ध एक टप्पे से लगाया गया है। टप्पे गीत नहीं कहे जा सकते। यह टप्पा, मारवाड़ी-समाज में बहुत दिनों पहले प्रचलित गन्दे सीठनों का एक छोटा रूप है। केडियाजी जैसे समाज-सुधारक को तो यह टप्पा ही नहीं छापना चाहिये था- फिर इस पर इस तरह का विभत्स चित्र छाप कर उसे प्रधानता देने की तो बात ही क्या!

आठवां चित्र नवें भाग के नवें पृष्ठ के सामने दिया गया है। यह चित्र देखने से ही किसी वेश्या का मालूम होता है। कोई भी गृह-ललना इस तरह छाती पर हाथ धरे, खुले आम इतने झीने वस्त्र पहने सो नहीं सकती। इसकी कल्पना ही व्यर्थ है।

इन्हीं चित्रों को देखकर तथा इसमें प्रकाशित अश्लील गीतों को पढ़ कर समाज की दो प्रधान संस्थाओं और मारवाड़ी-छात्र-निवास का ध्यान इसकी तरफ आकर्षित हुआ है। 'मारवाड़ी-छात्र-संघ और अखिल भारतवर्षीय मारवाड़ी सम्मेलन की "जेनरल वेलफेयर कमिटी" ने एक-एक उपसमिति इस पर विचार करने के लिये बनाई है। छात्र-निवास के छात्रों ने एक प्रस्ताव कर इसका तीव्र विरोध किया है।

हम आज यहीं पर इसे समाप्त करते हैं। इसमें प्रकाशित गीतों पर अपनी सम्मति मारवाड़ी छात्र-संघ और अखिल भारतवर्षीय मारवाड़ी सम्मेलन की जेनरल वेलफेयर कमिटी द्वारा नियुक्त उपसमितियों की रिपोर्ट प्रकाशित होने पर लिखेंगे।

मारवाड़ी

(कलकत्ता)

वर्ष १ | जनवरी १९३६ | अंक ९

संपादकीय

अपनी बात-

मारवाड़ी समाज की सर्वांगीन उन्नति करने तथा समाज के शिक्षित वर्ग का एक सामूहिक संगठन करने के उद्देश्यों को सामने रखकर "मारवाड़ी छात्र-संघ" की स्थापना जुलाई सन् १९३१ में हुई थी। अपने चार वर्ष के वाल्याकाल में संघ ने अपने उद्देश्यों में कहाँतक सफलता प्राप्त की है यह सर्वसाधारण से छिपी नहीं है। उसने अपने इन चार वर्षों में समाज के शिक्षितवर्ग का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया है इसके परिणाम स्वरूप ही आज उसके ५५१ सदस्य हैं जिनमें समाज के ब्योवृद्ध उच्च शिक्षा-प्राप्त सज्जनों से लेकर कालेजमें प्रविष्ट होने वाले नवयुवक तक शामिल हैं।

मध्ययुग से ही परमात्मा की कुछ ऐंसी इच्छा सी रही है कि राजस्थान ने भारतवर्ष के इतिहास निर्माण में बहुत बड़ा भाग लिया है और अपने त्याग, अपनी देशभक्ति अपनी कर्त्तव्य-परायणता तथा आत्म-सम्मान रक्षा के लिये मर मिटने की अपनी अमिट लालसा आदि गुणों के कारण उसने भारतीय इतिहास में अपना एक विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है। राजस्थान की बालुकामय भूमि में न मालूम ऐसी कौनसी शक्ति छिपी रही है कि जहां उसने मध्यकाल के उस वीरयुग में देशकी आन पर हँसते-हँसते मर-मिटने वाले वीरों तथा सतीत्व की बलिवेदी पर अपने शरीर को जौहर की आग में भस्मसात कर देने वाली वीरांगनाओं को पैदा किया, वहां वर्तमान आर्थिक युग में अपने देश को समृद्धिशाली बनाने वाले बड़े-बड़े व्यापारियों को भी उत्पन्न किया जो संपूर्ण भारत में जगह-जगह पर फैले हुए हैं।

मारवाड़ी समाज व्यापारी समाज है। व्यापारिक उद्देश्यों को लेकर ही यह सारे देश में फैला हुआ है। इसने सब जगह अपनी सहन-शीलता, ईमानदारी और परिश्रम के बल पर ही अपनी उन्नति की है। पर आज की दशा में महान् परिवर्तन हो गया है। आज हमारे समाज की हालत कुछ विचित्र सी हो रही है। व्यापार जो समाज का मेरुदण्डस्वरूप था, फाटकेबाजी के कारण शिथिल पड़ गया है। लोग उद्योग-धंधों और सच्चे व्यापार की ओर अधिक ध्यान न देकर क्षणभर में धनी बनने का स्वप्न देख रहे हैं पर यह सब होने जाने का नहीं। उलटे परिणाम बुरा हो रहा है। समाज के माध्यम स्थिति के गृहस्थों की हालत बिगड़ती जा रही है। समाज पर आर्थिक संकट का चक्र चल रहा है परन्तु समाज इस दशा को सुधारने के लिये प्रयत्नशील दिखाई नहीं देता।

आधुनिक समय में राजनीति से दूर रहना भी अपनी उन्नति चाहनेवाले समाज के लिये घातक है पर हमारे समाज ने कभी इस ओर उचित ध्यान ही नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि आज इधर-उधर से हम पर बेसिर-पैर के आक्रमण होते रहते हैं जिनका कोई प्रतिकार नहीं किया जाता। इसका खास कारण है हमारी अज्ञानता। समाज की जनसंख्या तथा उसकी समृद्धि के अनुपात में आज हममें वास्तविक शिक्षा का प्रचार नाम मात्र का है। यही कारण है कि हमारे पड़ोसी तो क्या, हम भी अपनी संस्कृति, अपने इतिहास और देश के लिये किये गये अपने कार्य-कलापों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानते, जिनका जानना इस कौतूहल एवं प्रतिद्वन्द्विता के समय में परमावश्यक है।

सामाजिक अवस्था तो और भी बेढब है। जहां पहले यह बात थी कि एक भाई दूसरे को बढ़ाने की फिक्र में रहा करता था- एक दूसरे की सहायता करता था- वहाँ आज उस तरह की सहानुभूति और सहयोग का अभाव हो गया है। समानता का व्यवहार घट सा गया है। उसका भी एक खास कारण है। समाज की प्राचीन व्यवस्था का प्रभाव ही ऐसा था कि समाज में भ्रातृभाव, समानता तथा सौहार्द्र प्रचुर मात्रा में पाये जाते थे। पर आज हम अज्ञानतावश उन व्यवस्थाओं के असली तत्वों को भूल चुके हैं और उन्हें तिलांजलि देते जा रहे हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी प्राचीन बातों के मर्मों को अच्छी तरह समझ कर उनके विषय में अध्ययन तथा खोज (Rearch) कर तभी उन्हें छोड़ने अथवा न छोड़ने का विचार करें।

छात्र संघ ने समाज के इन अभावों पर सोच-बिचारा और मनन किया। पर अपनी आवाज जनता के पास तक पहुंचाने के लिये उसके पास कोई साधन नहीं था। अतः उसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये, समाज को अपने स्वरूप का ज्ञान करा देने के लिये, समाज में आत्म-सम्मान के भावों को जागृत करने के लिये, उसे देश के राजनैतिक एवं सार्वजनिक जीवन में अधिकाधिक मात्रा में भाग लेने को प्रोत्साहित करने के लिये, सम्पूर्ण समाज के तुच्छ मतभेदों को दूर कर, उसे एक सूत्र में संगठित करने के लिये, उसमें उसी प्राचीन भ्रातिभाव एवं सौहार्द्र को फिर से लाने के लिये, समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिये, तथा समाज को भावी जीवन के लिये तैयार करने की भावनाओं को लेकर ही ''मारवाड़ी'' का आज प्रकाशन हो रहा है। साथ-साथ हम यह भी चाहते हैं कि इस पत्र के द्वारा समाज और देश से सम्बन्धित सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक गम्भीर विषयों पर मारवाड़ी समाज के विचारशील एवं शिक्षित समुदाय का क्या अभिमत है वह भी बराबर व्यक्त कर सकें। मारवाड़ी समाज ने देश, समाज और साहित्य के लिये क्या किया है, वह भी लोगों को बता सकें तथा उसके प्राचीन इतिहास एवं साहित्य के प्रति उनमें प्रेम उत्पन्न कर सकें। संघ इन्हीं सद्भावनाओं के साथ समाज के कर कमलों में आज यह 'पत्र' अर्पण कर रहा है।

आशा है, समाज इसे अपनायगा। साथ ही समाज की इसके द्वारा यदि कुछ भी सेवा हुई तो संघ अपने को धन्य समझेगा और उसके कार्यकर्त्ता अपने परिश्रम को सफल समझेंगे।

वन्दे मातरम्

राजस्थान

संचालक
श्रीमणिलालजी
कोठारी

अधिकारांक

सम्पादक
हरिभाऊ उपाध्याय
ऋषिदत्त मेहता

वर्ष २ एक ३१, व्यावर, सोमवार चैत्र शुक्ला १५ सम्वत् १९९३ इस अंक का मू० १=)

यश, वैभव, सुख की चाह नहीं, परवाह नहीं जीवन न रहे।
यदि इच्छा है यह है जग में, यह स्वेच्छाचार दमन न रहे॥

सोमवार तारीख ६ अप्रैल सन् १९३६ ई०

अधिकार

अधिकार प्रत्येक मनुष्य के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना कि जल और वायु। जिस प्रकार बिना किसी जल-वायु के, मनुष्य की देह तक क्षण के लिए भी जीवित नहीं रह सकती, उसी प्रकार बिना अधिकार के मनुष्य की आत्मा उपयुक्त भोजन नहीं प्राप्त कर सकती। उपयुक्त भोजन न मिलने से मनुष्य, प्राण जल-शून्य एक निर्जीव यंत्र की भांति मान लिया जाता है। यही कारण है कि जिसे कुछ भी ज्ञान है, वह शरीर से भी, आत्मा को अधिक प्रिय और मूल्यवान मानता है। ऐसा मनुष्य समय पड़ने पर अपने शरीर की भी बाजी लगाकर अधिकार प्राप्ति के लिए मिट जाना अपना कर्त्तव्य समझता है।

संसार में अब तक जितने भी हिंसात्मक या अहिंसात्मक आंदोलन हुए हैं, सभी के सम्मुख 'अधिकारों' का ही लक्ष्य था। महाराणा प्रताप का जङ्गल-जङ्गल भटकना, वीर शिवाजी का पहाड़-पहाड़ लांघना, भामाशाह का सर्वस्व निछावर कर देना, दुर्गादास का सब कुछ त्याग देना और सैकड़ों और हजारों पुरुषों का हल्दी घाटी में अपने प्राणों की आहुतियां दे देना, इस 'अधिकार' ही के लिए तो था। आज भी जो हजारों, ज्ञात और अज्ञात, भारत की जेलों में सड़ रहे हैं, सत्याग्रह संग्राम के समय, जिन सैकड़ों लोगों ने अपने मस्तक भेंट कर दिये हैं और हजारों ने अपने सर्वस्व से हाथ धो डाला है वह भी सब 'अधिकार' के लिए ही तो है? सारांश में यह ध्रुव सिद्धांत है कि मनुष्य, यदि मनुष्य की भांति जीवित रहना चाहता है....। तो उसे अधिकार-सम्पन्न होना ही चाहिये।

किन्तु जब इस सिद्धांत को मन में रख कर हम भारत के देशी राज्यों की ओर देखते हैं तो हमारे हृदय के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। आंखों के सामने अंधकार छा जाता है, शरीर

के सारे अवयव अस्त-व्यस्त हो जाते हैं और एक आह निकल पड़ती है कि ओह, यह यौवन कैसा है! जिस शरीर की आत्मा मृतप्राय हो उसे इस पृथ्वी का भार बनाए रखने की आवश्यकता ही क्या है? हमारी दशा तो आज पशु से भी बदतर बनी हुई है। हमारी आत्मा प्रसुप्त है और हम जीवन से दूर पड़े हुए श्मशान की शान्ति धारण किये हुए हैं।

गाय के बछड़े और कुत्ते के पिल्ले को पकड़ने में फिर भी कुछ कठिनता होती है। बन्दर तो अपने बच्चे के पकड़े जाने पर आफत ही ढा देता है और सिंह के बच्चे को पकड़ना असम्भव नहीं तो कम से कम अपने प्राणों की बाजी लगाना तो है ही। उसी प्रकार चिड़िया अपने घोंसले पर किसी को कब्जा जमाते हुए देख अपनी चींचहाट से मकान को गुंजा देती है। मधु मक्खी तो मनुष्य ही को भून देती है। किन्तु दुःख है कि इस भूमण्डल पर भारत के देशी-राज्यनिवासी ही ऐसे हैं, जिनकी दिन-दहाड़े स्त्रियां छीन ली जाती हैं, बहू-बेटियों का सतीत्व नष्ट कर दिया जाता है, घर बार ही नहीं, उनके सर्वस्व तक का अपहरण कर लिया जाता है, महीनों ही नहीं वर्षों तक जिन्हें जेलखाने में सड़ाया जाता है, एक मिट्टी के खिलौने की भांति जिन्हें निर्दयता-पूर्वक तोड़-मरोड़ दिया जाता है, पर वे उफ तक नहीं करते। इस निर्जीवता की भी कोई हद्द है! इस निर्बलता की भी कोई सीमा है! इस हृदय-शून्यता की भी कोई उपमा है!

लेकिन प्रश्न अब यह है कि हम इस दशा में कब तक पड़े रहेंगे और कब तक, ये राजा महाराजा मदान्धतावश कहो, चाहे परवशता तथा स्वार्थवश जान-बूझकर कहो या स्वयं अधिकार-विहीन होने ही के कारण कहो, हमारे जन्मसिद्ध अधिकार हड़पे बैठे रहेंगे....। जब तक हम अकर्मण्य साहसहीन और भीरु बैठे रहेंगे तब तक हम एक भी अधिकार नहीं प्राप्त कर सकेंगे। जिस दिन हमने यह निश्चय कर लिया कि यदि जीवित रहेंगे तो मनुष्य की भांति अधिकार-सम्पन्न होकर ही, उस दिन फिर कोई शक्ति यह साहस भी नहीं करेगी कि वह एक क्षण के लिए भी हमारे मार्ग के बीच में खड़ी होकर हमें निरुत्साह एवं कर्तव्यच्युत कर सके। उसी दिन फौलादी पञ्जे स्वयमेव तड़-तड़ कर टूटते दीखेंगे, शृङ्खलायें चट-चट कर टुकड़े-टुकड़े होती हुई नजर आयेंगी और अन्त में विजय-श्री हाथों में माला लिए हुए हमें पहिनाने को खड़ी हुई उत्सुक दिखाई देगी।

अतः आओ! राजस्थानी नवयुवकों, आओ!! महाराणा प्रताप की सन्तान, वीर दुर्गादास के पुजारी, भामाशाह के प्रतीक और भक्त मीरा के प्रतिबिम्ब आओ!! हम अब एक क्षण का भी विलम्ब किये बिना निश्चित ध्येय, निश्चित नीति और निर्धारित मार्ग से सत्य और अहिंसा के शस्त्र को हाथ में रखकर आगे बढ़ें। हम गांव-गांव छा जांच। अस्थि-पञ्जर बने हुए किसानों की सेवाएं करके उनमें रक्त का सञ्चार करें। निरन्तर, निर्बोध और ज्ञान-शून्य बने हुए ग्रामीणों में शिक्षा का प्रचार कर, उन्हें उनके कर्तव्यों का बोध करावें और उनके अधिकारों से उन्हें परिचित करें। नष्ट गृहकला का पुनर्निर्माण करें। स्वदेशी का प्रचार, मादक द्रव्यों का निषेध, अस्पृश्यता का नाश और पूंजीवाद को धराशायी करते हुए गांव-गांव और नगर-नगर में सुदृढ़ सुसंगठित प्रजा-मण्डलों की स्थापना करते हुए अपनी पूर्ण स्वतंत्रता की मांग को, विनय, आतुर प्रेम और शुद्ध हृदय से अपने-अपने महाराजाओं

के सामने उपस्थित कर दें..........से निश्चय और दृढ़ता के साथ उनसे विनय-पूर्वक कह दें कि अब समय आ गया है कि आप हमारे अधिकारों को हमें सौंप। आप राजा बने रहें, हमें दु:ख नहीं। अपने को महाराजा कहते रहें, हमें ईर्ष्या नहीं किन्तु कृपा कर अब हमारी कठिन कमाई का दुरुपयोग न करें। हमारी ही जूती हमारे ही सिर पर न मारें। आप हमारी व्यवस्था में रस लेना चाहते हों तो आप खुशी से लें, आपका स्वागत है। जितना आप अपना समय इस कार्य में खर्च करेंगे, उसका प्रतिफल हम आपकी सेवा में सादर भेंट करेंगे। यदि आप अधिक योग्य हुए तो आपको राजा का नाम देकर भी हम अपनी कौन्सिल के प्रेसीडेण्ट पद पर बैठा देंगे। किन्तु अब यह सहन नहीं होता कि इसी प्रकार बिना हमारी अनुमति और सलाह के स्वेच्छाचारितापूर्वक आप हम पर एकाधिपत्य जमाये बैठे रहें। राजस्थान के सर्वमान्य नेता श्रीमणिलालजी कोठारी ही के शब्दों में हम दस्तबस्ता, अदब के साथ आपको सूचित कर देते हैं कि हमारी यह अटल मान्यता बन गई है, हम ही नहीं इतिहास इस बात का साक्षी है और करोड़ों और अरबों यह मान चुके हैं कि देशी राज्यों में जो व्यक्तिगत शासन पद्धति है वह प्रारम्भ ही से हुई भूल है। बहुत थोड़े व्यक्तियों के सम्बन्ध में अथवा बहुत थोड़े अवसरों पर इससे कुछ अस्थायी हित हुआं भी होगा, परन्तु सौ में से निन्नानबे मामलों में यह पद्धति ९ करोड़ लोगों के लिए भयंकर श्राप सिद्ध हुई है, जो इसके क्रूर कदमों के तले कुचले जाकर करीब करीब निर्जीव हो चुके हैं।

हमें यह निश्चय हो चुका है और अधिकार, पूर्वक छाती ठोंक कर हम कह सकते हैं कि एक ही आदमी करोड़ों व्यक्तियों पर बिना उनकी रजामन्दी और शासन में बिना उनकी सम्मति लिये कभी शासन करने का अधिकारी नहीं है। आप भले ही बिना प्रजा की अनुमति लिये उनके भाग्य के निर्णय का अपना पैतृक अधिकार समझते हों, किन्तु न यह अधिकार पहले ही था न अब है, जमाना और जागृत्ति लोकमत आपको चेतावनी दे रहा है कि समय रहते आप उन मनगढ़न्त सिद्धान्तों को हृदय से निकाल दें। अगर आप बुद्धिमत्तापूर्वक चलेंगे और वक्त को हाथ से न जाने देंगे तो आपको जनता की सेवा करने का सम्मान और उससे उत्पन्न अनेकों लाभ सहज ही प्राप्त हो जायेंगे और इसी में आपकी और समुदाय की सुरक्षा तथा भलाई समाई हुई है। यह तो आपके ध्यान में ही होगा, अन्यथा कृपा-पूर्वक इन शब्दों को आप अपने हृदय में अङ्कित कर लें कि किसी सरकार की यह ताकत नहीं कि वह जागृत जनता पर उसकी इच्छा के विरुद्ध प्रेम और श्रद्धाजन्य सहयोग के बिना शासन कर सके। कितना ही भयङ्कर दमन क्यों न हो, वह जनता की जागृत भावनाओं और आकांक्षाओं को सदा के लिये दबा नहीं सकती। यह कठोर सबक है, जो इतिहास आपको और प्रजा को लाभ उठाने के लिए सिखाता है। गत बीस वर्षों में जनता में जागृति का सञ्चार हुआ है। प्रति वर्ष इस जागृति के परिणाम तथा शक्ति में वृद्धि होती है। अधिकांश राज्य में जैसी स्थिति है उसे आंख मूँद कर देखने को लोग तैयार नहीं हैं। अत: हम आपको सावधान करे देते हैं कि हमें अब इस अत्यन्त हानिकारक पद्धति को एक दम पलट ही देना है, इसलिए हम आपसे अनुरोध करते हैं कि प्रजातान्त्रिक संस्थायें स्थापित करने के लिये आप हृदय से हमें सहयोग दें। निर्वाचन पद्धति पर स्थापित प्रतिनिधि संस्थायें उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन के

स्थापित होने का कारण होती हैं। ऐसी संस्थायें हमें स्थापित करनी है। जिस उत्तरदायित्व पूर्ण शासन का हम विचार कर रहे हैं और जिसके लिए हम हृदय से प्रयत्न कर रहे हैं, वह जहां सम्भव हो आपके रहते हुए हो सकेगा और जहां जब आवश्यकता होगी, आप क्षमा करें, आपके बिना भी हो जायगा। किन्तु जब तक हम अपने लक्ष्य को प्राप्त न कर लें अथवा प्रभु कृपा से जब तक ऐसा संयोग न उपस्थित हो जाये कि आपमें पर्याप्त सद्बुद्धि और कर्त्तव्य-भावना का उदय हो जाये और आप हमारे अधिकार स्वयमेव हमें सुपुर्द कर दें, तब तक के लिए भी हम आपको विनम्र रूप में सूचित कर देना चाहते हैं कि हमारा यह कर्तव्य और अधिकार तो सुरक्षित है कि अत्यन्त कुशासन की अवस्था में हम आपको (राजा को) राजगद्दी छोड़ देने को कह दें और साथ ही परिस्थितियों को सामने रख कर इसके लिए हम आपको विवश कर दें।

लोक शङ्का करेंगे कि हमारी यह प्रार्थना क्या

राजन्यगणों को

मान्य होगी? शंका आधारयुक्त कुछ अवश्य है, किन्तु केवल शंका मान कर ही हम अन्तिम परिणाम पर न पहुंच जायं। हमें दृढ़ विश्वास के साथ इसकी परीक्षा करना चाहिए। यदि हमारी इस विनम्र प्रार्थना के पीछे बल है, शक्ति है, सत्य और अहिंसा है तो उन्हें अवश्य मान्य करना ही होगा। हम नहीं, हमारी शक्ति और बल, हमारी सत्य और अहिंसा उन्हें मजबूर कर देंगे कि वह हमारी मांगों को स्वीकार करें। वैसे भी राजागण इतने तो अनभिज्ञ नहीं हैं कि उन्हें संसार के नवीन प्रवाह का भान न हों। हम मानते हैं कि उनके भी हृदय है, प्रेम है और अपने भले-बुरे के विचारने की शक्ति भी उन्हें प्राप्त है। विश्ववन्द्य महात्मा गांधी के शब्दों में '..........वे भी उसी रक्त के हैं, जिसके कि हम, वे भी हमारे ही भाई-बन्धु हैं।' अत: हम उन पर से विश्वास बिलकुल ही न खो बैठें। वे हमें छोड़ कर जायेंगे कहां? वे हमसे विमुख रह कर रहेंगे कहां? यद्यपि आज वे हमसे, हमारे सहवास से जुदे रखे जाने के कारण, पाश्चात्य शिक्षा और प्रणाली के ढांचे में ढाले जाने के कारण कुछ अवश्य दूर होगये हैं। कुछ नरेश तो निस्सन्देह विषाक्त सिद्ध हुये हैं, किन्तु अधिकांश उतने बुरे नहीं हैं, जितना कि हम देखते हैं और शंका करते हैं। बहुत से महाराजा व्यक्तिगत रूप में भले हैं। हमारी भांति ही उनमें से बहुतों के दिलों में देश-प्रेम भी है। बहुत-से अपनी विवशता, कमजोरी, अध:पतन और प्रजा की भयंकरावस्था भी महसूस करते हैं, किन्तु आज वे स्वयं भी तो परतन्त्र हैं। बहुत कुछ अंशों में हमसे भी अधिक वे परतन्त्र हैं। ऐसी अवस्था में हम एक बार उन्हें अवश्य मौका दें कि वे, जैसे हों वैसे हमारे सामने आ जायं। यदि हमारी यह कामना सुख-स्वप्न ही सिद्ध हुई, तो भी हम चिन्ता क्यों करें? दु:ख किस लिये करें? हमारा शस्त्र-सत्य और अहिंसात्मक सत्याग्रह कोई ऐसी वस्तु तो है नहीं जो छीना जा सके।

प्रभु, हम सब को शक्ति और साहस, धैर्य और सहिष्णुता, त्याग और निस्वार्थ-भावना, सत्य और अहिंसात्मक वृत्ति, सच्चरित्रता और शुद्धता, उदारता और न्याय-प्रियता प्रदान करे, जिससे हम अपने जीवन को रहने योग्य अधिकारों से समन्वित बना सकें।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ

अपनी बात

'राजस्थान' ने अपने जन्म से ही उन कोटि-कोटि अप्रसिद्ध जन-समूह के प्रतिनिधित्व करने का प्रयत्न किया है, जो भारतीय भारत के सुप्रसिद (?) चन्द शासन-कर्त्ताओं के मूक वाहन बने हुये हैं। हाँ, वास्तव में 'वाहन' ही हैं, मनुष्य बनने का और मानवीय व्यक्तित्व को विकसित करने का उन्हें अवकाश ही कहां है। वे सबसे कड़ा परिश्रम करते हैं, पर सबसे कम खाते, और पहिनते हैं। जीवन-याता की समस्त सुविधाओं से वंचित होकर वे ऊपरवालों की परिचर्या का भार-वहन करते हैं। उनका जीवन एक दीपट है जो स्वयं अंधेरे में रह कर सर पर 'प्रकाश की बत्ती' जलाया करता है। कुल, धन, मर्यादा, पशुबल एवं प्रतिष्ठा के सहकारियों को तो उनसे उजाला मिलता है, पर उन अभागों के शरीर पर जलते हुए तेल की शत-शत धारायें ही ढलती रहती हैं, कहते हैं, यही उनका भाग्य है, यही उनकी तकदीर है। कुछ लोगों का विचार है कि जब तक एक समूह नीचे न रहेगा तब तक दूसरा समूह ऊपर कैसे रह सकेगा! ऊपर रहने की आवश्यकता है ही। कितनी भ्रान्त धारणा है यह! ऊपर रहने वालों की आवश्यकता है,-यह ठीक है, पर ऊपर रहने वाले यह क्यों नहीं समझते, कि वे सद्‌गुणो के बल पर-वीरत्व, औदार्य, प्रेम, स्वाभिमान, दया, दाक्षिण्य, उत्तरदायित्व, प्रजावात्सल्य आदि दैवी शक्ति के प्रतीकों के बल पर - ऊपर रहें। असंख्य जन-समूह की अभिलाषाओं, आकांक्षाओं, अरमानों तथा अधिकारों को कुचल कर वे ऊपर क्यों उठें? उनके सहयोग एवं परस्परावलम्बन के सहारे वे ऊपर क्यों न उठें? यही एक प्रश्न है, यही एक समस्या है, जिसने 'राजस्थान' को

अधिकारांक-

के रूप में प्रस्तुत किया है। 'अधिकाराङ्क' में यद्यपि देशी राज्यों की प्रजा की महान् दुरवस्था का ही प्रधान रूप से, विविध विचारकों के शब्दों में, अङ्कन किया गया है, फिर भी देशी नरेशों के यथार्थ स्वरूप के प्रति भी इसमें उचित न्याय किया गया है। इस बात को लक्ष्य में रक्खा गया है कि आज जिस ब्रिटिश शक्ति का फौलादी पञ्जा ब्रिटिश शासन में है उसी की अविरल एवं स्वार्थमयी छाया इन देशी राजाओं पर भी आपाद-मस्तक घनीभूत हो रही है। युग की पुकार देश की मांग, राष्ट्रनिर्माण की आवश्यकता, स्वातन्त्र्य-भक्ति एवं मनुष्यता के तकाजे की दृष्टि सम्मुख रख कर 'अधिकाराङ्क' का रूपाङ्कन किया गया है। हम समझते हैं कि हमारा प्रयत्न जितना प्रजाहित को पुरस्सर करेगा उतना ही नरेशों का भी हित साधन करेगा। आशा है नरेश-गण हमारी इस निष्पक्ष भावना को अन्यथा नहीं ग्रहण करेंगे।

प्रगतिशील युग

आज के प्रगतिशील युग के विचारक एवं विभिन्न राजनैतिक दलों के नेता, देशी-राज्यों एवं नरेशों को किस दृष्टि से देखते हैं, तथा उनके विषय में किस प्रकार की धारणा रखते हैं-इस बात को भी निष्पक्ष हृदय से उन्हीं के शब्दों में हमने 'अधिकाराङ्क' में पाठकों के लाभार्थ देने की चेष्टा की है। इस चेष्टा में हमने बहुत से ऐसे लेख भी प्रकाशित किये हैं, जिनसे हमारा स्पष्ट मतभेद है। ऐसा केवल इसीलिये किया गया है कि 'राजस्थान' के पाठक एवं नरेशगण, वर्तमान युग की प्रगतिशील विभिन्न विचार सरणियों से परिचित हो जायें। यह परिचय उन्हें अखण्ड रूप में भारतीय भविष्य की रूपरेखा बताने में समर्थ होगा - ऐसा हमारा ध्रुव विश्वास है।

धन्यवाद एवं क्षमायाचना

'अधिकाराङ्क' को हम जिस रूप में पाठकों के सम्मुख रखना चाहते हैं, अनेक अनिवार्य कठिनाइयों के कारण हम उसे उस रूप में नहीं निकाल सके - इसका हमें हार्दिक दु:ख है। यह बात स्वीकार कर लेना हम अपना कर्तव्य समझते हैं कि परिस्थितियों की विषमता एवं साधनों के अभाव ने हमें धोखा दिया है। फिर भी हमें इस बात का सन्तोष है कि राष्ट्र-निर्माण की ओर प्रेरित करने वाली विचार और मनन की ठोस सामग्री, 'अधिकाराङ्क' के रूप में, उस अवसर पर जब भारत की भाग्यदिशा पं. जवाहरलाल नेहरू के राष्ट्रपतित्व में उज्ज्वल-से-उज्ज्वलतर होने जा रही है, हम पाठकों की भेंट कर रहे हैं। इतने पर भी हमारे इस प्रयत्न में जो कुछ अभाव रह गया है उसके लिये हम कृपालु पाठकों के निकट क्षमाप्रार्थी हैं। साथ ही हम उन महान् लेखकों, विचारकों, नेताओं एवं प्रतिभासम्पन्न कलाकारों के अत्यन्त आभारी तथा कृतज्ञ हैं, जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर 'अधिकाराङ्क' को अपने लेखों, कविताओं, कहानियों एवं विचार-सामग्रियों से सजाने की कृपा की है। अधिकाराङ्क में जो कुछ 'सुन्दर' एवं 'शिव' है वास्तव में वह सरस्वती के इन्हीं उपासकों का फल है।

जिन मान्य बन्धुओं के लेखों को हम इस 'विशेषांक' में नहीं दे सके उनका उपयोग यदि हो सका तो अगले अङ्कों में किया जायेगा। आशा है कि लेखक-बन्धु हमें इसके लिये क्षमा करेंगे।

एक बार फिर हम अपने लेखकों तथा सहयोगियों को धन्यवाद देते हैं। इसके साथ ही हम अपने उन श्रमिक बन्धुओं की सराहना किये बिना भी नहीं रह सकते, जिन्होंने रात-दिन जग कर इस विशेषाङ्क के लिए कठिन परिश्रम किया है।

॥ वन्देमातरम् ॥

नवज्योति

अजमेर, सोमवार ता० २८ नवम्बर सन् १९३८ ई०

समय आ गया

भारत एक है और अविभाज्य है। इसे सदा बृटिश और रियासती इलाकों में बाँट कर नहीं रखा जा सकता। यह देश जैसा पहले एक था, वैसा ही निकट भविष्य में एक होकर रहेगा। तत्वत: इस बात से कोई इन्कार नहीं करता था — नहीं कर सकता था। व्यवहार में भी अंग्रेज-शासक और राजा, लोक-संघ-योजना को स्वीकार करके इसी उसूल को मान रहे हैं। प्रजा तो सदा से ही देश-भर की एकता चाहती थी। सिर्फ राजा और अंग्रेजी नौकरशाही राजनैतिक स्वार्थों के कारण भेद-भाव रखने के पक्ष में थे। काँग्रेस उसूलन कभी इस भेदभाव की हामी न थी मगर वह व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण रियासती मामले में तटस्थ रही। हम इस तटस्थता के समर्थक रहे हैं परन्तु हमारी राय में अब समय आ गया है कि इस नीति में देश समूल परिवर्तन कर दे।

संघ-योजना का सिद्धान्त मान लेने के बाद बृटिश-सरकार और राजाओं को भी हर रियासत या सब रियासतों के अलग रहने या रखने पर जोर नहीं देना चाहिये। इस योजना के अनुसार, बृटिश-भारत और रियासती इलाकों को, कुछ बातों में एक ही शासन के मातहत रहना पड़ेगा और दूसरे मामलों में परस्पर हस्तक्षेप या सहयोग करना होगा। दिन-दिन यह तटस्थता कम होती जायगी और जो चीज़ उसूल से गलत रही है, वह अमल में भी नामुमकिन साबित हो जायगी। इसलिये सबसे अच्छी बात तो यह है कि अभी से आदर्श पर चलने की शुरूआत की जाय यानी सिवाय इस अपवाद के कि राजा-लोग, पैतृक किन्तु वैध शासक बने रहें। बाकी बातों में रियासतों को या रियासतों के समूह को, अन्त समझ कर उनकी वैसी व्यवस्था की जाय।

यह अभी हो या न हो, कांग्रेस का रास्ता तो साफ़ नजर आता है। जैसा महात्माजी ने पिछले दिनों में कहा था, कांग्रेस की रियासतों के प्रति, तटस्थता की नीति किसी सिद्धान्त के कारण नहीं, बल्कि व्यावहारिकता के नाते रही है। प्रथम तो कांग्रेस नहीं चाहती थी कि विदेशी सत्तासे निपट लेने के पहले ही वह स्वदेशी शासकों से उलझे। दूसरे रियासती प्रजा में भी इतनी जागृति नहीं थी कि वह बृटिश भारतीय जनता के बराबर आत्म-बलिदान कर सके। ऐसी हालत में रियासतों से संघर्ष मोल लेने में बृटिश भारतीय संग्राम में विमुख होने, रियासतों में हार खा बैठने और कांग्रेस की प्रतिष्ठा को खो बैठने का अन्देशा था। इस कारण तटस्थ-नीति ही मुनासिब थी।

परन्तु अब इसकी न जरूरत है, न उपयोगिता। वैसे तो कांग्रेस ने शुरू से ही रियासती

प्रजा की राजनैतिक आकांक्षाओं के साथ, दिली-हमदर्दी जाहिर की है और राजाओं से अनुरोध किया है कि वे उन आकांक्षाओं को शीघ्र पूरा करें। इससे आगे कांग्रेसी नेता समय-समय पर रियासती स्वातंत्र्य-संग्राम में अधिकाधिक्र दिलचस्पी लेते रहें। हरिपुरा - कांग्रेस के बाद तो कार्य-समिति के सदस्यों ने भी देशी राज्यों के प्रजाकीय आन्दोलन का सक्रिय नेतृत्व ग्रहण कर लिया। खुद महात्माजी भी खुले तौर पर इस मैदान में आ गये हैं। इधर संघ-योजना के केन्द्रीय भाग को जल्दी से जल्दी जारी करने पर, जितना जोर सरकार और राजाओं की तरफ से दिया जा रहा है, उतना ही जोर भारतवर्ष की सारी जनता इस बात पर दे रही है कि रियासतों में नागरिक स्वतंत्रता, और प्रतिनिधि-शासन कायम हो और संघीय धारा-सभा में, रियासतों की प्रजा द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि भेजे जायँ। ज़िम्मेदार हुकूमत के उसूल का, राजा लोग भी अब विरोध नहीं करते। बृटिश-सरकार भी ऐसी हुकूमत की स्थापना में बाधक बनने का पाप, अपने सिर पर लेने को तैयार नहीं दीखती। इधर रियासती प्रजा ने जगह-जगह अपने अधिकारों के लिये, बहादुरी से लड़ने की वृत्ति दिखाई है। इस कारण वहां बड़ी तेज़ी से जागृति हो रही है और कांग्रेस को अब कोई खास अन्देशा नहीं होना चाहिये कि रियासती प्रजा, राष्ट्रीय झण्डे को या कांग्रेस के गौरव को कायरता या हिंसा द्वारा नीचा दिखावेगी।

ऐसी हालत में कांग्रेस के अगले अधिवेशन में यह नीति स्थिर होनी चाहिये कि अब कांग्रेस को रियासतों के राजनैतिक विकास में क्रियात्मक भाग लेना, यानी हर रियासत में कांग्रेस-कमेटियां कायम होकर, वहां दायित्वपूर्ण शासन की प्राप्ति का काम करना चाहिये। इस संबंध में यह सावधानी रखने की जरूरत अब भी है कि बृटिश-सरकार से सम्बन्ध रखने वाले किसी संघर्ष को, रियासतों में दाख़िल न किया जाय। इस नीति-परिवर्तन का एक खास फलितार्थ यह होना चाहिये कि अलग-अलग रियासतों या सारी रियासतों के अलग संगठन खत्म हो जाने चाहिये और सभी शक्तियां अकेली कांग्रेस के झण्डे तले जमा हो जायँ। इस सम्बन्ध में अखिल भारतीय लोक परिषद को अपने अधिवेशन में और प्रजा-मण्डलों को कांग्रेस के सालाना जलसे में जल्दी आवश्यक प्रस्ताव पास कर लेने चाहिये। संघ विरोधी, साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चे की सफलता के लिये भी इस एकीकरण की सख्त जरूरत है। आशा है, देश के विचारंवान और वेगवान वर्ग, दोनों इस ओर शीघ्र ध्यान देंगे।ए७७७७७७७७

राजस्थानी

(कलकत्ता)

अंक १ **जनवरी १९३९** **भाग ३**

सम्पादकीय निवेदन

राजस्थान अेक महान प्रान्त है। आज भी उसका नाम हृदय-तंत्रों को झनझना देने के लिए पर्याप्त है। कितनी-कितनी मधुर स्मृतियाँ उस नाम के साथ गुथी हुई हैं! उसके उज्ज्वल अतीत पर समस्त भारत को अभिमान है। उस की भाषा, उस का साहित्य, उस की कला, उस का इतिहास, उस की समस्त संस्कृति, संसार में अपना सानी नहीं रखती।

राजस्थान की भाषा, भारत की आर्यवंशोत्पन्न आधुनिक भाषाओं में संभवत: सब से प्राचीन है। सब की जन्मदात्री अपभ्रंश के वह सब से निकटतम है। अपभ्रंश भी प्राचीन राजस्थान और गुजरात में ही उत्पन्न हुई और फली-फूली। राजस्थानी-भाषा का प्रवाह अनवच्छिन्न रूप से जारी रहा। अपभ्रंश-काल से बीसवीं सदी तक राजस्थान की साहित्यिक क्रियाशीलता निरन्तर प्रवहमान रही। साहित्य की यह सुदीर्घ और अनवच्छिन्न क्रियाशीलता अन्यत्र कदाचित् ही दृष्टिगोचर हो। अेक समय था जब राजस्थानी समस्त उत्तर-पश्चिमी भारत के साहित्य की भाषा थी। कबीर की भाषा राजस्थानी के ही सब से अधिक निकट है। जायसी तक में राजस्थानी के ठेठ शब्दों और मुहावरों की कमी नहीं। आधुनिक राजस्थानी, गुजराती, ब्रजभाषा और पंजाबी को उस ने जन्म दिया है। खड़ीबोली के विकास में उस का प्रमुख भाग है। भारतीय भाषाविज्ञान के सुचारु अध्ययन के लिअे राजस्थानी का अध्ययन अनिवार्य है।

और राजस्थानी साहित्य! जो जीवन से लबालब भरा है। उसके थोड़े से नमूने सुने थे। महामना मालवीयजी ने और विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ने। नाच उठे थे वे। महामना मालवीय कह उठे — यह साहित्य हमारे विश्वविद्यालयों में क्यों नहीं पढ़ाया जाता? और विश्व कवि के शब्द भी सुनिये —

"कुछ समय पहले कलकत्ते में मेरे कुछ राजस्थानी मित्रों ने रण-संबंधी कुछ राजस्थानी गीत सुनाये। मैं तो उनको सुन कर मुग्ध हो गया। उन गीतों में कितनी सरसता, सहृदयता और भावुकता है! वे लोगों के स्वाभाविक उद्गार हैं, मैं तो उन को संत-साहित्य से भी उत्कृष्ट समझता हूँ। क्या ही अच्छा हो अगर वे गीत प्रकाशित किये जायँ! वे गीत, संसार के किसी भी साहित्य और भाषा का गौरव बढ़ा सकते हैं। ईश्वर ने चाहा तो मैं उन को शांति-निकेतन के हिंदी-भवन द्वारा प्रकाशित करवाऊंगा।......राजस्थानी साहित्य को भारत की जनता के सामने लाने में हिंदी-भवन द्वारा पूर्ण कोशिश करूंगा।"

राजस्थान का यह साहित्य जीवन से अलग पागलों का प्रलाप नहीं किन्तु जीवन के साथ मिला हुआ है। राजस्थान का साहित्यकार, कलम का ही धनी नहीं होता था किन्तु तलवार के साथ भी खेलता था। उस की सप्राण कलम का चमत्कार, संसार अनेक बार देख चुका है। एक उदाहरण देने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। राजपूती आन की अन्तिम आशा टूट रही थी। महाराणा प्रताप विचलित हो गये थे। उस समय अेक वीर कवि हृदय, जो परतन्त्र होकर भी स्वतन्त्रता का उपासक था, पराधीन होने पर भी जिसका अंतर पराधीन नहीं हुआ था, इस अंतिम आशातंतु को डूबते देख क्षुब्ध हो गया। उसने बचाने का अेक अंतिम प्रयत्न किया और परिणाम, भारतीय इतिहास से परिचित अेक-अेक बच्चा जानता है। कौन कह सकता है कि राजपूतों की उस अमर आन का रक्षक कौन था? महाराणा प्रताप या महाकवि पृथ्वीराज?

यह साहित्य प्राचीन तो है ही, विस्तृत भी उतना ही है। विषय विविधता की उसमें कमी नहीं। साहित्य के अनेकों प्रकार उसमें भलीभांति represented हैं। वीर रस का अखूट भंडार तो वह है ही, शृङ्गार, नीति और शान्त रस की रचनाअें भी उस में वैसी ही उत्तम श्रेणी की मिलेंगी। पद्य की भांति राजस्थानी का गद्य भी प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है।

राजस्थान का लोकसाहित्य भी अपने सौन्दर्य में अद्वितीय है। उस के लोक-गीतों में जीवन अपने नानारंगी रूपों में प्रकट हुआ है। उसमें प्रेम की प्रधानता है पर वह प्रेम अेकांगी नहीं। केवल पतिपत्नी की प्रणयकेलि, मान-अपमान और विरह-वेदना तक ही वह सीमित नहीं है। जहां पत्नी के प्रेम-निर्झर की वेगवती श्यामा कलिंद-नंदिनी बह रही है वहां मां के मीठे स्नेह की सुर-सरिता भी मधुर वेग से प्रवहमान है। बहन के पावन प्रेम की सुधा-सिंचित सरस्वती तो बस गजब ढा रही है। लोकगीतों के समस्त जीवन में पवित्रता का भाव ओतप्रोत भरा है।

कला का राजस्थान घर ही रहा है। प्राचीन भारतीय चित्र-कला, राजपूत-कला का रूप धारण कर के ही सुरक्षित रही है। देलवाड़ा की स्थापत्य और मूर्त्तिकला समस्त भारत के अभिमान की वस्तु है। संगीत का समादर राजस्थान के राजदरबारों में सदा रहा। यहां के नरेश संगीतशास्त्र के प्रकांड पंडित हुअे हैं। महाराणा कुंभा का संगीत और नृत्यकला पर लिखा हुआ ग्रंथ अद्वितीय विश्वकोष है। बिहारी जैसे साहित्यकलाकार को राजस्थान ने अेक-अेक दोहे पर अेक-अेक अशर्फी देकर सत्कृत किया था। जयपुराधिपति महाराज जयसिंह का विज्ञान-प्रेम आज भी भारत के विभिन्न प्रान्तों में स्थित मानमंदिरों के रूप में जागरित है।

राजस्थान के इतिहास के संबंध में कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाना है। कर्नल टाड से उस जाज्वल्यमान इतिहास की थोड़ी-सी झलक देख कर सारा संसार मुग्ध हो गया था। उस से कर्नल टाड का नाम सदा के लिअे अमर हो चुका है। राजस्थान के गौरवमय इतिहास पर समस्त भारतवर्ष को गर्व है। न-जाने कितने कवियों और लेखकों की कल्पना को, रामायण और महाभारत की भांति उसने खेलने का अवसर दिया है।

पर कहां है आज ये सब बातें? हमारा वह उज्ज्वल अतीत, आज स्मृतिमात्र शेष रह गया

है! हमारी वह महानता आज विलीन हो चुकी है। उस पर अज्ञान के थर पर थर जम गये हैं। हमारी भाषा आज अधोगति में पड़ी है। महाराणा प्रताप और दुर्गादास की मातृभाषा को आज उसके अभागे 'सपूत' ही गंवारी तक कहने में संकोच नहीं करते। आज अपनी मातृभाषा से हमें लज्जा का अनुभव होता है। हमारी साहित्य-सरिता सूख चली है। उस में जीवन नहीं रहा। हमारा साहित्य परमुखापेक्षी हो रहा है। कला खलास हो चुकी। कलाकार भूखों मर रहे हैं। उन्हें कोई पूछने वाला नहीं। लोकसाहित्य लोप हो चला। मारवाड़ी पगड़ी आज कायरता का चिन्ह समझी जाती है। व्यापार हमारे हाथों से निकल चला है। सिंहों की सन्तान गीदड़ों से भी बढ़ गयी है। समस्त संसार को चकाचौंध कर देने वाली हमारी महान् संस्कृति आज स्मृति-शेष है।

क्यों अैसा हो गया? क्या इस का कोई उपाय नहीं? राजस्थान में धन-जन की कमी नहीं। विद्वानों का अभाव नहीं। धनकुबेर उस में अब भी वर्त्तमान है। राजस्थान की भूमि बांझ नहीं हो गयी है। फिर भी हम अपना अध:पतन नहीं रोक सकते! क्यों?

हम अपने आप को भूल गये हैं। अपने प्राचीन गौरव का, अपने महान साहित्य का, जीवन देने वाली अपनी अपूर्व संस्कृति का ज्ञान हमें नहीं। हम असावधान हैं। हमारी भाषा मर रही है। हमारा अमूल्य साहित्य बस्तों में, मटकों में, नाज की कोठियों में पड़ा सड़ रहा है पर हम सोये हुअे खर्राटे भर रहे हैं। कान पर जूं तक नहीं रेंगती।

राजस्थान की उस महान संस्कृति की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिअे उस के उज्ज्वल अतीत का दर्शन कराने के लिअे ही हमारा यह नम्र प्रयास है। हमें विश्वास है कि हम अपने उद्देश्य की सिद्धि में सफल होंगे। अवश्य ही इसके लिअे राजस्थानी विद्वानों, कार्यकर्त्ताओं, धनीमानी दानवीरों और अन्यान्य राजस्थान-प्रेमी सज्जनों का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। उस के बिना हम कुछ भी न कर सकेंगे, पर उन का सहयोग हमें प्राप्त होगा। इसका हमें विश्वास है।

प्रकाशक की ओर से

राजस्थानी के प्रकाशन या पुन: प्रकाशन की अेक कहानी है जो अब शोकमय बन गयी है। इस पत्रिका का 'राजस्थान' नाम से सर्वप्रथम प्रकाशन संवत् १९९२ में हुआ था और दो वर्ष तक इस ने बहुत उपयोगी कार्य किया। दो वर्ष के पश्चात् आर्थिक स्थिति ठीक न रहने और इसके संपादक माननीय ठाकुर साहब किशोरसिंहजी वार्हस्पत्य के स्वर्गवास के कारण इसका प्रकाशन बन्द कर देना पड़ा। स्वर्गीय ठाकुर साहब ने दो वर्ष तक 'राजस्थान' की अथक सेवा की थी और उनके स्वर्गवास से इसके प्रकाशन में महान क्षति पहुँची।

राजस्थान के ख्यातनामा स्वनामधन्य साहित्यकार स्वर्गीय पं. सूर्यकरणजी पारीक को, इसके प्रकाशन का बन्द होना बहुत अखरा और उन्होंने पत्रिका का पुन: प्रकाशन करने के लिये बार बार लिखा। अन्त में हमने संपादन का सारा भार उन्हीं पर डाल दिया। उनका उत्साह ऐसा अपूर्व था कि उन्होंने सहर्ष सारा भार अपने सिर पर ले लिया और पुन: प्रकाशन की आयोजना में जी-जान से जुट गये। उन्होंने राजस्थान के सुप्रसिद्ध विद्वानों एवं

साहित्यकारों को सहयोग देने के लिये आमन्त्रित किया और लिखते हुए हर्ष होता है कि सभी महानुभावों ने सहर्ष सहयोग देना स्वीकार किया। फिर अपने कुछ उत्साही मित्रों को पकड़ कर सम्पादक-मण्डल बनाया और लेख-संग्रह होने लगा। शीघ्र ही प्रथम अंक की सामग्री प्रेस में पहुँच गयी और उसका मुद्रण होने लगा। पत्रिका अभी आधी ही छप पायी थी कि इतने में वज्रपात के समान उनके अकस्मात देहावसान के समाचार मिले। क्या से क्या हो गया!

परन्तु स्वामी नरोत्तमदासजी ने भी अपने दिवंगत मित्र की अन्तिम इच्छा को पूर्ण करने की ठान ली थी। मेरे ढीले पड़ जाने पर फिर उन्होंने पत्र-व्यवहार द्वारा इसके प्रकाशन पर जोर डाला। इधर मेरे अन्यतम सहयोगी भाई भगवतीप्रसादसिंहजी भी व्यग्र हो उठे। अतः एक दृढ़ संकल्प के साथ दो दिवंगत महान् आत्माओं की स्मृति को लेकर राजस्थानी का प्रकाशन किया जा रहा है।

इस अंक के प्रकाशन में देरी अवश्य हुई है। पर आगे से इसका प्रकाशन समय पर हो जाया करेगा — ऐसा सुप्रबन्ध कर दिया गया है। आशा है हमारे पाठक, ग्राहक और शुभचिन्तक सभी हमारे इस महान् प्रयत्न में सहायक होंगे।

रघुनाथप्रसाद सिंहानिया
मंत्री

नया समाज

(कलकत्ता)

सम्पादक - मोहन सिंह सेंगर

वर्ष १ **जुलाई, १९४८** **अंक १**

हमारा दृष्टिकोण

'नया समाज'

का प्रकाशन किन आदर्शों एवं उद्देश्योंको लेकर किया जा रहा है, इस सम्बन्ध में हम कोई लम्बी-चौड़ी घोषणा करने या कैफियत देनेकी आवश्यकता नहीं समझते। कारण, जहां तक इनका ऊपरी सम्बन्ध है, कोई भी पत्न अपने प्रथम अंकमें पवित्नसे पवित्न आदर्शों और साधु-से-साधु उद्देश्योंकी दुहाई दिए बिना नहीं निकलता। पर कालान्तर में कुछ तो घाटेके कारण और कुछ प्रचारकी अपर्याप्तताके सबबसे, वह न केवल परिस्थितियोंसे, बल्कि अपने घोषित आदर्शों और उद्देश्योंसे भी समझौता करने लगता है। आरंभमें सामान्य और व्यावहारिक दृष्टिसे आवश्यक दिखनेवाला यह 'समझौता' सफलता, उन्नति और द्रव्यार्जनकी मृग-मरीचिकाका अनुगामी बन, एक दिन 'आत्मार्पण' बन जाता है। इस प्रकार यह पत्न न सिर्फ़ अपना, आपा ही खो देता है, बल्कि बड़ी-बड़ी बातें बना कर फिर छोटे काम करके पाठकोंको धोखा देनेका भी अपराधी बनता है। कदाचित् इसीलिए आज अधिकांश पत्नोंकी आदर्श एवं उद्देश्य-प्रियता, सच्चाई, ईमानदारी और निष्पक्षतामें जन-साधारणकी आस्था बहुत कम रह गई है। अस्तु —

यों तो 'नया समाज' नाम स्वत: ही एक उद्देश्य की घोषणा है। पर किन आदर्शोंको लेकर हम अपने नये समाजकी स्थापना करना चाहते हैं, इसका उत्तर हम चाहते हैं कि 'नया समाज'में प्रकाशित रचनाओंसे ही मिले। हमारी घोषणा अथवा कथनी, व्यर्थ और निरर्थक होगी, यदि हम कार्य-रूपमें उसे न उतार सकें। किसी वाद, मत या दल-विशेषका अन्धानुकरण अथवा अवलम्बन करके हम पाठकोंपर ज़बरदस्ती उसे थोपना, न सिर्फ़ अनावश्यक एवं अनुपयुक्त ही समझते हैं, बल्कि हानिकार भी। लोक-कल्याण, लोक-शिक्षण और लोकोन्नयनकी दृष्टिसे हम अपने और सहयोगी लेखकों-कवियोंके विचार, सुझाव, समीक्षाएं आदि पाठकोंके सम्मुख रखेंगे और इस मार्ग एवं उद्देश्यमें बाधक होने वाली सभी बातों, नीतियों, वादों, संस्थाओं और व्यक्तियोंकी स्पष्ट किन्तु सद्भावनापूर्ण, निष्पक्ष और कटुताविहीन आलोचना भी करेंगे। एक वाक्यमें कहें, तो हमारा आदर्श होगा साध्य और साधनोंकी समान रूपमें पवित्नता तथा सच्चाई। हम समाजका नव-निर्माण चाहते हैं; उसे सुखी, समृद्ध और सन्तुष्ट भी देखना चाहते हैं; पर किसीकी अहित या

अकल्याण कामना करके नहीं। इस साधु-उद्देश्यकी पूर्ति भी हम असाधु, अपवित्र, गुप्त और विघातक साधनोंसे कदापि नहीं चाहेंगे; क्योंकि न वह टिकाऊ होगी और न जनताकी आत्माका बल और न दिली-समर्थन ही उसके पीछे होगा। सच्चे मानीमें टिकाऊ और समुन्नत नया समाज तो वही हो सकता है, जिसका विकास नैसर्गिक रूपसे हुआ हो और जिसकी जड़ें शासन-शस्त्रोंके भय, जबरन थोपे हुए विचार-विश्वासों, रक्तपात, हिंसा और षड्यंत्रों, लोभ और स्वार्थोंमें नहीं, जनताके दिली सहयोग-समर्थनमें हों।

नया बनाम पुराना

बुद्धि या तर्ककी दृष्टिसे भले ही दो परस्पर-विरोधी अथवा प्रतिद्वन्द्वी चीजें हों, पर विवेक अथा समन्वयकी दृष्टिसे महज़ एक ही चीज़के दो सांयोगिक रूप अथवा पक्ष हैं। जिस प्रकार नदीके जलमेंसे कितना पुराना है और कितना नया, इसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार मानव-विकासके प्रगति-पथके किस कण अथवा चरणको नया और किसको पुराना कहा जाय, यह भी कठिन है। सृष्टिके आदि कालसे मानव प्रकृति पर अपनी जय-यात्रामें मीलके पत्थरोंकी तरह नये और पुरानेको पीछे छोड़ता हुआ निरन्तर अग्रसर होता चला जा रहा है। उसने कल जिसे नया समझकर खोज निकाला था, आज वही पुराना हो गया है और आज जो पुराना हो गया है, वही कल फिर नूतन हो उठेगा। पर अज्ञानवश, इस शाश्वत सत्यको जानते हुए भी, मानव-पुरातनके मोहमें फँसकर कभी-कभी उसे उसकी उपयोगिता एवं सार्थकता खत्म हो जानेपर भी, छोड़ना नहीं चाहता और नूतनके प्रति सशंक एवं आतंकित-सा हो उठाता है। वह नहीं जानता कि इस नासमझीसे वह विकासकी धाराको रोक रखनेका दुष्प्रयत्न कर रहा है, जो सर्वथा हानिकर है।

हर समय और हर मौसममें हम एक ही कपड़े तो नहीं पहनते। शीत अथवा ग्रीष्मके तापमानके अनुसार हम कपड़े बदलते हैं। मैले हो जाने या फट जानेपर हम उन्हें उतारकर दूसरे कपड़े पहनते हैं। हम अपने माता-पिता और अन्य प्रिय व्यक्तियोंको बहुत अधिक चाहते तथा प्रेम करते और आदर करते हैं; पर मर जानेके बाद हम उनकी लाश से तो चिपटे नहीं रहते। तब फिर क्या कारण है कि हम एक समय-विशेषके विचारों एवं आदर्शों, मूल्यों एवं मान्यताओंको, उनके असामयिक एवं निष्प्राण हो जानेके बाद भी, उनका मोह नहीं छोड़ना चाहते? परिस्थितियोंके तक़ाजोंके बावजूद उन्हें छोड़नेमें हमें ऐसा लगता है, मानो कोई बहुत बड़ा पाप या अनर्थ कर रहे हैं अथवा ऐसा करनेसे अब तकके सब किये-कराये पर पानी फिर जायगा। यह सीधी और स्वाभाविक बात है कि समाजका ढांचा जर्जर और निष्प्राण हो जाता है; जब उसके नियम-क़ानून, मूल्य-मान्यताएँ, विचार-आदर्श आदि खोखले, अनावश्यक और समाजके विकास एवं उन्नतिमें सहायकके बदले बाधक हो उठते हैं; तभी उनके खिलाफ आवाज बुलंद होती है। उस आवाज़को बिगड़े-हुओं या बुद्धिहीनोंकी बकवास कहकर दबानेकी चेष्टा करना न सिर्फ़ हास्यास्पद ही है, बल्कि हानिकर भी। गोर्कीके शब्दोंमें 'अपने आपसे मानवका असंतोष और उसकी श्रेष्ठ बननेकी भावना पवित्र है; अपने ही बनाये हुए असत्य, अन्यायपूर्ण और पुरोगामी बन्धनोंके प्रति उसकी घृणा पवित्र है; लोभ, घृणा, द्वेष, अपराध, रोग-शोक, मानव-मानवमें दुर्भावना या दुश्मनी पैदा

करने वाली बातोंके प्रति उसकी घृणा पवित्र है।' अतएव पुरातनके प्रति इस असंतोष और घृणाको दबानेकी चेष्टा न कर हमें अविलम्ब तद्नुकूल सुधार-संशोधन करने की ओर ध्यान देना चाहिए। इसमें सर्वांशमें पुरातनका तिरस्कार करनेकी भावना इतनी नहीं है, जितनी कि सर्वान्तःकरणसे नूतनके अभिवादनकी। १९वीं शताब्दीके प्रसिद्ध इटालियन कवि कारडूचीके शब्दों में इसे यों कहा जा सकता है :-

''हे थके हुए मानवो, तुम्हारा अभिनन्दन है!
सब-कुछ गुज़र जाता है, पर मरता कुछ नहीं;
हमने बहुत घृणा की, बहुत कष्ट सहे;
पर आओ, अब जिएँ और प्यार करें —
उस विश्वको, जो कितना सुखद और प्रेमल है;
उस भविष्यको, जो महान, सुन्दर और पवित्र है!''

यही सामान्यतयाःहमारा जीव-दर्शन और दृष्टि होनी चाहिए।

और ये बुद्धिजीवी —

कोरे और थोथे — जो बुद्धि बलपर नहीं, बुद्धिको बाद देकर जीवित रहना चाहते हैं, हर सांसमें सारी पुरानी बातों, आदर्शों और सिद्धान्तोंकी निन्दाकर उनकी जगह सब-कुछ नया प्रस्थापित करना चाहते हैं; सुधार और क्रांतिके नामपर बेहद भ्रांति और अनावश्यक विरोध एवं संघर्ष पैदा कर रहे हैं। जिस प्रकार इच्छाको तर्क और तर्कको विज्ञान नहीं बनाया जा सकता, उसी प्रकार कोरे बौद्धिक वितण्डावादसे विनाश ही संभव है, निर्माण नहीं। आज जिसे देखिए, बुद्धिवादी होनेका दम भरता है। पर उसके विचारोंका कहीं सिर-पैर नहीं। जो अपने-आपको प्रगतिवादी कहता है, वह जनताकी मानसिक स्थिति एवं उसकी क्रमिक प्रतिक्रियाको देखने-समझनेकेलिए धैर्यवान नहीं। उसकी बेसब्री और उतावलापन इस सीमाको पहुँच गए हैं कि एक उत्तेजक भाषण देकर या वर्ग-विश्लेषणका ज़ोरदार लेख लिखकर वह दूसरे ही दिन क्रांतिका साकार रूप देखना चाहता है! बेहद गरीबी, गुलामी और अंधविश्वासोंसे ग्रस्त यहाँकी पिछड़ी जनताको वह आनन-फाननमें — सिनेमाके पट-परिवर्तनकी तरह — क्रांतिकी मुहिमके रूपमें देखना चाहता है। वह कल्पना करता है कि भारतमें रूसी ढंगका साम्यवाद जादूकी तरह लोगोंकी स्थिति बदल दे, कलसे ही ट्रैक्टरोंसे खेती होने लगे, टैस्ट-ट्यूबसे बच्चे पैदा होने लगें, गायोंके दूध-मक्खन और ताजे फल-मांस-सब्ज़ीकी जगह सब टिनों में बंद चीज़ोंका इस्तैमाल करने लगें; चाय, सिगरेट, शराब आदि मुफ्त या रियायती दामोंपर मिलने लगे और सेक्स-संबंधी किसी भी प्रकारका सामाजिक, नैतिक अथवा सरकरी नियंत्रण या बन्धन न रहे! और अपनी कल्पनाके इस स्वर्ग —अपनी इच्छाके इस नए समाज — के लिए भी करना-धरना वे कुछ नहीं चाहते।

दूसरी ओर वे पुरातनपंथी हैं, जो सड़ी-गली रूढ़ियोंके शवको छातीसे चिपटाए बैठे हैं और जिनके लिये 'नया' शब्द ही जैसे अवांछनीयता, भ्रष्टता और विकृतिका द्योतक है! वे

पीछे ही देखनेके आदी हैं, चाहे आगेके मार्गमें ठोकर ही क्यों न हो। उन्हें अतीतपर गर्व है। पूर्वपुरुषोंका विरुद बखानते-बखानते वे यह सोचना भूल जाते हैं कि यदि उनके पूर्वपुरुष आज जीवित हो सकते, तो अपने इन पिढ़ियों-से निर्वीर्य और निःशक्त उत्तराधिकारियोंको देखकर ग्लानि और लज्जासे ज़मीनमें गड़ जाते। हममें आज न तो शक्ति और पुरुषार्थ हैं, न हम उन्हें अपने में पैदा ही करना चाहते हैं इसीलिए हम अतीतके गौरवकी गरिमा पर जीवित रहना चाहते हैं। हमारा यह गर्व चीटियोंका-सा मिथ्या गर्व मालूम होता है।

'भारत बूढ़ोंका देश है!'

दादा भाई नौरोजी द्वारा आजसे कोई ४० वर्ष पूर्व कही गई यह बात हमें तो आजभी अक्षरशः सत्य प्रतीत होती है। उम्रसे भले ही हमारे यहाँ करोड़ों जवान हों, पर जवानीकी भावना (स्पिरिट) हममें नहीं, जवानोंकी शक्ति और साहस भी हममें नहीं। उद्योग, परिश्रम और पुरुषार्थ करनेसे हमें स्वाभाविक अरुचि-सी हो गई है। श्रमकी पवित्रतामें जैसे हमारा विश्वास ही नहीं रहा। कामसे जी चुराना और परोपजीवी अथवा भिखारी होकर जीवित रहना हमारे लिए आज शर्मकी बात नहीं रह गई है। पुराने आदर्शोंकी तारीफ़ करते हम नहीं थकते; पर हममें से आज कितने ऐसे हैं, जिसका पुरुषार्थ और श्रममें, सत्य और सुकृतमें, धर्म और न्यायमें, त्याग और अपरिग्रहमें कार्यतः सच्चा विश्वास है? हम यह भूल जाते हैं कि अकर्मण्यता और आलस्य महान-से-महान देश और उसके यशः शरीर को उदरस्थ कर जाते हैं। हमारे विचार कितने भी उच्च और उपयोगी क्यों न हों, कर्ममें छने बिना वे स्वच्छ नहीं हो पाते। कर्मसे रहित विचार, बिना फल देनेवाले ठूँठकी तरह हैं। जब तक उनके पीछे कर्म और पुरुषार्थका बल नहीं, वे महज हवाई चीज़ हैं। निष्क्रिय और निर्वीय शेखचिल्लियों द्वारा न तो कोई सच्चा सुधार या क्रांति ही संभव है और न किसी भी प्रकारका नया समाज ही।

हम आज़ाद हो गए!

आज इस यथार्थतापर जैसे सहसा विश्वास करनेको जी नहीं होता, सदियोंकी गुलामी ने हमारी आदतों, विचारों और पद्धतियोंको कुछ ऐसा बना दिया है कि आज एकदम उनसे मुक्त होकर आज़ादीको महसूस करने, उसका उपभोग करनेकी पात्रता ही जैसे हम खो बैठे हैं। इसके पहले और तुरन्त बादमें जो अभूतपूर्व रक्तपात, लूट, अपहरण, बलात् धर्म-परिवर्तन और अनेक अन्य अकथनीय दुर्घटनाएँ हुईं, उन्होंने जैसे मन और मस्तिष्कको लुंठित कर दिया है। जिस तेज़ी और तत्परतासे शासनमें अयोग्यता, भ्रष्टता और नमकहरामीपनका बोलबाला हुआ, बाज़ारोंमें मूल्य-नियंत्रणकी ओटमें चोर-बाजार पनपा, कपड़े और खाद्य-पदार्थोंका कृत्रिम अभाव सृष्ट किया गया, कानून और शासनसे नामपर खुली चोरी और डकैती आरंभ हुई और औसत आदमी अधिक झूठा, बेईमान, मक्कार और भ्रष्ट हो गया; विश्वास नहीं होता कि हम आज़ादीके वातावरणमें साँस ले रहे हैं और ये उसीके वरदान हैं! तब क्या १५ अगस्तको इसीलिए खुशियाँ मनाई गईं और रोशनीकी गई? ऊपरकी उस खुशी और रोशनीका क्या यही दुखद और अन्धकारमय परिणाम होना था?

तब तो कोई आश्चर्य नहीं, यदि कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि इससे तो गुलामी और साम्राज्यवादी शोषणका अभिशाप ही शायद अधिक सुखद और सुविधाजनक था!

सच तो यह है कि यह शौर्य और साहस, त्याग और बलिदान, जीती हुई नहीं, भीखमें मिली हुई आजादी है। इसीलिए इससे चोर और गँठकतरे, डाकू और लुटेरे, झूठे और बेईमान, प्रतिगामी और पंचमांगी ही ज्यादा लाभ उठा रहे हैं। इसके मिलनेके बादसे आदमीके जान-मालकी जो लूट शुरू हुई है, बहू-बेटियोंकी अस्मतपर जो डाके पड़ने लगे हैं, चीजोंके अभाव और मूल्यमें जो असाधारण वृद्धि होती जा रही है, निम्न और मध्य वर्गोंकी स्थिति जिस तरह बद से बदतर होती जा रही है, मज़लूमोंके असन्तोष और अभाव जिस तेज़ीसे व्यापक और अधिक हो रहे हैं, उनसे तो पता चलता है कि दरअसल आजादी तो चोरों और लुटेरोंको, शोषकों और पीड़कों को ही मिली है — जनताकी आज़ादीकी मंज़िल तो अभी भी दूर है।

यदि जनताका श्रमजीवी वर्ग लड़कर इस आजादीको प्राप्त करता तो साम्राज्यवाद तथा फासिस्टवादके साथ-साथ हम पूंजीवाद और सामन्तवादसे भी मुक्त होते और वर्गविहीन जनतांत्रिक समाजकी स्थापना करते। पर दुर्भाग्यवश जनताके पिछड़ेपन और वाम-पक्षियोंकी अदूरदर्शिता, छिछोरेपन और कोई वाक्-शूरताके कारण आज़ादी आज धनिकों, सामन्तवादियों और उनके सहयोग-समर्थनसे चलनेवाले सुधारवादियोंके हाथ आई है। यही कारण है कि आज स्वतंत्र भारतका विधान बनाने वाली परिषदमें धनिकोंके प्रतिनिधि हैं, सामन्तोंके हैं, जमींदारोंके हैं, बाबुओंके हैं, पर उन किसान-मजदूरोंके सच्चे प्रतिनिधि नहीं, जो देशका तीन-चौथाई भाग है। यही कारण है कि आज ब्रिटिश साम्राज्यवादकी जड़ें मजबूत करने वाले आयंगर, चेट्टी तथा फौज, पुलिस और सिविल सर्विसके पुराने राजभक्तोंकी पांचों घीमें हैं और आज़ाद हिन्द फौजके वीर, जिन्होंने देशकी आज़ादीके लिए अपनी और अपने परिवारवालोंकी जान जोखिममें डाली, मारे-मारे फिर रहे हैं। यही कारण है कि जमीन्दारी-प्रथा हटाने, बड़े-बड़े उद्योग-धंधोंके राष्ट्रीयकरण, मुनाफाखोरी और चोर-बाजार बन्द करने आदिमें स्वतंत्र भारतकी सरकारको आगा-पीछा सोचना पड़ रहा है। यही नहीं, आज उसे कानून और अमनकी रक्षाके नाम पर नागरिक स्वतंत्रताको कुचलनेके, ब्रिटिश-हथियारोंका ही अवलंबन करना पड़ रहा है। यह देखकर तो ऐसा लगता है, मानो हम गोरे सार्जेन्टकी हाजतसे निकलकर, देशी हवलदारकी हवालात में आ गए हैं पर इस तथ्यसे भी कोई इन्कार नहीं कर सकता कि राजनीतिक दृष्टिसे आज़ाद तो हम हुए हैं और

आजादीका सही रास्ता

इसीसे गुज़रकर आयेगा; बशर्ते कि हम संगठित रूपसे उसके लिए चेष्टा करें। आज़ादी मांगनेसे नहीं मिला करती, वह तो संघर्ष करके बलिदान देकर ली जाती है। कहनेके लिए हम राजनीतिक गुलामीसे आज़ाद हो गए हैं, पर उस मानसिक गुलामीसे भी क्या हम आज़ाद हो सके हैं, जो अंगरेजोंके आनेसे पहले हम पर हावी है? वह है धर्म, सम्प्रदाय, जाति, वर्ण, वर्ग और संस्कृतिके नामपर अन्ध-परम्पराकी गुलामी, नैतिक और आधिभौतिक गुलामी। जो लोग आज शासनकी आलोचना करते नहीं थकते, उनसे हम पूछना चाहेंगे कि

इसे पवित्र, कर्तव्यपरायण, जन-हितका रक्षक और सुदृढ़ बनानेके लिए उन्होंने व्यक्तिगत रूपसे क्या त्याग किया अथवा सहयोग दिया है? क्या ऐसे लोग स्वयं स्वार्थ-साधन, घूस देने और लेने, मुनाफाखोरी, चोर बाजार करने और कराने, सिफ़ारिश और सरकारसे अनुचित लाभ उठानेसे चूके हैं? आज हम अपने प्रति, अपने देशके प्रति, शासन और अपने नेताओंके प्रति क्या सही मानीमें ईमानदार हैं? क्या 15 अगस्तसे पहले और उसके बाद हमारे व्यवहार-आचारमें कोई अन्तर आया है? तब फिर यह आज़ादी और यह शासन आखिर किस बल-बूते पर टिकेगा और कैसे पवित्र होगा?

हमारा मतलब यह कदापि नहीं कि हम शासनकी आलोचना ही न करें अथवा उसकी ख़ामियों और ख़राबियोंके प्रति आँखें बन्द कर लें। पर कोरी आलोचनासे भी तो कुछ नहीं होता। आखिर आज़ाद हम हुए हैं, उसका लाभ हमें उठाना है। यह शासन हमारा है, हमें इसे बिगड़ने नहीं देना है, सुधारना है। हममें से प्रत्येक व्यक्तिको समझना चाहिए कि 15 अगस्त के बादसे स्वतंत्र नागरिककी हैसियत से हमारी ज़िम्मेदारियां बढ़ गई हैं, हमें दूसरे ढंग से आचरण करना चाहिए। केवल अपने स्वार्थका ही नहीं देशके नंगे-भूखोंके हितका भी ध्यान रखना है। जब तक प्रत्येक नागरिक, बदली हुई परिस्थितियोंके महत्वको महसूस कर अपने कर्तव्य और दायित्वको अधिकारसे पहले नहीं रखता, शासनका अच्छा होना असंभव है। आज तो यह हाल है कि औसत आदामी, नियम-कानूनकी कुछ भी परवाह न कर अपने स्वार्थ-साधनमें लगा है — देश जाये चाहे जहन्नुममें। औसत कर्मचारी कामसे जी चुराकर अधिक से अधिक वेतन और घूससे अपनी जेबें भर रहा है। धनिकोंने युद्ध-कालमें इतना पैसा कमाया है कि आज चोर-बाजार करने, टैक्सोंसे बचने, मुनाफ़ाख़ोरीसे धन बढ़ाने आदिमें उन्हें किसी का कोई डर नहीं और यही लोग शासनकी सबसे अधिक आलोचना करते हैं। आजादी कोई कामधेनु या अलादीनका जादुई चिराग तो नहीं कि जिसको जो चाहिए वही मिल जाये और उसके लिए करना या देना कुछ न पड़े। यथार्थमें तो हमें आज़ादी नहीं, आज़ाद होनेकी सुविधा मिली है। अब यह हमारी योग्यता, ईमानदारी और पुरुषार्थ पर निर्भर करता है कि हम इसका उपयोग, करोड़ों भारतीयोंको गरीबी और गुलामीसे मुक्त करनेमें करते हैं अथा आपसमें एक-दूसरेका गला काटनेमें। जब तक कि हम गुलाम थे, हम समझते थे कि अंगरेज हमें आज़ाद नहीं करते, वे ही हमारी आज़ादी के मार्गका सबसे बड़ा रोड़ा हैं। पर आज सच्चाई यह है कि अंगरेजों से भी ज्यादा

हमारी आज़ादीको ख़तरा

अगर किसीसे है, तो वह हमीं से है, और किसीसे नहीं। यह किसीसे छिपा नहीं है कि हमारा आज़ाद राष्ट्र अभी कुलजमा ११ महीनोंका है। अगर अभी से हमने यह झगड़ा शुरू कर दिया कि उसे समाजवादी बनाया जाय या साम्यवादी, तो महज बरबादी ही हमारे हिस्सेमें पड़ेगी। जिन्होंने हमें एक दूसरेका गला और गांठ काटनेकी आज़ादी देकर दुनियाकी वाहवाही लूटी है, उसका षड्यंत्र आज हम समझ गये हैं। देशके विभाजनके बाद कश्मीर और हैदराबादमें वह कुचक्र हमारी आज़ादीको राहु बनकर ग्रस लेने पर तुला हुआ है। इस समय, क्या आपसमें लड़-झगड़कर, अपने आपको कमजोर बनाकर, इस नाम-मात्रकी

आज़ादीको भी आंग्ल-अमरीकन वेदी पर चढ़ा देना या रूसी भालूके पंजे में जाने देना अक्लमंदी होगी?

आज हिन्दका केन्द्रीय और प्रान्तीय शासन कांग्रेस के हाथोंमें है — उस कांग्रेसके, जिसने देशके विभाजनको कभी स्वीकार न करने, जमींदारी प्रथाका अन्त करने और धनिकों पर कर लगाकर गरीबोंके लिए सुख-सुविधा करनेका आश्वासन जनताको दिया था। उन परिस्थितियोंने, जिनपर उसका कोई काबू न था, उसे इनसे फिलहाल विमुख होनेको मजबूर किया अतएव उसकी आलोचना करना तो कोई बड़ी और मुश्किल बात नहीं। आज़ादीके साथ ही हुए देशके विभाजन, साम्प्रदायिक उपद्रवों, शरणार्थियोंकी समस्या, खाद्यकी कमी, नियंत्रणोंकी बेकारी, जन-साधारणके सक्रिय सहयोग और विरोध आदिने मिलकर कितना बड़ा बोझ नवजात-शासन पर डाला, यह हमें भूल न जाना चाहिए। फिर ब्रिटिश-कालका जो शासन-यंत्र हमारे शासकोंको मिला, उसकी वफ़ादारी संदिग्ध होते हुए भी उसे हटाकर तुरन्त नए आदमी रखना कोई खेल नहीं था इसलिए सब तरहसे मजबूरियोंसे दब और पिसकर नए शासकोंको काम करना पड़ रहा है। शासनका उन्हें अनुभव नहीं। साथ ही उनके अधिकांश साथी-सहयोगी सत्ताके आसनों पर बैठकर नई-नई कमजोरियोंके शिकार हुए। ये लोग जनताके उतने ही बड़े शत्रु हैं, जितने बड़े शत्रु अपने बड़े सहयोगियोंके हैं। ये देश और कांग्रेस दोनोंके समान रूपसे कलंक हैं। इनसे जनता और शासन दोनोंको सतर्क करना, हमारा कर्तव्य होना चाहिए। यदि इन बुरे, निकम्मे और भ्रष्ट लोगोंकी बदौलत हमने शासनका वह तख़्ता ही खींचना शुरू किया, जिस पर कि वह टिका है, तो उसके साथ ही हमारे सारे स्वप्न, सारे मन्सूबे, आज़ादीकी सारी न्यामतें और भविष्यकी सारी सुनहली आशाएं भी एक लंबे समयके लिए ढह पड़ेंगी। आज तो हमारा प्राथमिक कर्तव्य होना चाहिए, शासनके इस ढांचे को एक दृढ़ और लोकोपयोगी रूप ग्रहण करने देना, ताकि जो आज़ादी आज मिली है, वह आज ही अराजकताकी भेंट न चढ़कर, कल तकके लिए बची रहे। कल शायद उसे सम्हालनेवाले हाथ अधिक सुदृढ़, सुयोग्य और सक्षम हों।

जनतांत्रिक समाजवादकी स्थापना

कोरी घोषणाओंसे ही नहीं हो सकती। कांग्रेस ने किसान-मज़दूर, प्रजा-राजाका नारा जरूर दिया और महात्मा गांधी-जैसा कोई अद्‌भुत जीवट का व्यक्ति दूसरा और होता, तो शायद उस दिशामें साहसके साथ कदम भी बढ़ा सकता था पर आजकी परिस्थितियोंमें तो समाजवादकी दुहाई देना एक फैशन-सा हो गया है। साम्राज्यवादी, पूंजीवादी, अवसरवादी, स्वार्थवादी, अहम्‌वादी सभी समाजवादकी दुहाई देते नजर आते हैं। स्वयं अपने-आपको समाजवादी कहनेवाले भी यह भूल जाते हैं कि वे राष्ट्रीयताकी उपज हैं और केवल लोकप्रियता या चुनाव जीतनेके लिए ही वे जनताके सामने समाजवाद का सब्ज़बाग रख रहे हैं। हमारी तो यही समझ में नहीं आता कि कोई राष्ट्रीयतावादी होकर सही मानीमें समाजवादी हो कैसे सकता है? हाँ, वह हिटलरका राष्ट्रीय समाजवाद जरूर ला सकता है, जो फासिज्मकी आधार-शिला है। बिना पूँजीवादके पराभवके समाजवादकी स्थापना, आकाश-कुसुमवत्

है। पूँजीवादका पराभव केवल चुनाव जीतनेसे नहीं आ जायगा। यदि कभी ये तथाकथित समाजवादी, चुनावमें बहुमत प्राप्तकर सत्ताभी हथिया लें, तो इनका भी वही हश्र होगा, जो कांग्रेस अथवा किसी सत्तारूढ़ दल का होता है।

जनतंत्र और समाजवादकी स्थापना चुनावके संघर्षों, भाषणों या विश्लेषणात्मक विज्ञप्तियोंसे नहीं, शिक्षित लोक-बलसे ही हो सकता है अतएव हमारा तो यह दृढ़ मत है कि जो वास्तवमें इस देशमें जनतंत्रका विकास चाहते हैं, जो सच्चे मानीमें स्वतंत्र भारतको एक समाजवादी राष्ट्रके रूप में देखना चाहते हैं, उन्हें सर्वप्रथम जनताकी निरक्षरता और राजनीतिक पिछड़ापन दूर करनेकी चेष्टा करनी चाहिए। शहरमें अक्सर सुनाई पड़नेवाले पेटेंट नारोंका गाँवोंमें कोई नाम या अर्थ नहीं जानता। बिना शिक्षाके जनता, राजनीतिक दलोंके वादों, घोषणाओं और कार्यक्रमोंकी अच्छाइ बुराईमें तमीज करना कैसे सीखेगी? जब तक जनतामें वह ज्ञान और राजनीतिक चेतना नहीं आती, जनतंत्र और समाजवाद शहरी बाबुओंका राजनीतिक शगल भर रहेंगे और मूक-मूढ़ जनता, आज इस तो कल उस राजनीतिक दलके प्रचार-प्रोपेगंडाका शिकार भर होती रहेगी अतएव किसी भी स्वस्थ और संयत राजनीतिक विकासके लिए यह आवश्यक है कि आज़ादीका उपयोग जनताकी मौजूदा असुविधाओंको दूर करनेके साथ ही उसे शिक्षित और सजग करनेमें भी किया जाय पर कोरी

सीखसे शासन नहीं चलेगा!

यह बात हमें अपने उन आदर और विश्वास-भाजन नेताओं से भी कहनी है, जिनके हाथमें आज शासनकी बागडोर है। सत्य, अर्धसत्य और मिथ्या विरोधी-प्रचारके बावजूद जन-साधारणने उनकी कठिनाइयोंको महसूस किया तथा धैर्य और संयमसे काम लिया है पर धैर्य और संयमकी भी एक सीमा होती है। प्रतीक्षा करनेका भी एक समय होता है। जिस तेजीसे आज जन-साधारणकी आवास, वस्त्र और खाद्य संबंधी कठिनाइयां बढ़ती जा रही हैं, मूल्य-नियंत्रणके बावजूद मूल्य बढ़ते और चोर-बाजार फैलते जा रहे हैं, चीज़ोंका कृत्रिम अभाव घटता नज़र नहीं आता, शासन और कानूनके नाम पर चोरी, लूट और घूसखोरीका दबदबा बढ़ता जा रहा है, उन सबसे तो यही आशंका होती है कि शायद वह दिन दूर नहीं, जब शासनकी क्षमतामें विश्वास खोकर, जनता स्वयं अपने पांवों पर खड़ी हो उन ज्यादतियोंके विरुद्ध जेहाद बोल दे। वह दिन देशके लिए सौभाग्यका होगा या दुर्भाग्यका, इसका निर्णय तो समय ही करेगा। हमारे कहनेका तात्पर्य तो केवल यह है कि जनतासे कुछ समय और प्रतीक्षा करने, सब्र रखने, अपना कर्तव्य-पालन किये जाने और अभाव-संतोषके बावजूद सभा-प्रदर्शन न करने तथा इस-उस दलके बहकावेमें न आनेकी सीख देना भी तो पर्याप्त नहीं है। इस बहाने आखिर यह शासन कितने दिनों तक टिक पायगा?

जहाँ हमारे शासकोंका ध्यान, अन्यान्य कठिनाइयों और दिक्कतोंकी ओर है, वहाँ इस तथ्यको भी उन्हें नज़रअंदाज नहीं करना चाहिए कि हम आज ज्वालामुखीके मुँह पर बैठे हैं। यदि हमने स्थितिको सुधारनेकी माकूल चेष्टा नहीं की, तो किसी दिन इसका विस्फोट,

हमारे सभी किए-कराए पर पानी फेर देगा। आज सरकार कानोंमें तेल डाले, सुनी-अनसुनी किए बैठी है, ऐसा हम नहीं कहते पर जन-साधारणके असुख-अभावोंको दूर करनेमें जितनी तत्परता और क्रियाशीलता उसे दिखानी चाहिए, उतनी शायद वह नहीं दिखा रही। उसका ध्यान विदेशोंमें अपने प्रतिनिधि भेजने, कागज़ी समझौते करने, विदेशियोंके स्वागत-सत्कार, भोज-पार्टियों, ज़मीदारोंके मुआवजे और धनिकोंको विशेष असुविधा न हो, इस ओर अधिक है। अभी लार्ड माउंटबैटनकी विदाई और राजाजीके स्वागतमें जो पार्टी दी गई, उसमें ७००० व्यक्ति आमंत्रित थे। दिल्लीके लिए रवाना होने से पूर्व राजाजीने कलकत्तेके गवर्मेंट-हाउसमें जो पार्टी दी, उसमें १०७६ अतिथि आमंत्रित हुए! क्या शासकोंने कभी इस बातकी भी कल्पनाकी है कि जो शरणार्थी महीनोंसे खुले मैदानोंमें सड़कों पर रह रहे हैं और जिनके लिए विशेष-कुछ करनेमें धनाभावका बहाना बनाकर, सरकार अपनी असमर्थता प्रकट करती है, वे इन पार्टियोंकी फिजूल-खर्जी से क्या समझेंगे? इन पर खर्च होनेवाले धनसे कितने ही गरीबोंका, रोटी-कपड़ेका सवाल कम-से-कम अस्थायी रूपसे तो हल हो ही सकता था। इसी प्रकार बिहारके जमींदारोंके मुआवजेके लिए ६४ करोड़ रुपए देनेकी बात सोची जा रही है। अगर इन खर्चोंके लिए सरकारके पास रुपया हो सकता है, तो जन-साधारणके आवास, खाने, कपड़े आदिकी असुविधा दूर करनेके लिए क्यों उसके पास पैसा और इच्छा नहीं? इससे जनतामें क्षोभ फैलना स्वाभाविक ही है। यह कम दुर्भाग्यकी बात नहीं कि शासकों ने जनताके अभाव-असंतोषको दूर करनेकी चेष्टा करनेके बजाय, उनको प्रकट करनेके लिए होनेवाली सभाओं और प्रदर्शनोंपर रोक लगा दी है। यह स्पष्ट रूपसे उस

नागरिक-स्वतंत्रतपर प्रहार

है, जिसके लिए कांग्रेस बराबर लड़ती रही है और जिसके लिए हमने ब्रिटिश-अधिकारियोंको जी-भरके कोसा है। भाषण और सभा-जुलूसकी स्वतंत्रता, नागरिक स्वतंत्रताकी प्राथमिक चीज है। जनतंत्रका श्रीगणेश इसी से होता है। वाल्टेयरके शब्दों में, स्थापित शासनकी आलोचना करने और उसके खिलाफ बगावत करनेका पवित्र अधिकार हर नागरिकको है। यदि ऐसा नहीं है तो जनतंत्र और एकतंत्रशाहीमें, स्वाधीनता और पराधीनतामें, अन्तर ही क्या हुआ? जिन विशेष कानूनों द्वारा लोकमतको कुचलनेके लिए हमने ब्रिटिश शासकोंकी निन्दाकी है, उन्हींका प्रयोग आज 'सुरक्षा' अथवा अमन-कानूनकी रक्षाके नाम पर हम अपने राजनीतिक विरोधियोंका दमन करनेको करें, तो हमारे लिए कम शर्म और निन्दाकी बात नहीं है। गांधीजी के आदर्शों और सिद्धांतोंपर चलनेका दावा करनेवाले कांग्रेसी-शासनके लिए तो यह और भी लज्जा और कलंककी बात है।

यह दलील कि साम्यवादी अथवा अन्य लोग नागरिक स्वाधीनताका दुरुपयोग करते और सरकारके खिलाफ जनताको भड़काते हैं, इसलिए सभा-प्रदर्शनों पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक था, हमें बड़ी लचर मालूम देती है। कुछ लोगोंके दुरुपयोगके कारण हजारों-लाखों भले नागरिकोंको नागरिक स्वतंत्रतासे वंचित करना, परले सिरेकी पुरोगामिता मालूम होती है। अगर सरकारके विरोधी, अनावश्यक रूपसे लोगोंको बहकाते-भड़काते हैं, तो

उनके खिलाफ कार्यवाही करनेके लिए ताज़ीरात-हिन्दमें दफ़ाओंकी क्या कमी है? यह माननेको हम तैयार नहीं कि जनता निरी मूर्ख है और हर ऐरे-गैरेके बहकावेमें आकर गोली-लाठी खानेके लिए तैयार हो जाती है। सच बात तो यह है कि आज उसके अभाव असन्तोष इतने बढ़ गये हैं कि वह किसीके भी नेतृत्व में विरोध प्रदर्शनके लिए तैयार हो जाती है। अगर सरकार चाहती है कि वह ऐसे प्रदर्शनों में शामिल न हो, तो उसे उसके अभाव-असंतोष के मूल कारणोंको दूर करना चाहिए। रस्सीपर लाठी चलानेसे साँप नहीं मर सकता। साँपको अगर मारना है, तो साँप और रस्सीके भेदको विवेककी कसौटी पर कसना होगा।

कांग्रेसकर्मियों का अनशन

गांधीजीके जीवन-कालमें ही यह विवादास्पद प्रश्न था और उन्होंने लोगोंको ऐसा करनेसे रोका भी था। पर महाजनोंके पथपर चलनेसे रोकनेपर भी, लोग बाज नहीं आते। अभी कुछ दिन पूर्व आसामके कांग्रेसी मंत्री श्रीदासने अपने प्रान्तमें खाद्य-संकट दूर किए जानेके लिए अनशन किया था। हरदा-जिला-कांग्रेसके अध्यक्ष पं. महेशदत्त मिश्र और काशीके कांग्रेस-कर्मी श्री लोधूरामने कांग्रेसियोंमें फैली भ्रष्टता, पक्षपात, घूसखोरी, दलबंदी, कुप्रबन्ध आदिको दूर करनेके लिए अनशन किए। इन साथियोंके उद्देश्यकी पवित्रतामें पूरा विश्वास करने और इनके साथ दिली हमदर्दी रखनेके बावजूद हम ऐसा महसूस करते हैं कि यह तरीका गलत है। प्रथम तो इससे एक दिनमें लाखों कांग्रेसियोंमें फैली बुराइयां जादूकी तरह हवा हो जायँगी, ऐसा विश्वास नहीं होता। दूसरे, इस तरहका अनशन अनुचित दबाव की श्रेणीमें आ जाता है, जिसे शुद्ध अहिंसाकी दृष्टिसे भी मान्य एवं इष्ट नहीं कहा जा सकता। रही गांधीजीके अनशनोंकी बात, सो हमारी, विनम्र सम्मतिमें गांधीजीकी अहिंसा में भीतरका बल अधिक था, जो हर आदमी में हो, यह जरा विचारणीय-सी बात है। और वे कालकी मर्यादासे भी परे थे। यदि हर कांग्रेसी ऐसा होता तो फिर कांग्रेसमें गंदगी और बुराई आती ही क्यों? जो सच्चे कांग्रेसी हैं, वे यदि भीतरसे मंत्रियोंपर जोर डालें, अपराधियोंका पता लगा कर उन्हें पकड़वायें और बाहर से भ्रष्ट अधिकारियों के विरुद्ध - चाहे वे कांग्रेसी हों अथा गैरकांग्रेसी - प्रबल लोकमत संगठित करें, तो शायद ज्यादा काम हो सकता है।

ऐतिहासिक दुर्घटना

गांधीजी की हत्या भारत ही नहीं, विश्व-इतिहासकी एक बहुत बड़ी दुर्घटना है। उसका अपराधी एक विक्षिप्त व्यक्ति बताया जाता है पर उनके स्थूल शरीरकी इस हत्यासे भी कहीं बड़ी ऐतिहासिक दुर्घटना है उनके उन आदर्शों और सिद्धांतोंकी हत्या, जिनके लिए गांधीजी जिए, जीवन-भर तप किया और अन्तमें उन्हींके लिए मरे। इस हत्याका खून या पाप आज लाखों कांग्रेसियोंके ललाटपर कलंकका बदनुमा धब्बा बनकर लगा हुआ है। बुद्ध और ईसाके स्थूल शरीर-पातके बाद सदियों तक उनके आदर्श-सिद्धांत जीवित रहे, और आज भी किसी सीमा तक हैं तथा उनके लाखों शिष्यों एवं अनुयायियों ने उनकी पवित्रता एवं

'नया समाज' का आवरण-पृष्ठ शांतिनिकेतनके श्री दिनकर कौशिक द्वारा बनाया गया है।

सच्चाईको अक्षुण्ण-अकलंक रखनेके लिए अपने प्राणा न्यौछवर कर दिए। गांधीजीके बलिदानको तो अभी सिर्फ 5 ही महीने हुए हैं। पर इतनी जल्दी ही हमने उन्हें और उनके आदर्श-सिद्धान्तोंको भुला दिया! आज प्रधानतया कांग्रेस और सामान्यतया देशका वातावरण देखकर ऐसा लगता है मानो हम कृतघ्न और कपटी जनोंने गांधीजीकी वाणीको सुनकर भी नहीं सुना, उनके आदर्श-सिद्धांतोंपर अमल करनेका रुख दिखाकर भी अंत:करणसे उन्हें नहीं माना और उन्हें पूरा धोखा दिया। अपनाया हमने केवल गांधीजीका कागजी चित्र, संस्थाओंके साइन-बोर्डोंपर उनका नाम और बिना मन-प्राणके उच्चारणसे 'रघुपति राघव राजाराम' की जल्पना।

कल्पना

वर्ष १ हैदराबाद दक्षिणा, अगस्त, १९४९ अंक १

सम्पादकीय

"कल्पना" का प्रथम अंक पाठकों के सामने है। इसके गुण-दोषों का विवेचन और इसकी उपादेयता अथवा निःसारता का निर्णय तो सहृदय पाठक ही करेंगे। हम केवल इतना निवेदन करना चाहते हैं कि "कल्पना" हिन्दी-पत्रिकाओं की संख्या में वृद्धि, अथवा ग्राहकों का मनोरंजन करके धनोपार्जन करने के उद्देश्य से नहीं निकाली गई है। उसके प्रकाशक तथा सम्पादकों का एकमात्र ध्येय, हिन्दी के स्तर को उन्नत करना है। हिन्दी-भाषियों की संख्या के आधार पर संसार की भाषाओं में हिन्दी का स्थान दूसरा या तीसरा है, किन्तु साहित्यिक विकास की दृष्टि से हिन्दी को संसार की प्रमुख भाषाओं में स्थान देना ही कठिन है, यहाँ तक कि एक दो भारतीय भाषायें भी हिन्दी से कुछ ऊपर ही हैं। बात साधारण है, प्रतिदिन कही जाती है, बार-बार कही जाती है - किन्तु उपेक्षणीय नहीं है। और न स्तर को उन्नत करना सरल है, यद्यपि यह लक्ष्य भी सामान्य ही प्रतीत होता है। "कल्पना" के संपादक इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिये, हिन्दी को उसके महत्त्वके अनुरूप विकसित तथा उन्नत बनाने के लिये, भरसक प्रयत्न करेंगे - भले ही अन्य प्रकार की हानियां हों।

इस प्रयत्न की सफलता अधिकांश में कवियों और लेखकों पर निर्भर है किन्तु उत्कृष्ट श्रेणी के कवियों और लेखकों का सहयोग सुलभ नहीं, विशेष कर "कल्पना"-जैसी नवागता को। इसका अनुभव हमें पहले ही अंक के सम्पादन में हो गया। लगभग पचास कवियों और विद्वानों से इस अंक के लिये लेख भेजने की प्रार्थना की गई थी। इनमें से केवल चार-पांच ने लेख भेजने की कृपा की, औरं दस-बारह ने उत्तरमात्र देने की। शेष ने दुबारा प्रार्थना करने पर भी उपेक्षा ही प्रकट की इसीलिये जून में प्रकाशित किया जाने वाला यह अंक अब - अगस्त में - पाठकों के सम्मुख रक्खा जा सका है।

किन्तु हम इस अनुभव से हतोत्साह नहीं हुए हैं। हमें विश्वास है कि "कल्पना" से परिचित होने के बाद कवि और लेखक इसे उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखेंगे। हमें डर एक और बात का है। "कल्पना" में केवल उत्कृष्ट कोटि की रचनाओं को स्थान दिया जायेगा, और उनकी उत्कृष्टता का निर्णय लेखकों की प्रसिद्धि के आधार पर नहीं, अपितु उन रचनाओं की अपनी विशेषताओंके आधार पर किया जायगा। इस सिद्धान्त के अनुसरण में हम किसी का 'लिहाज' नहीं करेंगे। सम्भव है इसके परिणाम-स्वरूप हमें कभी-कभी किन्हीं यशस्वी लेखकों का कोप-भाजन बनना पड़े, और "कल्पना" उनके सहयोग से सदा के लिये हाथ धो बैठे। आशा तो यही है कि अधिकांश लेखक तथा कवि अपनी कृति के अस्वीकृत हो जाने को अपना अपमान नहीं, हिन्दी का सम्मान समझेंगे और बाद में भी

अन्य सुन्दर रचनायें भेजते रहेंगे। जो भी हो, ''कल्पना'' का सम्पादक-मण्डल उपर्युक्त सिद्धान्त का दृढ़ता से अनुसरण करेगा, और केवल उत्कृष्ट कोटि की तथा स्थायी महत्त्व की रचनाओं को ही पत्रिका में स्थान देगा। 'सामयिक' रचनायें अथवा लेख ''कल्पना'' में नहीं छपेंगे, और न वह देश अथवा विदेश की राजनीति से किसी प्रकार का सम्बन्ध रक्खेगी। सम्पादकों का आदर्श यह रहेगा कि ''कल्पना'' का कोई अंक - उसका कोई अंश- कभी 'पुराना' न हो, आज से पचास वर्ष बाद भी उसकी उपयोगिता और आकर्षकता वही रहे, जो आज है।

हाँ, एक अंश अवश्य ऐसा रहेगा, जिसे एक दृष्टि से 'सामयिक' भी कहा जा सकता है- और वह है, समय-समय पर प्रकाशित विभिन्न विषयोंकी हिन्दी-पुस्तकों की आलोचना। आलोचना सर्वथा तटस्थ-भाव से, गम्भीरतासे और संयम से, किन्तु निःसंकोच रूप से की जायगी, और उसका लक्ष्य न किसी की प्रशंसा करना होगा, न छिद्रान्वेषण करना, अपितु गुण-दोष-विवेचन के द्वारा हिन्दी-भाषा और साहित्य का विकास करना होगा। इस प्रकार की निष्पक्ष और निःसंकोच आलोचना भी अनेक लेखकों की अप्रसन्नता तथा अ- सहयोग का कारण बन सकती है किन्तु ''कल्पना'' के सम्पादक यह साहस-अथवा दुःसाहस- करेंगे अवश्य।

''कल्पना'' प्रति दो मास के अन्तर से प्रकाशित होगी, और उसके प्रत्येक अंक में लगभग १०० पृष्ठ रहेंगे। यथासम्भव प्रत्येक अंक में निम्नलिखित पाठ्यसामग्री प्रस्तुत की जायगी - कविता, कहानी, एकांकी, समालोचना और पुस्तक-परिचय; कला, सभ्यता, इतिहास, लोकगीत आदि सांस्कृतिक विषयों पर लेख; तथा अन्य भाषाओं के साहित्य के अनुवाद। प्रत्येक प्रकाशित रचना पर उचित पारिश्रमिक दिया जायगा - इस दिशा में भी ''कल्पना'' हिन्दी-पत्रिकाओं का आदर्श बनना चाहती है।

हिन्दी का क्षेत्र आज पूरा भारत राष्ट्र है, उसके किसी भी कोने से हिन्दी की पुस्तकों, और पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशित होना सर्वथा संगत और उचित है इसलिये हैदराबाद से ''कल्पना'' के प्रकाशन का कारण बताना अथवा उसका औचित्य सिद्ध करना आवश्यक नहीं है। तो भी, इस औचित्य की विशेषता का निर्देश करने के लिये, दो बातें कही जा सकती हैं। एक तो दक्षिण से अभी तक कोई उच्च कोटि की हिन्दी-पत्रिका प्रकाशित नहीं की गई। यह अभाव खटकने वाला है, और इसकी पूर्ति करना, इस प्रदेश के हिन्दी-प्रेमियों का कर्त्तव्य है। दूसरे, ''कल्पना''-जैसी पत्रिका के प्रकाशन के लिए दक्षिण-भारत के समस्त महानगरों में हैदराबाद ही सबसे अधिक उपयुक्त इसलिये है कि भारत की अनेक भाषाओं और भारतीय संस्कृति के अनेक रूपों का, जैसा सुन्दर और अकृत्रिम समन्वय इस नगर में कई शतियों से वर्तमान है, वैसा अन्यत्र अप्राप्य है। हैदराबाद में तेलुगू, कन्नड़, मराठी, तमिल, उर्दू और हिन्दी, यह सब भाषायें बोली, समझी, पढ़ी और लिखी जाती हैं, और इन सब भाषाओं के बोलने वालों की संस्कृतियां, जो वस्तुतः एक ही भारतीय संस्कृति के विभिन्न रूप हैं, यहां एक-दूसरी के साथ सम्पर्क में आती तथा समन्वित होती हैं। हैदराबाद उत्तर और दक्षिण का सन्धि-बिन्दु है, आर्य और द्रविड़ का संयोजक है, और

अनेक दृष्टियों से राष्ट्र का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र है। ''कल्पना'' साहित्यिक तथा सांस्कृतिक पत्रिका है, वह उत्तर और दक्षिण की भाषाओं, साहित्यों और संस्कृतियों को परस्पर अधिक निकट लाने का प्रयत्न करेगी, और उसे अपने इस प्रयत्न में हैदराबाद की उपर्युक्त विशेषताओं से निश्चय ही बहुत कुछ सहायता मिलेगी।

इस अंक के सम्पादकीय में हमें इतना ही निवेदन करना था। हमें आशा है कि ''कल्पना'' का यह प्रथम अंक, सहृदय पाठकों और विद्वान लेखकों की दृष्टि में उपेक्षणीय सिद्ध नहीं होगा, और भविष्य में ''कल्पना'' के लिये इन दोनों का सहयोग प्राप्त कर सकेगा।

<u>जनवरी, १९५५</u>

सम्पादकीय

'कल्पना का छठा वर्ष'

प्रस्तुत अंक के साथ 'कल्पना' अपने जीवन के छठे वर्ष में प्रवेश करती है। पिछले पाँच वर्षों में 'कल्पना' हिन्दी की कुछ सेवा कर सकी है या नहीं; कला, साहित्य और संस्कृति की उन्नति में कुछ सहयोग दे सकी है या नहीं- इसका निर्णय हम सहृदय पाठकों और आलोचकों पर ही छोड़ते हैं। अपनी बुद्धि, ज्ञान तथा परिस्थितियों की सीमा में रहते हुए हम कह सकते हैं कि लेखों, कविताओं और कहानियों के चुनाव में, जैसा हम पहले भी निवेदन कर चुके हैं, हमने साहित्यकार के व्यक्तित्व की अपेक्षा, उसकी रचना को ही मूल्यांकन का अधिक प्रमाणित मान-दण्ड माना है। हिन्दी के अनेक महारथियों की रचनाएं हमने अस्वीकृत की हैं, और प्राय: अज्ञात व्यक्तियों की रचनाओं को स्वीकृत किया है। चुनाव में हमसे भूलें हुई होंगी, पर आदर्श की उपेक्षा कभी नहीं हुई। नये-पुराने सभी लेखकों से हमारी सदा यही प्रार्थना रहती है - आप चलते-फिरते साहित्य-निर्माण की चेष्टा न करें, इसके लिए सर्वात्मा प्रयत्न और श्रम करें, अपने महान उत्तरदायित्व का ध्यान रखें।

'कल्पना' के संपादकीय लेखों के विषय में भी हम कुछ निवेदन कर दें। इस संबंध में हमारी नीति प्रारंभ से ही यह रही है कि केवल भाषा, साहित्य, संस्कृति और कला की समस्याओं पर प्रकाश डाला जाए या सुझाव दिये जाएँ। सामाजिक, आर्थिक, और राजनैतिक प्रश्नों पर संपादकीय लिखना हमें अभीष्ट नहीं, न किसी नेता अथवा प्रतिष्ठित व्यक्ति के भाषण की प्रशंसात्मक या निन्दात्मक आलोचना करना, और न किसी वाद का प्रचार करना। इस प्रकार के चटपटे संपादकीय अपेक्षाकृत सरलता से लिखे जा सकते हैं किन्तु जिस पत्र ने हिन्दी की सेवा को अपना उद्देश्य माना हो और जो स्थायी महत्त्व के साहित्य का निर्माण चाहता हो, उसे इस सुविधा के लाभ से वञ्चित ही रहना पड़ेगा। आलोचकों से प्रार्थना है कि वे 'कल्पना' के संपादकीयों को इस दृष्टि से भी देखने की चेष्टा करें। हिन्दी भाषा और व्याकरण से संबंधित हमारे संपादकीयों के विषय में कुछ आलोचकों का कहना

है कि वे अनावश्यक हैं, राष्ट्र-भाषा अभी बन रही है, इसे अभी से सुव्यवस्थित रूप देने की चेष्टा व्यर्थ है, इत्यादि किन्तु हम इससे सहमत नहीं। हमारा विचार है कि हिन्दी की वर्तमान अव्यवस्थाएं, न केवल हिन्दी-भाषियों के लिए लज्जा-जनक हैं, राष्ट्र-भाषा के प्रचार में रोड़ा अटकाने वाली भी हैं। इसका अनुमान हिन्दी-प्रदेश के निवासियों को नहीं होता, पर हिन्दी सीखने वाले अहिन्दी-भाषियों से तो पूछिए! हिन्दी का अखिल-भारतीय रूप पचास या सौ वर्ष के बाद क्या होगा, यह कोई समस्या नहीं है, है भी तो बहुत दूर की। हिन्दी का सुनिश्चित वर्तमान रूप क्या है, यह बताना पहले आवश्यक है; और इसके लिए अव्यवस्थाएं दूर करना अनिवार्य है।

हिन्दी व्याकरण की कुछ समस्याएं [२]

'कल्पना' के लिये पिछले अंक में हमने हिन्दी वर्ण-माला, उच्चारण, स्वराघात आदि के संबंध में कुछ विचार प्रस्तुत किये थे। इस अंक में हम शब्द-साधन से संबंधित कुछ समस्याओं का विवेचन करेंगे।

१. अधिकांश हिन्दी-व्याकरणों में अंग्रेजी-व्याकरणके अनुसार संज्ञा के पांच भेद किये जाते हैं- व्यक्तिवाचक, जातिवाचक, भाववाचक, पदार्थवाचक और समूहवाचक। ये विभाजन संज्ञाओं की प्रकृति और उनका प्रयोग समझने के लिए उपयोगी हैं, किन्तु व्याकरण में लगभग निष्प्रयोजन हैं, क्योंकि रूप-भेद आदि की दृष्टि से इनमें परस्पर कोई अन्तर नहीं है- सिवा इसके कि व्यक्तिवाचक और कुछ भाववाचक तथा समूहवाचक संज्ञाएं केवल एकवचन में प्रयुक्त होती हैं। संस्कृत में संज्ञाओं का इस प्रकार का विभाजन अज्ञात है। हिन्दी-व्याकरण से भी इस झमेले को दूर कर दिया जाए तो उचित होगा।

२. यही बात विशेषणों के संबंध में भी कही जा सकती है। विशेषणों के गुणवाचक, संख्यावाचक, परिमाणवाचक, सार्वनामिक इत्यादि अनेक भेद और उपभेद किये जाते हैं, जो वस्तुतः अनावश्यक हैं। सभी विशेषण एक ही प्रकार से प्रयुक्त और एक ही तरह से परिवर्तित होते हैं। अर्थ की दृष्टि से इनका विभाजन किया जाए तो भेदों की संख्या बहुत बड़ी हो सकती है। उदाहरण के लिए, गुणवाचक विशेषण ही आकृतिवाचक, रंगवाचक, स्थानवाचक,कालवाचक इत्यादि अनेक उपभेदों में विभक्त किये जा सकते हैं किन्तु इस विभाजन का कोई उपयोग नहीं है। अर्थ-विभिन्नता का निर्देश, विशेषण के सामान्य विवेचन में देना पर्याप्त होगा।

३. उपर्युक्त के विपरीत, हिन्दी-व्याकरण में लिंग-भेद का विवेचन, एक अंश में अधूरा किया जाता है। संभवतः कोई व्याकरण नहीं बताता कि हिन्दी में पुल्लिंग और स्त्रीलिंग के अतिरिक्त नपुंसक लिंग भी अभी तक वर्तमान है, उसका सर्वथा लोप नहीं हो गया है। कर्मवाचक को विभक्ति के प्रयोग में प्राणिवाचक और अप्राणिवाचक संज्ञाओं में पारस्परिक भेद स्पष्ट दिखाई पड़ता है। प्राणिवाचक संज्ञाओं में 'को' लगाया जाता है और अप्राणिवाचक संज्ञाओं में नहीं- मैं राम को देखता हूं और मैं किताब देखता हूं। इसी प्रकार 'क्या' और 'कुछ' ये दो सर्वनाम केवल अप्राणिवाचक पदार्थों के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। यह ठीक है

कि हिन्दी में अनेक अप्राणिवाचक शब्द स्त्रीलिंग माने जाते हैं, किन्तु प्राणिवाचक और अप्राणिवाचक का भेद यह प्रमाणित करता है कि हिन्दी-भाषा अभी तक संस्कृत के नपुंसक लिंग को भूली नहीं है और 'क्या' तथा 'कुछ' तो रूप में भी स्पष्ट नपुंसक लिंग हैं।

४. किन्तु इन सबसे बड़ी समस्या कारक की है। पहले तो कारक क्या है, इसी संबंध में हमारे वैयाकरण एकमत नहीं हैं। कुछ का कहना है कि संज्ञा अथवा सर्वनाम का वह रूप, जो उसके संबंध, वाक्य के दूसरे शब्दों के साथ बताता है, कारक है। दूसरों के अनुसार, कारक वह संबंध है जो वाक्य का एक शब्द, दूसरे शब्दों के साथ रखता है। इसी प्रश्न के साथ विभक्ति का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। यदि कारक का अर्थ संज्ञाओं के रूप में हो तो को, ने, से आदि विभक्तियां भी सम्मिलित ही माननी चाहिए। आश्चर्य है कि श्री कामताप्रसाद गुरु-जैसे वैयाकरण ने कारक का अर्थ तो संज्ञा या सर्वनाम का रूप किया है और साथ ही यह भी कहा है कि कारक सूचित करने के लिए संज्ञा या सर्वनाम के आगे जो प्रत्यय लगाये जाते हैं उन्हें विभक्तियां कहतेहैं (अंक ३०४)। संभवत: यहां गुरुजी, कारक शब्द को संबंध के अर्थ में प्रयुक्त कर रहे हैं! यह अव्यवस्था, संस्कृत-व्याकरण के अनुकरण का फल है। संस्कृत में कारक और विभक्ति का भेद बिलकुल स्पष्ट है। कारक वाक्य की क्रियाके साथ अन्वय रखने वाली संज्ञा है और विभक्ति, उस अन्वय को सूचित करने वाले प्रत्यय हैं। संस्कृत में ये आठ वर्गों में विभाजित है, इसलिए विभक्तियां भी आठ मानी गयी हैं। इसंके विपरीत, संस्कृत में कारकों की संख्या छह है, और प्रत्येक कारक में अनेक प्रकार के संबंध सम्मिलित हैं। उदाहरण के लिए, अपादान कारक न केवल उस संज्ञा को कहेंगे, जिससे कोई वस्तु पृथक हुई हो (वृक्ष से पत्ता गिरता है), बल्कि भय का हेतु, उद्‌भव-स्थान, अध्यापक इत्यादि अन्य अनेक संबंध रखने वाली संज्ञा भी अपादान कहाती है। (चोरी से डरता है, हिमालय से गंगा निकलती है, गुरु से वेद पढ़ते हैं)। किन्तु इन सब संबंधों को सूचित करने के लिए संस्कृत में एक ही विभक्ति का प्रयोग होता है। साथ ही संस्कृत में प्रत्येक विभक्ति, संज्ञा के साथ अविभाज्य रूप से जुड़ी रहती है इसलिए प्रत्येक का रूप निश्चित और स्पष्ट है। इसके विपरीत, हिन्दी में विभक्तियां संज्ञाओं से अलग रहती हैं। विभक्तियां लगने से पहले, संज्ञाओं के रूप कुछ परिवर्तित अवश्य हो जाते हैं, किन्तु यह परिवर्तन सभी विभक्तियों के लिए एक ही-सा होता है। उदाहरण के लिए, लड़का शब्द का परिवर्तित रूप लड़के और लड़कों हैं। ने, से, को, आदि समस्त विभक्तियां इन्हीं परिवर्तित रूपों में जोड़ी जाती हैं। लड़के ने, लड़के से, लड़कों को इत्यादि। साथ ही एक ही विभक्ति कई अर्थों को सूचित करती है। 'से' संस्कृत के अपादान कारक का भी चिह्न है और करण का भी। इसी प्रकार 'को' संस्कृत के संप्रदान कारक का भी चिह्न है और कर्म कारक का भी। हिन्दी की विभक्ति अपना अस्तित्व पृथक् रखती है।

अब यदि संस्कृत के अनुसार कारक को 'क्रिया से संबंध रखने वाली संज्ञा' माना जाए, जिसमें एक विशेष विभक्ति जुड़ी रहती है, तो हिन्दी में अपादान और करण को तथा संप्रदान और कर्म को एक ही कारक मानना पड़ेगा, क्योंकि दोनों में 'से' तथा 'को' विभक्तियां लगती हैं। संस्कृत में कारक-भेद केवल अर्थ-भेद पर आश्रित नहीं है, प्रत्युत

प्रधानतः विभक्ति-भेद पर आश्रित है। अपादान में कई तरह के संबंध सम्मिलित हैं, परन्तु विभक्ति एक ही रहती है। इसी प्रकार हिन्दी में उन समस्त कारकों को, जिनमें 'से' विभक्ति रहती है, एक ही कारक के अन्तर्गत रखा जाना आवश्यक है।

दूसरी ओर यदि हम विभक्ति-युक्त संज्ञाओं के रूप को कारक का नाम दें तो विभक्ति रहित रूप तथा को, ने, से, का (की, के) और में (पर), इस प्रकार केवल छह ही कारक माने जा सकते हैं। इस अवस्था में न करण कारक के लिए कोई स्थान है और न सम्प्रदान कारक के लिए। करण कारक में भी 'से' विभक्ति रहती है और अपादान कारक में भी, यह कहने का कोई अर्थ ही नहीं होता। केवल अर्थ-भेद से कारक-भेद माना जाए तो कारकों की संख्या शायद कई दर्जन हो जाएगी। वृक्ष से पत्ता गिरता है, चाकू से कलम बनाओ, वह सबेरे से पढ़ रहा है, राम से कहो, गंगा हिमालय से निकलती है, बच्चा कुत्ते से डरता है, राम श्याम से बड़ा है, वह हैजे से मरा, ध्यान से सुनो, इन सब वाक्यों में 'से' द्वारा सूचित अर्थ एक दूसरे के सर्वथा भिन्न हैं। इन सब अर्थों को सूचित करने वाले 'से' युक्त संज्ञाओं को किस कारक का नाम दिया जाए? इसी प्रकार, लड़के को फल दो, शाम को आओ, राम को भूख लगी है, चोर को दंड मिला, इत्यादि वाक्यों में 'को' अनेक अर्थों को सूचित करता है। 'से' युक्त संज्ञाओं को एक ही कारक माना जाए अथवा अनेक? यह कहना किसी प्रकार संगत नहीं होगा कि साधन का संबंध रखने वाली संज्ञाओं को करण, और पृथकता का संबंध रखने वाली संज्ञाओं को अपादान कहा जाए, तथा जिस पर क्रिया के व्यापार का फल पड़ता हो उस संज्ञा को कर्म और जिसके लिए कोई क्रिया की जाती है, उस संज्ञा को सम्प्रदान माना जाए। इस दशा में उपर्युक्त वाक्यों में 'से' और 'को' के द्वारा जो अन्य संबंध सूचित किये गए हैं, उन सबके लिए अलग-अलग नाम रखने पड़ेंगे और रूप के अनुसार कारक-भेद माना जाए, तो 'से' वाली समस्त संज्ञाओं को अपादान अथवा करण और 'को' वाली संज्ञाओं को कर्म अथवा सम्प्रदान मानना आवश्यक होगा।

इस झमेले का एक ही समाधान है और वह यह कि हिंदी में केवल दो कारक माने जाएं- एक अविकारी कारक (रूप) एक-वचन में लड़का और बहुवचन में लड़के तथा विकारी कारक एकवचन में लड़के और बहुवचन में लड़कों। ने, से, को आदि को विभक्तियां माना जाए जिनमें से प्रत्येक, अनेक अर्थ सूचित कर सकती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये विभक्तियां केवल विकारी कारक में लग सकती हैं संस्कृत में छह कारक मानना इसलिए आवश्यक है कि प्रत्येक संज्ञा के रूप, परस्पर भिन्न हैं यद्यपि प्रत्येक रूप अनेक अर्थों को सूचित कर सकता है। हिंदी में केवल विभक्तियां ही अर्थों को सूचित करती हैं, संज्ञाओं के रूप नहीं इसलिए संस्कृत के आधार पर हिंदी में छह कारक अथवा आठ विभक्तियां रखना न्याय-संगत नहीं है।

नवनीत

[हिन्दी डाइजेस्ट]

(बम्बई)

सम्पादक- श्री गोपाल नेवटिया

वर्ष १ जनवरी, १९५२ अंक १

आमुख

ज्ञान-विज्ञान और उनका साहित्य, समुद्र के समान है। उसका अगाध संग्रह वर्षा के रूप में बरसता है और नदी एवं सरोवरों को पूरित करता है- बहकर वह पुन: समुद्र में विलीन होता है, फिर बरसता है, बहता है, विलीन होता है। नदी, सरोवरों और पृथ्वी के गर्भ से भी अपने एक पात्र में जल लेकर मनुष्य उसमें अपनापन अनुभव करता है, उससे अपनी पिपासा मिटाता है।

समुद्र का मंथन कौन कर सकता है? हां, दूर व समीप की, सुगम व दुर्गम जलधाराओं तक-पृथ्वी के गर्भ में भी पहुंचा जा सकता है और वहां का पय अपने पात्र में लिया जा सकता है। 'नवनीत' इसी उद्देश्य को लेकर जन्मा है। वह ज्ञान-विज्ञान और उनके सत्साहित्य की चुनी हुई जल-धाराओं के अंशों को अपने घट में भरेगा।

आज के व्यक्ति के पास धैर्य की कमी है, अवकाश की कमी है। संक्षेप में, थोड़े में, अधिक जान लेने की उसकी प्रवृत्ति प्रबल है और उस ज्ञान-वितरण का रुचिकर होना भी आवश्यक है!

साहित्य के रत्नाकर की कृपा व अपने सहयोगियों के अथक परिश्रम के बल पर 'नवनीत' आशान्वित है कि वह ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी स्थायी अभिरुचि के चुने हुए प्राचीन व अर्वाचीन साहित्य को संक्षिप्त रूप में संकलित करके-उस नवनीत को अपने घट में प्रस्तुत करके-बहुतों की ज्ञान-क्षुधा तृप्त करने में समथ होगा।

हमारा देश किसी समय ज्ञान की पराकाष्ठा पर था; आज विदेश विज्ञान की पराकाष्ठा पर हैं। सदियों तक हमारा देश परतंत्र रहा, नष्ट-भ्रष्ट हुआ। अब हम स्वतंत्र हुए हैं, अपनी गति को बढ़ाकर, हमें अन्य देशों के कदम में कदम मिलाकर चलना है। अपने प्राचीन ज्ञान का स्मरण कर, अर्वाचीन विज्ञान को जानकर हमें सजीव व गतिमान होना है। भगवान करे 'नवनीत' उसमें, अपना यत्किंचित् ही सही, अनवरत योग प्रदान करता रहे।

– श्रीगोपाल नेवटिया

साप्ताहिक हिन्दुस्तान

नई दिल्ली

वर्ष ५, भाद्रपद कृष्ण ९, सं. २०११, २२ अगस्त १९५४, अंक ३४

संपादक : बांकेबिहारी भटनागर

संपादकीय

अहिंसा और पत्रकार

भारतीय स्वाधीनता की सातवीं वर्षगांठ के अवसर पर और उससे दो दिन पूर्व अखिल भारतीय समाचारपत्र सम्पादक-सम्मेलन के ग्यारहवें अधिवेशन का उद्‌घाटन करते समय प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने जो भाषण किए वे अनेक दृष्टियों से बहुत ही महत्त्वपूर्ण थे। दोनों ही भाषणों में नेहरूजी ने भारत की विदेशी बस्तियों की चर्चा की और कहा कि ये बस्तियां छोटे-छोटे फोड़ों की भांति पिछले सात वर्षों से कष्ट दे रही हैं, फिर भी हम इन्हें सह रहे हैं केवल इसलिए कि हम शांतिपूर्ण समझौते का मार्ग अपनाना चाहते हैं। यदि कोई यह समझता हो कि भारत की सेना में इन बस्तियों पर विजय पाने की शक्ति नहीं है तो यह उसकी मूढ़ता है। भारत चाहे तो पलक मारते इन बस्तियों को अपने अधिकार में ले सकता है, किंतु अपने राष्ट्रपिता महामानव महात्मा गांधी के नेतृत्व में उसने अहिंसा के जिस उज्ज्वल मार्ग पर चलना सीखा है उससे वह डिगना नहीं चाहता और वह यह भी जानता है कि हिंसा का मार्ग, सभ्यता का मार्ग नहीं है। यह सच है कि कभी उपनिवेशवाद का बोलबाला था, किन्तु उसके दिन अब लद गए, अब वह सदियों पुरानी बात हो गई। इसलिए भारत की विदेशी बस्तियां आज एक प्रकार से सारे संसार के लिए कसौटी बन गई हैं, उनसे आज यह प्रमाणित है कि पश्चिम के राष्ट्र आज भी उपनिवेशवाद के सदियों पुराने जीर्णशीर्ण कंकाल से चिपटे रहना चाहते हैं अथवा नए युग की नई पुकार सुनकर 'जियो और जीनो दो' के मानवीय आदर्श का अनुकरण करने को उद्यत हैं।

स्वतंत्रता-जयंती के अवसर पर और उससे केवल एक-दो दिन पहले कहे जाने के कारण नेहरू जी ने इन शब्दों का एक विशेष मूल्य है, उनमें एक विशेष संदेश है। वह संदेश यह है कि भारत के अपनी स्वतंत्रता के ५०-६० वर्षों के लम्बे संघर्ष में रक्त की एक बूंद भी नहीं बहने दी है और उसका जहां तक बस चलेगा वह हिंसाका उत्तेजक मार्ग कभी नहीं ग्रहण करेगा। भारत की अहिंसात्मक नीति और अपार सहिष्णुता का, इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि छोटे-छोटे फोड़ों-हम कहेंगे फुंसियों; फुंसियों भी नहीं,

मरोड़ियों- की चिरमिराहट लगातार सात साल तक सहते रहने पर भी उसने कभी अपने चित्त को अशांत नहीं होने दिया, और न कभी किसी को किसी प्रकार की उत्तेजना का अवसर प्रदान किया? आज यदि विदेशी बस्तियां करवट बदल रही हैं, आज यदि वे अपनी लम्बी दासता की कड़ियों को तोड़-फोड़कर फेंक देना चाहती हैं और आज यदि विदेशी महाप्रभु उनकी इस कसमसाहट से उद्विग्न हैं तो यह सब भारत की अहिंसात्मक नीति की विजय है। विदेशी-उपनिवेशवादियों को इस बलवती नीति के समक्ष नतमस्तक होना पड़ेगा, आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों। यह एक अकाट्य तथ्य है, जिसकी घोषणा इतिहास गला फाड़-फाड़कर कर रहा है। इतने पर भी यदि कोई देश बहरा बनने का बहाना ले तो इसमें समय के प्रवाह का क्या दोष?

हां तो, भारतवर्ष अहिंसा की नीति से बंधा हुआ है, किन्तु उसके अहिंसात्मक संकल्प की परिपूर्ति में अनेक तत्त्वों का सहयोग आवश्यक है। इन्हीं तत्त्वों में समाचार-पत्र भी एक है। यह कौन नहीं जानता कि जनमत को बनाने और बिगाड़ने की जितनी शक्ति, समाचारपत्रों में हैं उतनी और किसी में नहीं! यही कारण है कि प्रधानमंत्री नेहरूजी ने उस दिन समाचारपत्र-संपादक-सम्मेलन के ग्यारहवें अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए सबसे पहले इसी बात पर बल दिया कि सम्पादकों को अपने पत्रों में सनसनीदार समाचार छापने की प्रवृत्ति त्याग देनी चाहिए, क्योंकि उनसे जनता में अनायास ही उत्तेजना का सृजन होता है और उत्तेजना, हिंसा की पहली सीढ़ी है। अहिंसा के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता संयम की है और यह संयम ही सम्पादकों का सर्वोत्तम गुण होना चाहिए।

नेहरूजी ने अपने भाषण में एक और भी महत्त्वपूर्ण बात कही, जिसकी ओर प्रत्येक उत्तरदायित्वपूर्ण सम्पादक का ध्यान जाना चाहिए। उन्होंने कहा कि आज के सम्पादक, विदेश-भ्रमण के लिए बड़े लालायित रहते हैं और उनमें यह देखने की उत्कट अभिलाषा रहती है कि देश के बाहर कहां क्या हो रहा है? किन्तु वे इस बात को भूल जाते है कि स्वयं अपने देश में एक-के-बाद एक महान परिवर्तन हो रहे है और इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि लोग इन परिवर्तनों को देखें, समझें और उन लोगों को समझाएं जो इन्हें जाकर देखने में समर्थ नहीं है। सबसे बड़ी आवश्यकता तो इस बात की है कि समाचार- 'पत्रों के सम्पादक उन ६ लाख गांवों की ओर ध्यान दें जहां सच्चा राष्ट्र बसता है और समाचार-पत्र के रूप में उनके पास जो शक्तिशाली यंत्र हैं उसका सदुपयोग वे इन्हीं ग्रामों के विकास में करें। वैसे गांवों में जाना, उनकी स्थिति का अध्ययन करना और उनकी उन्नति के लिए परामर्श देना, कोई नया कार्य नहीं है, किन्तु अवश्य ही यह समय की मांग है और उसकी ओर ध्यान देकर सम्पादक-वर्ग, राष्ट्रोत्थान के महान कार्य में अधिकाधिक योग दे सकता है, इसमें संदेह नहीं।'

वर्ष 18, अंक 15, 7 जनवरी 1968

सम्पादकीय लेख

विभाजित व्यक्तित्व की विडम्बना

संपादक मनोहर श्याम जोशी

सुबह-सुबह चाय की चुस्की लेते हुए अंग्रेजी और मातृभाषा के समाचार पत्रों का परायण करते हुए आम हिन्दुस्तानी को यह विचित्र अनुभूति होती है कि उसके चोले में एक नहीं, दो व्यक्ति विराजमान है। एक व्यक्ति वह जो अंग्रेजी अखबार की आधुनिकता और अन्तरराष्ट्रीय से अभिभूत है। और दूसरा वह जो मातृभाषा के समाचार पत्रों के परम्परा-पूजन से कहीं-न-कहीं काफी हानुभूति रखता है। उसे ऐसा महसूस होता है कि वह दो सर्वथा भिन्न और बहुधा परस्पर-विरुद्ध दुनियाओं में एक साथ जी रहा है। एक दुनिया में मातृभाषा की विरुदाावलियां गूंज रही हैं तो दूसरी में मातृभाषा को भाषा ही नहीं माना जा रहा है। एक में 'गाय हमारी माता है' का नारा दिया जा रहा है तो दूसरी में निहायत ही नपी-तुली भाषा में इस आशय के लेख छप रहे है कि वैष्णव भावना का जोर होने से पहले हिन्दुओं में गो-भक्षण का प्रचलन था। एक दुनिया में होली-दीवाली के विशेषांक है, दूसरी में क्रिसमस और न्यूईयर के चर्चे हैं। एक में कुर्रज़ और लोरा के नए फ्रांसीसी फैशनों का जिक्र है तो दूसरी में तकिए-गिलाफ पर गुलाब-पत्तियां काढ़ने के नमूने, विषय-वस्तु में ही नहीं, रूप और सज्जा में भी हैं ये दोनों दुनियाएं एक-दूसरे से भिन्न सिद्ध होती हैं। एक में श्री सम्पन्नता टपक पड़ती है तो दूसरी की शक्ल पर घोर विपन्नता मुद्रित रहती है।

हमारा यह कल्पित पाठक, जो अंग्रेजी और मातृभाषा दोनों के समाचार-पत्र पढ़ता या पढ़ सकता है, यह जानता है कि अनेक देशवासी ऐसे भी हैं जो इनमें से किसी एक ही भाषा का समाचार-पत्र पढ़ते हैं। दूसरे शब्दों में यह कि जो रेखा उस रेखा के मानस को विभाजित कर रही है वही समाज को भी दो हिस्सों में बांट रही है। एक हिस्सा बहुत छोटा है मगर प्रभावशाली है, दूसरा बहुत बड़ा है लेकिन उसकी कोई सुनवाई नहीं। वह यह समझता है कि अगर उसे अपना जीवन सफल बनाना है तो जल्दी से जल्दी उस अल्प संख्यक किन्तु प्रभावशाली संसार का सदस्य बन जाना होगा जिसका प्रतिनिधित्व भारत की अंग्रेजी पत्रकारिता करती है नहीं तो वह उन 'अधपढ़-औरतों, देहाती बुर्जुर्गों और घरेलू नौकरों' की दुनिया में खो जायेगा, 'मुख्य रूप से जिनके लिए वह मातृभाषा का समाचार पत्र मंगवाता है।' स्वाधीनता के 20 वर्ष बाद पढ़े-लिखे आदमी की मन:स्थिति ऐसी हो, इससे बड़ी कोई विडम्बना हो नहीं सकती।

यह विज्ञान का युग है और इस नाते उन पश्चिमी देशों का, जिन्होंने विज्ञान और उपयोग के क्षेत्र में पहल की। अंग्रेजी इस पश्चिमी दुनिया के एक बहुत बड़े भाग की भाषा है, इसलिए उससे सम्बन्ध जोड़कर बहुत आसानी से यह मान लिया जा सकता है कि अपने

और अपने देश के तमाम पिछड़ेपन के बावजूद, हम उन देशों और लोगों के समकक्ष आ गए हैं जो युग की पराकाष्ठा को जी और भोग रहे हैं। दूसरी ओर इसकी प्रतिक्रिया में युग के मूल स्वर को अनसुना करके अतीत-आराधन में वर्तमान को व्यतीत कर दिया जा सकता है। राष्ट्रीय हीन भावना के ये दोनों रूप, किसी भी जागरूक व्यक्ति को स्वीकार हो नहीं सकते इसलिए समन्वय की बात उठाई जाती है। मगर समन्वय, हमारे यहां अंग्रेजी पत्नकारिता की दुनिया का मातृभाषा की पत्नकारिता में अनुवाद कर देने का और संस्कृत और अंग्रेजी की, परम्परा और प्रयोग की, पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी की बारी-बारी से दुहाई देने का पर्याय बन चला है। दो झूठी दुनियाओं का समन्वय एक तीसरी झूठी दुनिया को जन्म दे रहा है। पुल बनाने का दम्भ छोड़कर हमें पहले यह देखना होगा कि भारतीय इतिहास की घड़ी क्या वक्त बता रही है, हमारा अपना युग कौन-सा है, हमारी विशिष्ट स्थिति क्या है। और यह देखने-समझने के बाद हमें अपने युग का चक्र आगे बढ़ाने की कोशिश करनी होगी- किसी देशी या विलायती टोने-टोटके से नहीं, अपने कन्धों के जोर से। और तभी सच्ची भारतीय पत्नकारिता प्रतिष्ठित होगी। तभी हमारा और समाज का व्यक्तित्व समेकित हो सकेगा।

धर्मयुग

(बम्बई)

वर्ष ११   १३ मार्च, १९६०, रविवार   अंक ११

एक अंग्रेजी शब्द है 'मिथ'। 'मिथ्या' से उसका कोई वंशगत सम्बन्ध है या नहीं यह तो भाषाविज्ञानी बता सकते हैं पर 'मिथ' उन मिथ्या धारणाओं को कहते हैं जो कुछ वजहों से समाज में पनप आती हैं और फिर इस कदर जड़ जमा लेती हैं कि लोगों के मनसे ऐसी धारणाओंको उखाड़ फेंकना मुश्किल हो जाता है।

तमाम बुद्धि, विवेक, विज्ञान के बावजूद इतिहास का यह दौर 'मिथ' का दौर है। किसी ने एक 'मिथ' चलायी, चल गयी। दूसरे ने दूसरी चलाई, चल गयी। ऐसी मिथ्या धारणाओं की भीड़ में एक विवेकपूर्ण बातको रास्ता बनाकर आगे आनेमें लोहे के चने चबाने पड़ते हैं इस जमाने में।

हिन्दी पत्नों और इनके पाठकों के बारे में कुछ 'मिथ' प्रचलित रही हैं। एक तो बहुत जमी जमायी धारणा यह थी कि हिन्दी में पाठकवर्ग है ही नहीं। खरीदकार कितने लोग पढ़ते हैं? संस्थाएं खरीद लें, बहुत काफी है।

धर्मयुग को यह श्रेय है कि उसके प्रसार के द्वारा यह 'मिथ' आज गलत साबित हो चुकी है। न केवल यह कि हिन्दीका पाठक है, बल्कि बहुत बड़ी संख्यामें है, और यह भी कि वह स्थिर या जड़ नहीं है, सक्रिय है, गत्यात्मक है। आप दो कदम आगे बढ़िये तो वह चार कदम आगे बढ़कर स्वागत करने को तत्पर है, पर आप उस तक पहुंचने की पगडंडियां खोज तो निकालिये।

एक दूसरी मिथ है:

वह यह कि हिन्दी का पाठक महज सस्ती, कुरुचिपूर्ण, सनसनीखेज सामग्री और भोंडे चित्न पसन्द करता है। जो लोग किसी भी कारण से हिन्दीके पाठकोंको गिरी निगाहसे देखते हैं वे इस 'मिथ' पर विश्वास जमाये रखना चाहते हैं और इसका निष्ठापूर्वक प्रचार करते हैं।

वे यह नहीं जानते कि अपने गांवकी चौपालमें बैठकर या अपनी छोटी सी दुकानमें बैठकर जो कबीरकी उलटबाणीका अर्थ बूझता है, सूरके पद, तन्मय होकर गाता है, साथ ही साथ सहकारी खेती या सीमाके झगड़ों पर बहस भी करता है और बैल गाड़ियों पर सवार होकर, राजधानी में अन्तर्राष्ट्रीय अतिथियों को देखने भी जाता है, वह हिंदी का अर्द्धशिक्षित पाठक भी न तो ऊंचे संस्कारोंवाली अपनी परम्परा से कटा हुआ है और न आधुनिक समस्याओंसे बिल्कुल अनजान है। बड़ी से बड़ी, गहरीसे गहरी और अहम से

अहम बात को समझने की सामर्थ्य उसमें बीज-रूप में मौजूद है।

यह तो हिन्दी पत्नकारिताका काम है कि उस पाठकके मर्म तक पहुंचने के सही रास्ते खोज निकाले। केवल सस्ते या भोंडे तरीकोंसे आसान रास्ते खोजना, या सिर्फ बौद्धिक असमंजस में, पाठक वर्ग से मुंह मोड़कर बैठ रहना, ये दोनों गलत रास्ते हैं। उस पाठक तक पहुंचना, पहुंचकर उसकी जरूरतों को सहानुभूति से समझना और कुशलता से अपनी बात उसे समझाना, चाहे यह कितना भी श्रमसाध्य हो पर यह एक नैतिक जिम्मेवारी है।

धर्मयुग ने एक जिम्मेवारी पूरी की, अब दुगुनी निष्ठा से इस जिम्मेवारी को पूरा करने में संलग्न है। पूर्वमें, पश्चिममें, उत्तरमें, दक्षिणमें, जो भी हिन्दी का पाठक है वह आशा करता है कि हिन्दीके माध्यम से उसे हर प्रकार की सुरुचिपूर्ण, मनोरंजक, ज्ञानवर्धक पाठ्य सामग्री निरन्तर मिलती रहे। हिन्दी के ऐसे पाठक वर्ग (जिनकी संख्या हो सकता है लाखों की हो) की आशाएं पूरी करने की जिम्मेवारी धर्मयुग पर है। अपनी इस जिम्मेवारी निभाने में हम नये उत्साह और गहन परिश्रम से प्रवृत्त हो रहे हैं। अप्रैल के अंकों से धर्मयुग अपने पाठकों को सज्जा और सामग्रीमें और अधिक संतोष दे सकेगा, नयी दिशाओं में उनकी जिज्ञासाएं जगा सकेगा, तथा नये स्तरों पर उनके मर्म को छू सकेगा।

-धर्मवीर भारती

कादम्बिनी

(इलाहाबाद)

प्रवेशांक नवम्बर १९६०

अपने पाठकों से

'**कादम्बिनी**'का प्रवेशांक आपके हाथ में है- जैसा कुछ बन सका है। अपनी सारी अच्छाइयों और बुराइयों, खूबियों और खामियों के साथ, आपके द्वारा सस्नेह स्वीकृत किये जाने की आशा, आकांक्षा और अपेक्षा से प्रेरित एवं मर्यादित, समक्ष प्रस्तुत है। आप इसे देखें, परखें और अपनायें। कहने की आवश्यकता नहीं कि आपके निर्णय का हमारे लिए क्या और कितना महत्त्व है, आपका अनुकूल निर्णय हमें कितना बल देगा। कहना हमें केवल इतना ही है कि आपका निर्णय जो भी हो, जैसा भी हो, हम 'तान्प्रति नैष यत्न:' कह कर उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि हमारा प्रयत्न आपके प्रति है- आप में से किसी या किन्हीं के नहीं, प्रत्येक के प्रति। काल निरवधि है, हो; पृथ्वी विपुला है, हुआ करे; जहां तक हमारे प्रयास की सिद्धि का प्रश्न है, उसके लिए तो एकमात्र प्रमाण अपने समसामयिक, सहवर्ती समाज द्वारा स्वीकरण ही हो सकता है।

इसके बाद शायद यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि 'कादम्बिनी' किसी प्रश्न, समस्या या मान्यता के प्रति ध्यान आकर्षित कराने अथवा किसी क्षेत्र में किसी प्रकार का प्रचार-कार्य करने के उद्देश्य से नहीं, मात्र इस अभीष्ट-सिद्धि के लिए आपके सामने उपस्थित हो रही है कि देश के दिनानुदिन बढ़ते हुए हिंदी-पाठी समुदाय के लिए उच्च कोटि की पाठ्य-सामग्री उपलब्ध कराने के व्यापक प्रयास में यत्किंचित् योग दे सके। हमारा विश्वास है कि हिंदी को एक नहीं अनेक अच्छे मासिकों की अपेक्षा है। यही विश्वास 'कादम्बिनी' के प्रकाशन का प्रेरणा-स्रोत बन सका, और इसी विश्वास से दृष्टि पाकर वह आज अपने चारों ओर प्रतियोगियों की जगह, सहयोगियों और निर्णायकों की जगह अभिभावकों को देख रही है।

'कादम्बिनी' मुख्यतया साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रिका भले ही हो पर वह ऐसे सभी विषयों को अपने कार्य क्षेत्र के अंतर्गत मानेगी जिनके संस्पर्श से वह उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकसित, वैविध्यपूर्ण, आकर्षक और उपयोगी बन सके। उसके लिए कोई भी विषय मात्र साहित्येत्तर विषय होने के कारण ही. अग्राह्य न होगा, वह बचना चाहेगी तो केवल मतवादों और वर्ग-संकुल आवर्त-विवर्ती से। सहवर्ती, समकालीन समाज की अभिरुचियों, मान्यताओं और प्रवृत्तियों को प्रतिबिंबित और, यथाशक्य, परिष्कृत करने की चेष्टा करती हुई, और प्रवृतियों को प्रतिविंबित और, यथाशक्य परिष्कृत करने की चेष्टा करती हुई। अपनी सहज शक्ति और आत्म-नियंत्रित गति से, आप अपनी राह ढूंढ़ती, बनाती आगे बढ़ती रहेगी-

किसी आंधी-तूफान के सहारे तीव्रतर प्रगति करने की आकुलता से उसे आत्मचेतना और अपने सहज-कर्म का बोध ही बचा सकता है और बचाता रहेगा। आधुनिक चेतना और अभिरुचि को अभिव्यक्त करना तो उसका कर्तव्य होगा ही, पर अपनी साहित्यिक-सांस्कृतिक उपलब्धियों के उत्कर्ष के प्रति जीवंत जिज्ञासा, प्रीति और आदर का प्रसार करना वह अपने कर्तव्य-पालन का आवश्यक अंग मानेगी। विगत को वर्तमान समझने की भूल न करेगी, पर मात्र वर्तमान न होने के कारण ही विगत को विस्मायं मान वैठने की भूल भी उससे न होगी।

'कादम्बिनी' शरद ऋतु में अपनी यात्रा आरंभ कर रही है- कालिदास के शब्दों में थोड़ा-सा परिवर्तन करके कहें:

सरितः कुर्वती गाधाः पथाश्चाश्यानकर्दमान्,
यात्रायै नोदयत्येषा तांशक्तेः प्रथमं शरत्

इस अंक के साथ 'कादम्बिनी' अपने निर्दिष्ट पथ पर पांव रखती है- सर्वैरनुज्ञीयताम्।

दिनमान

(नयी दिल्ली)

भाग १ — ६ जून १९६५
संख्या १६ — १६ ज्येष्ठ १८८७

सम्पादक सच्चिदानन्द वात्स्यायन

सांस्कृतिक विनिमय

सरकारी तौर पर आयोजित सांस्कृतिक विनिमय का काम स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से भारत सरकार का शिक्षामंत्रालय करता रहा है। आरम्भ में, जसा कि किसी हद तक स्वाभाविक था, इस कार्य का मुख्य रूप, सांस्कृतिक प्रतिनिधि-मंडलों और मुख्यतया नृत्य-प्रदर्शन मंडलियों का विनिमय था- स्वाधीन भारत के लिए यह पहली आवश्यकता थी कि विदेशों में अपने प्रति कौतुहल और अनुकूलता पैदा करे और उस के साथ ही इस पक्ष पर भी बल दे कि नवस्वाधीन होने का अर्थ नवसंस्कृत होना नहीं है, भारत की सांस्कृतिक परम्परा बहुत लम्बी है। आरम्भ में- और यह पक्ष न केवल स्वाभाविक नहीं था बल्कि उचित भी नहीं था- यह सांस्कृतिक आदान-प्रदान मुख्यतया ही नहीं, लगभग सम्पूर्णतया साम्यवादी देशों के साथ होता रहा। कहने को एक कठिनाई यह थी कि यह विनिमय सरकारी स्तर पर किया जा रहा था इसलिए भारत सरकार दूसरे देशों की सरकारों से ही इसकी व्यवस्था कर सकती थी; साम्यवादी देशों में संस्कृति, सरकारी क्षेत्र का विषय थी और पश्चिम के अन्य देशों में सरकार इस क्षेत्र में न केवल हस्तक्षेप नहीं करती थी बल्कि इस की जिम्मेदारी लेने को भी तयार नहीं थी। यों तो यह तर्क एक सुविधाजनक अर्द्धसत्य था क्योंकि एक तरफ़ रूस की ओर से उदाहरण के लिए लेखकों का सरकारी विनिमय, सरकार के साथ नहीं बल्कि सोवियत लेखक संघ के साथ होता था; दूसरी ओर- फिर उदाहरण के लिए ब्रिटेन अथवा जर्मनी में ऐसे संगठन मिल सकते थे जो कि सरकारी न हो कर भी सरकार का प्रतिनिधित्व कर सकने की बराबर क्षमता रखते थे, जैसे कि ब्रिटेन की कला परिषद् (आर्ट् स कौंसिल)।

धीरे-धीरे भारत ने अनुभव से कुछ सीख लिया और सांस्कृतिक विनिमय कुछ अधिक सन्तुलित हो गया। फ्रांस के अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच, टोक्यो के पूर्वी-पश्चिमी संगीत सम्मेलन, एडिनबरा के कला उत्सव और ब्रिटेन में सितम्बर में होने वाले कॉमनवेल्थ कला उत्सव में सम्मिलित होने के लिए सरकार द्वारा प्रतिनिधि-मंडल भेजे जाना इसके उदाहरण हैं। यूरोप के कई देशों में और जापान और अमेरिका में जो भारतीय कला प्रदर्शनियां हुईं उन के उदाहरण भी दिये जा सकते हैं लेकिन सांस्कृतिक सहयोग, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का केवल

एक अंग है यह भी हमें सीखना था। आधुनिक संसार में प्रगति के लिए प्राचीन संस्कृति पर बल देना मात्न (,) पर्याप्त नहीं है और विनिमय को शिक्षा, विज्ञान, व्यापार, अर्थ और तकनीकी क्षेत्र में विकसित करना आवश्यक है विदेशों के साथ आर्थिक, व्यापारिक और समझौते होने के साथ-साथ इस पक्ष को उचित महत्त्व दिया जाना होगा। लेकिन जैसा कि संस्कृति के क्षेत्र में भी हुआ था हमने नयी शिक्षा अधूरी ही ग्रहण की और एक बार फिर विदेशों ने ही हमारा ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया कि सुस्पष्ट नीति की कमी के कारण हमारा कोई सहयोग भी सही सन्तुलन नहीं पा रहा है। प्रधानमंत्री की रूस-यात्रा की चर्चा के संदर्भ में हमने कहा था कि उस यात्रा की मुख्य राजनीतिक सफलताएँ नकारात्मक हैं और यह भी कि दूसरे जो महत्त्वपूर्ण परिणाम होंगे वे भविष्य में प्रकट होंगे। आर्थिक समझौते कुछ अधिक तात्कालिक प्रभाव रखते जान पड़ते हैं लेकिन जब हम इस पक्ष पर विचार करते हैं कि आपसी व्यापार दुगुना कर देने के निर्णय को व्यावहारिक रूप देने के लिए हम किन चीजों का आयात और किन चीजों का निर्यात करेंगे तब सफलता का रूप धीरे-धीरे कुछ धुँधला होने लगता है। आयात के क्षेत्र में तो हम रूस से कुछ ऐसी चीजें प्राप्त कर सकते हैं, और यह मानने का पर्याप्त कारण हैं कि यह समझौते का अंग थीं, जिन से हमारी प्रतिरक्षा की सामर्थ्य बढ़े। यों अगर भारत की परराष्ट्र नीति और प्रतिरक्षा नीति अभी तक यह मानती है कि हमारा मुख्य शत्रु पाकिस्तान है और प्रतिरक्षा की सारी व्यवस्था पाकिस्तान की प्रतिमुख होनी चाहिए (इस चिन्तन-परम्परा को 'कृष्णा मेनन सिद्धान्त' का नाम दिया जा सकता है) तो भूल करती है। **हमारी प्रतिरक्षा की सब योजनाओं की धुरी चीन से प्रतिरक्षा होनी चाहिए।** जो अब तक भी इस सच्चाई को नहीं पहचानते हैं देश की परराष्ट्र नीति अथवा प्रतिरक्षा नीति की बागडोर उन्हें सौंपना देश को जोखम में डालना है। यह बात पाकिस्तान की स्पष्ट भारत-विरोधी हलचलों के बावजूद भी सच है क्योंकि ये हलचलें भी मूलतया चीनी योजनाओं का अंग या अनुषंग हैं।

भारतीय प्रधानमंत्री और अन्य मंत्रियों की रूस यात्रा से एक और शिक्षा जो हमें मिली है वह वैज्ञानिक और तकनीकी विनिमय से सम्बन्ध रखती है और एक बार फिर यह सूचित करती है कि हम बिना किसी स्पष्ट नीति के काम करते रहे हैं और नीति या योजना हमें या तो विदेशों से बनी बनायी मिली है या उन के आग्रह से बाध्य हो कर हमें बनानी पड़ी है। इस बार रूस ने हमारा ध्यान हमारी भूलों की ओर आकृष्ट किया है।

॥ ख ॥

हरिश्चंद्र चंद्रिका और मोहन चंद्रिका.

कला ८]　　(उदयपुर) श्रावण, संवत् १९३८　　[किरण ५

प्रेरित पत्र.

प्रस्तावना

श्रीयुत हरिश्चंद्र चंद्रिका और मोहन चंद्रिका सम्पादक समीपेषु.

महाशय,

अपने परम विद्वान मित्र श्रीयुत पंडित राधाकृष्णदासजी का "दु:खिनी बाला" नाटक पढकर मेरे चित्तमें आया कि मेंभी इस विषय में अपनी लेखनीकी परिक्षा करूं, इसीलिये बाल विधवा-संताप लिखकर इसके साथ भेजताहूं। कृपा करके इसे प्रकाश कर मुझे चिरबाधित कीजिये. यह विषय ऐसा है कि मैं इसके लिये लेखनी उठाऊं हूं परंतु चित्त भर आता है. इसका कारण यह है कि मेरे कुटुम्ब में एक परम गुणवती सुशीला कन्या पर, जब वह नौ वर्षकी थी, यह दैवी आपत्ति पड़चुकी है. मुझे बाल-विधवाके क्लेश और यंत्रणाका भलीभांति अनुभव है और मैं उस मर्मको भलीभांति जानू हूं, परंतु क्या करूं मैं असमर्थ और तुच्छ हूं. न मेरे पास धन है न बल. केवल हाथ घिसकर अपने भाइयोंका इस तरफ ध्यान करता हूं और आशा करता हूं कि कोई ईश्वरका प्यारा ऐसा उत्पन्न होगा जो इस महा दुखदाई रीतिको देशसे उठाकर दिखा देगा. केवल करने वाला चाहिये फिरतो सब सहज हो जाता है. जो कुछ यहां लिखा है यद्यपि नाटकके रूपकमें है. परंतु विश्वास मानिये उसमें एक अक्षर अन्यथा नही है. इस लिखनेसे अधिक मुझे अनुभव होचुका है. और यदि चाहता तो उन सब मरम धावोंको दरसा देता, परंतु इस समयकी सभ्यताके वह विरुद्ध होता. लज्जा उन मरमकी बातोंको लिखनेमें रोकती है. मुझे आशा है कि हमारे देशीय बांधव इस विषयमें ध्यानपूर्वक विचार करेंगे कि क्या कर्तव्य है. यह रीति हमारे देशकी सभ्यताका कलंक है. जब तक यह दूर न होगी, स्त्री जातिकी दशाका सुधरना असम्भव है. और जहां स्त्रोंका आदर और सतकार नहीं वहां सभ्यताका कोई गुण पूर्ण रीतिसे प्रचलित नहीं हो सक्ता. सभ्य और धनवान देशोंकी तरफ आंख उठाकर देखो क्या चमतकार हो रहा है. महा अनर्थ और जंगली मनुष्य जातों तकमें विधवा-विवाहका निषेध नहीं है. सभ्य देशोंकी कौन कहे. यह आपकी भारत पुण्य भूमिमें ही कलंकको निशानी रह गया है और भूमंडलके किसी देशमें नहीं है. हे आर्य्य जन, जागो, और अपनी स्त्रियोंकी दशा पर विचार करो. हे जगत् प्रभो हमारे बांधवों को सुमति दे.

काशीनाथ

सिरसा, जिला इलाहाबाद.
२२ मारच १८८१.

श्रीहरिश्चन्द्र चंद्रिका और मोहन चंद्रिका संपादक महोदयेषु.

महाशय!

चंद्रिका किरण ५ में पंडित वर बाबू काशीनाथजी का "विधवा संताप नाटक" और उस्की प्रस्तावना देखकर मुझको बड़ा ही आनंद हुआ. निःसंदेह बाबू साहबके इस लेखसे बाबू साहबकी विद्वत्ता भली भांति प्रगट होती है. बाबू साहब को उनके इस कृपाके लिये कि उन्होने मेरे क्षुद्र लेख "दुःखिनी बाला" को देखतेही मेरे मतको पुष्ट करने और मेरा उत्साह बढानेके लिये "बाल विधवा संताप नाटक" बनाया. मैं कोटी कोटी धन्यवाद देता हूँ और आशा रखता हूं कि प्रायः इसी तरह मेरा उत्साह बढाते रहेंगे. निःसंदेह हिंदी भाषामें ऐसे ऐसे दस बीस लेख होनेसे समाजका बहुत कुछ उपकार होगा.

विधवा विवाह न होनेसे जो कुछ समाजकी हानि और जैसा दुष्कर्म होता है और इसके कारण इन्ही सभ्य देशोंमें इस भारत वर्षकी जैसी अपकीर्ति है उसके बर्णन की कोई आवश्यकता नहीं है आप लोग जानते ही हैं, अब इस बात का उद्योग करना हम लोगोंका मुख्य कर्तव्य है कि यह कीर्ति देशसे उठ जाय. यदि सच पूछते हैं तो यह है कि हम लोगोंके जीवन को धिक्कार है कि हम लोगोंके जीते ही हम लोगोंकी विधवा स्त्रियें इतना दुःख सहें; और दुष्कर्मको धिक्कार है! कि हम लोगोंके इस मिथ्या धर्मके जिसके कारण लाखों अबलाओंको यह सबल दुःख भोगना पडे! धिक्कार है, उन पाखंडी ब्राह्मणों को जो ऐसे सत्कर्म को ही नहीं होने देते और वृथा लाखों जीवोंको सताते हैं! धिक्कार है उन पुराने लोगोंके बुद्धिको जो कहते हैं कि "जो बाप दादा करते रहें योंही होईहैं"! निदान यह कि हम लोगोंके सभी वस्तुओंको धिक्कार है.

बहुतसे लोग कहते हैं कि "जो वेद पुराणमें लिखा है वह तो सच है पर जो सनातनसे होती आई वह कैसे छोडी जाय? हम तुम लोगोंसे पूछते हैं कि तब विधवा रहती कहांथी क्यौंकि पति मरा और सती हुई यदि अपनी इच्छानुसार न सती होतीथी तो तब होलीकी जातीथी फिर विधवा विवाह किसकाहोता? निदान यह कि जो लोग विधवा विवाहके विरुद्ध हैं, वे हर तरह पर हारते हैं पर मारे हठके मान्ते नहीं और उन्का इस बातमें शीघ्र ही स्वीकृत होना भी बडा कठिन है इसलिये यह विषय ऐसा है कि सबही जगह इसका आंदोलन होता रहना चाहिये कभी न कभी उसका फल होहीगा. इसलिए मैं सब महाशयोंसे सविनय निवेदन करता हूं कि वे लोग इस विषयका उद्योग सदैव करते रहैं और "कानमें तेल डालकर बैठे न रहें" ईश्वर कभी न कभी इसका भी फल अवश्य हीदेगा.

अब हम ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं कि लाखों विधवाओंपर जो आपत्ति है और जिसके कारण वे सदा दुखी रहती हैं कृपा कीजिये और हम लोगोंके इस दीन प्रार्थनाको स्वीकार कीजिये.

हे राजराजेश्वरी! आप क्यों नहीं इसका कुछ यत्न करती? देखिये आपकी लाखों दी. प्रजा [विधवा स्त्रियें] कैसे दुःखमें हैं इसके ओर कृपा दृष्टि कीजिये और बडा यश लीजिये.

हे देशी राजे महाराजे! आप-लोग क्यों चुपचाप बैठे हैं देखिये आप लोगोंके जन्म भूमिकी कैसी दुर्दशा है अब तो इसका कुछ यत्न कीजिये.

अब मैं यह लेखको समाप्त करता हूं और प्रार्थना करता हूं कि सज्जन लोग मेरी भूल चूकको क्षमा करेंगे.

आपलोगोंका कृपांभिलाषी

राधाकृष्णदास

* * * यह लेख उसका उतर छपनेके पश्चात मिला अतएव पीछे रहा. अस्तु यही कुशल है कि एक ही किरणमें दोनों आये.

पुस्तकोंका आधिक्य और ग्राहकोंकी न्यूनता.

"गुणना हिराने गुणगाहक हिराने हैं."

जैसी जैसी विद्या वृद्धि होने लगी वैसी ही हमारी भारताधीश्वरीके राज्यमें धनकी बरक्कत बिलकुल घटगई. जिस चीजकी बरंकत ही न रही उसकी चाह अधिक होनी सहज ही है. इसी लिये धनकी लालचसे ज्यौं ज्यौं हम लोग कमर बांध मेहनती बनते हैं — कोई व्यापार करके कौडी कौडी जमाता है, कोई कथा पुराण कहकर द्रव्य बटोरता है, कोई नौकरी ही से उसका संग्रह करता है, मज्दूरीसे पैसा पैसा जोडता है, कितने किसी रीतिसे कितने कीसीसे, इसी धनके पीछे लगेरहते हैं;- परंतु जो कुछ इनमें पढे लिखे हैं वे विचारे मज्दूरी करने से रहे. नौकरी तो मज्दूरीसे भी बदतर हुई. कथा पुराण तो सुनते वाला ही कोई नहीं, इसलिये अब उपदेशक बनकर वा अन्य रीतिसे विद्याका व्यापार नये नये ढंगोंसे दिखाने लगे— लाभ तो इससे बडा ही हुआ; कारण जो पुस्तक वा जिस जिस विषयकी चर्चा अब देख पडती है वह निःसंशय हम लोगोंको सुखी बनानेकी हो सकती है. तथापि धनके तरफ जब ख्याल होता है तब तो यह सर्व परिश्रम वृथा जान पडता है. आजकल प्रति दिन जो जो नये नये पुस्तक वा विद्यार्जनकी युक्तियां, धन संपादनके उपाय सुने जाते हैं वा देखे जातेहैं वे सब "गुणना हिराने गुण गाहक हिराने हैं" इस वाक्यानुसार फलित नहीं होते!

आजतक कितने लोग सोचतेथे कि पुस्तक नहीं कैसे पढ़ें? परंतु ईश्वरको अनंत धन्यवाद देनेका समय है कि अब प्रत्येक भाषा, वर्धकोंके द्वारा अनेक उपयोगी पुस्तक देख पढ़ने लगे. वेद, स्मृति, महाभारत, श्रीभागवत, वाल्मीकिरामायण आदि बडे बडे और महोपयोगी, धर्म प्रदर्शक ग्रंथ भी, भाषामें ऐकसे एक ऐसे बनगये हैं, वा बनते जाते हैं कि यदि संस्कृत किसी को न आती हों तौ भी उनसे सर्व सहज ज्ञान हो. नीति वा कला कौशलके भी पुस्तक भाषामें देख पडने लगे. समाचार पत्न वा मासिक पुस्तकोंके द्वारा समयानुसार सर्व व्यवहार का ठीक ठीक बोध होनेका काम भी प्रत्येक संपादकने सिरपर

उठाया ही है. नाटक, कथा वा कल्पित नीति और संसारिक रीति शिक्षक ग्रंथोंका संग्रह और मुद्रण करनेका काम तो क्षत्रिय पत्रिका भारत दीपिका आदि मासिक पत्रिकाओंने उठाया ही है। नये नये ग्रंथ कर्ता वा विद्वान् अच्छे अच्छे लोकोपकारी पुस्तक रचते ही हैं. इतिहास, कोश, पदार्थ विद्या आदि विषय भी किसीने छोडा नहीं. साहित्यके ग्रंथ भी कई रीतिके हो गये, धर्म शास्त्र भी घर घर हुआ. किसी रीतिकी अब न्यूनता नहीं देख पडती. जो कुछ है भी, वह भी दिन दिन न्यून ही होती जाती है. सारांश इस रीतिकी सब व्यवस्था रहते भी शोच का विषय यही देख पडता है कि पुस्तकोंका आधिक्य हुआ और होताजाता है परंतु ग्राहकोंकी न्यूनताभी उसीके साथ बढती जाती है. यदि जो जो पुस्तक प्रसिद्ध होते हैं उनकी प्रथमावृत्ति भी बिक जाय और ग्रंथकर्ताका श्रम सफल हो जाया करे तो उसका उत्साह और अपना लाभ कितना बढेगा? जैसी अलीगढ में भाषा संवर्धिनी सभासे ग्रंथ कर्ताका यथार्थ गौरव होता है वा बिहार सर्कलके इन्स्पेक्टर बाबू भूदेव मुकुर्जी के द्वारा कितने एक ग्रंथ कर्ताओं को उत्तेजन मिला और कई पुस्तक बन गये तद्वत् ही सर्वत्र प्रबंध होता जायगा तो बिचारे बडे बडे उत्साह और बडे परिश्रम पूर्वक अर्जित धनके व्ययसे जो ग्रंथ कर्ता पुस्तक छपवाते हैं और अपनी आशामें लगे रहते हैं उनका आगे पांव रखनेका उत्साह क्षीण न होगा और पुस्तकोंकी रेल चेल ऐसी होगी कि पढते पढते जी उब आवेगा. परंतु अभी यही कहना पड़ता है कि "गुणना हिराने गुणगाहक हिराने हैं."

मारवाड़ी गजट

THE MARWARI GAZETTE.

पाक्षिकपत्र।

जन समाज उत्तम करन बिद्यावल विस्तार। जासे सुख सम्पत लहे अन्त होय भवपार॥

१भाग} कलकत्ता रविवार; ५ सेप्टेम्बर, सन् १८९७ ईसवी {अंक ६

निवेदन पत्र

महाशय, जयगोपालजीकी

आपको योग्य समझ आपकी सेवा मे यह मारवाड़ी गजट अर्पण करते हैं। और विशेष आशा रखते है कि आप सानन्द इसे ग्रहण कर अपनी सेवा मे इसे सदा के लिये ग्राहकश्रेणी भुक्त हो मंगाया करेंगे और अपने ग्रामवासी भाइ विरादर और मित्रगणों मे इसका प्रचार कर अपने नामके गौरव को बढ़ावेंगे और हमारे कठिन परिश्रमको सफल कर, कृतार्थ करेंगे और अपना पत्र जान चेष्टा करने में त्रुटि नहीं करेंगे मूल्य, सेठ महाजन दुकानदारोंसे २) साधारण १) है यही हमारी प्रार्थना है मेहरवानी कर एक पोष्टकार्ड द्वारा इच्छा सूचित करें शुभम्।

आपका दासानुदास

राधाकिसन टिवडेवाला।

१ भाग, अंक ९, १४ नवेंबर सन १८९७ ई।

श्री यु क्त रा जा सा हे ब खे त ड़ी।

हमारे प्रतापी श्रीयुत सेखावत राणा साहब खेतड़ी जो श्रीमहाराणी भारतेश्वरी के डायमण्ड जुबिली उत्सव पर बिलायत गये थे। श्री महाराणी के राज भवन में मेहमान बनाये गये थे। और अनेक बिलायती देशों में भ्रमण कर गत ३० अक्टोबर शनिवार को बम्बई पधारे। और त्रिभुवन दास मंङ्गल दास जी के स्थान पर आए सम्मानपूर्वक बहुत से हिन्दु श्रेष्ठ पुरुषोंने श्रीमानकी मिजमानी की। ततपश्चात् श्रीमान राणा साहब सी० आई० ई० सभापती और कमेटीने श्री राजासाहब को निम्नलिखित आशयका यह ड्रेस दिया।

हिज हाईनेस श्रीयुत अजीत सिंह जी बहादुर राजा साहिब खेतड़ी।

परमात्मा राजा साहेब का प्रसन्न रखे कि हम आज अपने नगर निवासी हिन्दूओं की आज्ञा से और अपने निज उत्साह से प्राचीन राजवंशी राजा साहेब की बहादुरी और देश-हितैषिता का अनुभव करते हैं।

राजा साहेब की विलायत यात्रा एक बड़ी भारी हिम्मत का काम हुआ है। मारवाड़के

हिन्दू रजवाड़ों का विलायत जाना उन्नतिके मार्ग को खोलना है, और ज्यादे खुशी इसबात की है की राजा साहब को श्री महाराणी ने मान मर्यादाके सहित सोने का मेडल दिया और विन्डसोर नामक महल में निमन्त्रण कर सम्मान किया।

हमलोगों को और राजा साहेब को प्रजा जो बंबई में है, उन को और जो खेतड़ी से राजा साहेब के सामने अगवोनो को आये हैं उन सर्ब्बजनों को अत्यन्त हर्ष है, क्यों कि शेखावाटी प्रान्त को उन्नति का प्रथम परिचय है। राजा साहेब के राज्य में प्रजा को सुख श्रीजी की सम दृष्टी और उतम प्रबंध से हुआ है, परन्तु साथ ही साथ समस्त भारतवर्ष, राजा साहब का ऋणी है। कारण श्रीमान बिबेकानन्द सरस्वती जी में जो कुछ हिन्दू धर्म को उन्नति और महिमा बिलायती देशों में हुई है सो इन्हीके उद्योग से हुई है। आज अमेरिका और बिलायत वाले सभी सेखावत श्री राजा साहेब अजीत सिंह बहादुर को जान गये हैं। हम सभी सतचित से राजा साहेब को धन्यवाद देते हैं और परमेश्वर से श्रीमान की दीर्घ आयु चाहते है। भगवान ऐसे बीर पुरुषों को सदा आनन्द में रक्खे। कमेटीके मेम्बरोंके नाम इस भांति पढ़े गये।

त्रिभुवन दास मङ्गलदास जे, पि, नयर सेठ कपोला बनिये।

बालचन्द्र कृष्ण भङ्गा बंदेकार (मेंबर) लेजिसलेटिव कौनसिल।

गोकुल दास, के, पारिख बी. ए. एल. एल. बी. (मेंबर लेजिसलेटिव कौन्सल)

चिम्मन लाल ऐच सेतलबाद बी. ए. एल. एल. बी. वकील हाईकोर्ट।

बिठ्ठलदास, दामोदर ठाकर सीमूल जी कलों वाले चिडवेका डालमियां। सेठ मामराज जी राम भगत सोदागर, और एडभोकेट, बंबई हाईकोर्ट।

तत्पश्चात् श्रीमान राजा बहादुर ने सभापति और सभासदों की प्रशंसा कर अपनी बिलायत यात्रा का ब्यौरा कहा और अपनी और हिंन्दुस्तानी रजवाड़े जो कि डायमन्ड जुबिली के अवसर पर बिलायत में थे, सब के राजभक्ति प्रगट की। और कहा कि हम अंग्रेजों की तारीफ हरतरह से करते है, कि हमलोगों का विलायत में बड़ा आदर किया। सब को अंगरेजी राज से प्रीति रखना चाहिये।

१भाग} कलकत्ता रबिबार; २८ नवेंबर सन १८९७ ईसबी। {अंङ्क १०

विद्या की न्युनता।

बंगवासी में एक मुफस्मिल (मिरजापुर) के समाचारों के संग अन्त में लिखा है कि "मेम्बरों को ख्याल करना चाहिये कि मारवाड़ीयों में विद्या नहीं"।

यह इस समय क्या सरम औ निचा देखने की बात है कि, हमलोग सब बातों से परिपूर्ण होकर मुर्खता को आश्रय देते हैं। देखिये महाराज भर थरी जी ने क्या कहा है कि- "विद्या बिहीन पशु"।

हमलोग ऐसे हीनता को क्यों नहीं दूर कर अपनी समाज में परस्पर के द्वेष हिंसा को

तिलांजली देकर विद्या का प्रचार करते। यदि आप लोग किंञ्चित् मात्र भी इस तरह दृष्टि करेंगे तो कार्य्य फलीभूत हो सक्ता है। देखिये, बाग बगीचाओं में लाखों रुपयै को असबाब में खर्च करते हैं। लिवास, मकान आदि की भड़क भी खुब करते हैं, परन्तु दो अक्षर पढ़ने लिखने की बात होती है तो कहते है कि, हम कुछ भी नहीं पढ़े औ लिखे, तो आप समझिये कि ऐसी अवस्था में क्या शोभा प्राप्त होती है। हमलोग यदि इस बिषय में कुछ कहे तो भला बूरा मान बैठते है, इस लिये हमारी समाज में जबतक विद्याका गौरब नहीं समझेंगे तबतक हमलोगों की प्राकृत उन्नती होना असम्भव है। मान लिया हम लोग व्यापार में हिम्मत बांध अपनी उन्नति की है परन्तु तिसपर भी बिद्या सर्वोपरि है।

यदि हमारी मारवाड़ी समाज में पढ़ने लिखने का प्रचार हो जाय तो सोने में सुगन्ध होकर सारे दुनियामें और भी गुणवान औ ईज्जत के हकदार हो जाय परन्तु सोच इस बात का है कि, बिद्या गुण को पुछते तक नहीं। सब जातीयके लोगोंने अपने समाज में बिद्या-प्रचार हेतु कमेटीयां, पाठशालायें संस्थापित किया है, और कुछ कुछ फल भी प्राप्त किया है परन्तु हमारे समाज में बिद्या की पूछ, एक तरह से कुछ भी नहीं है। यदि हमारे पञ्चलोग, प्रधान २ लोग, बड़ेलोग, धनीलोग एक मन होकर अपने अपने पुरुषार्थ से जहां तक हो सके चेष्टा करैं, और अपनी समाज को सार्धारण दृष्टि से अबलोकन करैं, और कुछ २ कमेटी सभा से पाठशाला स्थापित करैं और कू-रीति निवारण का प्रबन्ध करैं तो सदा सर्व्वदाके लिये यश के भागी होवेंगे और अपने भाइ-बन्धुओंमें मंङ्गल औ बालकोंके बिद्या प्रचार से भावी सुखके मुख्य कारण होवेंगे। भाईयो सब! हमारा तुम्हारा यहांही धरा रह जावेगा, कुछ संग नहीं जावेगा। जोकुछ समय पर अपनी समाज में बिद्या फैला जाओगे अच्छा कर जाओगे सो ही तुम्हारी सच्ची कीर्ति रहेंगी।

देखिये राय बहादुर सुरजमल जी ने अपने निज ग्राम चिड़ावा में बिद्यालय स्थापित कर यशके भागी हुये और हमारे पश्चिम के जैन भाइयोंने भी बिद्या प्रचार पर विशेष कमर बांधी है, और फलीभूत होते जाते हैं और अपनी उन्नती करते हैं।

वृहत् आयोजन ॥

जिन महाशयलोगों पर परमेश्वर कृपा करता है तो उनका आयोजन भी बिशेष ज्यादा ही होता है। आपलोग जानते हैं कि चुरु निवासी स्वर्गीय राय भगवान दास जी बागला बहादुर क्रोड़ाधिपति हैं। ये महाशय बिगत बर्म्मा की लड़ाई में हमारी सरकार इंगलीश गवर्नमेण्ट को इन्होंने दिलोजान से बहोत कुछ मदद दी थी, सारे कमसरीयट अर्थात् फौज की खुराकी तथा अन्यान्य रशद बगैरह का काम इन्हीं महाशय के जिम्मे था, पूरी योग्यता से कार्य्य किया था, इसपर न्यायशील सरकार ने भी इनका बहुत कुछ सम्मान बढ़ाया था और बर्म्मा में एक लाख बीघा जमीन खुश होकर इनाम में दी थी, और बड़े २ अंग्रेज अफसर भी इन की खातर करते थे।

इनका विशेष काम रंगून में ही ज्यादा है। वहां आप की बृहत् धर्मशाला औ सत्यनारायण जी का मन्दिर है। यहां पर आप की कोठी है। अब इस कलकत्ते में एक बृहत् अस्पताल

(औषधालय) स्थापित करने के अर्थ ४ लाख रुपया "बिल" में कर गये हैं। उसमें से १ लाख का मकान औ ३ लाख के व्याज से उसका खर्च चलाने का प्रबन्ध किया है।

यह अस्पताल उनका निज का बृहत् ४ तल्ला मकान हरीसन रोड में बना है, उसमें स्थापित हुआ है। यह मकान एक हजार रुपए महीने में पहले भाड़े देने की बात थी, परन्तु अब इस में उपयुक्त मुनीब बाबू भीखराज जी बागला के सुप्रबन्ध से अस्पताल खोला जायगा। अभी इसमें एक सुशिक्षित डाक्टर औ एक कंविराज (बैद्य) भी रहेगा। दवाई अंग्रेजी और आयुर्व्वेदी दोनों तैयार रहैंगी।

इस उत्तम कार्य्य में जहां तक बने मुनीब जी साहब सुप्रबन्ध ही करैंगे, यह हमारी प्रार्थना है। इस के विषय में आगामी फिर खिलेंगे। स्वनामीपुरुषों धन्य।

(मांगलिक समाचार)

शुभ बिबाह का आनन्द।

हमलोगों को इस शुभ मंगसर महिने के बिवाहों के मांगलीक कार्य्य देख के बहुत खुशी पैदा हुई है और परमात्मा यह दिन बार बार हमलोगों को दिखा के आनन्द दे। अब के ज्यादा बिबाह दूज बर के ही हुए है। हमारे प्रतिष्ठित भाई राजा शिवबक्स जी बागला साहब का गत 8 मी को चतुर्थ बिबाह हबड़े में हुआ और स्वर्गीय बाबू रामकिसन दास जी सरावगी के प्रिय पुत्र बाबू गीरधारी लाल जी सरावगी का बिबाह गत एकादशी को हुआ और बाबू हरकिसन दास जी सरावगी के प्रिय पुत्र बाबू मटरूमल जी का बिबाह ८ अष्टमी को हुआ, और भी दो तीन दूज-बरों के बिबाह हुये हैं।

बाल्य बिबाह भी कई हुये, मुकलावा (गौना) भी हुये है और बाबू रामचन्द्र जी गोयन्दका के प्रिय पुत्र बाबू घनश्याम दास जी का बिबाह सेठ राधाकिशन जी साहब की पुत्री से मथुरा जी में मंगसर बदि १० दशमी को बहुत धुमधाम से हुआ। और बाबू हरदयाल जी सुरेका के प्रिय कुमार बाबू लक्ष्मीनारायणजी का बिबाह भी आगामी मंगसर सुदी १४ को समारोह से सम्पन्न होवेगा।

हमलोगों की ईश्वर से यह प्रार्थना है के गृहस्थ आश्रम को सुनिती से बर्त के अपनी और अपनी भावी सन्तानों के सहायक हो पूर्णरूप से आनंद लाभ करैं।

मारवाड़ी-गजट यंत्र में कुमुबन्धू छपवा कर,
कलकत्ता,-१२ नं जगमोहन साहास लेन, चोरबगान
(राजा राजेन्द्र मल्लिक स्ट्रीट) से प्रकाशितकिया गया।

हिन्दी
नवजीवन

सम्पादक-मोहनदास करमचंद गांधी

वर्ष १} अहमदाबाद-भाद्रपद कृष्ण १, संवत् १९७८, {अंक १

शुक्रवार, तारीख १९ अगस्त, १९२१ ई.

लखनऊ के पापस्थान-एक अंग्रेज मित्रने मुझे लखनऊ में लिखा- "आप यहां से जाने के पहले लखनऊके वेश्यागृहों के सम्बन्धमें यहांके किसी अधिकारी को जो आपके मत का पृष्ठपोषक हो कुछ लिख दें। आज सुबह मैं अमीनाबाद में फौजी पुलिस से बातचीत कर रहा था। उससे मालूम होता है कि उस तरफ की बस्ती में ऐसे कोई पचास मुकाम हैं जहां योरपियन और एंग्लोइंडियन सिपाही (जिनमें से कुछ लोग फौजी अदालतों में पेश भी किये जा चुके हैं, क्योंकि यह उनकी हदके बाहर है) अक्सर जाया करते हैं। उसने हिन्दुस्तानियों के विषय में तो नहीं कहा; परन्तु मैंने सुना कि वेभी उन स्त्रियों के वहां जाते हैं। इस मनुष्यत्व के अधःपतन और आत्मसंयम-हीनता के सम्बन्ध में आप यदि एक शब्द भी लिखदेंगे तो वह इस बुराईको दूर करने में जितना कारगर होगा उतनी और कोई बात नहीं। मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि इस काममें जितनी सहायता मुझसे हो सकती है वह करूंगा।"

इन अंगरेज मित्रका कहना है कि मेरे शब्द में प्रभाव है। मैं चाहता हूं कि मैं उनके इस विश्वास में भाग ले सकता। इन पंक्तियों के लिखते समय बार-बार मेरी आंखों के सामने उन प्यारी बहनों का चित्र आता है जो मुझसे रातके समय कोकोनाड में मिली थीं। जब मुझे उनकी लज्जामय स्थितिका हाल मालूम हुआ तब तो वे मुझे और भी प्यारी लगने लगीं। वे संङ्केत मात्र से मुझे अपने जीवन की दशा बता सकीं। जो स्त्री उनकी तरफसे मुझसे बात कर रही थी उसकी आंखों में लज्जा और दुःख अङ्कित था। मैं उन्हें दोषी कहने के लिए तैयार न हो सका। इस मुलाकात के बाद मैंने "चरित्रशुद्धि की आवश्यकता" पर ही भाषण किया। इसलिए आज मेरा हृदय इन लखनऊकी पतित बहनों की ओर उछला जाता है। वे इस लज्जामय जीवन में प्रवेश करने के लिए मजबूर हुई हैं। मुझे यकीन हो गया है कि वे

अपनी खुशी से यह जीवन स्वीकार नहीं करतीं। यह तो मनुष्य की पशुवृत्ति की करतूत है जिसने इस घृणित कुकर्म को एक 'धन कमाने का धंधा' बना दिया है। लखनऊ अपनी आराम-पसन्दगी के लिए मशहूर है। परन्तु लखनऊ मुसलमानों के एक उल्मा काभी स्थान है। इस्लाम में जो कुछ उच्च और शरीफाना बातें हैं उनमें लखनऊ का काफी अङ्ग है। हिन्दुओं के लिए तो लखनऊ उस प्रान्त का सदर मुकाम है जहां सती सीता और राम ने भ्रमण और राज्य किया था। वह हिन्दुओं की पवित्रता, उदात्तता, शूरवीरता और सत्यव्रतता के श्रेष्ठ युग की याद दिलाता है। असहयोग आत्मशुद्धि है, और मैं समस्त अ-सहयोगियों से तथा औरोंसे भी कहताहूं कि आप लखनऊके इस नैतिक प्लेगका उपाय करें। मैं आशा करताहूं कि लखनऊ की कीर्ति का अभिमान रखने वाला कोई भी व्यक्ति मुझसे यह नहीं कहेगा कि लखनऊ भारत के दूसरे शहरों से तो बुरा नहीं है। लखनऊ का जिक्रतो यहां उदाहरण के तौर पर आ गया है। हमतो सारे भारतवर्ष में स्त्रीजाति की सुरक्षितता और पवित्रता के लिये उत्तरदाता हैं। लखनऊ इसमें अगुआ क्यों न हो?

(यंग इंडियासे)

मारवाडी भाइयों और बहनों के प्रति

प्रिय भाई-बहनों!

आपके प्रेमवश हो कर मैंने "हिन्दी-नवजीवन" निकालनेका साहस किया है। जब से मैं भारत-वर्ष में आया हूं तबसे मेरा सम्बन्ध आपसे निकट होता जा रहा है। आपने मेरी प्रवृत्ति को प्रेमभाव से देखा है और मुझे सहायता दी है। आपने हिन्दी प्रचार में खूब मंदद की है। आप की ही सहायता से आज द्राविड-प्रान्तों में हिन्दी का प्रचार अच्छी तरह हो रहा है। आप भाई और बहनें 'अ-सहयोगी' हैं। आप राष्ट्रीय जीवन में रस लेते हैं। आपने देख लिया हैं कि धनी पुरुष और स्त्रियां राष्ट्रीय जीवन से बहिर्मुख नहीं रह सकतीं।

आप धर्म्मप्रेमी हैं। धर्म के लिए आप लाखों रूपये देते हैं। आप में साहस भी हैं। द्रव्य-उपार्जन में आपका प्रधान स्थान है। धनिक वर्ग के अलग रहते हुए, इस धर्मयुद्ध में, जो आज भारतवर्ष में छिड़ रहा है, सफलता मिलना मुझे बहुत ही कठिन दिखाई देता है।

अखिल भारतकी राष्ट्रीय समिति ने स्व-राज्य प्राप्ति के लिए अब जो कदम उठाया है उसमें आप लोगों की ओर से सहायता मिलने परही सम्पूर्ण सफलता मिल सकती है। उक्त समिति ने निश्चय कर लिया है कि आगामी ३० सितम्बर तक परदेशी कपडों का पूरा बहिष्कार कर दिया जाय। मैंने आप ही के विश्वास पर सितम्बर मास की अवधि रखने की सलाह दी। अतएव इस-स्वदेशी आंदोलन को प्रबल बनाने के-समय में "हिन्दी-नवजीवन" का प्रकाशित होना उचित ही है।

राष्ट्रीय जीवन में आजकल तो व्यापार-वृत्ति और दास-वृत्ति देखी जाती है। ज्ञान और शौर्य्य का अभाव मालूम होता है। अब हमारे व्यापारी-समाज तथा दास-वर्ग को ज्ञान और शौर्य्य प्राप्त करने की आवश्यकता है। हमे इस बात का ज्ञान होना चाहिए। कि विदेशी

कपड़े के व्यापार से हमारा देश मटियामेट हो गया है। और उस व्यापार को त्याग करने का शौर्य्य भी हम में होना चाहिए। यदि हम में इतना भी बलिदान करने का शौर्य्य नहीं है जितना कि विदेशी कपड़े के व्यापार के त्याग के लिए आवश्यक है, तो हम अपने धर्म्म का पालन नहीं कर सकते। अपने ही भाई-बहनों को नुकसान पहुंचाकर हमने करोड़ों रूपये इकट्ठा किये और उसमें से लाखों का दान किया तो यह पुण्य नहीं है। इस लिए आप भाई और बहनों से मेरी प्रार्थना है कि आप परदेशी कपड़े का बहिष्कार करने में और खद्दर (गाढ़ा) तैयार करने में पूरा साहस दिखाकर अपनी पिछली देश-सेवा की वृद्धि करें।

आपका-

मोहनदास करमचंद गाँधी

---

१. शंकरलाल घेलानाई बैंकर द्वारा नवजीवन मुद्रणालय, चूडी ओल, पानकोर नाका, अहमदाबाद में मुद्रित और वहीं हिन्दी नवजीवन कार्यालय से जमनालाल बजाज द्वारा प्रकाशित॥

मारवाड़ी अग्रवाल

(कलकत्ता)

वर्ष १, अंक, १, कार्तिक संवत् १९७८ वि. सन् १९२१
प्रथम वर्ष के प्रथम खण्ड की

लेख-सूची

चित्र सूची

सम्पादकीय टिप्पणियाँ

अन्तर्जातीय विवाह—

अन्यत्र पाठक "विवाह-विभ्राट" शीर्षक लेख देखेंगे। उसे पढ़नेसे मालूम होगा कि आजकल हमारे समाजमें वर्णाश्रमका कहां तक आदर रह गया है। कहनेको तो हम बड़े सदाचारी, धर्मभीरू और वेद शास्त्र के कट्टर अनुयायी बनते हैं, परन्तु जब कृत्यों पर दृष्टि जाती है तो आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहता। जातिके रक्तको यथाशक्य शुद्ध रखनेकी प्रथा परम्परासे हमारे समाजमें चली आती है तथा विजातियोंमें विवाह करना हम धर्मके विरुद्ध मानते हैं परन्तु अब समाजमें ऐसे कुकृत्य होने लगे हैं जिससे यह बची खुची पवित्रता भी लोप होने लगी है। कहां एक वैश्य और कहां एक सुनार या लुहार आदिकी कन्या! और फिर उनका परस्परमें पति-पत्नीका सम्बन्ध! एक समय वह था जब डॉ० गौड़के असवर्ण-विवाहबिल को लेकर, देशमें चारों तरफ हलचल मच रही थी, जगह २ विरोध सभाएं हो रही थी। धर्मके रसातलमें चले जानेकी दुहाई दी जाने लगी थी। आज उसीके बदले देख रहे हैं कि पैंतालीस पचास वर्षके बूढ़े, थैलियोंके जोरसे, अज्ञात कुलशील लड़कियोंको बड़े चावसे विवाह रहे हैं और चारों वर्णोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण ही उसमें प्रधान भाग लेते हैं। यद्यपि इन वर्णसङ्कर विवाहोंकी संख्या, अभी वर्तमानमें अङ्गलियोंपर गिनने लायक ही है, परंतु जिस शीघ्रतासे यह बढ़ रहे हैं और समाज इस विषयमें जिस तरह उदासीनता दिखा रहा है उसके देखते भय होता है कि यदि इसका शीघ्र ही प्रतिकार नहीं किया गया तो थोड़े ही दिनोंमें समाजमें बड़ी धान्धल मच जायेगी। समाजका कर्तव्य है कि यदि वह इन विवाहोंका विरोधी है तब तो इनको बन्द करनेका दृढ़ प्रयत्न करे और दुर्भाग्यवश वह ऐसे विवाहोंको बुरा नहीं समझता तो उसको इस सम्बन्धमें अपना स्पष्ट व्यक्त कर देना चाहिये। इस तरहकी गड़बड़ी अच्छी नहीं।

विवाह-पिपासा-

यद्यपि वृद्ध वयसमें विवाह अन्याय जातियोंमें भी होते सुने गये हैं परन्तु इस कुप्रथाका हमारे मारवाड़ी समाजमें बड़ा विस्तार है। प्रत्येक वर्षमें, जब विवाह लग्न पड़ते हैं तब कहीं न कहीं अबोध कन्याओंका सर्वनाश होता ही रहता है। कहां पचास पचपन वर्षका जराजीर्ण मनुष्य और कहां दश बारह वर्षकी आयुकी अबोध बालिका! कैसा बेजोड़ मिलान है! परन्तु समाजकी शिथिलता और पैसेके जोरसे इस अन्यायपूर्ण कार्यको, इधरमें बड़ा उत्तेजन दिया जा रहा है। यद्यपि जाति-हितैषियोंके उद्योगसे इसमें बड़ी २ बाधाएं डाली जाती हैं और बहुत जगह के ऐसे बेजोड़ विवाहोंको रोकनेमें समर्थ भी होते हैं परन्तु जब तक इन वृद्ध सज्जनोंके हृदयसे इससे उत्पन्न हुए दोषोंको दिखाकर इन विवाहोंकी वासनाको दूर करनेका घोर प्रयत्न नहीं किया जायगा तब तक इनका कतई बन्द होना

असम्भव है। अतएव प्रत्येक जाति हितैषीका कर्तव्य है कि वह अपने अपने स्थानमें ऐसे विवाहोंकी बुराइयां जनताको पूर्णरूप से समझावें तथा दृढ़ सङ्गठन कर ऐसा प्रयत्न करें जिसे इससे बुराईका शीघ्र अन्त हो।

— :०-०:—

अविवाहित नवयुवक—

मारवाड़ी समाजमें ज्यों २ पैसे का अत्यधिक आदर बढ़ता जाता है, त्यों २ उसमें दुर्गुणोंका विशेष समावेश होता जाता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे समाजमें अविवाहित नवयुवाओंकी बड़ी संख्याका होना है। प्रथम तो अधिकांश कन्याओंके पिताओंके मतमें यह प्रबल वासना उत्पन्न होने लगी है कि हम अपनी कन्याओंका विवाह किसी धनाढ्यके पुत्रसे करें। आचार, विचार, श्रेष्ठकुल आदि पर बहुत कम ध्यान दिया जाने लगा है। दूसरे जो लोभी हैं वे अधम, वृद्धोंके हाथमें, पैसे लेकर अपनी गो समान कन्याको सौंपनेमें कुछ भी हिचकिचाहट नहीं करते। इस तरह बिचारे मध्यम श्रेणीके नवयुवक अपना जीवन सजातीय कन्याके कारण कुमारपनमें ही बितानेको लाचार होते हैं परन्तु इसका जो बुरा प्रभाव समाज पर पड़ता है उसे देख कर हृदय दु:खित हो जाता है। वे नवयुवक या तो सजातीय विजातीयके भावको छोड़ कर विवाह कर लेते हैं अथवा बुरे व्यसनोंमें फंस अपना जीवन नष्ट करनेके साथ २ समाजका भी अपकार करते हैं, परन्तु इसमें दोष उनका नहीं। दोष है हमारा, दोष है समाजके पञ्चोंका जो स्वयं इस बुरी प्रथाके शिकार होकर समाजके सामने बुरा आदर्श रखते हैं। समाजके शुभचिन्तकोंको इस विषय पर गम्भीरता पूर्वक विचार करना चाहिये तथा ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे जातिके नवयुवक कन्याओंके अभावसे अविवाहित न रहें तथा मृत्युमुखमें पतित वृद्ध, अबला कन्याका जीवन नष्ट कर उसे आजन्म वैधव्यकी कठोर यन्त्रणा न दे सकें।

— :—

जातीय संसार

बरार प्रान्तीय मा० अ० स० का द्वितीयाधिवेशन।

अमरावती।

सभाके द्वितीयाधिवेशनके लिये जिस उत्साह और हर्षके साथ यहाँके मारवाड़ी अग्रवाल बन्धुओंने गत यवतमालके अधिवेशन पर अपने प्यारे बन्धुओंको निमन्त्रित किया था, उसी उत्साहसे उन्होंने प्रान्तीय सभाको सफल बनानेकी तैयारी भी की थी। कहना व्यर्थ है कि अमरावतीके कतिपय अग्रवाल भाइयों ने ही, जोकि गत वर्ष सभाको निमन्त्रण देनेमें शामिल थे सभाके कट्टर विरोधी बन इसके हाथ पांव तोड़ने और इसे नाकामयाब करनेमें बहुत हाथ पांव पीटे; किन्तु परमेश्वरकी कृपासे उस टोलीके बहुतसे गुणग्राही भाई सभाके पक्षमें हो गये, फलत: कुछ मनचले भाइयोंके अतिरिक्त शेष लोगोंने विघ्नोंकी परवा न कर

सभामें प्रशंसनीय भाग लिया। प्रान्तीय सभाकी सेवार्थ इन पंक्तियोंके लेखकको भी महासभाने फिरोजपुर (पञ्जाब) से यहां आनेकी आज्ञा दे दी। अत: वह २०वीं सितम्बरके प्रात:काल अमरावती पहुंच गया। तबसे कई दिनों तक प्रान्तके प्रमुख नगरोंमें प्रचारार्थ भ्रमण किया। स्वागतकारिणीकी ओरसे आगत सज्जनों एवं प्रतिनिधियोंके सुवासके लिये जैसा अच्छा प्रबन्ध किया गया था वैसा शायद ही कहीं किया गया हो। बदनेरा रेलवे जं. से अमरावती रेलवे स्टेशन तक स्वयंसेवकोंका उचित प्रबन्ध हो चुका था। अमराती स्टेशन पर प्रतिनिधियोंके लिये टाँगे और मोटरें हर घड़ी तैयार मिलती थीं। उनके लिये निवास स्थानका बहुत ही सुन्दर प्रबन्ध था।

"इन्द्रभवन" नामक नाट्य-गृह, स्वदेशी पर्दों और चित्रोंसे ख़ूब सजाया गया था। स्त्रियों, दर्शकों, निमंत्रितों और स्वागतकारिणीके सदस्योंके लिये पृथक् २ स्थान बनवाये गये थे। प्रतिनिधियोंके लिये पण्डालके मध्य भागमें चार गैलरियां अकोला, यवतमाल, बुलडाना और अमरावती के लिये बनायी गयी थीं। कुर्सियां नहीं थीं, जमीन पर सतरञ्जियां बिछी थीं। मंचके पास १२ अंगुल ऊंची काठकी चौकी पर खादीकी गद्दी और मसनद सभापतिजीके लिये रखा गया था। खम्भों पर हिन्दी, संस्कृतमें बड़े २ शिक्षाप्रद आदर्श वाक्य (मोटो) लगाये गये थे। पण्डालके बाहर सर्वसाधारण दर्शक, प्रतिनिधियोंके लिये ठण्डे जल, तरह तरहकी मिठाइयों, नमकीन चीजों और फलोंका फ्री प्रबन्ध था। भोजनालयोंका प्रबन्ध तो इन्दौरसे भी अच्छा था।

सभापतिका आगमन

इस अधिवेशनके मनोनीत सभापति झरियाके देशभक्त श्रीमान् सेठ रामजसरायजी अग्रवाल, अपने प्राइवेट मन्त्री और दो भृत्योंके सहित नागपुर मेल द्वारा १ली अक्टूबरको सायंकाल ५ बजे बदनेरा जकशन पर (जो अमरावतीसे ६ मील पर है) पहुंचे। प्लेटफार्म आपके स्वागतार्थ पहुंचे हुए लोगों से भरा हुआ था। ट्रेनसे उतरतेही आपको पुष्पमालायें पहनायी गयीं और "वन्देमातरम्" "महाराज अग्रसेनकी जाय" "म० गान्धीजीकी जय" "सभापति महोदयकी जय" के नारों से आकाश गूँज उठा। यहांसे मोटर द्वारा बाबू शिवनाथजीके बागकी सुसज्जित कोठीमें सभापतिजी पहुंचाये गये। उसी दिन शामको आपकी सवारी बड़ी सजधजके साथ अमरावती रेलवे स्टेशनके निकटसे चल कर कई मुख्य स्थानोंसे होती हुई रात को ११ बजेके लगभग शिवनाथ बाबूके बागके विश्राम-गृहमें पहुंची। मार्गमें जनसमूहके सड़कों, छतों और छज्जों पर से "महाराज अग्रसेनकी जय" "सभापति महोदयकी जय" "भारत माताकी जय" के तुमुल घोषसे आकाश गूंज गया था।

स्वागत

हम बाबू पद्मराजजी जैन तथा बा० भगवानदास हालनाका जेलसे आनेपर हृदयसे स्वागत करते हैं। ये दो अग्रवाल वीर भारतमाता के सपूत हैं, इन्होंने सहर्ष जेल जाकर सिद्ध किया है कि मारवाड़ी समाज, सब बातोंमें देशके साथ है। धन्य है ऐसे लाल जो जातिके साथ देशका मुख उज्ज्वल करते हैं।

मारवाड़ी सुधार

आरा (बिहार)

वर्ष १, अङ्क १; चैत्र १९७८ वि. सन् १९२१ ई. से
वर्ष १, अङ्क १२; फाल्गुन, १९७८ वि., १९२२ ई. तक की विषय सूची।

लेख - सूची।

चित्र-सूची

मारवाड़ी-सुधार के सम्पादकीय लेखों की सूची

स्वदेशी ग्रहण, स्वदेश की सहायता कीजिए, दो पुरानी प्रसिद्ध पत्रिकाएँ, प्रथम अध्याय के अंत में शंख-ध्वनि, आभार-स्वीकार, नववर्ष, विजयादशमी का महत्त्व, इन्दौर में महासभा का चतुर्थ महोत्सव, बिहार-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पंडित भवानीदयालजी की हिन्दी-सेवा, बंगाल में बाढ़ का उपद्रव, दीवाली कैसे मनाई जाय, तीर्थयात्रियों का स्वागत, किरानी रहस्य, विशुद्धानन्द-विद्यालय का काया-पलट, भीम भवानी, बंग बिहार-गोशाला सम्मेलन, एक प्रसिद्ध साहित्य-शिल्पी का स्वर्गवास, राजस्थान-केसरी फिर जाग उठा!, श्रीस्वदेश का शुभ-संदेश, बसन्त का स्वागत, संवेदना-प्रकाश, कानपुर का साहित्य-सम्मेलन, 'साहित्य' का प्रकाशन स्थगित हो गया, युक्तप्रांत की सरकार की उदार नीति, बाबू भगवानदास अग्रवाल को निर्वासन-दंड, हिन्दी का घोर दुर्भाग्य, विद्यार्थीजी की दूसरी तीर्थ-यात्रा, मलखानों की शुद्धि का आन्दोलन, जले पर नमक छिड़का गया है! चूरू की सर्वहितकारिणी सभा, दास-दल का दुष्परिणाम, स्वर्ण-पदक और १५००) का पुरस्कार, पांडेयजी की आरोग्य-कामना, 'आदर्श' की भ्रूण-हत्या, सहयोगी 'समन्वय' की अपूर्वता, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कानपुर, भ्रमर उड़ गया!, परोपकार सर्वोत्तम धर्म है!

वर्ष १, अङ्क २, वैशाख, १९७८ वि., सन् १९२१ ई.

सेठ गोविन्ददास का एक पत्र

गत ता. ७ अप्रैल, सन् १९२१ ई. के 'सर्वेण्ट'[1] नामक अँगरेजी दैनिक पत्र में 'बम्बे क्रानिकल' से उद्धृत होकर जबलपुर-निवासी सेठ श्रीमान् गोविन्ददासजी का एक पत्र प्रकाशित हुआ था। उस पत्र का शीर्षक था - 'मारवाड़ी और नवयुग'। संभवतः कुछ हिन्दी-पत्रों में भी वह पत्र छपा था। पत्र का आशय बड़ा महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक मारवाड़ी को उस पर विचार करना चाहिए। हम उस पत्र का सारांश यहां प्रकाशित करते हैं। आशा है, पाठकों को रुचिकर होगा—

''महात्मा गांधी ने इस बात की घोषणा की है कि यदि भारत की प्रत्येक जाति और समाज इस समय देश के महान् उद्देश्य को सफल करने में लग जायँ, तो सात महीने में भारत स्वतंत्र हो सकता है।'

''भारत के धनी-सम्प्रदाय में एक मारवाड़ी-समाज भी है। मारवाड़ी जैसे धनी हैं, वैसे ही उद्यमी भी। यदि वर्तमान काल में मारवाड़ी भी आगे बढ़ें और अपने देशबन्धुओं के साथ मिल-जुलकर काम करने लगें, तो उद्देश्य-सिद्धि में बड़ी सहायता पहुँचेगी। स्वराज्य प्राप्त करने के जितने साधन हैं, उनमें तीन बातों से मारवाड़ियों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक तो राष्ट्रीय शिक्षा, दूसरी पंचायत और तीसरी विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार।

''यदि हमारे मारवाड़ी-भाई चाहें तो राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार और प्रबन्ध करने में,

---

१. इस अंगरेजी दैनिक (कलकत्ता) के सम्पादक उस समय श्रीश्यामसुन्दर चक्रवर्ती थे। उनका नाटा कद था। बड़े ओजस्वी वक्ता और निर्भीक सम्पादक थे। क्रान्तिकारी-दल के नेताओं में उनकी गणना थी। - ले.

पंचायत स्थापित करके चलाने में और विदेशी माल का बायकाट करके स्वदेश के घर-घर में चर्खे का प्रचार कर देने में उन्हें बड़ी सुविधा है और उनके लिए सफलता अवश्यम्भावी है। न जाने मारवाड़ी- भाई अपने स्थापित विद्यालयों को राष्ट्रीय रूप देने में क्यों आगापीछा कर रहे हैं? बिना किसी दलील या झगड़े के यह बात काफी तौर से साबित हो गई है कि सरकारी स्कूल और कॉलेज एक प्रकार की मशीन हैं, जिनसे हर साल केवल गुलाम पैदा होते हैं। मारवाड़ियों में स्वभावत: तीव्र व्यवसाय-बुद्धि होती है इसलिए उनके लिए, विशेषत: केवल औद्योगिक शिक्षा ही लाभकारिणी हो सकती है। यह बात अब बहुत ही कम भाइयों से छिपी हुई है कि मारवाड़ियों की संस्थाओं से, मारवाड़ी-समाज का यथेष्ट उपकार नहीं हो रहा है। अब केवल यही एक उपाय है कि देश की जितनी संस्थाएं मारवाड़ियों द्वारा संचालित होती हैं, वे सब की-सब वर्धा के मारवाड़ी विद्यालय का अनुकरण करें।

"इतना ही नहीं, मारवाड़ियों में मुकदमेबाजी भी खूब छूटकर होती है। मुकदमेबाजी तो उन्हें शीघ्र ही छोड़ देना उचित है। हम तो यह निर्भय होकर निस्संकोच कह सकते हैं कि आजकल प्रत्येक मारवाड़ी-परिवार में पैतृक सम्पत्ति का बँटवारा प्राय: मुकदमे लड़कर ही हो रहा है। मुकदमा लड़ना, कितने भाइयों की दिलचस्पी का सामान हो गया है। इसका फल यह हो रहा है कि देश के करोड़ों रुपये, पानी की तरह बहा कर नष्ट किये जा रहे हैं। कितने अच्छे-अच्छे धनाढ्य परिवार इस असाध्य रोग से नष्ट हो गये।"

"क्या पंचायत स्थापित करके आपस में ही हर एक मामले का निबटारा कर लेना हमारे भाइयों के लिए असम्भव है? सब भाइयों को सोचना चाहिए कि अदालत का फैसला ईश्वर का फैसला नहीं है। अदालत से अच्छा न्याय हमको अपने ही भाइयों से मिल सकता है।"

"यदि मारवाड़ी भाई विदेशी चीजों की राह काट दें, तो देश का कितना उपकार हो कि कोई अनुमान भी नहीं कर सकता। यदि वे एक बार अपने मन में विचार करके, अपने कर्त्तव्य पर ध्यान रखना निश्चित कर लें, तो उनके चित्त की सहज प्रवृत्ति, उन्हें विवश करेगी कि वे अपना समय और अपनी सारी शक्ति को, स्वदेशी वस्त्र बनाने और खपाने में लगा देवें। उनकी आर्थिक शक्ति और उद्योग-बल का इतना प्रभाव पड़ेगा कि स्वदेशी माल धड़ल्ले से बिकने लगेगा।

श्रीमान् सेठजी ने इस पत्र द्वारा माहेश्वरी-महासभा और मारवाड़ी-अग्रवाल महासभा-का ध्यान आकर्षित किया था। विश्वास है कि उक्त संस्थाओं के संचालक राष्ट्रीय शिक्षा की उन्नति, औद्योगिक शिक्षा की सुव्यवस्था, पंचायतों की स्थापना और स्वदेशी वस्तु का प्रचार करने के लिए अपने-अपने समाज में निरन्तर आन्दोलन करेंगे।

वर्ष १, अङ्क ४, आषाढ़ १९७८ वि., सन् १९२१ ई.

मारवाड़ी-जातीय गान।

(बलदेवप्रसाद खरे, कलकत्ता)

आज मेरे पुण्यका प्रतिदान हो परमात्मा।
जाति-सेवाके लिये यह प्राण हो परमात्मा।
देश-हितके हेतु मेरी जान भी कुर्बान हो।
आंखका सुरमा, क्या विज्ञान हो परमात्मा॥
ह्रास सामाजिक रुके, अब जातिका उत्थान हो
मेरी जड़ता - रात्रिका अवसान हो परमात्मा॥
मूर्खता - पीड़ित मेरी सन्तान अब विद्वान हो
शिक्षा मेरी उन्नति का शिखर - हो परमात्मा॥
मम हृदयमें बस यही एक ध्यान या अरमान हो
भारत पुनः आनन्दका उद्यान हो परमात्मा॥
मेरा गौरव-केन्द्र केवल ही न राजस्थान हो
सारे हिन्दुस्तान पर अभिमान हो परमात्मा॥
व्यापार मेरा हो स्वदेशी कर्मपथ आसान हो
ईमान ही साफल्यका सामान हो परमात्मा॥
मेरे स्वार्थोंसे कभी मत देशका नुकसान हो
त्याग स्वार्थोंका मेरा मेहमान हो परमात्मा॥
मेरे कर्म्म-कमानपर जब बाण का सन्धान हो
देश-धन-रक्षा ही रण-मैदान हो परमात्मा॥
मारवाड़ी-जातिका बस एक ही जय-गान हो
देश धान्य-निधान हो, श्रीमान हो, परमात्मा॥

—:o:—

एक मारवाड़ी-विधवा का हृदय-द्रावक पत्र।

(मारवाड़ी-अग्रवाल महासभा के मन्त्री के नाम)

मान्यवरजी! मैं एक दु:खित हृदया, आपकी जाति-बहिन हूँ। मैं अपने हृदयका दाह लिखनेमें असमर्थ हूं। मैं कई दिनसे सुन रही थी कि अग्रवालोंकी सभा कलकत्तेमें होने वाली है। सो मैं अपने हृदयको थामकर देख रही थी कि महासभा कुछ मेरी भी पुकार सुनेगी या नहीं। मैं यह नहीं कह सकती कि महासभाने हम-दु:खियोंकी पुकार नहीं सुनी। जरूर सुनी हैं, सभाने वृद्ध-विवाह, बाल विवाहका बहुत विरोध किया है मगर इसकी जड़ क्या है इसकी तरफ नहीं देखा गया। इसकी मुख्य जड़ कन्या-बिक्रय है। अव्वल, वृद्ध-बिवाहको ही लीजिये। बृद्धविवाहसे ज्यादा सम्बन्ध धनिक लोगोंका होता है। वे अपने धनके प्रतापसे बिचारे गरीबोंको लोभमें फंसा लेते हैं। और, अपनी इच्छा पूर्ण करनेके लिये अनजान भोली-भाली बालिकाओंको जन्म-भरके लिये दुखित कर देते हैं। मा-बाप, लोभमें आकर अपना ही रक्त आप-खुद पीते हैं। ओफ! यह निन्द्य कर्म, एक हिंसक पशुसे भी बुरा है क्योंकि उसके दिलमें भी जाति पर रहम रहता है। मैंने व्याघ्र का मांस, व्याघ्रको खाते नहीं सुना परन्तु मनुष्य खुद अपनी संतानको बेचकर रक्त-मिश्रित अन्न खाता है।

मां-बाप तो लोभके वशीभूत होकर थैलियां गिनवाते हैं। मगर न्याय कहता है कि जातिमें अगर एक आध व्यक्ति अनुचित व निन्द्य कार्य करता हो तो जातिके पंचोंको चाहिये कि ऐसे निन्द्य व्यवहारके लिये सख्त नियम कर दें और करने वालेको मना कर दें। इतने पर भी न माने तो जातिके नियमानुसार जो सजा है वह उसको दें और गुनहगार बनाकर दण्डित करें।

हमारी जाति, इस प्रकारकी महा घृणित प्रथा होनेपर भी कुछ नहीं करती। कन्या-बिक्रयको जाति, अवश्य घृणाकी दृष्टिसे देखती है मगर वह घृणा, जैसी चाहिये वैसी नहीं है। जाति तो, कन्या-विक्रयको, देखनेमें बड़ी घृणा की दृष्टि से देखती है, मगर आन्तरिक पूर्ण सहायता भी पहुंचाती है। सो कैसे? सुनिये-

"मेरी उमर इस समय २५ साल की है। जब मेरा विवाह हुआ तब मेरी उम्र १५-१६ वर्षकी थी। मैंने मिशन स्कूलमें कुछ शिक्षा प्राप्तकर, हिन्दी-भाषाकी तथा हिन्दमाताकी सेवा की। आजकलकी जैसी उच्च शिक्षा है उसे मैं न प्राप्त कर सकी। जबसे मुझे कुछ बोध हो गया उस दिनसे मेरा मन अब इतिहास पुराणोंपर तथा अच्छे साहित्य पर लगा रहता है। मैंने प्राय: भारतकी पतिव्रता स्त्रियोंकी तथा वीर सती-क्षत्राणियोंकी उत्तमोत्तम पुस्तकें (जीवनियाँ) पढ़ डाली हैं। और कुछ गजट भी मैं अपने देवरके नाम से मंगाती हूं। उससे मुझे सर्वश्रेष्ठ हिन्दीकी मासिक पत्रिका 'सरस्वती' तथा 'कर्मवीर' भी पढ़ने को मिलते हैं। ये पत्र मैं अपने नामसे नहीं मंगा सकती। इसका कारण, मेरे देवर आदि कुटुम्बी नाराज़ होते हैं और हम औरतें लिखना पढ़ना जानती हैं तो उसके लिये हमारी जातिके भाई, हमारा खूब मजाक उड़ाते हैं। इसी भय के मारे मैं अपने नाम से पत्रादि नहीं मंगा सकती।

जब मेरा विवाह हुआ उस समयका हाल लिखते जी घबड़ाता है। मारे दु:खके लिख नहीं सकती। मेरा विवाह क्या था, एक आफ़त थी। एक तरफ़ ६०-६५ वर्षके बर-राजा

बिराजमान थे और इधर मैं थी। आगे क्या लिखूं? लिखा नहीं जाता! दिल कहता है कि अपनी कर्म-कहानी रहने दे। मगर इस पर भी मन कहता है कि बिना दर्द (मर्ज) बताये उसकी दवा नहीं मिल सकती। आखिर मन के कहने अनुसार, मैं अपना हाल आगे लिखती हूं।

जब भँवर (फेरे) फिरने लगीं उस समय कानमें मेरे पिताकी आवाज़ सुनाई पड़ी कि 'साहजी, बचे रुपये दिये बिना चौथा फेरा नहीं होगा इसलिये वह दो थैलियाँ लाओ, पहले अन्दर रख आऊँ।' (हाय!!!) मैंने सोचा कि पिताजी काहेकी थैलियाँ मांगते हैं। जब रुपयोंकी झनकार सुनाई पड़ी तब मैं भी खुश हुई। मैंने जब पिताजीसे दूसरे रोज पूछा कि 'कल किस बात के आपने रुपये लिये' तो मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मेरे बदले ही में यह रक़म पिताजी ने वसूल की है! मा-बापने लोभमें आकर ऐसा अनुचित कार्य्य किया और पतिने अपने नामके पीछेसे 'रँडुआ' शब्द निकालनेके लिये तथा धनिक होनेका मजा चखनेके लिये! मगर जाति भी इनके शामिल कैसे हो गयी? जातिके पञ्चोंने भी हमारे विवाहमें खूब लड्डू उड़ाये। लड्डू खाते समय इतना भी विचार नहीं किया कि 'कन्या-विक्रय करने वालोंके विषयमें अपने पवित्र शास्त्रोंकी क्या आज्ञा है?' इसके विषय में कार्तिक-पुराण में लिखा है कि एक समय देवता और दानवों की लड़ाई हुई। उसमें देवताओं की पराजय हुई और देवता, मृत्यु-लोक में राजा के पास आये और अपना हाल सुनाकर, रक्षा करने के लिये कहा। उस पर राजा ने प्रण किया कि आपको विजय नहीं प्राप्त करा सकूँगा तो इसके बदले बिष्ठा-भक्षण करूँगा। दैवगतिसे राक्षसोंके सामने राजाको भी हार खानी पड़ी और पराजित होकर वापस लौटा। उस समय राजाको अनुचित प्रणका स्मरण हुआ और फिक्र करने लगा कि मैं अपनी प्रतिज्ञा कैसे निभा सकूंगा? इसी फिक्रमें प्रतिज्ञा पूर्ण करनेकी तजबीज़ करने लगा और कई ऋषि-मुनियोंके पास जाकर पूछने लगा। जब ऋषियोंने राजा को व्याकुल देखा तब कहा कि, हे राजन! जो मनुष्य कन्याका विक्रय करके उसका विवाह करता है उसीके यहां जाकर भोजन कर ले, तेरी प्रतिज्ञा पूर्ण हो जायेगी।'

जब कन्या-विक्रयके लिये पुराणोंमें इस प्रकारका पाप उल्लेख है तब फिर जिन पुराणों को हम मानते हैं उनमें लिखी हुई बात पर हम ध्यान नहीं देते, कितने आश्चर्यकी बात है! कन्या-बेचने वालेके घरका भोजन कितना अपवित्र है! फिर भी मेरी जातिके लोग, ऐसे अपवित्र भोजनके भूखे मेरे विवाहमें शामिल हुए। विवाह होने पर मैं अपने पति के घर रहने लगी। ईश्वरकी इच्छासे मुझे दो सालके बाद एक पुत्र हुआ।

मा-बाप की स्वार्थान्धता और जाति की लापरवाही ने मुझे पति-सुख से विमुख किया! इसमें मेरा किसीको दोष देना ठीक नहीं। मैं सनातनधर्मकी पाबन्द हूँ। मैं अपनी सब बहनोंके लिये महासभासे अनुरोध करती हूं कि जातिमें से कन्या-विक्रयकी प्रथा सर्वथा उठा दी जावे। जाति ऐसा नियम बनावे कि जिससे यह घृणित प्रथा बंद होवे। मैं बिनती करती हूं कि पहले जब यह सभामें जाय उस समय इस पत्र पर ख़याल करें। बाल-विवाह भी कन्या- विक्रय से ही होता है। कारण, साधारण: आदमी देखता है कि बेटा बड़ा होनेसे कोई बिना रुपयेके नहीं ब्याहेगा इसलिये बाल्यावस्थामें ही विवाह करके निश्चिन्त होते हैं।''

इस पत्र का जवाब देना हो तो 'कर्मवीर' (जबलपुर) तथा 'हिन्दी बङ्गवासी' (कलकत्ता) में देना। आपकी जातिकी कुछ भलाई इस पत्रसे दीखे तो किसी पत्रमें प्रकाशित कर देना।

पत्रका जवाब मिलने से मेरी इच्छा है कि मैं प्रकट हो जाऊंगी और अपनी जातिकी सेवा करके संतुष्ट होऊंगी और जातिके सामने अपने दिल का हाल रो-रो कर सुनाऊंगी। मैं अपनी बहनोंके लिये, शर्मको कुछ न समझूंगी।

आपकी जाति-बहिन
''एक दुःखित हृदया''

वर्ष १, अङ्क १०, पौष-माघ, १९७८ वि, सन् १९२१ ई.

२ — आशा है।

इस (असहयोग) संग्रामके अन्तमें तो रामराज्य होनेकी आशा है। इस युद्धके अन्त में गरीबोंको आश्रय मिलनेकी आशा है। इस युद्धके आखिरमें स्त्रियोंके सुरक्षित रहने की आशा है। इस समरके अन्तमें भारतके भूखों मरनेवाले लोगोंकी भूख शान्त होनेकी आशा है। इस युद्धके पश्चात् चरखेके पुनरुद्धार होनेकी आशा है। इस युद्धके अन्तमें अस्पृश्य मानी जानेवाली जातिकी अस्पृश्यता दूर होकर, उनके भाईकी तरह माने जानेकी आशा है। इस युद्धके अन्तमें शराब-खाने और शराबकी आदत मिट जानेकी आशा है। इस लड़ाईके आखिरमें खिलाफत और गायकी रक्षा होनेकी आशा है। इस संग्रामके अन्तमें पंजाबके जख्मोंके अच्छा होने की आशा है। इस युद्धके अन्तमें प्राचीन सभ्यताको अपना स्थान मिलनेकी तथा प्रत्येक घरमें चूल्हेकी तरह कामधेनु चरखेकी प्रतिष्ठा होने की आशा है।

- महात्मा गांधी (नवजीवन)

४ — अवश्य मिलेगा

परोपकारीको यश, पापीको नरक, परिश्रमीको धन, प्रेमीको परमेश्वर, पराक्रमीको प्रताप, देशभक्तको अमरत्व, सत्यवादीको देवत्व, सच्चिरित्रको सम्मान, गीता-पाठीको ज्ञान, विद्वानको आनन्द, योगीको परमपद, ब्रह्मचारीको सुखमय दीर्घ जीवन, संतोषीको सच्चा सुख, अन्वेषकको अभीष्ट और भारतको स्वराज्य।

-स्वामी रामतीर्थ

५—आवश्यकता है

उन्नतिके लिये पहले स्वाधीनताकी आवश्यकता है। स्वाधीनताके लिये पहले निर्भयता की आवश्यकता है। निर्भयताके लिये पहले स्वार्थत्यागकी आवश्यकता है। स्वार्थ त्याग के लिये पहले कष्ट सहिष्णुताकी आवश्यकता है। कष्ट-सहिष्णुताके लिये पहले स्वेच्छा-सेवाकीआवश्यकता है। स्वेच्छा-सेवाके लिये पहले श्रद्धाकी आवश्यकता है। श्रद्धाके लिये पहले प्रेमकी आवश्यकता है।

-स्वामी विवेकानन्द

धन्य गुलाब बाई!

धन्य है तुम्हारा उत्साह! धन्य है तुम्हारी दृढ़ता! क्यों न हो, आखिर देश-भक्त जमनालाल जी बजाज की भगिनी ही तो ठहरीं ! भला तुम्हें अटल संकल्प से कौन विचलित कर सकता है? तुम्हारे हृदय में देशभक्ति की जो निर्मल गंगा बह रही है उसका अदम्य प्रवाह कौन रोक सकता है? भला 'मोहन' की मुरली की मधुर ध्वनि सुनने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहने वाली गोपिका कभी घर पर अटक सकती थी? क्या श्री सीताजी के मन में उठी हुई वन-गमन-लालसा को कोई दबा सकता था? क्या किसी पवित्र हृदय की स्वाभाविक उमंग को कोई शक्ति कुचल सकती है? कदापि नहीं। जब तुम्हारे शरीर पर हाथ का बना गाढ़ा शोभा पा रहा है, जब राष्ट्र की पुकार सुनने के लिए तुम्हारा हृदय बिलकुल तैयार है, तब अहमदाबाद-काँग्रेस में जाकर देश-सेवकों के दर्शन करने से तुम्हें रोकने का साहस किसमें था? तुम्हारी जैसी उन्नतमना महिला की सत्य प्रतिज्ञा कैसे विफल हो सकती है? रामबाण की तरह तुम्हारी अमोघ अभिलाषा सफल हुई, इसलिए तुम्हें बधाई देता हूँ। तुम्हारे जन्म से केवल बर्धा और शेखावाटी प्रान्त का लोसल नगर ही नहीं, बल्कि समस्त भारत धन्य हुआ! मारवाड़ी-समाज को ही नहीं, भारतीय महिला-संसार को तुमने गौरवान्वित कर दिया! साधु!!

कानपुरी तारामती देवी की चिट्ठी

कुछ दिन हुए, कलकत्ता के दैनिक 'स्वतंत्र' में एक चिट्ठी छपी थी। वह चिट्ठी मारवाड़ी-भाइयों और बहनों के नाम लिखी गई थी। उसमें मारवाड़ियों को खूब फटकारा गया था। उन्हें सब जातियों से निकम्मा, विश्वासघातक, घृणा की दृष्टि से देखे जाने योग्य और धिक्कार-पात्र आदि कहते हुए, हिन्दुस्तान की सभी प्रधान जातियों से अपील की गई थी कि युवराज के स्वागत में शरीक होने वाले मारवाड़ियों के हाथ का पानी भी कोई न पिये और न इनके साथ कोई व्यापारी सम्बन्ध रक्खे।

किसी मारवाड़ी से उस चिट्ठी का घोर प्रतिवाद करते नहीं बना। संभव है, किसी ने किया भी हो, पर मैंने नहीं देखा। इससे क्या प्रमाणित होता है? क्या मारवाड़ियों में अब छूकर भी स्वाभिमान नहीं है? क्या अन्य जाति और समाज के लोग युवराज-स्वागत में, किसी न किसी रूप में, सम्मिलित नहीं हुए हैं? क्या मारवाड़ियों ने स्वागत-बहिष्कार में बिलकुल भाग नहीं लिया था? क्या मारवाड़ी-समाज सब समाजों से पतित हो गया है? क्या और-और समाजों की तरह वह देशोद्धार के कामों में शामिल नहीं है? क्या मारवाड़ी-समाज के सपूतों ने दमन-दावानल में आत्माहुति नहीं दी है? क्या मारवाड़ियों ने स्वराज्य-संग्राम में किसी तरह की उल्लेखनीय सहायता नहीं पहुँचाई है? क्या मारवाड़ी-समाज के सिवा और किसी समाज में देशद्रोही और अधमाधम चापलूस नहीं हैं? तो फिर केवल मारवाड़ियों पर ही, अन्य समाज के व्यक्ति क्यों अपने दिल का बुबार निकालते हैं?

मैं अपनी भारत-भगिनी देवीजी से पूछना चाहता हूँ, कि आप मारवाड़ी-समाज से क्यों

इतनी घृणा करती हैं? क्या आप मारवाड़ी-समाज के गुण-दोषों को भली-भांति जानती हैं? क्या आपने अन्यान्य भारतीय समाजों से मारवाड़ी-समाज का मिलान किया है? क्या आपको मालूम है कि असहयोग-आन्दोलन में मारवाड़ी-समाज ने क्या-क्या काम किया है? मैं समझता हूँ, आपको इन बातों का बहुत कम ज्ञान है। आप इतना जरूर जानती होंगी कि मारवाड़ी-समाज में शिक्षा का बहुत अभाव है। अशिक्षित समाज का पिछड़ना स्वाभाविक है, यह भी आप समझ सकती हैं। शिक्षा का कम प्रचार होने पर भी, मारवाड़ी-समाज में मर्वापेक्षा अधिक जागृति दीख पड़ती है। क्या सेठ जमनालालजी बजाज, सेठ गोविन्ददासजी मालपाणी, सेठ पद्मराज जैन, कुँवर चाँदकरण शारदा, विश्वेश्वरलालजी बिड़ला, बाबू भगवानदास हालना, बाबू नागरमल मोदी और बाबू बसन्तलाल मुरारका आदि देशभक्तों की चिरस्मरणीय स्तुत्य देश-सेवा पर मारवाड़ी-समाज को किसी से कम अभिमान है? किस अशिक्षित समाज के इतने सपूत, देश के लिए त्यागी बने हैं? क्या इन स्वार्थ-त्यागियों की सेवा का कुछ भी मूल्य नहीं है? आप अविद्यान्धकार-पूर्ण समाज से और अधिक क्या आशा करती हैं? आपने अन्य जातियों को क्यों ऐसी सलाह दी है कि वे मारवाड़ियों को सामाजिक बहिष्कार का दण्ड दें? क्या अहिंसात्मक असहयोग के सिद्धान्तों में ऐसा कहा गया है कि सहयोगियों के हाथ का छुआ जल न पीना चाहिए? कृपा करके सोच-समझकर अपील किया कीजिए और मेरी यही प्रार्थना है कि अब से मारवाड़ियों को शिक्षित बनाने के लिए उत्साहित करने की चेष्टा करें। शिक्षित होने पर ही उनसे देश का यथेष्ट उपकार होगा।

वर्ष २, अङ्क ८; वैशाख १९८० वि., सन् १९२३ ई.

'आदर्श' की भ्रूण-हत्या!

मेरे हाथ में दो पत्र हैं। एक तो यह और दूसरा 'आदर्श'। दोनों ही के प्रकाशक मारवाड़ी हैं। यह 'सुधार' तो मारवाड़ियों की एक सार्वजनिक संस्था का मुख-पत्र है, पर 'आदर्श' एक खास व्यक्ति की निजी सम्पत्ति है। ईश्वर की कृपा से दोनों ही पत्र मुझे ऐसे मिले कि भाग्य को कोसने के सिवा और कोई चारा नहीं। मारवाड़ी-समाज की उदासीनता से 'सुधार' का बेड़ा शुरू से ही मँझधार में अटका पड़ा है और 'आदर्श' का बेड़ा तो तीर ही की रेत में धँस गया, जिस समय 'आदर्श' का सम्पादन, मेरे काँपते हुए हाथों में जबरदस्ती सौंपा गया, उसी समय ऐसी-ऐसी लम्बी आशाएं मेरे सामने उपस्थित की गयीं कि साहित्य-सेवा के नाम पर, स्वार्थ-सिद्धि का बीड़ा, मैंने झट उठा लिया। भावी आशाओं पर विश्वास करके मुझे आग्रह और अनुरोध अंगीकार करना पड़ा। किन्तु नतीजा बुरा हुआ। पाँच अंक निकलकर 'आदर्श' बंद हो गया! पाँच अंकों में भी एक अंक, दो महीने की संयुक्त-संख्या के रूप में निकला। छठे और सातवें अंक के फरमे, छपे-छपाये पड़े हुए हैं। उन्हें अब सर्व-साधारण के समक्ष उपस्थित होने का सौभाग्य न प्राप्त होगा। इस तरह 'मारवाड़ी घिस-घिस' में पड़कर मेरे दोनों पत्र झूल रहे हैं। जो सज्जन १३१, मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट अथवा १६२-१६४ हरिसन रोड, (कलकत्ता) के पते से आदर्श-कार्यालय में मेरे पास पत्र

भेजने की कृपा किया करते थे, उनसे सविनय निवेदन है कि वे अब दया करके २३ शङ्कर घोष लेन (कलकत्ता)' के पते से, पत्रादि भेजा करें।

'आदर्श' सम्पादक का नियुक्ति-पत्र मेरे पास है। अब वह मेरे पश्चात्ताप को उत्तेजित करने का साधन-मात्र रह गया। 'आदर्श' के प्रकाशक, शुरू में एक ग्राहक न रहने पर भी ५०० ग्राहक फँस जाने का स्वप्न देख रहे थे। ऐसे आदर्श पत्र-प्रकाशक हिन्दी-संसार में बहुत हैं किन्तु मेरे जैसे बुद्धू और अनाड़ी सम्पादक शायद ही हों। निःसंतान होकर रहना अच्छा, पर पुत्र-शोक अच्छा नहीं। किसी लेखक को किसी ऐसे पत्र का सम्पादन, अपने हाथ में न लेना चाहिए जिसका भविष्य उज्ज्वल न हो। भविष्य उज्ज्वल उसी पत्र का हो सकता है जिसके प्रकाशक के पास पूँजी हो, साथ ही साहित्य के प्रति अटल अनुराग भी। केवल पुस्तकों की विज्ञापनबाजी करने और 'पाँचवाँ सवार' बननें के लिए जो लोग पत्र निकालते हैं, वे हिन्दी-संसार को धोखा देते हैं। हिन्दी में बरसाती कीड़े की तरह पत्र निकलते जा रहे हैं और इने-गिने लेखक भी सम्पादक बनकर अपनी प्रतिभा का संहार करने के लिए अपकीर्ति के क्षेत्र में उतरते चले जाते हैं। यह साहित्यिक व्यभिचार, हिन्दी के लिए अपघातक है। सुसम्पादित और सुसंचालित दस ही पत्र रहें तो हिन्दी के गौरव की वृद्धि हो सकती है। केवल गिनती से, सैकड़ों पत्र, हिन्दी का अपकार के सिवा उपकार नहीं कर सकते। 'आदर्श' के निकलने से हिन्दी को कुछ लाभ नहीं हुआ, मैं जरूर लाभान्वित हुआ। किन्तु उसके बंद हो जाने से हिन्दी की कुछ तो हानि अवश्य हुई, मेरी चाहे भले ही न हुई हो- क्योंकि कलम और पेट का निन्द्य नाता इस जीवन में छुटता नहीं नजर आता। हिन्दी की कुछ हानि इसलिए हुई कि 'आदर्श' के जो सौ- सवा-सौ ग्राहक थे, उन्हें अब शीघ्र किसी नये हिन्दी-पत्र का ग्राहक होने का साहस न होगा। 'आदर्श' ही जैसे पत्र, बड़े-बड़े पत्रों के मार्ग में कण्टक-स्वरूप हैं। भगवान् ऐसे कण्टकों से सबको बचावें।

वर्ष-२, अंक-१२

विद्या, संस्कार, दान और विवाह। ✡

(ले. रायबहादुर सेठ चिरंजीलाल बागला, हाथरस)

''राज्यं स्वर्गश्च मोक्षश्च सर्वं धर्मादवाप्यते।''

अर्थात् 'राज्य, स्वर्ग और मोक्ष, सब धर्मसे ही मिलते हैं।' भारतीय धर्मक्षेत्र इतना विशाल है कि हमारा कोई भी कार्य, धर्मको छोड़कर नहीं हो सकता। धर्म ही हमारा, इस लोक तथा परलोकका साथी है। उसीके पालन और उल्लंघनमें हमारा उत्थान और पतन है किन्तु दुःखके साथ कहना पड़ता है कि आज हमारे समाजमें, धर्मके बन्धन भी शिथिल हो गये हैं। हम, धर्मकी सारी बातों तथा उच्चताको त्यागकर उसके आडम्बरकी ओर ही ज्यादा ध्यान देने लग गये हैं। सोलह संस्कार हमारे धर्म तथा जीवनका एक आवश्यक अंग है। किन्तु आज सोलह संस्कारोंका यथा-तथ्य पालन तो दूर रहा, उनके नाम तक हमको मालूम नहीं है। इससे अधिक और क्या हमारा धार्मिक पतन होगा? अतः अत्यन्त आवश्यक

है कि हमारे बालकोंका उपनयन-संस्कार शास्त्रोंके अनुसार यथासमय किया जाय, किन्तु विवाहके पूर्व तो वह अवश्य ही हो जाना चाहिये।

हमारे धर्मका अंग 'दान' भी है किन्तु हमारे समाजमें उसको सम्पूर्ण माननेकी भावना है। अपने समाजकी दानशीलताके भावोंका मुझे अति अभिमान है। हमारे समाज-बन्धुओं द्वारा स्थान-स्थान पर स्थापित धर्मशालाएं, कुँए, बावडियां, अन्नक्षेत्र, दवाखाने आदि अनेक कार्य हमारे अभिमान के स्थान हैं। किन्तु साथमें यह कह देना भी उचित है कि दानकी उच्च भावनासे हम दूर हैं। हमारा बहुत सा दान देखादेखी तथा नामवरी के लिए होता है। गुप्त दान की महिमाको हम प्राय: भूल गये हैं, पात्र अपात्रका विचार करना त्याग दिया है और हमारे दानसे समाजका, समष्टिके रूपमें, नफा या नुकसान होगा, इस बात को सोचना छोड़ दिया है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि हमारी दान प्रणालीमें सात्विक भावोंका संचार किया जाय, पात्रापात्रका ध्यान रखा जाय तथा समाजके हिताहितकी ओर दृष्टि डाली जाय। आज हम यदि अपने पतन का कारण खोजेंगे तो हमें मालूम होगा कि अविद्या ही इसका प्रधान कारण है। अज्ञानके कारण ही हम अपने धार्मिक, सामाजिक तथा व्यापारिक कर्तव्योंमें गलती करते जा रहे हैं और आज इस अवस्थाको प्राप्त हुए हैं। हमारा यदि उत्थान होना है, हमें यदि अपने कर्तव्यसे परिचित होना है, तो वह केवल, समाजमें शिक्षा के प्रचार से ही होगा। समाजके सारे रोगों की यदि कोई एक रामबाण-औषधि है तो वह शिक्षा ही है। पशुसे मनुष्य बनाने वाली विद्यादेवीकी आराधना हमारे समाजके लिए अत्यन्त आवश्यक है। हमारे समाजके बालकोंके लिए यदि किसी मन्दिर की आवश्यकता है तो हमारे बालक उसके उपासक हो और शरीरसे मजबूत, बुद्धिसे कुशाग्र, ज्ञान से परिपूर्ण, आत्मासे पवित्र, माता-पिता और गुरू की भक्ति से पूर्ण, जाति-प्रेमसे प्रेरित तथा अपने कर्त्तव्यसे परिचित हों; यही आज सर्वश्रेष्ठ कार्य है। यही हमारी शिक्षाका लक्ष्य हो।

मैं तो इसीको सबसे प्रधान मानता हूं। शक्तिके अनुसार सदैव शिक्षाके प्रचार करनेमें ही अपने जीवन की सफलता मानता हूं। आपसे प्रार्थना है कि, आप इस ओर ध्यान दें। धनिक बंधु धनसे, विद्वान बंधु अपने ज्ञानसे, इस कार्यमें पूर्ण योग दें। माता-पिताओं को चाहिये कि वे भी अपने बालकोंकी शिक्षा के लिए पूर्ण प्रयत्न कर उन्हें सुशिक्षित बनावें। हमारे समाजमें, जब तक शिक्षा का पूरा प्रचार नहीं होगा तब तक उन्नत समाजकी कल्पना केवल, कल्पना-मात्र है। मैं यह स्पष्टतया कह देना चाहता हूं कि कन्याओंकी धार्मिक शिक्षाकी ओर भी हमें पूरा ध्यान देना चाहिये। जब तक हमारी कन्याएं सुशिक्षित, कर्तव्यक्षम नहीं होंगी, हमारी गृहदेवियां अपने कर्तव्य ज्ञानसे परिचित नहीं होंगी, हमारी माताएं अपनी संतान का योग्य पोषण कर,उन्हें उच्च भावनाओंसे प्रेरित करने योग्य नहीं बनाएंगी, तब तक हमारे सुधारकी आशा, दुराशा मात्र है।

व्यापार हमारा मुख्य कर्तव्य है और व्यापारसे ही हमारी जाति, संसारमें जीवित और धनी है यह सत्य है तथापि यह बात भी सत्य है कि हमारा व्यापार सच्चा व्यापार नहीं। हमारे व्यापारसे देशको जितना चाहिये उतना लाभ नहीं। हमारा व्यापार, केवल दलाली-

१.संयुक्तप्रन्तीय मा. अ. सम्मेलन (हाथरस) के स्वागताध्यक्ष के भाषणका मुख्यांश।

मात्र है, हम केवल मध्यस्थका या बेचने वालोंका काम करते हैं और व्यापारका जो मुख्य अंग "पैदावार" Production है उसकी ओर हमारा ध्यान नहीं है। गौरक्षा, हमारे तीन प्रधान कर्तव्यों में से एक है। गोवर्धनसे ही हमको लाभ होगा। हम अनेक गोवर्धन संस्था (डेरी- फार्म) खोल कर, पुनरपि भारतमें दूध दहीकी नदियां बहा दें, भारतकी कृषिके योग्य बैलोंका भण्डार भर दें, यही मेरी हार्दिक इच्छा हैं। गौवंशकी रक्षामें ही हमारी बुद्धि और बलकी परीक्षा है तथा उनके नाशमें ही हमारी बुद्धि और बलका विनाश है।

बड़े शोकको बात है कि अपने समाजमें हमें वृद्ध विवाहके कुरूप चित्र पर, दृष्टिपात करना पड़ता है, बे जोड़ विवाहका निन्दनीय दृश्य देखना पड़ता है, कन्या विक्रय द्वारा एक अबलाके जीवन-नाशका दृश्य अवलोकनकर दु:खित होना पड़ता है, अनेक बाल-विधवाओंकी हृदय विदारक आहसे हृदयको जलाना पड़ता है, बाबाजीको बनड़ा बनकर फूलता हुआ तथा सुयोग्य युवकोंको कुँवारे रहकर कुम्हलाते हुए देखकर आँसू बहाना पड़ता है। समाजका धन पानी की तरह बहाया जाता है। थैलियों का तथा हवेलियों का सम्बन्ध ठहराया जाता है! जो विवाह संस्कार इतना महत्त्वपूर्ण एवं पवित्र है जो हमारा धार्मिक कार्य है, जिस पर मनुष्यवर्गकी एकता, समाज की वृद्धि तथा सारा सुख अवलम्बित है, वही संस्कार हमारे लिए दु:खोंका उद्‌गम-स्थान हो, यह कितनी शोचनीय बात है? विवाह संस्कारसे सम्बन्ध रखने वाली कुरीतियोंमें बाल विवाह सबसे निकृष्ट है? बाल्यावस्था में बालकों को विद्या-पढ़ा कर उन्हें शरीरसे एवं बुद्धिसे योग्य बनाकर संसार में जीवित रहने के लायक बनाना, माता पिता का कर्तव्य है किन्तु हमारे समाजके मात पिता, शिक्षाकी अपेक्षा बालकोंके 'पीले हाथ' कर देना ही अपना सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य समझते हैं और छोटी उमरमें ही उनका विवाह कर, उनके सारे जीवनको मटियामेट कर डालते हैं। इस प्रथा के कारण हमारा समाज शिक्षासे हीन है, शरीर में कमज़ोर है तथा उन्नति पथ में पीछे पड़ा हुआ है। फल सत्वर मिले, इस आशा से हम पुष्प को ही मसल कर, फलसे सर्वथैव वंचित रह जाते हैं। हम विद्यार्थियोंको सन्तानोत्पादन का कार्य सौंपते हैं, और शीघ्र पौत्र का मुंह देखकर स्वर्गका दरवाजा खुलवानेकी कामना करते हैं किन्तु वास्तवमें हम उन पुत्र-पौत्रों को पहले ही स्वर्ग भेजने की सामग्री इकट्ठी करते हैं।

कितना अनिष्ट किया हमारा हाय। बाल्य बिवाह ने
अंधा बनाया है हमें, इस नातियों की चाह ने हा!
ग्रस लिया है वीर्यबल को मोह-रूपी ग्राहने,
सारे गुणों को बहाया है इस कुरीति-प्रवाह नेवर्ष व

॥ वन्देमातरम् ॥

नवीन राजस्थान

गक्र माल का मू० ३ ॥) सहस्त्र बाहुस्त्वमहं द्विबाहुरत्वं सैन्य युक्तोऽमैक एव एक प्रति का मू० ‌/)
छ: माम का मू० २) त्वं चक्रवर्ती जन सेवकाऽहं तथापि नौ पश्यतुतर्कमर्कः ॥

वर्ष १] अजमेर; चैत्र शुक्ला ५ रविवार ता० २ अप्रेल १९२२ ई० [संख्या १०

भील ग्रासियों का हत्याकाण्ड
बेगूं में रावणशाही

ता.२६ मार्च को अजमेर निवासियों की एक बृहद सभा मोती काले में हुई। भील ग्रासियों की अवस्था और वहां खेले जाने वाले नौकरशाही और चाकरशाहियों के कुकृत्यों पर कई वक्ताओं ने मार्मिक शब्दों में वर्णन किया। अन्त में सर्व सम्मति से निम्नलिखित प्रस्ताव पास हुए: —

यह सभा सर्कार के उन पशुतापूर्ण और मनुष्यता के विरुद्ध कार्यों को घृणा की दृष्टि से देखती है जो कोटले में और खेड़ा बरपा के आसपास भील गरासियों को दबाने के लिए किए हैं और वहां सैकड़ों भील ग्रासियों को गोलियों का निशाना बनाया गया है। सरकार को याद रखना चाहिए कि उसको यह अवसर केवल इस लिए मिला है कि उनका इरादा फासिद न था और उन्हीं दिनों कार्यकर्ताओं द्वारा शांत रहने की उन्हें शिक्षा दी गई थी अन्यथा यह कठिन था कि इतनी हत्याएं सरलता से हो जाती।

यह सभा आशा करती है कि देश के प्रत्येक भाग से पीड़ित भील-ग्रासियों को सहायता और सहानुभूति देने के लिए पूरी कोशिश को जायेगी। साथ ही रोज व बरोज अफवाहों द्वारा फैलने वाले भ्रम को दूर करने और मौके पर जांच कर वास्तविकता प्रकट करने के लिए जनता पांच कार्यकर्ताओं का एक कमीशन नियुक्त करेगी।

यह सभा देश के अंग्रेजी अखबारों के इस ढंग पर खेद प्रगट करती है कि वे रियासतों के महत्त्वपूर्ण मामलों को भी महत्त्व नहीं देते और आशा करती है कि भविष्य में वे दायित्वपूर्ण स्थानों द्वारा भेजे हुए सम्बादों को अवश्य उचित रूप में स्थान दिया करेंगे।

बेगूं की चाकरशाही— डाकूशाही बनती जाती है। उदयसिंग, मोड़ सिंग, चतुरसिंग हरीपुरा भाण्या के ठाकुर और श्रीकिसननाई आदि आठ दस आदमी ऊंटों पर बैठ कर गांव २ फिरते हैं और कोई अकेला या २-१ किसान मिले वहीं अकारण मार पीट करना शुरू कर देते हैं और कह जाते हैं कि यदि पहले की तरह लागत, बेगार व हासिल भोग न दिया तो तुम्हारे घर बार जला और लुटा दिए जायेंगे और तुम्हें गोली से मार दिया जाएगा। कुछ

को पकड़ भी ले जाते हैं। २७. ३. २२ को श्योनगर के लक्ष्मण और उसके 4 साथी किसानों को लाठी जूतों और लात मुक्कों से खूब पीटा गया और बीच बाजार में नंगा करके वे मेख (खूंटे) पर बिठाए गए। लक्ष्मण के घर में बच्चा हुआ था। प्रसूति के लिए यह दवा लेने गया था, वहां यह हालत हुई। परिणाम स्वरूप प्रसूति का रोग बढ़ गया है और सम्भव है वह भी बलि चढ़ जाय।

वह बात नहीं है कि ये बात रियासत से छिपी हैं। नियमित रूप वे उदयपुर के हरेक विभाग में पहुंचती है। इनकी शासक कितनी उसे सुनवाई करते हैं, सो प्रगट है।

मेवाड में कैदियों की मृत्युएं!

क्या यह स्वभाविक मृत्युएं है?

(२)

एक कैदी की मृत्यु का हाल गत सप्ताह बताया जा चुका है। बाद में खबर मिली है कि मोडा के लिए बीमारी की अवस्था में जो खुराक आती थी उसे उसके साथ के कैदी गूजर खा जाते थे। वह रजिस्टर में मोडा के नाम दर्ज रहती थी परन्तु वह उस के पेट में पहुंचती है या नहीं, इसकी जांच कौन करे? पहले ही बीमार फिर काफी ओढ़ने बिछाने को न मिला, रही सही कमी भोजन न मिलने से पूरी हो गई। ऐसी अवस्था में उसका मरना निश्चित ही था परन्तु हम यह समझाने में असमर्थ हैं कि इसे मृत्यु कहें या हत्या? अस्तु अब दूसरी कथा सुन लीजिए।

पा सोली के जो किसान श्रीब्रह्मचारी हरीजी के साथ गिरफ्तर हुए थे उनमें से दो की मृत्यु के संवाद पाठक पढ़ चुके हैं। पूर्व मेवाड़ परिषद ने इन मृत्युओं के कारणों की जांच करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया था जिसमें श्री प्रेमचंदजी भील, अध्यापक अछूत पाठशाला... एवं चार धाकड़ किसान २ जिला की चार पंचायतों के प्रतिनिधि थे। इस कमीशन ने चित्तोड़ हाकिम से जांच की इजाजत मांगी। हाकिम साहब ने उन्हें कहा कि तुम सिर्फ डाक्टर के बयान ले सकते हो और दूसरी पार्टी अर्थात कैदी किसानों के नहीं। न उनसे मिल सकते हो। लाचार कमीशन ने डाक्टर साहब के बयान लिए। आपने दो कैदियों का टैम्परेचर १०४ डिगरी लिख रखा है। दिल्लगी यह है कि जब से कैदी बीमार हुए तब से मरने तक उनका टैम्परेचर यही रही। क्योंकि डाक्टर साहब के यहां इतना ही दर्ज है। बीमारी निमोनिया लिखी है और दवा निमोनिया मिसचर! खुराक में दूध आदि हैं, परन्तु उसका क्या उपयोग हुआ होगा यह उपरोक्त विवरण से अनुमान हो सकता है। खैर, केवल डाक्टर साहब के बयान से वास्तविकता का पता नहीं लग सकता था और किसानों से मिलने की इजाजत नहीं मिली। अत: कमीशन अपनी उद्देश्य सिद्धि के लिए उन किसानों के बयान लिए जो कैदी किसानों से मिले एवं इन विषयों पर बातचीत कर चुके थे। उनके बयानों से मालूम हुआ है कि वे लोग चित्तौड़ पहुंचने के पूर्व गिरिफ्तारी के समय पीटे गए

थे। चित्तौड़ आने पर उन्हें ७० के करीब मनुष्यों को केवल २५ कम्बल दिए गए। कड़ाके की सर्दी, फिर चूने के फर्श के मकान में कैद और उस पर ओढ़ने बिछाने की यह किल्लत! ये सब बातें निमोनिया और मौत को न्यौता देने के लिए काफी थीं। फिर जिन पर चोटें पड़ी हों और इस तरह की सर्दी मे खून जम गया हो उनके लिए तो कहना ही क्या है! अब ये मृत्युएं स्वाभाविक हैं या अस्वाभाविक, यह पाठक ही निर्णय करें।

प्रथम सम्पादक - श्री शोभालाल गुप्त (जेल में)

तरुण — राजस्थान

प्रवर्तक श्रद्धेय पथिकजी (जेल में)

एक साल का मूल्य ३॥)
छः मास का मूल्य २)
एक प्रति का ५ पैसा

वर्ष २} अजमेर, माघ कृष्णा ८ रविवार ता० १८ जनवरी १९२५ ई० {संख्या २७

रतलाम राज्य के नाम—

खुली चिट्ठी

जिस धर्म की रक्षा करने के निमित्त आपके पूर्वजों ने जान और धन देकर सच्चे भक्त होने का परिचय दिया था, साधु ब्राह्मणों के कष्ट निवारण में दीन दुखियों की विपत्ति दूर करने में, तथा अबलाओं की मान मर्यादा बचाने में जो वंश सदैव यश प्राप्त कर चुका है, उसी वंश में पैदा होने वाले अपने हाथों से पवित्र धर्म पर कुठार चलावें सुन, और देखकर किसे आश्चर्य मालूम न होगा। आज ही श्री ओंकारेश्वरजी का अत्याचार मिटाने वालों को, कल की तय की हुई धार्मिक सत्याग्रह कमेटी की शर्तों को तोड़ कर युद्ध घोषणा करनी पड़ी है।

जिस धर्म को मिटाने में रावण मारा गया, जिस धर्म को नीचा दिखाने में कंस को यमपुर जाना पड़ा, जिस धर्म को मृतक बनाने के कारण हिरण्यकश्यप को मौत के बाद भी लोगों ने राक्षस बतलाया, क्या उसी धर्म से लड़ाई छेड़ते हमें जरा भी अपने पुरषाओं का ध्यान न आया?

स्वर्ग से आपके पूर्वज धर्मात्माओं का क्या यही संदेश आया है कि शिव भक्तों को राज्य से निकाल दिया जाये, जो त्रिपुण्ड लगावे कुरीतियों को मिटा कर आस्तिक होने का सबूत देवें उसे जेल खाने की हवा खिलाई जावे?

मारने वाले नहीं, शांति के साथ रहने वाले धर्म प्रेमियों को जेल में ठूंस कर, बड़े ही धर्मात्मा होने का ढोंग रचा जावे। यदि यही है, तो ठीक है, संदेश, प्रशंसा के योग्य है।

आप खुद गीता, भागवत, रामायण का पंडित बतलाते हैं। क्षत्रिय कहने में गौरव प्रकट करते हैं मगर फिर यह मालूम क्यों नहीं है कि, यदि यहां धार्मिक पुरुषों को जेल में रक्खोगे तो तुम्हें रौरव में हमेशा रहना पड़ेगा। मन्त्री हिन्दू सभा तथा शाखा धार्मिक सत्याग्रह कमेटी रतलाम को सिर्फ इस अपराध में कि धर्म से भक्ति रखते थे। ओंकारेश्वरजी की कुरितियों के मिटाने का प्रण किया है और आप के कलङ्की सिद्ध होने में बाधा डालते हैं, जेल में जगह मिली है।

धन्य है आपकी आस्तिकता और न्याय शासन को जिसने बजाय अत्याचारियों के धर्म प्रेमियों को कष्ट पहुंचाने में सहायता दी।

मुझे तो जब यह मालूम हुआ कि दीवान बृजमोहन नाथ ने धार्मिक सत्याग्रह के स्वयंसेवकों कोश्रीओंकारेश्वर में सत्याग्रह करने पर तलवार के घाट उतार दिए जाओगे, यह धमकी दी तो जल्द से जल्द रतलाम पहुंचना अपना कर्तव्य समझा किन्तु कारणवश न आसका और देर से पहुंचा। मिरजा रहिमान रङ्गरेज के मकान को धार्मिक सत्याग्रह के लिये भाई पड़ावचन्द ने लिया था। (क्रमश:)

शेखावाटी का करुण क्रन्दन

बिसाऊ के अत्यारों की परंपरा

(४) श्रीराम पुजारी के साथ भी ऐसा ही बर्ताव किया गया और उसमें भी उसी तरह नीचा देखना पड़ा। इसी तरह आपस में तकरार होने पर दोनों से रुपया लेकर सुलह करा देना, हवादारी जगह जमीन और सब प्रकार के मामलोंमें कोई फैसला बिना अधिकार हो जाता है। उन फरियादियों बाजाप्ता तहकीकात की जाती है। सच्चाई का ध्यान नहीं रखा जाता। रुपया खोसने से मतलब रखा जाता है। बिसाऊ में फौजदारी दीवानी नहीं है, इसलिये झुंझनूं की निजामत में जाना पड़ता है; पर ऐसा करना आफत मोल लेना है, ऐसा करने वालों पर, बिसाऊ जाने पर आफत आ जाय।

(५) जल का तथा जल के (वर्षा के) सौदे का ठेका दिया जाता है। अफीम, सुलफा, मदिरा, नागरपान, सलमा, सितारा आदि बहुतसी वस्तुओं का भी ठेका दिया हुआ है।

(६) जमानत ली जाती है, चाहे जब बढ़ा दी जाती है। अनाज, घृत, गुड़ आदि एवं पाल्लो फूस, लकड़ी आदि वस्तुओं पर भी कर लगाया गया है। इस प्रकार तो जयपुर से अप्राप्त अविकार काम में लाये जाते हैं तथा मनमानी कार्रवाई की जाती है।

(७) कन्हैयालालजी महनसरिया वैश्य ने जगह मोल ली उस पर जबरन कब्जा किया गया और उस पर अपने आदमी रख दिये गये।

(८) ठाकुरसीदास ब्राह्मण की हवेली पर उसके मरने के बाद हकीकी सहोदर दो भाइयों की उपस्थिति में तथा भाइयों के लड़कों के रहते कब्जा कर लिया गया।

(९) श्रीराम बाघले की जमीन सरकारी पट्टा होने पर भी मालिकों के रहते घड़सी खाती को दे दी गई।

(१०) नरसिंहदास बाघले की जमीन पट्टा होते हुए श्रीरामजी झुंझनूंवाले को बेच दी गई।

(११) किशोरीलाल खेताण की हवेली तथा भोतीकों की हवेली और कलावटिया ब्राह्मणों की जमीन तीनों चिमनराम रामकुमार पोद्दार को बेच दी।

(१२) हरजसराय झुंझनूं वाले की दो चौक की हवेली जिसमें रामलालजी पुजारी का भी ठांव था, उन सहित पोकरमल जी पोद्दार को बेच दी गई।

वर्ष ५अजमेर, सोमवार भाद्रपद शुक्ला १, तारीख ५, सितम्बर सन् १९२७ ईसवी संख्या १

बिजौलिया : मार्शल लॉ जारी है

नराधम कोतवाल की नृशंसता

बिजौलिया में मार्शला की वैसी ही धूम है। अपढ़ और पशु बना रक्खे गए सैनिकों की टुकड़ियां गांवों में घूम २ कर लोगों को सताती हैं और स्त्रियों के साथ छेड़ छाड़ करती हैं। इसके फलस्वरूप कई जगह झगड़ा हो जाने की सम्भावना थी, किन्तु जिम्मेदार किसानों ने जनता को शांत रक्खा। जनता खूब दृढ़ है। प्राय: सब जमीन बिना जुती पड़ी है। वर्षा अधिक होने से जिन लोगों ने कुछ बोया था, उनको भी कुछ मिलने की आशा नहीं रही। लोग सोच रहे हैं कि यदि राज्य की अनीति में कोई परिवर्तन हो तो पीवल जमीन का भी स्तीफा दे दिया जाय और उग्रसत्याग्रह छेड़ा जाय। पाठशालाओं का बहिष्कार भी बदस्तूर जारी है। सरकारी अध्यापक नित्य आते हैं, परन्तु उनके पास कोई पढ़ने नहीं जाता। अब कामदार मक्सूदअली भी उदयपुर से वापिस बिजौलिया पहुंच गये हैं। देखें वे कुछ बुद्धिमानी से काम लेते हैं या नहीं?

कहा जाता है कि श्रावण सुदी १० के पास बिजौलिया के तीखी गांव के पास बंजारों ने मानगढ़ के ठाकुर के बकरे मार खाये, इस पर बिजौलिया का कोतवाल मय सिपाहियों के तीखी गया। खबर लगते ही बंजारे भाग गये। डेरे पर से दो बूढ़ों और दस बारह युवतियों, लड़कियों एवं स्त्रियों को पकड़ कर छोटी बिजोली ले गये। वहां कुमारियों, विवाहिता युवतियों और प्रौढ़ाओं को अलग २ घरों में बंद करके, उन्हें सैनिकों के सुपुर्द कर इज्जत खराब करवाई और कोतवाल ने उनके जेवर उतरवाये। रात भर रख कर सुबह औरतों को भेज दिया और बूढ़ों को बिजौलिया ले गये।

उधर तीखी में सदा से रहने वाले बनजारे को भाग कर लौटे हुए बंजारों ने उपालम्भ दिया कि उसने यदि उनकी जमानत दे दी होती तो औरतों की इज्जत न बिगड़ती। इस पर वे उस बंजारे और उसकी लड़की को मारने लगे। बंजारा भाग गया। लड़की पिटती रही। उधर पास ही खेतों में थड़ौदा के गुसाई और धाकड़ मक्की खोद रहे थे। बंजारों ने भगोड़े को उनकी राय से भागने का संदेह कर उन्हें मारा, जिससे एक माधुपुरी नामक गुसाई और मोड़ा वल्द रामलाल पटेल थड़ौदा के जान से मारे गये। पुलिस हत्यारों को नहीं पकड़ सकी

तरुण राजस्थान

यश, वैभव, सुख की चाह नहीं,
परवाह नहीं, जीवन न रहे
यदि इच्छा है, यह है जग में,
यह स्वेच्छाचार दमन न रहे॥

सोमवार, भाद्रपद शुक्ला ९, संवत् १९८४

राजस्थानों की समस्या

दूसरा पहलू

क्या प्रजातंत्र भयावह है?

(लेखक श्री विजयसिंहजी पथिक)

(१०)

पिछले लेख में हम राज्यों में फैले हुए ब्रिटिश भारत विरोधी भावों का उल्लेख कर चुके हैं। यह भी बता चुके हैं कि उनका मुख्य प्रचार स्रोत नौकरशाही के कल-पुर्जे हैं और यद्यपि वह प्रचार सर्वथा अनुचित हुआ है, एवं है, तथापि उसका असर राज्यों में काफी देखा जाता है। कारण स्पष्ट है। प्रथम तो नौकरशाही ने उनकी नस-नस इस प्रकार बांध रक्खी है कि वे उसकी इच्छा के बंधन से मुक्त हो ही नहीं सकते — उन्हें उसके इशारे पर नाचना ही पड़ता है। सूर्य पश्चिम में भले ही उदित होने लगे, वे उसके कूटनीति-पाश से बाहर नहीं निकल सकते। फिर उनके लिये केवल भय ही नहीं, प्रलोभन भी है। भीतरी मतभेदों और स्वार्थपूर्ण षड्यंत्रों से लाभ उठा कर कभी इस दल को और कभी उसको आभारी बना कर अपना मतलब साधन में तो अंग्रेज नौकरशाह प्रसिद्ध है ही। राजस्थानों में उनकी इस नीति को खूब खुला क्षेत्र मिलता है। यही क्यों कुछ जमीन के टुकड़े लौटा देने या दे देने का अव्यर्थ प्रलोभन भी उसके हाथमें है। उस पर हमारे नरेश राजनीति के दिवालिया हैं। वे सदा अंग्रेजों को ही अपने आचार्य मान कर चलते हैं। वे और बातों में चाहे उनसे चौंकते हों, नवीन भावनाओं के सम्बन्ध में नहीं चौंकते। कारण स्पष्ट है। हमारे श्वेत गुरूओं ने एक ओर तो उनके स्वेच्छाचार की अनुचित रूप से रक्षा करके और उन्हें पतनकारक व्यसनों एवं अपव्यय में फंसने देकर उनके मन में स्वेच्छाचार के मोह की गहरी जड़ जमा दी है, और दूसरी ओर प्रजातंत्रात्मक भावों के विरूद्ध तीव्र विष फैला दिया है इसीलिये वे, बिना कुछ सोचे प्रजातंत्र शब्द एवं शासन को एक आपत्ति मान बैठे हैं। उन्हें अपने विदेशी मित्रों की बदौलत यह विश्वास सा हो गया है कि प्रजातंत्र से एकतंत्र का मेल नहीं मिल सकता। जब दोनों एक जगह होंगे तो दोनों में से एक को नष्ट होना ही पड़ेगा।

वे यह सोच ही नहीं सकते कि कीचड़ और कमल का भी साथ हो सकता है— रजनी के ही अंचल में से दिन कर उत्थित होता है! इसीलिये यद्यपि वे देखते हैं कि त्रावणकोर माइसोर और अधिकतर मराठे राज्य अपने यहां कानून की सत्ता को सर्वोपरि स्थान दे कर तथा प्रतिनिध्यात्मक शासन-व्यवस्था कर के अधिक सबल ही बने हैं। प्रजा उन्हें अवज्ञा नहीं, अधिक प्रेम की ही दृष्टि से देखने लगी है। फिर भी उनसे स्वेच्छाचारिता और शक्ति के दुरुपयोग करने का मोह नहीं छूटता। परिणाम यह हुआ है कि वे क्या ब्रिटिश भारतीयों के और क्या राजस्थानियों के प्रत्येक नवीनता की ओर बढ़ाए जाने वाले कदम को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। उनके सच्चे सच्चे और हितकारातिहितकर प्रयत्नों में उन्हें अहित की गन्ध आती है।

× × × × × ×

किन्तु बात क्या है? राजस्थानियों का तो सुधारों हित सम्बन्ध प्रत्यक्ष ही है। ब्रिटिश भारतीयों के प्रश्न पर भी विचार कीजिये! क्या वे वास्तव में इस लिये देशी राज्यों में सुधार चाहते हैं कि राज्य नष्ट हो जायं? उनकी जगह प्रजातन्त्र कायम हों? अथवा वे भी राज्यों की तरह प्रजातन्त्र और एकतन्त्र का सहयोग असम्भव मानते हैं? कदापि नहीं, उनकी सद्भावना का सब से पहला प्रमाण तो यही है कि जब कभी मित्र कही जाने वाली सरकार किसी राज्य का गला दबाती है तब उसे ब्रिटिश भारत के राष्ट्रीय पत्रों और कार्यकर्त्ताओं से ही सहायता मिलती है। उस समय ये शत्रु समझे जाने वाले अपने ही उसके आड़े आते हैं। उन्हीं की बदौलत उसकी कुछ रक्षा होती है अन्यथा अंग्रेज नौकरशाहों के हाथों कितनी रानियों एवं बेगमों के जेवर नीलाम नहीं हुए हैं? कितने महल घुड़शालों और बारकों में परिणत नहीं हो गए हैं? कितनी बस्तर की जैसी कुमारियां अपनी इच्छा विरूद्ध विवाह करने को विवश नहीं हुई हैं? रही दूसरी बात, सो उसे योरोप का सारा वर्तमान ढांचा ही झूठी सिद्ध कर रहा है। वहां आज भी एकतंत्री राज्य न केवल प्रजातंत्रों के सहयोगी हैं, प्रत्युत आश्रित भी हैं। क्या फ्रांस, क्या जर्मनी क्या जापान और क्या अमेरिका— सर्वत्र यही अवस्था है।

किन्तु ब्रिटिश भारत की इस सद्भावना का आधार केवल यही बातें नहीं हैं। उसकी जड़ें और भी गहरी हैं। वास्तव में राज्यों के सुधार का प्रश उसके लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जिनता अपने सुधार का। उदाहरण के लिए पहला कारण आत्मीयता और पड़ौसी धर्म का है। चाहे राजनैतिक स्वार्थी देश के सहस्त्र टुकड़े कर डालें; यह निश्चित है कि भारत एक है। भारतीय एक है, वे सब परस्पर रक्त-बंधु है। परस्पर विवाह करते हैं। परस्पर दिन रात मिलते हैं। ऐसी अवस्था में वे कब चाहेंगे कि उन्हें परस्पर, एक दूसरे के विरूद्ध खडंहस्त होना पड़े। भाई-भाई को ही एक दूसरे का गला नापना पड़े। और कुछ और कुछ नहीं तो वे उनके साथ एक मित्र और बन्धु की तरह रहना चाहते हैं और यह तभी संभव है जब दोनों में सहयोग की भावना पैदा हो जाय। दोनों की ही व्यवस्था ऐसी हो जाय कि वे साथ-साथ निभ सकें। एक आकाश में और दूसरा पाताल में न रहे। फिर इस बारे में तो सारे संसार का इतिहास उन्हें सशंक करने वाला है। विशेषत: अङ्गरेजों के हाथ में यहाँ के शासन सूत्रों का होना। वे जानते हैं कि किस तरह फ्रांस की राज्यक्रांति के विरूद्ध स्वार्थियों

ने 'विंडी' के किसानों को अपने ही भाइयों से भिड़ा दिया था? किस तरह अङ्गरेजों ने 'डंकन' और 'कोलचक्र' से देशद्रोह कराया और अन्त में उन्हें अपने ही भाइयों द्वारा नष्ट कराया। साथ ही जब वे यहां अङ्गरेज एजेण्टों के अनावश्यक जुल्मों का समर्थन, खुशामद की पूजा, और दायित्वपूर्ण शासनको हतोत्साह करना आदि काम करते हैं— प्रत्यक्षत: वा अप्रत्यक्षत: देखते हैं, तब क्या आश्चर्य है, यदि वे समझने लगते हैं कि नौकरशाही, देशी-राज्यों का भी उसी प्रकार दुरुपयोग करना चाहती है।

*   *   *   *   *   *

पर यह सब एक ओर रख दिया जाय तो भी उनका स्वार्थ ही उन्हें इस ओर झुकाने को काफी है। जैसा कि कदाचित हम इसके पूर्व भी और इस लेख में भी बता चुके हैं, राजस्थानों और बृटिश भारत का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्या रेल, तार, डाक और व्यापार एवं क्या आवागमन, नौकरी इत्यादि सब बातों में दोनों का दिन रात काम पड़ता है। दिन रात इधर के नागरिक उधर और उधर के इधर आते हैं। दोनों पर प्रत्येक काम में दोनों के कानूनों और शासन का असर पड़ता है। ऐसी अवस्था में कोई भी एक दूसरे की त्रुटियों की उपेक्षा नहीं कर सकते। दोनों ही का एक दूसरे के सुधार और मित्र भाव में हित है। हां, एक मार्ग है। यदि देशी राज्य ठीक रास्ते पर न आवें और अपनी बेढंगी रफ़्तार से ही चले जावें तो विवश होकर ब्रिटिश भारतीय भी विशेपाधिकार मांगेंगे। वे अपने नागरिकों की हित रक्षा करने को बाध्य हैं अत: वे चाहेंगे कि अंग्रेजों की तरह उनके नागरिकों पर भी राज्य के कानून लागू न हों। उन पर राज्यों की अदालतों में मुकदमें न चल सकें। वे सर्वथा अपने ही कानून से शासित हों। यह मांग होगी भी सर्वथा ज़ायज़। आखिर इसी आधार पर तो आज अंग्रेज, ऐंग्लो इण्डियन, क्रिश्चियन आदि जातियां यहां विशेष अधिकार भोग रही हैं। इसी आधार पर तो विदेशियों ने चीन, तुर्की, अफ्रीका और फ्रांस के रक्षित राज्यों में विशेषाधिकार प्राप्त किये थे कि वहां की शासन व्यवस्था हमारे देशी राज्यों की सी 'जंगली' (Barbarian) थी— ''अप टु डेट'' न थी। इसीलिये तो गत ''इम्पीरियल कान्फ्रेन्स में तय हुआ था कि अन्तर्व्यापार आदि की सुविधा की दृष्टि से सब स्वतन्त्र उपनिवेशों को मिलते जुलते ही कानून बनाने चाहिये।

ब्रिटिश भारत भी ऐसी मांग कर सकता है और यह मांग अस्वीकार नहीं की जा सकती। पर, इससे तो राज्य ही घाटे में रहेंगे। ऐसी अवस्था में तो यदि ब्रिटिश भारतीय उनके साथ यह विदेशियों की सी मांग नहीं करते तो यह उनकी सद्भावना का ही प्रमाण है। इससे प्रमाणित होता है कि उनकी राजस्थानों के प्रति सुधार भावना के मूल में स्वार्थ नहीं, विशेषत: बन्धुत्व की ही भावना है। वे तो उन्हें देशद्रोह के पाप और निरर्थक पारस्परिक संघर्ष की विपत्ति से बचाना चाहते हैं।

सार यह कि सब दृष्टियों से यह परम आवश्यक है कि राजस्थान नौकरशाही के इस चक्कर में न भूलें। उसे मित्र मानते हुए और उचित सीमा तक उस मित्रता को निभाते हुए भी, वे इस बात को न भूलें कि उनकी मित्रता ''राजनैतिक मित्रता'' मात्र है। और यह कि उनका कल्याण, सुधारों और ब्रिटिश भारत से दूर भागने में नहीं, ब्रिटिश भारत से निकट

सम्बन्ध स्थापित करने, उसे यथा साध्य सहायता देते और उसके सहयोग से, अपने घर को सुधार कर सुदृढ़ बनाने में है।

* * * * * *

नेपाल–राज्य ने हाल में ऐसा कानून प्रचलित किया है कि जिसके अनुसार कोई भी किसी धर्म का प्रचार न कर सकेगा और न शुद्धि की जा सकेगी।

सम्पादकीय टिप्पणियां

मिस मेओ

हाल में कुमारी कैथेराइन मेओ नामक एक अमेरिकन महिला ने 'मदर इंडिया' नाम की एक पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक ने प्राय: सारे भारत में हलचल मचा दी है। यों तो किस समाज में त्रुटियां नहीं हैं विशेषत: इस बीसवीं कलियुग की - सदी में। फिर जिन देशों को अङ्गरेजों के अधीन होने का दुर्भाग्य प्राप्त हो उनका तो कहना ही क्या? किन्तु ये त्रुटियां कहीं भी समाज का स्थायी अंग नहीं मानी जातीं। मिस मेओ ने यही भूल की है। भारत भ्रमण के बाद भी उन्होंने इस पुस्तक को लिखने में ऐसा भाव रक्खा है, मानो उनकी बतलाई हुई 'बाल-विधवा, बाल विवाह, बाल माताएं, अस्पृश्य और दलित जातियां, पालतू पशुओं से दुर्व्यवहार, पर्दे की प्रथा, गहनों और धन संग्रह का रोग, मन्दिर और तीर्थों की कुव्यवस्था आदि बातें हिन्दू समाज की स्वीकृत रूढ़ियां हों। इसीलिए उन्होंने प्रत्येक बात को लेकर भारत और भारतीयोंको भरपेट कोसा है और भारतीय स्त्री पर कलंक लगाये हैं। हमारे कहने का यह अर्थ नहीं कि हमारा समाज इन त्रुटियों से शून्य है। प्रत्युत यह कि इन त्रुटियों के होते हुए भी वह उनके विरूद्ध खड्ग हस्त हो रहा है। वह इन त्रुटियों को अपनी स्वीकृत रूढ़ि नहीं मानता। ऐसी अवस्था में मिस मेओ की इस गाली गलौज और प्रचार शैली का अर्थ इस के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता कि दुनियां की दृष्टि में भारत और भारतीय समाज गिर जाय और उसकी देवियों के प्रति संसार में घृणा फैले। अस्तु।

इन सब बातों को देखते हुए, यदि भारतीय समाज में इस पुस्तक के विरूद्ध गहरा असन्तोष फूट पड़ा है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। वास्तव में अच्छा तो यह होता कि मिस मेओ भारतीय कुप्रथाओं पर इतना समय खराब न करने की अपेक्षा अपने घर की अवस्था देखने का कष्ट उठातीं। वे भारत की तुलना में "हाइड पार्क" की बेहूदगियों, योरोप की विलासिता, नास्तिकता, कन्या विक्रय, नीति भ्रष्टता आदि का चित्र देखतीं और पहले उसे सुधार कर फिर भारत की ओर अँगुली उठातीं।

बिजौलिया का नराधम कोतवाल

इसी अङ्क में प्रथम पृष्ठ पर बिजौलिया के कोतवाल द्वारा कुछ बनजारन स्त्रियों और युवतियों के गिरफ्तार किये जाने और सैनिकों द्वारा उनके सतीत्व भंग कराने के समाचार प्रकाशित हैं। घटना इतनी भयङ्कर और क्रोधोत्पादक है कि पढ़ते ही क्रोध के मारे हृदय

जलने लगता है। यदि किसी स्वतन्त्र देश एवं उत्तरदायी शासन में इस प्रकार की घटना हुई होती तो नराधम कोतवाल का शरीर यदि कुत्तों से न नुचवाया जाता तो कम से कम वह हथकड़ी बेड़ियों से जकड़ा हुआ बन्दीखाने में तो अवश्य अपने किये का फल भुगतता दिखायी देता। कम से कम ऐसा अनाचार तो ब्रिटिश भारतमें भी सह्य नहीं होता। ऐसी दशा में अपने कहलाने वाले देशी राज्य और वह भी हिन्दुआ सूर्य के राज्य में यह सब कुछ ठंडी छाती से सह लिया जाय, इससे बढ़कर दु:ख और लज्जा की बात और क्या होगी? हम जानते हैं कि मेवाड़ के अधिकारी इस समय नीति और न्याय निष्ठा को सर्वथा तिलाञ्जलि दे बैठे हैं और इसलिए वहां जो कुछ न हो जाय वही थोड़ा है। किन्तु उनके हृदय इतने असर प्रूफ हो गये हैं कि ऐसे मामलों में भी जिनका कि उनके प्राण सुखाने वाली राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं, वे इस प्रकार अपनी आंखों पर पर्दा डाल लेंगे, इसका हमें ख्याल न था। किन्तु घटना को हुए लगभग एक मास हो जाने पर भी पापी कोतवाल को स्वतंत्र फिरते देख अन्त में यही कहना पड़ता है कि उन लोगों ने केवल न्याय निष्ठा ही नहीं कदाचित साधारण मनुष्यता तक को तिलाञ्जलि दे दी है, और सम्भवत: इसीलिए उनके शासन पर कलङ्क कालिमा पोतने वाली ऐसी लज्जाजनक घटनाओं का भी उनके मलिन हृदय पर कुछ असर नहीं होता। क्या श्रीमान् महाराणा साहिब, जो कि अपने चरित्र बल के लिए बहुतों के लिए आदर्श स्वरूप हैं, ठिकाने के एक कर्मचारी के इस भयङ्कर कृत्य के प्रतिकार की कुछ कार्रवाई करवावेंगे?

मेवाड मिनिस्टर का मान मर्दन

जयसिंह और बृद्धिसिंह का नाम 'तरूण' के पाठक बहुत दिनों से सुन रहे हैं। रामसिंह के साथ साथ इन दोनों युवकों पर भी मेवाड़ी चाकरशाही का वार हुआ था और जब खूब तङ्ग कर लिये जाने पर भी ये बिना कुछ अपराध सिद्ध हुए, ज़मानत मुचलका देने पर रज़ामन्द न हुए तो हार कर दो वर्ष तक नेक चलन बने रहने की हिदायत के साथ, अपने गांव में ले जा कर छोड़ दिये गये थे। छूटते ही ये लोग चर्खा संघ वालों से, जहाँ पर ये पहिले काम करते थे, अपना हिसाब किताब समझने को बिजौलिया पहुंचे और रात भर वहां ठहरे रहे। दूसरे दिन प्रात: ही बिजौलिया के 'बहादुर' कर्मचारियों ने शायद इनसे बिजौलिया ठिकाने की नींव हिल जाने की आशङ्का कर फिर उन्हें गिरफ़्तार कर बेगूं भेज दिया। वहां इन्हें यह लिख देने पर मजबूर किया कि दो वर्ष तक हम कहीं न जावेंगे। चार पांच रुपये मासिक पर एक खास चौकीदार भी इनकी निगरानी के लिए नियत किया गया किन्तु चौकीदार निगरानी करता ही रहा और ये अवसर पाकर वहां से रवाना होकर गत ३० ता. को अजमेर, सेवा संघ में आ पहुंचे। ये वही युवक है, जिनसे मिलने देने से इनकार करते हुए मेवाड़ के मदान्ध मिनिस्टर चटर्जी ने कहा था कि हम उन्हें तुम्हारे प्रभाव में नहीं रहने देना चाहते। हम समझते हैं, इन युवकों द्वारा इस प्रकार मान मर्दन होते हुए देख कर वे अपनी दमन नीति में परिवर्तन करेंगे। अब तो उन्हें यह अनुभव हो गया होगा कि 'यह वह नशा नहीं जिसे तुरशी उतार दे'। और इसलिये अपनी दमन-नीति से बाज आवेंगे।

वर्ष ५} अजमेर, सोमवार, आश्विन कृष्ण १० तारीख १२ सितम्बर सन् १९२७ ईस्वी {संख्या १०

जयपुर में पुलिस की नृशंसता!

लोगों पर पत्थर, गोली और भालोंके वार!!

जनता की अपूर्व दृढ़ता - नगर में ४ दिन तक हड़ताल!!!

(राजस्थान सेवा संघ की विशेष रिपोर्ट)

जयपुर के सनसनीखेज़ दङ्गे के सम्बाद अब प्राय: चारों ओर फैल गए हैं किन्तु सारी स्थिति पर आम तौर पर प्रकाश नहीं पड़ा है। इसका कारण भी विशेष है। जयपुर का यह दङ्गा और यह अभूतपूर्व हड़ताल, आकस्मिक होने पर भी वास्तव में आकस्मिक घटनाएं न थीं। जयपुर महाराज के इतने लम्बे शासन में जो बातें कभी न हुई थीं, उन्हीं का अंग्रेजी रीजेन्सी के छोटे से शासन में दो बार हो जाना ही इस बात का अकट्य प्रमाण है। बात यह है कि प्रारम्भ से ही रीजेन्सी के शासन से जनता असन्तुष्ठ है। साधारण जनता ही नहीं हमारा ख़्याल है कि वहां का भूस्वामी वर्ग तक उसका विरोधी है। उसने जिस ढङ्ग से जयपुर के खज़ाने का उल्टा सीधा उपयोग किया हैं इम्पीरियल बैंक आदि से जनता को लुटवाया है, गतकीय इमारतें नीलाम कराई हैं और जनता पर डण्डे का आतङ्क जमाने की चेष्टा की है, उस सब का परिणाम इसके अतिरिक्त और कुछ हो ही न सकता था। सार यह कि घटना तो निमित्त मात्र थी। वास्तव में तो प्रजा में भीतर ही भीतर जो असन्तोष का ज्वालामुखी धधक रहा था - यह उसीका एक विस्फोट था। यही बात इस दङ्गे और हड़ताल के सारे इतिहास से प्रमाणित होती है और यही इस मामले में राजपूताना-एजेंसी के दिखाए हुए रुख से भी।

राजपूताना एजेंसी की कारस्तानी को समझने के लिये तो इतना ही बता देना पर्याप्त होगा कि उसके कलपुर्जों ने संघ की ओर से इस सम्बन्ध में पत्रों को भेजे हुए तार तक नहीं जाने दिये। जयपुर में तो तारों पर सेन्सर ही बिठा दिया गया था। कुछ कार्यकर्ताओं की भूल और जनता में पूर्व संघटन के अभाव ने भी अधिकारियों को सहायता ही पहुंचाई। इसीलिये इतनी बड़ी घटना हो जाने पर भी हमें ४ ता० को दोपहर बाद विश्वस्त समाचार प्राप्त हुए। अस्तु।

समाचार मिलते ही हमने घटना की गम्भीरता को देखते हुए एक खास जिम्मेदार कार्यकर्त्ता को घटना स्थल पर भेजा। नीचे उन्हीं की रिपोर्ट सर्व साधारण की जानकारी के लिये ज्यों की त्यों दी जाती है।

अजमेर
९-९-२७

विजयसिंह पथिक
अध्यक्ष: राजस्थान सेवा संघ

वर्ष ५) अजमेर, सोमवार, आश्विन कृष्ण ९, तारीख १९ सितम्बर सन् १९२७ ईस्वी (संख्या ११

बिजौलिया में मार्शल-ला

श्री माणिक्यलाल जेल में बीमार

सैनिकों ने लूट मचा रखी है! स्त्रियां घर से बाहर नहीं निकलतीं!

बिजोलिया में हिन्दुआ सूर्य कहलाने वालों की सेना ने जो ताण्डव मचा रक्खा है, वह कदाचित रावण के द्वारा भी समर्थन न पाता। सैनिकों के मारे किसान स्त्रियों को खेतों पर जाना छोड़ने को विवश होना पड़ा है। यह है महाराजकुमार के शासन की खूबी!

उधर पोल देख कर सैनिकों ने व्यक्तिगत रूप से लाभ उठाना शुरू कर दिया है। वे लोगों से सूत, सन, तमाखू आदि अनेक पदार्थ उगाह ले जाते हैं। यदि कोई चीज़ मोल लेने का नाम करते हैं तो बाजार से चौथाई दाम देते हैं। यदि कोई इन्कार करता है तो पीटते हैं और क़ैद कर देते हैं। किसान इन बातों पर दरख्वास्त देते हैं तो राजपूताना एजेंसी का दिया हुआ कामदार कुछ सुनता नहीं। दरख्वास्तें फेंक देता है। जो लोग क़ैद किये जाते हैं उन्हें कोतवाली में पीटा जाता है और ओढ़ना, बिछौना और खाना आदि कुछ भी नहीं दिया जाता। इस प्रकार पीटे गये और क़ैद किये गये लोगों की संख्या, अब प्राय: सौ पर पहुंच गई है। हाल में कुछ लोगों ने उदयपुर में इन बातों के विरूद्ध दावे दायर कर वहां के न्यायालयों की परीक्षा लेनी शुरू की है। देखना है वे क्या करते हैं?

माणिक्यकालजी को अभी यों ही जेल में सड़ाया जा रहा है। उनके साथ व्यवहार भी बहुत अच्छा नहीं होता। स्थान तो सर्वथा पशुओं के रहने जैसा है। इसीलिए प्राय: डेढ़ सप्ताह से उनका स्वास्थ्य खराब हो रहा है। दिल्लगी यह है कि जो चिट्ठी अजमेर भेजने का उन पर इल्जाम है, उसके बारे में कोई विश्वस्त प्रमाण अब तक नहीं मिला है। न चिट्ठी पेश हुई है, न उनका लिखना, देना या भेजना प्रमाणित हुआ है न यह प्रमाणित हुआ है कि यदि चिट्ठी भेजी थी तो किस राजनैतिक प्रश्न के सम्बन्ध में थी? केवल एक आदमी से मारपीट कर यह कहलवा दिया गया है कि "इन्होंने एक चिट्ठी भेजी थी?" इससे स्पष्ट समझ में आ जाता है कि मुक़द्दमे का यह ढोंग भी बहाना मात्र है अन्यथा और कुछ नहीं, तो ऐसे संदिग्ध मामले के मुल्ज़िम को हाज़िर ज़मानत पर तो छोड़ा ही जाता।

एक ओर यह हाल है, दूसरी ओर किसानों की फ़सल अतिवृष्टि से नष्ट हो गई है। ठिकाने वाले भी पिछली बक़ाया वसूल करने और वसूल न हो सकने पर पशु आदि नीलाम करने की धमकी दे रहे हैं। फूट डालने की भी कोशिश हो रही है। उनकी दरख्वास्तें भी नहीं ली जातीं।

किन्तु कुछ भी हो, किसान दृढ़ हैं और उन्होंने अन्त तक लड़ने का निश्चय कर लिया है। बहुत सम्भव है कि यदि अधिकारियों का ढंग ऐसा ही बना रहा तो वे उग्ररूप में सत्याग्रह शुरू कर दें।

१९ सितम्बर १९२७

तरुण राजस्थान

यश, वैभव, सुख की चाह नहीं,
परवाह नहीं, जीवन न रहै।
यदि इच्छा है, यह है जग में,
यह स्वेच्छाचार दमन न रहे॥

जयपुर की हड़ताल

जयपुर की महत्त्वपूर्ण हड़ताल समाप्त हो गई। यह कहना कठिन है कि वह सर्वथा असफल हुई। हां, उसे सर्वथा सफल हुई भी नहीं कह सकते किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसने राज्यों में - विशेषत: नाबालगी में, अंग्रेज़ों की नीति के एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग पर अच्छा प्रकाश डाला है।

* * * * * *

कहना अनावश्यक है कि सरकार सदैव अपने को राज्यों की सब से बड़ी हितू और रक्षक मानता एवं उच्च स्वर से घोषित करती है। अनेक बार वह इसी आधार पर असमर्थनीय बातों का समर्थन तक करती है। हाल में स्व० सिंधिया नरेश की वसीयत के विरूद्ध तक के आचरण करने की तैयारी वायसराय ने इसी पर बताई थी, आज भी अनेक राजकुमार इङ्गलैंड में सर्वथा अंग्रेजी वायुमण्डल में इसी बहाने से रक्खे जा रहे हैं और कदाचित इसी आधार पर बस्तर की कुमारी के विवाह वाला कांण्ड हुआ है। किंतु फिर भी जनता और नरेशों का यही कटु अनुभव है कि राजस्थानों में सरकार का प्रबन्ध उसके अपने राजनैतिक हित की दृष्टि से होता है, राज्यों के हित की दृष्टि से नहीं। यह विषय इतना स्पष्ट है कि कड़ी से कड़ी मार को पी जाने वाले नरेशों तक में से कई इसे अपने मुंह पर ले आए हैं। यहां तक कि अब प्राय: प्रत्येक नरेश अपने शासन को अपने पीछे अंग्रेज़ी पञ्जे से मुक्त रखने की योजना अपनी वसीयत में लिख जाता है।

जयपुर के नाबालिग़ी शासन ने भी यही प्रमाणित किया है। यही क्यों, उसने तो अंग्रेज नौकरशाही की ईमानदारी की भी पोल खोल दी है। जयपुर के नाबालिगी शासन में दो स्मरणीय घटनाएं हुई हैं और वे दोनों ही इस विषय से सम्बन्ध रखती हैं। पहली थी सर चार्ल्स क्लीवलैंड को निकलवाने पर राजा प्रजा दोनों पक्षों का एक हो कर खड़े होना। उस समय भी जयपुर ने अपूर्व बल और एकता का परिचय दिया था। नौकरशाही की मनोवृत्ति भी उस समय मैदान में आ गई थी। सर क्लीवलैंड पर रिश्वस्त लेने आदि के कई भयानक आरोप प्रकटत: लगाए गए थे और जहां तक हमें स्मरण है, उनका आज तक खण्डन नहीं हुआ। फिर भी बायसराय ने उसका काफ़ी पक्ष लिया।

किन्तु नीति वही रही। एक ओर सुधार की जगह लोगों को लूटने के नए नए कानून बने दूसरी ओर कपड़ा भण्डारण आदि खजानों की सामग्री का मनमाना उपयोग होने लगा और सरकारी इमारतें नीलाम की जाने लगीं। यही नहीं कपड़ा भण्डार से व्यापारिक उन्नति के लिए बिना ब्याज रुपये देने की जो महाराजा के समय की प्रथा थी, उसे उठा कर उन्होंने वहां इम्पीरियल बैंक की शाखा खुला और अपने सजातियों को लाभ पहुँचाना शुरू कर दिया। सार्वजनिक जीवन पर तो इतनी कठोर दृष्टि रखनी शुरू कर दी कि उसका अस्तित्व रहना ही कठिन हो गया। 'तरुण राजस्थान' और 'प्रताप' आदि समाचारपत्रों का ही नहीं, 'प्रभा' जैसी साहित्यिक पत्रिका का भी आना रोका गया एवं रामनारायणजी व हरिजी जैसे कार्यकर्त्ताओं का, जयपुर प्रवेश निषेध किया गया विशेषत: जब कि चौधरीजी का घर बार रिश्तेदारी आदि सब जयपुर राज्य में हैं। यही क्यों, उन्होंने युगों पहले, अर्जुनलालजी सेठी वाले मामले के कारण बने वायुमण्डल में अंग्रेजी दबाव से कुछ समय के लिये महाराजा द्वारा निकाले हुए और कम से कम शेखावाटी में कभी व्यवहार में न आए हुए एक हुकुमनामे को ढूँढ निकाला, और निजी पाठशालाएं चलाने वालों से कह दिया कि उनकी शालाएं तभी जारी रह सकती हैं, जब वे राज्य से स्वीकृत करा ली जायं।

परिणाम भी वही हुआ। क्या राज्यपक्षीय लोग, क्या पढ़े लिखे सार्वजनिक जीवन के प्रेमी, क्या निम्न श्रेणी के लोग सभी वर्तमान शासन के विरोधी बन गये किन्तु नौकरशाही ने फिर भी पर्वाह नहीं की। उसने इस असन्तोष में और भी घृताहुति देनी प्रारम्भ की। उसने जयपुरियों और महारानियों की इच्छा के विरुद्ध पुराने खजानों और महलों की व्यवस्था में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया। नाबालिग महाराजा का जयपुर आना रहना प्राय: रोक दिया और उन्हें अपने रंग में रंगने के लिए सर्वथा अंग्रेज़ अभिभावुकोंके आधीन कर उनका विलायत जाना अनिवार्य ठहरा दिया। ऐसी ही स्वेच्छाचारिताओं से पैदा किया हुआ वह असन्तोष था जो उस दिन सवा लाख आदमियों की लम्बी हड़ताल के रूप में प्रकट हुआ था।

किन्तु नौकरशाही हड़ताल के समय भी वैसी ही रही। पाठकों को कदाचित यह न मालूम होगा कि स्वर्गीय महाराजा पूरे स्वेच्छाचारी और हद दर्जे के कामुक होने पर भी वैसे बड़े प्रजा प्रेमी और दयालु स्वभाव के थे। वे कठिन से कठिन अवस्था में भी प्रजा पर कठोरता दिखाने के पक्षपाती न थे। कहना व्यर्थ है कि महाराजा की इस नीति का प्रभाव अधिकारियों पर भी पड़ता था और इसलिये वे जनता के साथ अच्छा व्यवहार करते थे। उदाहरण लीजिये। सन् १९२१ में जयपुर सेण्ट्रल जेल के सारे क़ैदियों ने जेल के दुर्व्यवहारों से तङ्ग आकर हड़ताल कर दी। वे साधारण कार्य स्वच्छता, जल भोजनादि तो सब करते थे, पर आय सम्बन्धी कार्य और श्रम न करते थे। यदि कोई अंग्रेजी जेल होती तो फौरन उन विचारों पर गोलियां चल जातीं। जयपुर में भी लोगों ने ऐसी सलाह दी थी और महाराज से अज्ञा मांगी थी किन्तु उन्होंने स्पष्ट इन्कार कर दिया। कैदी दस मास तक हड़ताल किये रहे फिर भी उन पर कभी बल प्रयोग नहीं कराया। अधिकारी भी अपने आप सीधे हो गये। किंतु अंग्रेजी प्रबन्धकों ने हड़ताल के पहले ही दिन जनता पर गोलियां चलवा दीं। इतना

ही क्यों, सुना तो यहां तक है कि महारानी के उपवासादि की बात सुन कर ज़नानी ड्योढ़ी के सब आदमियों को आज्ञा दे दी गई कि वे प्रजा की हलचल सम्बन्धी कोई भी बात महलों में न पहुंचावें! सार यह कि जयपुर की वर्तमान अवस्था और उसके विस्फोट स्वरूप ये दोनों घटनाएं उन लोगों के लिये श्रवण की सामग्री ही नहीं, मनन की भी सामग्री है जो यह समझते हैं कि उनका हित अपने देश भाइयों से विरोध करके भी गोरे चरणों की शरण जाने में ही है।

* * * * * *

किन्तु इस हड़ताल के एक महत्वपूर्ण अङ्ग पर तो अभी प्रकाश डालना बाकी ही है। वह है उस की असफलता का रहस्य। हम बता चुके हैं कि उसके साथ सब दलों की महानुभूति थी। मुसलमानों तक ने बाजे और जुम्मा-मस्जिद के प्रश्न को लेकर फूट डालने से इन्कार कर दिया था। ऐसे ऐक्य से राज्य और प्रजा दोनों का हित सध सकता था। किन्तु वह नहीं साधा गया। कारण हमारी दृष्टि में नागवार थे और हम उनका उल्लेख यहां इसलिए करते हैं कि वे सभी के लिये उपयोगी हैं। पहला कारण था उस परिस्थितिका उपयोग कर जनता के संगठन की दृढ़ नींव न डालना। यही कारण है कि वह प्रचण्ड शक्ति जब बिखरी तब एकदम बिखर गई। फिर इस योग्य नहीं रही कि उसका कुछ भी उपयोग किया जा सके। (२) दूसरा कारण था हरेक दल का अपने स्वार्थ पर दृष्टि रखना। राज्यपक्षी यह चाहते थे कि प्रजा केवल उन्हीं के हित की मांगों पर जोर दे और प्रजा पक्षीय केवल अपने हितों को आगे रख रहे थे। यदि दोनों पक्ष एक दूसरे की मांगों को किंचित सीमा तक सम्मिलित कर समझौते द्वारा अपनी शक्ति को ठोस बना लेते तो अवश्य ही दोनों को कुछ लाभ ही रहता किन्तु "लोभी गुरु, लालची चेला"-वाली नीति से काम लेने से इतनी शक्ति व्यय करके भी दोनों पक्ष वाञ्छनीय लाभ से प्राय: वञ्चित ही रहे। तीसरा कारण था, योग्य कार्यकर्ताओं का अभाव। इसका प्रमाण यही है कि इतनी लम्बी ५ दिन की हड़ताल के सम्बाद पत्रों में प्रकाशित भी उस दिन हुए जिस दिन उसका अन्त हुआ। चार दिन तक जयपुर के बाहर इतनी बड़ी घटना की किसी को खबर भी न हो पाई, और यह भी ऐसी अवस्था में, जब कि खबर भेजना असम्भव न था। चौथा कारण था, जनता के पक्ष के लोगों में सच्चाई और...। प्रमाणके लिये एक ही उदाहरण काफ़ी होगा। प्रजा ने अपने ३० प्रतिनिधि चुने थे। इन तीस में से ही एक ने चुपके से पुलिस को बहुत अधिक पेट्रोल - उन मोटरों को दौड़ाने के लिए दिया जिनसे हड़ताल भंग करने का काम लिया जा रहा था। फिर दिल्लगी यह कि दूसरे प्रतिनिधियों ने उसे अपने से अलग तक नहीं किया। कारण, इसके सिवाय और क्या हो सकता है कि वह व्यक्ति, धनाढ्य और प्रभावशाली था। किन्तु इस धन और प्रभाव की पूजा का फल क्या हुआ? यही कि ये सब के सब जनताका विश्वास खो बैठे और जनता स्वयं— अपने ही व्यक्तियों की गतिविधियों को अविश्वस्त पाकर हताश हो बैठी। इन बातों से क्या शिक्षा मिलती है, यह कह कर बताने की आवश्यकता नहीं।

* * * * * *

—पटियाला राज्य ने सरदार मङ्गलसिंह को अपनी सीमा में राजनैतिक भाषण देने की

मनाई की है। इधर सरदार साहब ने इस आज्ञा को भङ्ग करनेका निश्यय कर लिया है। बात हैं भी ठीक। जहां राज्य है वहां के जीवनमें से राजनीति को कैसे निकाला जा सकता है।

सम्पादकीय टिप्पणियां

जोधपुर के डा० अमृतलाल बरखास्त

जोधपुर के डा० अमृतलालजी का भाग्य निर्णय हो गया। महाराज ने कौंसिल की राय मंजूर कर उन्हें बरखास्त कर दिया! जोधपुर की जनता डाक्टर के पक्ष में थी और अभी तक महाराज जिस प्रकार जनता के मत का आदर करते आये हैं, उससे यह आशा न थी कि वे लोकप्रिय डाक्टर साहब के विरूद्ध इस प्रकार का फैसला देंगे। किन्तु ऐसा मालूम होता है कि कौंसिल के गोरे प्रभुओं का प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया है कि महाराज, उनके निर्णय के विरूद्ध जाने का साहस नहीं कर सकते। यदि यह सच हो तो कहना न होगा कि इससे प्रजाकी तो प्रत्यक्ष हानि है ही, स्वयं महाराज के लिये भी यह लाभकर सिद्ध न होगा। महाराज के इसी निर्णय से एक ओर जहां न्याय की हत्या हुई है, वहां, दूसरी ओर इनसे उनकी विमल कीर्ति को भी कुछ कम धक्का नहीं लगा है। यदि गोरों का प्रधान इसी तरह बढ़ता रहा, तो आगे चल कर इस प्रकार आत्म हनन के और न जाने कितने अवसर आवेंगे। अत: यदि वे चाहते हों कि उनकी कीर्ति कौमुदी पर अधिक कलङ्क कालिमा न लगे तो उन्हें अभी से सावधान होकर विदेशियों के इस बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने का प्रयत्न करना चाहिये। डा० अमृतलालजी के विरूद्ध उनके इस निर्णय से जनता में बड़ा असन्तोष पैदा हो गया है। उसे दूर करने का भी उन्हें कुछ उपाय करना चाहिये। आशा है कि वे इसकी उपेक्षा न करेंगे।

भूपाल के प्रगृति प्रिय नवाब

यह प्रसन्नता की बात है कि भूपाल के नये नवाब अपने उन्नत विचार और उदार नीति के कारण अच्छे लोकप्रिय बनते जा रहे हैं। पिछली होली के अवसर पर अपनी हिन्दू प्रजा के साथ होली खेल कर आप अपनी साम्प्रदायिक निरपेक्षता का परिचय दे ही चुके हैं। हाल ही में व्यवस्थापक सभा की स्थापना कर आपने शासन के सम्बन्ध में भी अपनी प्रगति शीलता प्रकट कर दी है। व्यवस्थापक सभा का विधान हमारे सामने नहीं, अत: हम नहीं कह सकते कि उसके द्वारा जनता को कितने अधिकार मिले हैं? किन्तु सभा की स्थापना के समय उन्होंने जो भाषण दिया, वह उनकी दूरदर्शिता गम्भीरता और उदारता का अच्छा परिचायक है। उसमें कृषि, तथा स्वास्थ्य रक्षा आदि के सम्बन्ध में उन्नति एवं सुधार का जो आश्वासन दिया गया है, वह यदि पूरा हुआ तो आशा है कि भूपाल की गिनती भी शीघ्र ही उन्नत राज्यों में होने लगेगी। धर्म परिवर्तन सम्बन्धी क़ानून, जिसके अनुसार एक बार मुसलमान बन के फिर से धर्म परिवर्तन करने वाले को सज़ा दी जाती है, हिन्दुओं को मन्दिर आदि बनवाने में बाधा और सरकारी नौकरियों में उनके साथ पक्षपात का होना आदि बातें एक उन्नत शासन के लिये प्रकट कलङ्क है। नवाब साहब को यह भेद भाव मिटा कर

राज्य के सिर से इस कलङ्क को भी शीघ्र ही दूर करना चाहिये। हमने यह भी सुना है कि आपकी पूज्य माता, श्रीमती बेगम साहिबा ने राज्य में शराब की जो बन्दी कर दी थी; आपने राज्य की आय बढ़ाने के लिये, वह उठा दी है। यदि यह सच है तो आपका यह एक कार्य की आपकी सारी कीर्ति पर कलङ्क लगाने के लिए काफ़ी है। जब भावनगर, त्रावणकोर आदि प्रगतिशील राज्य अपने यहां से इस राक्षसी का बहिष्कार कर चुके हैं, और उसकी आय के बिना अपनी प्रगतिशीलता को स्थायी बना सके हैं, तो कोई कारण नहीं कि भूपाल में भी उसके बिना काम न चल सके। ऐसी दशा में आशा है कि यदि नवाब साहिब उक्त भूल कर बैठे हों, तो वे उसे शीघ्र ही सुधार लेंगे।

'जाटवीर' का प्रलाप

'तरुण' के किसी पिछले अङ्क में प्रकाशित भरतपुर की जवाहर जयन्ती आदि के सम्वादों से ..... 'जाटवीर'..... बाहर हो गया है, और अपनी जलन मिटाने को उस ने 'तरुण' पर खूब दुलत्तियां चलाई हैं। पाठकों से छिपा नहीं कि इसलिए भरतपुर नरेश के सत्कार्यों की प्रशंसा में हम कभी किसी से पीछे नहीं रहे। किन्तु 'जाटवीर' की तरह हमारा उद्देश्य व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं, इसीलिये प्रशंसा के साथ ही समय समय पर हमें प्रजा और स्वयं महाराज के हित की दृष्टि से, उनकी भूलों की आलोचना भी करनी पड़ती है। यह आलोचना भी जहाँ तक सम्भव हो सका है अत्यन्त नम्र शब्दों में की गयी है और तभी की गयी है, जबकि आरम्भ में हमारे पास आयी हुई शिकायतों की नकल भेजने पर भी महाराज की ओर से, हमें उनका कोई उत्तर नहीं मिला। इससे महाराज के सम्बन्ध में हमारी नीति की उदारता स्पष्ट है।

किंतु जान पड़ता है कि या तो 'जाटवीर' का भरतपुर महाराज ने मुंह मीठा कर रक्खा है अथवा वह — जाट होने के कारण उनकी, उचित्र अनुचित सब सब प्रकार की बातों का समर्थन करना अपना धर्म समझता है। और चार कालम के लम्बे लेख में उसने कहा क्या है? हमारे पक्ष की सचाई इसी से प्रमाणित है कि वह हमारी एक भी बात का खण्डन नहीं कर सका है, और इसलिये या तो उसने कुछ बातों का दूसरे ढंग से अर्थ लगा कर जान छुड़ाई है या शुद्ध गाली गलोच द्वारा अपने पक्ष की दुर्बलता छिपाई है। अस्तु, हमें न तो 'जाटवीर' के बराबर होना है न गाली का जवाब गाली से देना है। हम तो उसे यही कहना चाहते है कि-

"हकीम साहब! पहले अपना खुद का इलाज करिये!" रही भरतपुर नरेश और उनके अनुचरों के भले कहे जाने वाले कामों की असलियत —सो उसके बारे में हम मिर्जा गालिब का यह शेर दुहरा देना ही काफी समझते हैं कि:-

"हमको मालूम है जन्नतकी हक़ीक़त लेकिन,
दिल के खुश रखने को गालिब खयाल अच्छा है।"

मालव मयूर

(इन्दौर)

वर्ष २, संख्या १.फाल्गुन १९८१ वि०, फरवरी १९२५ ई.

लेख-सूची

वर्ष २, संख्या ३, वैशाख १९८२

राजस्थान का वातावरण

गत मास राजस्थान में इतनी घटनायें विचार करने योग्य हुईं- (१) अग्रवाल महासभा, फतेहपुर (२) रा. हिन्दी सम्मेलन सभा (३) जोधपुर में देश-निकाला और टाइप राइटर-कानून तथा (४) सीकर का समझौता। इनके कारण वातावरण में क्रमश: चहल पहल, उत्साह, सनसनी, संक्षोभ और संतोष रहा।

अग्रवाल महासभा

का सातवां अधिवेशन फतहपुर में हुआ था। फ़तहपुर जयपुर-राज्य के अन्तर्गत सीकर ठिकाने में है। मरुस्थल के टीबों के बीच बसा हुआ है। मारवाड़ी लोग आम तौर पर अन्यान्य प्रान्तों में व्यापार व्यवसाय के निमित रहते हैं। अधिवेशन की धूम धाम होते हुए भी जान पड़ता था, फतेहपुर की कितनी ही गलियों में मानों कोई रहता ही न हो। फतेहपुर हवेलियों का कस्बा है और कलकत्ता, मुंबई आदि में रहने के कारण उनकी चित्र-विचित्र हवेलियों पर महात्मा गांधी, लोकमान्य, अलीभाई जैसों की मूर्तियों के भी दर्शन हुए। मारवाड़ के कुवें क्या एक संस्था ही है। उन्हें सार्वजनिक कार्यों का एक केन्द्र ही समझ लीजिए। ऊँट मारवाड़ की खास सवारी है। पानी ७०-१०० हाथ गहरा, हवा खुश्क और इसलिए आरोग्यदायी है।

मा. अ. महासभा की कार्रवाई को मैंने भरसक गौर से देखा। उसकी कार्रवाई पत्रों में छप ही चुकी है। मैं तो सिर्फ उस पर अपने विचार मात्र प्रकट किये देता हूं। मारवाड़ियों में जीवन तो दिखाई दिया, पर बल का अभाव मालूम होता था। धर्म का भाव बहुत पर धर्म का ज्ञान कम। दान देने में उदार, सदुपयोग की चिन्ता कम, फिर कीर्ति होती हो, नाम होता हो तो दान के लिए उनका भण्डार जल्दी खुलता है। व्यापारी तथा धन-संपन्न होने के कारण एक ओर जहां देश और धर्म के कामों में उनसे आर्थिक सहायता अच्छी मिलती है वहां दूसरी ओर सट्टा फाटका, दलाली ही उनका प्रधान धन्धा होने के कारण वे देश की कमजोरी भी साबित हो रहे हैं। उनके अन्दर जहाँ सद्भाव है तहाँ अज्ञान भी है। जहां सुनीति है तहां कुरीतियों का तो अड्डा ही मारवाड़ी समाज को समझिए। उनके पास धन है, पर धन का मूल्य त्याग, सात्विक और शम-प्रधान त्याग कम है। सुधार, उन्नति, देश-सेवा की इच्छा है, उत्साह भी है पर संकल्प, स्थिरता नहीं। सेठ जमनालालजी ने समस्त मारवाड़ी अग्रवालों को ललकारा कि कम से कम ही सु-कार्यकर्त्ता, अपनी जाति सेवा के लिए दे दो जो इस काम के लिए अपना जीवन समर्पित कर दें। पर इस जाति ने उन्हें निराश किया। जमनालालजी मा० अग्रवालों की जागृति के जनक हैं। उनके सवाल को खाली जाता हुआ देख कर मुझे बड़ा दु:ख हुआ। वे एक मित्र को, जिनके हृदय में सद्भाव के, सेवा के अंकुर हैं, कमाते खाते भी हैं, उन्हें मा० अग्रवालों के एक छोटे नेता कह सकते हैं, वे फुसला नहीं, समझा रहे थे कि जाति के लिए जीवन उत्सर्ग कर दो। उनके हृदय में भी सेवा और स्वार्थ या सुविधा के बीच घोर धन-मंथन होता हुआ उनकी दुर्मुख आकृति से

दिखाई देता था। अन्त में कमजोरी की विजय हुई। कुटुम्ब की सुविधा ने उनकी तरफ से वकालत करना शुरू की। जमनालाल जी के त्याग ने भी अपनी तरफ से जोर मारा। उसने सुविधा के हाथ-पांव तो ढीले कर दिये पर उसे जड़ से न उखाड़ सका। सुविधा अपने घर गई, कुटुम्ब में पहुंची, दुकान की और आमदनी की याद आई —उसे सजीवन बूँटी मिली— मानो जमनालाल जी से मुलाकात हुई ही न थी।

मन बड़ा हरामी होता है। जब वह किसी बात से मुकरना चाहता है, गला छुड़ाना चाहता है, तब ऐसी २ दलीलें, न जाने कहाँ कहाँ से खोज कर लाता है, ऐसे ऐसे बहाने खड़े करता है कि विवेक झुँझला कर हार खा बैठता है— लंबी सांस लेकर कह देता है— मरने दो मेरी तरफ से। उन मित्र का विवेक दब उठा। जमनालालजी के त्याग ने भी अपना चेहरा मलिन और उदास कर लिया। सुविधा को छुट्टी मिली। मेरे हृदय में यह गरम लकीर खिंच गई —सुविधा, स्वार्थ का मोहिनी रूप है। जब तक मारवाड़ी युवक सुविधा को अपनी ढाल बनाते रहेंगे तब तक उनका दिन दूर है।

सारी सभा की कार्रवाई की जो छाप मेरे दिल पर पड़ी यदि उसे एक वाक्य में कहूं तो जमनालालजी समाज को आगे खींचना चाहते थे- खींचते थे- सभा की हिम्मत उनका साथ देने की न होती थी। कुछ नवयुवक जरूर हाथ पांव पछाड़ते थे, पर बूढ़े संस्कार उनको दाद न देते थे। अग्रगामी, सभा की मन्दगति से असन्तुष्ट थे, बूढ़े पुराने लोग उसे आगे दौड़ती हुई और अपने को पीछे छोड़ती हुई देखते थे। नवयुवकों के लिए वह पुरानी थी, बूढ़ों के लिए नव युवती। बूढ़ों में अनुभव होता है। अनुभव का पांव भारी होता है। युवकों में जीवन, उत्साह, उमंग होता है। जीवन, उत्साह, उमंग हरिण शावक की तरह छलांगे मारते हैं पर बूढ़ों का अनुभव, जब अज्ञान और अविचार को अपना साथी बना लेता है, तब वह अमृत, जहर का काम देता है। सभा में यह जहर अपना प्रभाव बताता था पर अधिकार और प्रकाश की कहीं होड़ हो सकती है? मैंने साफतौर पर देखा कि मारवाड़ी समाज अंधकार से प्रकाश की ओर बढ़ रहा है। उसे अपने दोषों और कमजोरियों का भान होने लगा है। वह अपने गुणों को अधिक उज्ज्वल बनाने की भी चेष्टा करना चाहता है। यह तभी हो सकता है जब वह ज्ञान के आचमन से पवित्र और त्याग की आग से शुद्ध होने का उद्योग करे। परमात्मा उसका साथ दें।

राजस्थान हिन्दी-सम्मेलन सभा

का भी हाल पत्रों में छप चुका है। श्री क्षेमानन्दजी राहत ने राजस्थान में हिन्दी-सेवा के लिए, अपना जीवन लगाने का निश्चय किया है और इस सभा ने उनको इसके लिए उत्साहित किया। राजस्थान में कहते हुए बड़ा परिताप होता है, कार्यकर्त्ताओं की खुदी, व्यक्तिगत द्वेष और मत्सर ने वायुमण्डल को ऐसा दूषित कर दिया है कि किसी एक संस्था में चार आदमियों का मिल कर काम करना एक अनहोनी-सी बात हो गई है। जब तक यह वायुमण्डल मौजूद है तब तक काम करने का यही अच्छा तरीका है कि एक व्यक्ति अपने बल पर जो कुछ कर सके, करे। आरम्भ में संस्थाओं का उदय एक ही व्यक्ति से होता है, यदि राहत जी ने अपने को दलबन्दियों से दूर रखा, हिन्दी की सेवा के लिए सबका

सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया, निन्दा अस्तुति से अपने को बरी रखा तो वे हिन्दी की कुछ न कुछ सेवा जरूर कर जायेंगे। उनके कार्य की दिशा, पिछली एक रिपोर्ट में बताई जा चुकी है। उन्होंने काम शुरू भी कर दिया है। वे अजमेर, इन्दौर, खण्डवा, जयपुर आदि के कुछ हिन्दी प्रेमियों से मिल चुके हैं। मेरी राय में राहतजी का कार्यक्रम यह होना चाहिए (१) राजस्थान और मध्य भारत के हिन्दी-सेवकों, हिन्दी-प्रेमियों और हिन्दी की संस्थाओं से मिल कर या पत्र-व्यवहार द्वारा सबको एक सूत्र में ग्रथित करने का उद्योग करें। उनका हिन्दी प्रेम ही वह सजीव सूत्र हो। हिन्दी की संस्थाओं की कठिनाइयों और त्रुटियों को देखें, जानें और उनको दूर करने का उपाय सोचें और सुझायें (२) जहाँ स्थिति अनुकूल हो वहीं हिन्दी के छोटे छोटे वाचनालय स्थापित करने का उद्योग करें (३) राजस्थान और मध्य भारत के प्राचीन हिन्दी लेखकों, कवियों के जीवन-चरित्र, लेख या पुस्तक के रूप में तैयार करें और उनकी अप्रकाशित पुस्तकें, यदि कोई हो, तो उन्हें प्रकाशित कराने का उद्योग करें। (४) जिन राज्यों में जन-भाषा होते हुए भी राज्य-लिपि फारसी है वहां के राज कर्मचारियों से मिलकर यह जानें कि वहां देवनागरी-लिपि का प्रवेश किस तरह किया जा सकता है और उसमें कब तक सफलता मिल सकती है? उस राज्य के हिन्दी प्रेमियों से भी इस विषय में परामर्श करें और दोनों के सहयोग से इस प्रश्न को हल करने का प्रयत्न करें।

फिलहाल यदि इन्हीं बातों पर राहत जी अपनी शक्ति को केन्द्रित करेंगे और अपने काम-काज से सर्वसाधारण को वाकिफ़ रखते रहेंगे तो मैं समझता हूं कि उन्हें समस्त हिन्दी प्रेमियों की तरफ से सहायता और सहयोग मिले बिना न रहेगा।

राहत जी खादीधारी हैं और सिर पर गांधी टोपी लगाते हैं। हिन्दी के काम के लिए उन्हें राज-रजवाड़ों और उनके कर्मचारियों से मिलने-जुलने की बार बार जरूरत पड़ेगी? इस सम्बन्ध में कुछ राज कर्मचारी मित्रों ने यह प्रश्न उठाया है कि वे अपना वेश बदल डालें। मैं इसका उत्तर सर्वसाधारण के सामने देना चाहता हूं, क्योंकि कुछ राज-कर्मचारी मित्रों ने मेरे वेश को भी देशी राज्यों में 'मयूर' के प्रचार में बाधक बताया है। मैं मानता हूं कि यदि हमने सादगी, कमखर्ची और गरीबों की सहायता तथा देश के घरेलू धंधे की उन्नति के लिए आवश्यक समझ कर एवं अपने को गरीबों का साथी और सेवक मान कर, खादी धारण करना अंगीकार किया है तो हमें अपने कुरते या टोपी को बदलने की कोई जरूरत नहीं। हां, ब्रिटिश भारत में खादी का राजनैतिक महत्त्व भी है, पर जब हम साहित्य-सेवा जैसे कार्य के लिए स्पष्ट शब्दों में घोषणा करके देशी राज्यों में उसी कार्य के निमित्त जाते हैं तो कोई कारण नहीं कि हमारे वेश को, वहाँ के लोग बाधक समझें यदि इतने पर भी वे समझें तो यह उनकी भूल है। हमारा दोष नहीं, यदि हमारे वेश को वे भयंकर समझते हैं तो हमारी कृति उनके भय को दूर कर दे। जबकि देशी राज्यों के लोग हमारे इस वेश से इतना चौंकते हैं तो हमारे लिए यह और भी आवश्यक है कि इसी वेश पर दृढ़ रह कर उनकी झिझक को दूर कर दें। खादी यदि किसी बात का चिह्न है; यदि खादी के इस अर्थ के अनुसार हमारा आचरण रहा अथवा हो तो हमें स्वयं निःशंक होकर अपने व्रत पर दृढ़ रहना चाहिए और विश्वास रखना चाहिए कि हमारी निर्दोषता, शंकित चित्त लोगों को भी निःशंक कर देगी।

जोधपुर में सनसनी

जोधपुर-राज्य के हुक्म-अहकाम एक न एक नया ही रंग लाते हैं। पिछले माह में श्रीमान् जोधपुर नरेश के विलायत जाने के अवसर पर वहां से तीन आदमियों को देश निकाला मिला है और छ: को तमाम सार्वजनिक कामों से ताल्लुक तोड़ कर, रोज रात को कोतवाली में सोने का हुक्म है। इतने ही पर खैर नहीं; एक टाईप-राइटर- कानून भी इजरा हुआ है कि राज्य में जिन जिन के पास टाईप राइटर हो वे उन्हें राज्य में रजिस्टर करा लें, जो न करावेंगे वे मुताबिक सजा होंगे। यह हुक्म क्या है, खुद ही देशी-राज्यों का मुंह काला करने का उपाय है। ये उन लोगों को बल देते हैं जो देशी-राज्यों को उड़ा देना चाहते हैं और उन लोगों के हाँथ पाँव कमजोर बनाते हैं जो अब देशी-राज्यों की तरफदारी करते हैं। पहले हुक्म का कारण यह बताया गया है कि उन लोगों ने महाराजा सा के विलायत गमन में बाधा डाली और राज्य के पोलिटिकल तथा ज्युडिशल मेंबर पं० शुकदेवप्रसादजी पर व्यक्तिगत आक्रमण किया। मेरे सामने इस सिलसिले के तमाम कागजात मौजूद हैं तथा जोधपुर के विश्वसनीय लोगों ने जवाबी भी, बहुतेरी बातें मुझे सुनाई हैं। वहां के लोग इस अंधा-धुंधी का कारण मानते हैं पूर्वोक्त पंडितजी को। पहले गाय-भैंस की निकासी के मामले में पण्डितजी के खिलाफ, महाराजा सा० ने निकासी बंद करके प्रजा का पक्ष लिया। इससे वे इस विषय का आंदोलन करने वालों से नाराज थे ही कि महाराज सा. से प्रार्थना की गई कि फिलहाल आप विलायत जाना मुल्तवी कर दें। वहाँ अभी इन्फ्लुएंजा है। महारानी सा० को छ: मास का गर्भ है; जोधपुर की महारानियां अब तक विलायत नहीं गईं, आदि यह तो ठीक पर उसमें यह भी लिखा था कि जाने के पहले आप पण्डित शुकदेवप्रसादजी को यहाँ से हटा दें, उनके जुल्म से रिआया बहुत तंग है और यह भी लिखा है कि जोधपुर में बहु-बेटियों कीइज्जत महफूज नहीं है, कहते हैं कि इसी पर पण्डितजी ने आगबबूला होकर, इस्तीफा देने तक की, धमकी देकर ये सब करिवाइयां कराई हैं। यदि ये बातें ठीक हैं तो पण्डितजी को लोगों पर बिगड़ने के बजाय, शान्ति के साथ ईश्वर को साक्षी रख कर अपने मन में विचार करना चाहिए कि आखिर लोग उनसे असंतुष्ट क्यों हैं और इस तरह खुलेआम उनकी शिकायत महाराजा साहब तक ले जाने की हिम्मत उन्हें कैसे हुई? मैं अपने तजरिबे से जानता हूँ कि राजस्थान की रिआया इतनी गरीब और दब्बू है कि जब तक वह आजिज न आजाय, उसके लिए नागवार न हो जाय, तब तक वह अपने महाराजा तक नहीं पहुँचती। वह तो राज कर्मचारियों को ही अपना मां-बाप, राजा-ईश्वर सब कुछ समझती है। मैं यह नहीं कहता कि यह हालत अच्छी है, या मुझे इस पर संतोष है, मैं तो कहता हूं यह वस्तु-स्थिति है। फिर क्या वजह है कि लोग पं० शुकदेवप्रसाजजी के इतने खिलाफ हैं? यदि पण्डितजी बे-ऐब हों, प्रजा का हित चाहते हों तो लोग उनका जय जयकार करेंगे या उनकी शिकायत? यदि सचमुच पण्डितजी दोषी हों तो फिर रिआया क्यों *उनको बरदाश्त करे? क्यों न उनकी शिकायत करे? यदि वे दोषी न हों तो अपनी निर्दोषता* के द्वारा क्यों न लोगों के हृदय पर अधिकार कर लेते? क्यों सत्ता का आश्रय लेकर लोगों को दबाने *की चेष्टा की जाती है? मैं मानता हूं कि सावधान रहते हुए भी मनुष्य से भूल और*

दोष बन पड़ते हैं — खास कर एक सत्ताधारी के लिए तो यह और भी स्वाभाविक है, पर ऐसी अवस्था में अपनी भलाई चाहने वाला पुरुष तो अपनी भूल और बुराई पर पछताता है और ईश्वर से माफी चाहता है। आइन्दा ऐसा न होने देने की प्रतीज्ञा करता है अतएव मेरी राय में, यदि लोगों का यह अर्थ ठीक हो, तो दोनों अवस्थाओं में पण्डितजी गल्ती पर है। यदि वे निर्दोष है तो उन्हें सत्ता की सहायता लेने की आवश्यकता नहीं। यह तूफान शीघ्र ही मिट जायगा और वे अधिक उज्वल और आदरणीय बन कर लोगों के सामने आवेंगे। यदि वे दोषी हैं तो उनका कल्याण है — पश्चात्ताप में, प्रार्थना में, सुधार की प्रतिज्ञा में, दमन में जुल्म में नहीं। सत्ता चार दिन की चांदनी होती है। इस पर जो फूल फिरता है वह बावला है,इस पर जो जुल्म करता है वह अपने हाथ से अपने लिए खाई खोदता है।

टाईप राईटर कानून पर क्या लिखूँ? यदि मुझसे हो सकता तो, इसके उत्पादक के पास उनकी बुद्धिमानी पर निकले अपने खून के आँसू भेज देता। ऐसी स्वेच्छाचारिता जहां हो वहाँ कैसे देशी-राज्य के निवासी होने का अभिमान हो सकता है? इस कानून को बनाने की आवश्यकता यह बताई गई है कि लोग गुमनाम अर्जियाँ भेजते हैं। तो इसका सीधा उपाय तो यह था कि लोगों के हाथ ही काट दिये जाते — या उनके घर से दावात-कलम ही जब्त कर लिये जाते? कभी इस बात की भी जाँच की है कि लोग आखिर ऐसा करते, क्यों हैं? अगर कोई सबसे बड़ी बदकिस्मती की बात है तो यही कि हम मर्ज की दवा नहीं करते बल्कि बीमार को सताते हैं। परमात्मा हमें सुबुद्धि दें और देशी-राज्यों पर दया करें।

लोगों का कर्तव्य स्पष्ट है। वे धीरज, शान्ति और दूरंदेशी से काम लें। अपने दु:खों को दूर करने के लिए तमाम वैध उपायों का अवलंबन वे करें— पर एक बात का ध्यान रखें, उन्माद में आकर, या रोश से होश खोकर वही गलतियाँ न कर बैठें जिन की शिकायत उन्हें उनके सत्ताधारियों से है। आपस में कटुता न आने दें। वे व्यक्तियों को अपना दुश्मन न समझें — समझना हो तो उनके दोषों को समझें। जुल्म सहते हुए भी शान्ति के साथ उसका उपाय करते हुए भी, यदि वे राज्याधिकारियों के प्रति अपने प्रेम और सद्भाव का परिचय दे पाये तो इससे राज्याधिकारी अपने आप अपने किये पर पछतावेंगे और लोगों के दु:खों का मूल कट जायगा।

सीकर का समझौता

जहाँ जोधपुर के राज्याधिकारी, प्रजा को कोई चीज ही नहीं समझते दिखाई देते हैं, तहाँ सीकर के सत्ताधीश, प्रजा के प्रतिनिधि को मध्यस्थ बना कर समझौता कर लेते हैं। सीकर में जकात का प्रश्न था। ठिकाना पुराने जकात के तरीके में परिवर्तन करना चाहता था। लोगों ने उसे अनुचित समझा। कशमकश शुरू हुई। अन्त में राज्य ने सेठ जमनालालजी बजाज की मध्यस्थता स्वीकार करके प्रजाजन से समझौता कर लिया। बात छोटी है। पर ठिकाने की ऐंठ, बहुत बड़ा बना सकती थी। पर ठिकाने ने सन्मार्ग ग्रहण किया। उसकी यह वृत्ति प्रशंसनीय ही नहीं, देशी-राज्यों के सत्ताधीशों के लिए अनुकरणीय भी है। आशा है, किसानों के लगान के मामले में भी इस तरह समझौता वे करेंगे। दिल और दिमाग के जरा ही सदुपयोग से हम बिगड़ी हुई बात को बना सकते हैं और ऐंठ, खुदी तथा अँकड में

बनती हुई को बिगाड़ देते हैं। परमात्मा करें सत्ता-भाव पर सेवा भाव की विजय हो।

खादी और सूत

मैंने अपने १०-१२ दिन के दौरे में राजस्थान में खादी के लिए अमर्याद क्षेत्र देखा। कुछ कार्यकर्त्ता काम कर भी रहे हैं और अ० भा० खादी मण्डल और काम बढ़ाना चाहता है, पर प्रान्तीय खादी मण्डल का आपस का वैमनस्य, परिस्थिति को बिगाड़ रहा है। रचनात्मक शक्तियां परस्पर के विनाश में खर्च हो रही हैं। महासभा के सदस्यों की संख्या भी १७ से अधिक नहीं वढ़ी हैं। सेठी जी यदि अपने आसपास की क्षुद्रताओं से ऊपर उठें, अपनी देश-भक्ति और सेवा शक्ति के सदुपयोग पर कमर कसें, रचनात्मक कामों में उन्हें लगाने का दृढ़ संकल्प कर लें, तर्क-वितर्क की जगह विश्वास और श्रद्धा को अपना साथी बनावें तो वे ग़ज़ब की सफलता करके दिखा सकते हैं, उनके खून का एक एक जर्रा देशभक्ति से भरा हुआ है। उनका त्याग और कष्ट सहन राजस्थानियों के लिए स्फूर्ति का साधन है पर वे शायद हनुमान की तरह अपनी शक्ति को भूल गये हैं, शंका कुशंकाओं के बादलों ने उसे ढक लिया है, या उसकी गति बदल दी है। राजस्थान चाहता है कि सेठी जी की शक्तियाँ रचनात्मक काम में लगें-परस्पर सहयोग, प्रेम, एकता, सद्भाव की वृद्धि में लगें।

एकता की ओर

ऐसा मालूम होता है, देश में राजनीतिज्ञ कहे जानेवाले लोगों के पास अब एक काम रहा है - एकता की चर्चा? कौन कहेगा कि एकता बुरी चीज है? पर प्रश्न यह है कि एकता किस लिए? स्वराज्य के लिए या महासभा के लिए। स्वराज्य के लिए वही एकता उपयोगी हो सकती है जिसके मूल में कार्य का बल हो। महासभा के लिए एकता तब हो सकती है जब देश के भिन्न भिन्न दल अपने ध्येय, आदर्श और साधन एक दूसरे के अनुकूल बना लें। कार्य का बल या तो तलवार है या चरखा। तलवार हमारी टूट गई है और चरखे की सादगी और सफलता में अभीतक हमें तलवार की तेजी नहीं दिखाई देती। फिर स्वराज्य के लिए एकता कहाँ से आ सकती है! और हिन्दू-मुसलमानों का सवाल तो गेंडे की खाल की तरह अभी तक अभेद्य ही नजर आता है। रही महासभा के अंदर एक दल हो जाने की बात। सो अभी तो देश में जमीन आसमान का अन्तर रखने वाले दल मौजूद हैं। क्रान्तिवादी खून के सपने देखते हैं तो गांधीवादी अहिंसा के बिना स्वराज्य का ख्याल ही नहीं कर सकते। एक दल नये बछड़े की तरह अंगरेजी साम्राज्य से तुड़ाकर भाग जाना चाहता है तो दूसरा दल उसीका बेटा, बन रहने को रूठ कर बैठा है। एक दल सविनय भंग के बिना जी नहीं सकता तो दूसरे दल की रूह को उसका नाम सुनते ही कब्ज होने लगता है। मन में सवाल उठता है कि क्या यह दुर्दैवी देश एकता के लिए तैयार है? यदि वह एकता के लिए तैयार है तो समझ लीजिए कि वह स्वराज्य के लिए भी तैयार है।

पथिकजी अबतक क्यों नहीं छूटे ?

इस बात पर देश में जिज्ञासा फैल रही है। पथिकजी मई में ही छूट जाने चाहिए थे पर उन्होंने और इस्तगासा ने उदयपुर की महद्राज सभा में अपील की। महद्राज सभा ने बहुमति से पथिकजी को राजद्रोह के प्रधान अभियोग से बरी कर दिया। फिर भी वे अब तक जेल में पड़े हुए हैं। २१ मास तक जेल तो वे भोग ही चुके हैं। पर कहते हैं, उदयपुर के महाराजकुमार उनसे पूरा बदला निकालना चाहते हैं। महद्राज सभा का निर्णय एक-मत से नहीं हुआ है, इस बहाने पर उन्होंने इस मामले में एक कमीशन नियुक्त किया है और सुना है कि उसने पथिकजी को ५ साल तक एकान्त किले में कैद रखने की सिफारिश की है। यह सुनकर हैरान होना पड़ा। यदि यह बात सच हो तो इससे उदयपुर के भावी महाराज की उदारता और न्याय-निष्ठा पर खासा प्रकाश पड़ता है। मेरा निवेदन है कि ऐसे बदले के भाव, महाराजकुमार के योग्य नहीं। यदि वे दूरंदेशी के कायल हों तो उन्हें पथिकजी को छोड़कर उनके प्रभाव का उपयोग राजा और प्रजा की भलाई के लिए कर लेना चाहिए। मैंने यह भी सुना है कि इतने दिनों के शान्त और एकान्त मनन ने पथिकजी की कार्य-नीति पर भी प्रभाव डाला है। सौम्यता की दिशा में उनकी प्रगति हुई है। यदि यह बात ठीक हो तो यह अवसर तो महाराजकुमार की चतुराई की परीक्षा का ही है। इस समय पथिकजी के साथ न्याय और उदारता का व्यवहार करके वे उनकी शक्ति को विधायक रूप दे सकते हैं पर यह प्रश्न उठता है कि क्या इतनी दूरंदेशी और समय-सूचकता हमारे राजस्थानी राजकुमारों के भाग्य में लिखी है ? देखें, राजपूताने के एक सर्वोच्च राज्य के महाराजकुमार इसका क्या उत्तर देते हैं ?

वर्ष-२, संख्या, ज्येष्ठ-१९८२

सम्पादकीय

निजाम और कोटा

निजाम राज्य ने पं० मालवीयजी को अपने यहां आने से रोक दिया है। क्यों ? इस डर से कि उनके वहां जाने से शान्ति भंग होने की संभावना है। परन्तु ख़्वाजा हसन निजामी का इस्लाम प्रचार वहां, सुनते हैं, बेधड़क हो रहा है। क्यों— इसलिए कि निजाम साहब मुसलमान हैं और इस्लाम का प्रचार करना मुस्लिम राजा का फर्ज है। जिस रूप में हिन्दू और मुसल्मान आज अपने अपने मजहब वालों की संख्या बढाने के लिए पागल हो रहे हैं उस रूप में धर्म रक्षा का मैं कायल नहीं। मैं धर्म को श्रद्धा और आचरण का विषय मानता हूँ, सुविधा और बाहरी उपकरण का विषय नहीं। फिर भी मैं मानता हूँ कि निजाम सरकार की यह कार्रवाई बेजा है। एक राजा की हैसियत से न ये मुस्लिम हैं, न हिन्दू। यदि वे इस प्रकार के धार्मिक आन्दोलनों के खिलाफ हों तो इसमें मेरी सहानुभूति उनके साथ है। पर ऐसी अवस्था में इस्लाम-प्रचार को भी उन्हें उसी दृष्टि से देखना चाहिए जिस दृष्टि से उन्होंने पं० मालवीयजी के आगमन को देखा है अतएव उनका यह कार्य स्पष्टत: राज्य-सिद्धान्त और राज्य-कर्तव्य के खिलाफ हुआ है।

इसके साथ ही जब मैं श्रीमान् कोटा-नरेश के धर्म परिवर्तन सम्बन्धी कानून पर दृष्टि डालता हूँ तो उनकी निष्पक्ष-वृत्ति पर हृदय खिल उठता है। मुझे खुशी है कि एक हिन्दू राजा ने वैसी भूल नहीं की जैसी कि निजाम सरकार ने की है। वे अपने इस कानून की प्रस्तावना में लिखते हैं "राजा का फर्ज है कि हर मजहब की वाजिब रक्षा करे और अमन व आमान कायम रक्खे।" और इसी ध्येय को सामने रखते हुए उन्होंने नीचे लिखा कानून बनाया है —

"दफा (४) किसी शख्स को यह अख्तियार न होगा कि किसी कौम के नाबालिग लड़के या लड़की का धर्म तब्दील करे या तब्दील करने का इकदाम करे या तब्दील करने में उनकी अआनत करे और न किसी नाबालिग लड़के या लड़की की बरजामन्दी खुद अपना मजहब बदलने का अख्तियार होगा।"

दफा (५) हर एक बालिग शख्स (मर्द या औरत) को अख्तियार है कि वह बरजामन्दी खुद किसी दूसरे मजहब को श्रेष्ठ और उम्दा समझ कर कबूल करले मगर हर एक ऐसे शख्स को जो अपना मजहब तब्दील करना चाहता है अपना मजहब तब्दील करने से पहले मजिस्ट्रेट दर्जा अव्वल की अदालत में हाजिर हो कर हलफिया बयान देना होगा कि वह किसी के सिखाने, पढ़ाने, बहकाने, फुसलाने या लालच देने से ऐसा नहीं करता है, बल्कि उस दूसरे मजहब की फजीलत को समझ कर बरजामन्दी खुद अपना मजहब तब्दील करता है, यह बयान कलम बन्द कर लेने पर मजिस्ट्रेट दर्जा अव्वल उसे अपना दस्तखती या मोहरी सार्टिफिकेट देगा। सार्टिफिकेट मिल जाने पर उस मजहब के लोगों को अख्तियार होगा कि उसके तब्दील मजहब की रस्म अदा करें। अगर किसी वजह से मजिस्ट्रेट ऐसा सार्टिफिकेट न देवे तो उसको अपने हुक्म में इसके मुफस्सिल बजूहात लिखने होंगे।

किसी शख्स को उस वक्त तक पैदायशी मजहब छोड़ कर दूसरा मजब अख्तियार करने का हक नहीं है और न किसी शख्स को उस वक्त उसके मजहब की रस्म अदा करने या अपना मजहब तब्दील करने के लिए किसी शख्स को उकसाने बहकाने, या लालच देने का हक हासिल होगा जब तक कि वह किसी दूसरे मजहब को, अफजल समझ कर ऐसा सार्टिफिकेट हासिल न करले।

नोट - बालिग शख्स के तब्दील मजहब की किसी सूरत में ऐसी शोहरत दी जाकर तब्दील नहीं की जावेगी जिससे मजहबी खयालात भड़क उठें और शान्ति में खलल पड़े।

दफा (६) किसी एक मजहब के यतीम लड़के या लड़की को किसी दूसरे मजहब का शख्स परवरिश के नाम पर अपने पास नहीं रख सकता। अगर किसी शख्स को यतीम बच्चा या बच्ची आवारा या भूखा नंगा घूमता हुआ मिले तो उसका फर्ज होगा कि वह उसे उसके पास के थाने पुलिस या निजामत में पहुंचावे। ऐसे किसी बच्चे के थाने या निजामत में पहुँचने पर अफसर मोहतमीम स्टेशन या नाजिम इस बात की जांच के लिए मजिस्ट्रेट दर्जा अव्वल के सामने पेश करेगा। मजिस्ट्रेट उस यतीम बच्चे को अगर कोई उसी मजहब का शख्स उसको परवरिश करना चाहे तो उसे सौंप देगा और अगर कोई ऐसा परवरिश करनें

वाला शख्स न मिले तो मजिस्ट्रेट उसे राज के यतीमखाने में भेजने का हुक्म देगा। अगर वक्त इजराय कानून हाजा या उससे पहले से कोई यतीम बच्चा किसी दूसरे मजहब वाले के पास हो तो उसे उसके मजहब तब्दील करने का कोई हक या अख्तियार न होगा। अगर वह बच्चा उसके पास रहना चाहता हो तो वह उसको अपने पास रख सकता है।''

इस सरक्यूलर की खिलाफ वर्जी करने वाला तीन साल सख्त कैद और 1000 जुरमाने की सजा का मुस्तजिब होगा।

इस कानून की किसी दफा पर कोई एतराज नहीं किया जा सकता। उल्टा यही कहना पड़ता है कि इन मजहबी झगड़ों की जड़ तोड़ने और शरारती लोगों की चालों से समाज को बचाने की यही एक दवा हमारे पास रह गई है।

वर्ष २, संख्या ५, आषाढ़ १९८२

सम्पादकीय

हिन्दी भाषियों से निवेदन

प्रिय भाइयों!

आज आपसे एक निवेदन करना पड़ता है। मेरे साग्रह अनुरोध से पू० महात्माजी ने 'नवजीवन' को हिन्दी में प्रकाशित करना मंजूर किया है। आप यह जानते ही होंगे कि उसमें 'य० ई०' और 'नवजीवन' दोनों के महात्माजी-लिखित लेखों का चुना हुआ संग्रह रहता है। कभी कभी अवकाश और आवश्यकता के अनुसार वे खुद हिन्दी में भी लिखते हैं। 'हिन्दी-नवजीवन' प्रकाशित कराने में मेरा उद्देश्य केवल यही था कि हिन्दी-भाषी भाई-बहन महात्माजी के पवित्र विचारों और सन्देशों से लाभ उठावें, जिनसे कि अंगरेजी और गुजराती भाषी तो उठा रहे थे पर हिन्दी- भाषी नियमित और अधिकारी-रूप से न उठा पाते थे पर ऐसा मालूम होता है कि हिन्दी-प्रेमी उसके साथ काफी सहयोग नहीं कर रहे हैं। आप जान कर दु:खी होंगे कि वह घाटे में चल रहा है। यदि महात्माजी के बार-बार लिखते हुए भी आप लोगों को अबतक किसी तरह यह न मालूम हो पाया हो तो मैं मालूम किये देता हूँ कि महात्माजी दो विशेष सिद्धान्तों का पालन करते हुए अपने पत्रों को चलाना चाहते हैं। एक तो यह कि पत्र के इतने ग्राहको हों कि उसका खर्च निकल जाय और घाटा न उठाना पड़े। दूसरे यह कि विज्ञापन लेकर आमदनी न की जाय। वे विज्ञापन की आमदनी को नाजायज मानते हैं। 'हिन्दी-नवजीवन' को चलाने के लिए विशेष रूप से सहायता देने वालों की कमी, महात्माजी के लिए नहीं है पर महात्माजी को यह मंजूर नहीं है। वे पाठकों के ही बल पर उसे चलाना चाहते हैं। क्योंकि उन्हींके लाभ के लिए वह निकाला गया है और इसीलिए मुझ जैसे को आपके समक्ष यह अपील लेकर उपस्थित होना पड़ा है। मुझे दु:ख के साथ कहना पड़ता है कि करोड़ों हिन्दी-भाषियों के रहते हुए, महात्माजी के प्रेमियों और भक्तों के होते हुए, मुझे यह कभी कयास न हुआ था कि यह अपील लेकर

आपके दरवाजे मुझे हाजिर होना पड़ेगा।

भाइयो, महात्माजी जैसी विभूति युगों में संसार में आती है। सारा संसार आज महात्माजी के संदेश का प्यासा हो रहा है और विश्व के महान् विचारक उनके सन्देश को पाकर, उनके पत्रों को पढ़कर, अपने को धन्य मानते हैं। भारत के तो वे कर्णधार ही हैं। हिन्दी की उन्होंने अपरिमित सेवा की है और आज भी कर रहे हैं। हिन्दी को महासभा के मंच पर, राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर प्रत्यक्ष रूप से प्रतिष्ठित करने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। मदरास में हिन्दी-प्रचार, अहिन्दी-भाषियों में हिन्दी का आदर बढ़ाना, यह उन्हीं की हिन्दी-सेवा है। उनके विचार और सन्देश अनमोल हैं। उनको पढकर मुझे जो शान्ति लाभ होता है, जो उत्साह मिलता है, जो सन्मार्ग दिखाई पड़ता है, उसका आनन्द, कह कर नहीं बताया जा सकता। सचमुच हम बड़भागी हैं जो उनके समय में रह रहे हैं और उनकी अमिय वाणी और प्रसन्न लेखनी का प्रसाद, हमारे लिए इतना सुलभ है। हम बड़े मन्दभागी होंगे, अपने को महात्माजी के अयोग्य साबित करेंगे, यदि यह सुलभ साधन, हमारी क्षुद्रबुद्धि, उपेक्षा, उदासीनता, अज्ञान, या नाकदरदानी के कारण हमारे लिए दुर्लभ हो जायगा। अब तक चाहे हिन्दी-भाषी इससे किसी कारण उदासीन रहे हों; पर उनकी देशभक्ति, धर्म-भाव और सेवा-शक्ति का जो कुछ परिचय मुझे है उससे मैं यह आशा किये बिना नहीं रह सकता कि जिस किसी हिन्दी भाई-बहन के हाथ में मेरी यह अपील पड जायगी वे तुरन्त 'हिन्दी-नवजीवन' की ग्राहक श्रेणी में अपना नाम लिखवा लेंगे और 'हिन्दी-नवजीवन' को चिरकाल तक हिन्दी-संसार मेवा करने देंगे। मैं दावे के साथ कहता हूँ कि यदि आप 'हिन्दी-नवजीवन' को प्रेम से पढ़ेंगे और उसके अनुसार चलने का प्रयत्न करेंगे तो आप अन्त को देखेंगे कि आपने अपना जीवन सुधार लिया, अपने और अपने देश के उद्धार की कुंजी आपके हाथ लग गई।

इति।

- जमनालाल बजाज

धन्य साहस!

मेरी आँखें, मालवे की स्त्री-जाति में उस साहस और वीरता के दर्शन करने के लिए तरस रही थीं जिसका परिचय, श्रीमती कमलावतीजी ने और पार्वती बाई ने दिया है। कलावतीजी छः मास के लिए जेल भोगने को तैयार हुई हैं और पार्वती बाई ने अपने पति छोटेलालजी की गिरफ्तारी पर श्रीमान् धार नरेश को पत्र लिखा है कि यदि मेरे पति दोषी हों तो उन्हें कड़े से कड़ा दण्ड दीजिए। कमलावतीजी का उदाहरण हमें यह शिक्षा देता है कि मनुष्य को - फिर वह स्त्री हो या पुरुष - उस बात के लिये जिसे उसकी अन्तरात्मा सत्य और न्याय-युक्त मानती हो, हर दरजे तक कष्ट-सहने के लिए तैयार रहना चाहिए। जितना ही उसका सत्य और न्याय के प्रति प्रेम दृढ़ होगा, उतना ही आनन्द उसे ऐसे कष्ट-सहन से होताहै। उसे इस बातपर अभिमान होता है कि धर्म की सेवा के लिए - और सत्य और न्याय की रक्षा धर्म के अतिरिक्त क्या है। मैं कष्ट पा रहा हूँ परमेश्वर ने मेरी यह परीक्षा

की है कि मैं कहां तक अपने धर्म पर दृढ़ हूँ? मेरा अहोभाग्य है कि परमात्मा ने मुझे इस योग्य माना कि वह मेरे सत्य की परीक्षा करे। ऐसे कष्ट सहने के द्वारा, कष्ट पानेवाले और कष्ट देने वाले दोनों का कल्याण होता है। कष्ट पाने वाला अधिक धार्मिक बनता है, कष्ट देने वाले की सोई हुई मलिन आत्मा, जाग्रत और निर्मल होने लगती है।

पार्वतीदेवी के इस सन्देश से यह विश्वास टपकता है कि मेरे पति निर्दोष हैं और यह न्यायनिष्ठा प्रकट होती है कि यदि वे दोषी हों तो उन्हें कठोर से कठोर दण्ड दिया जाय। यदि यह पार्वती देवी का स्वभाव-धर्म हो तो उनके भविष्य में मालवे की स्त्री-जाति को भारी सेवा गर्भित है। मैं कलावती जी की निर्भयता और कष्ट-सहन और पार्वती देवी के साहस का स्वागत करता हूँ। परमात्मा मालवे की देवियों को इन गुणों से भूषित करें।

युवकों का प्रश्न

युवक देश के भविष्य हैं। युवक राष्ट्र का जौहर हैं। युवक समाजकी आशा है युवक हमारे बल हैं, पुरुषार्थ हैं, और हैं तेज हैं। युवक क्या नहीं सोच सकते, क्या नहीं कर सकते? भारत जिसके बलपर स्वराज्य के स्वप्न देख रहा है? युवकदल के राजस्थान (म. भा. और रा. पू.) किसके बल पर उठना चाहता है? युवक वर्ग के। क्या युवकों के हृदय उसकी मौन आकांक्षा, दलित आशा की आवाज सुन रहे हैं?

एक युवक एम. ए. एल. टी. हैं. एक सरकारी शाला में असिस्टेन्ट हेडमास्टर हैं। वहां दुखी हैं। परिश्रमी हैं। विद्यार्थि जीवन में देशभक्त भी थे - अब भी वह आग बुझी नहीं है। पर आदर्श और भावना का स्थान कुछ तो सांसारिकता ने और कुछ व्यावहारिकता ने ले लिया है। सेवा का निमंत्रण पहुँचता है तो वे स्वयं अपने हृदय को इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाते -- आगे क्या होगा? यह प्रश्न उन्हें जीवन-मरण के प्रश्न से भी विकट, देश-सेवा, जन-सेवा, समाज-सेवा की आवश्यकता से भी अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण मालूम होता है। जन -सेवा सरकार-सेवा से अधिक और उन्हें नहीं ललचा पाती।

एक दूसरे युवक हैं, अभी बी. ए. में पढ़ते हैं साहित्य के - काव्य नाटक के - शौकीन हैं। हृदय निर्मल है, उसमें सेवा के भाव भी हैं। मैंने पूछा - "आगे क्या महत्वाकांक्षा है?" एम. ए. एल. एल. बी. होना" "फिर, आगे?" कहीं प्रोफेसर होना, या जज होना, या प्रैक्टिस --वकालत। मैंने कहा "वकालत कोई नोबुल (उच्च) धन्धा नहीं है।" उन्होंने सरल, निर्मलभाव से हँसते हुए कहा - "यह तो आप लोगों की दृष्टि से है जो उसे बुरा मानते हैं।" मैंने कहा - यह मेरी राय नहीं, मुझे तो उसका कुछ भी अनुभव नहीं। एक वकील - मित्र के ये शब्द हैं, जो अपने को इस दल-दल में फँसा चुके हैं, हाथ पैर फट-फटाते हैं, पर निकलने में असमर्थ हो रहे हैं।

इन युवक के पिता एक ऊंचे सरकारी पद पर हैं। बात चलने पर उन्होंने तुरंत स्वीकार कर लिया - 'हां, इस धन्धे से आत्मा के उच्च गुण मारे जाते हैं।" युवक आगे चल कर यह भी कहा - अपनी जाति के विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए मैं और कुछ मित्र कुछ सोच रहे हैं।' अपने पहले प्रश्न के उत्तर में उनके मैंने ऐसे ही किसी उत्तर की आशा की थी।

एक तीसरे युवक को लीजिए, बी. ए. हैं। हृदय सेवा -भाव परिपूर्ण है। सेवा से मुँह मोड़ कर कौटुम्बिक विषयता ने उन्हें कर्त्तव्य-मूढ़ता के भँवर में डाल रक्खा है। स्नेह-जाल हृदय टूक टूक होता है— उन्हें अपनी स्थिति पर अफ़सोस है, मुझे उनको बन्धनमुक्त करने के अपने अ-सामर्थ्य पर !!

ये तीन नमूने उन युवकों के हैं। जिनके कमरों में जन-सेवा के भावों को आने-जाने को स्वतंत्रता है। उन बहु-संख्यक युवकों का जो जिक्र तक करने की हिम्मत मुझे नहीं होती जिनके यहाँ जन-सेवा का या तो मजाक उड़ाया जाता है, या तो निकम्मों या भावुक लोगों का धन्धा समझा जाता है। तीनों राजस्थानीय हैं - मध्य भारती हैं। जिस प्रान्त या देश के बहु-संख्यक युवक 'खाने-पीने', 'मौज उड़ाने' के लिए जन्म धारण करते हैं, जो थोड़े युवक सेवा के अंकुरों को हृदय में रखते तो हैं पर उन्हें विषयता और विपरीतता की लपटों में झुलसने के अथवा स्नेह-जाल में बिध जाने से नहीं बचा पाते, उस प्रान्त या देश का भविष्य क्या हो सकता है ?

जो युवक महज नौकरियों के लिए पढ़ते हैं - समझ में नहीं आता, वे अपना जीवन भी किस तरह सुख से व्यतीत कर सकेंगे ? शिक्षा-विभाग ही एक ऐसा क्षेत्र नजर आता है जहां नई नई नौकरियों के लिए कुछ जगहों की भी आशा हो सकती है। और महकमे तो खचाखच भरे हुए हैं। वहां निकासी की जगह है, भरती का नहीं। शिक्षा-विभाग में भी बड़ी नौकरियां शहरों में ही मिल सकती हैं और शिक्षा-विस्तार की आवश्यकता और गुंजाइश देहात में ही अधिक है; पर वहां छोटी नौकरियां ही मिल सकती हैं। सो भी तब जब शिक्षा-विभाग इतना खर्च उठाना चाहें। वकील, डॉक्टर और इंजिनियर भी गली गली भटकते हैं। ऐसी अवस्था में इन युवकों के लिए एक ही उपाय रह जाता है - सादा जीवन व्यतीत करने का निश्चय करें, उच्च शिक्षा पेट भरने की नीयत से नहीं, सच्चा मनुष्य बनने के हेतु से प्राप्त सीख लें जिससे देहात में रह कर अपना गुजर भी कर सकें और देहात की सेवा भी। नहीं तो मुझे इस श्रेणी के विद्यार्थि-युवकों का भविष्य शोचनीय दिखाई देता है।

दूसरी श्रेणी के अर्थात् सेवा-प्रिय युवकों में कमी है साहस की, दृढ़ता की, लगन की। जब तक पहली श्रेणी के युवकों को बहुसंख्या अल्पसंख्या नहीं हो जाती और दूसरी श्रेणी के युवक सेवा के मत वाले नहीं हो जाते तब तक क्या राजस्थान का, और क्या भारत का भविष्य तमाच्छादित रहेगा। यदि युवकों के दिल को इस ख्याल से चोट पहुंचती हो, यदि वे अपने सिर पर इसकी कुछ जिम्मेवारी महसूस करते हों तो वे 'फूल की सेज' को छोड़कर 'स्मशान में धूनी रमाने' का निश्चय करें, अपने हृदय से प्रश्न करें - अपने लिये जियें या मातृभूमि के लिए। यदि पहला उत्तर मिले तो समझ लें सेवा का प्रण करें और समझ लें हमने मातृ भूमि को सुखी बना दिया और उसने हमको अमर कर दिया।

ह० उ०

॥ श्री ॥

राजस्थान

(अकोला)

[विविध विषय भूषित हिन्दी मासिक पत्र]

''काट कठिन, रूढ़ि बंधनको, फिरसे करे समाजोत्थान।
बजा क्रान्तिका शंख संजीवन, मुर्दोंमें फूंकेगा जान॥
सत्याग्रह का पाठ पढ़ा कर, कर्मयोग का देगा ज्ञान।
फहराने को ध्वजा प्रेम की, जाग उठा हैं ''राजस्थान''॥

वर्ष १] दिपावाली सं. १९८२, अक्टोबर सन् १९२५ [संख्या 1

''दा न शी ल ता''

ारवाड़ी भाइयों की दानशीलता स्तुत्य है। पर उसमें विवेक की आवश्यकता है। कार्नेगी अरबपति थे। उन्हें बिना विचारे पुस्तकालय स्थापित करने का शौक था। इसपर स्काटलैंड के अध्यापकों ने उन्हें सावधान रहने की चेतावनी दी, और कहा कि आपको ज्ञान की सलाह लेकर दान करना उचित है। ऐसी सलाह सब दानवीरोंको देनेकी और उन्हें उस पर ध्यान देनेकी आवश्यकता है। यह माननेका कोई कारण नहीं है कि हर प्रकार के दानसे पुण्य ही होता है। मारवाड़ी भाई समर्थ गोरक्षक हैं। वे इस काममें खूब धन लगाते हैं। परन्तु उसमें हमेशा विवेक से काम नहीं लिया जाता। यदि गोरक्षाकी संभावना किसीसे भी हो तो वह है मारवाडी भाइयों के साहस से। क्योंकि गोरक्षा मुख्यत: द्रव्यका और व्यापारिक बुद्धि का प्रश्न है। ये दोनों उनके पास हैं। यदि विवेक-पूर्वक उसका उपयोग हो तो उन के हाथों विशाल पैमाने पर यथार्थ में गोरक्षा होगी।

(महात्मा गांधी)

- दीपावली -

(ले.-श्री शोभारामजी धेनु सेवक लखनौदान)

कैसे दीपावली मनाऊ

(१)

छूंछा दीपक तेल नहीं है, बाती का भी मेल नहीं है।
चलती पवन जोरसे, कैसे आशा दीप जलाऊँ॥

(२)

सप्तसिन्धु नक रमा रमी है, यहाँ रङ्कता आय जमी है।
बिना लक्ष्मीपूजा कैसे कर चित को समझाऊं॥

(३)

भारत जन्म स्वत्व से खाली, कैसे हिन्दू मनाये दिवाली।
भोली भाली दुखित मातु को, कैसे धीर धरऊं ॥

(४)

तिलक गोखले स्वर्ग सदनमें, देशबन्धु भी नहीं भवन में।
गान्धी मालवीय शोकातुर, मैं कैसे हरषाऊँ॥

(५)

विपत्ति घटासे घिरा गगन है, भारत माता शोक मगन है।
आजादी की लगी लगन है, कैसे इस को पाऊं॥

(६)

करती है अनीति मन चाही, निपट निरंकुश नौकरशाही।
होती इससे राष्ट्र तबाही कैसे इसे हटाऊं?

(७)

भ्रष्ट विदेशी वस्तु यहां है, तेरी पूजा योग्य कहा हैं।
इनको लेकर जननी कैसे, तेरे सन्मुख आऊं॥

(८)

दे दीपक यह मंत्र मुझे तू, करदे पूर्ण स्वतंत्र मुझे तू।
नित्य निरन्तर तब मंदिर में, तेरा गौरव गाऊँ॥

- कैसे दीपावली मनाऊँ॥

बधाई !

पधारो प्यारे "राजस्थान"! सुनाओ स्वतन्त्रताकी तान;
हमारी हृद तंत्री बज उठे, बढ़ाओ मरु कुलकी अब शान॥
दिवालीका शुभ दिव्य प्रभात, लिया है जन्म आपने तात;
तुम्हारे नवजीवनका लक्ष्य, रहे बस, देश, जाति उत्थान॥
मिटाओ अनुत्साह दौर्बल्य, सिखाओ शिल्पकला के ठाठ;
हृदयमें भर अदम्य उत्साह, पढाओ स्वालम्ब के पाठ॥
प्रेमके प्याले पीते रहो, सत्यपर हो जाना कुरबान;
इधर हम सौख्यरंगमें दंग, उधर विधवायें करती हाय!॥
आहकी कठिन लूहचल रही सुखीको नहीं दुखीकी चाह;
इधर है जुल्म-सितमपर नाज, उधर है भारत ललना लाज!॥
सुनाओ गीता के उपदेश, बनाओ देशभक्त गुण धाम;
एकताका घर घर हो राज, फूटका अब मिट जावे नाम॥
जाति-सेवाके शुचितम भाव, हृदय में भर दो राजस्थान!
मित्र! तुम युग युग जीते रहो, बधाई प्यारे "राजस्थान"॥

(छोटे राम शुक्ल साहित्यरत्न)

स्वागत!

आओ करें स्वागत तुम्हारा वीर "राजस्थान" हम।
वह मन्त्र दो जिससे तुम्हारा सब करें सम्मान हम॥
बन जाय त्यों हां आपसे सब ही गुणोंकी खान हम।
बलवान् कहलावें सदा छोडें न अपनी आन हम॥

चम्पालाल राठी

॥ श्री ॥

राजस्थान

[विविध विषय विभूषित हिंदी मासिक पत्र]

"काट कठिन रूढि बंधन को, फिरसे करें समाजोत्थान।"
बजा क्रान्तिका शंख संजीवन, मुर्दों में फूंकेगा ज्ञान।
सत्याग्रह का पाठ पढाकर कर्मयोग का देना ज्ञान॥
फहराने को ध्वजा प्रेम की, जाग उठा है "राजस्थान"

वर्ष-१] अकोला - दिसम्बर - सन् १९२५ [संख्या-३

राम नाम

इस कठिन काल में रामनाम का उल्टा जाप होता है। अर्थात् बहुत से स्थानों में केवल आडम्बर के लिए, कुछ स्थानों में अपने स्वार्थ के लिए और कुछ जगहों में व्यभिचार करने के लिए होता इसका जाप होता हुआ मैंने देखा है। यदि केवल उस के उल्टे अक्षरों का ही जाप हो तो उसमें मुझे कुछ भी नहीं कहता है। यह हमने पढा है कि शुद्ध हृदय के लोगों ने उल्टा जाप जप कर के भी मुक्ति प्राप्त की है और इसे हम मान भी सकते हैं। लेकिन शुद्धोचारण करने वाले पापी, पाप की पुष्टि के लिए रामनाम के मंत्र का जप करें तो क्या कहेंगे? इसीलिए मैं रामनाम के प्रचार से डरता हूँ। जो लोग यह मानते हैं कि भजन मंडली में बैठ कर नाम की रट लगाने से, शोर करने से ही भूत, भविष्य और वर्तमान के सब पाप नष्ट हो जायंगे और कुछ भी करना बाकी न रहेगा उन्हें तो दूर ही से नमस्कार करना चाहिए। उसका अनुकरण नहीं किया जा सकता।

-महात्मा गांधी

नवयुवक-प्रतिज्ञा

(ज्वालाप्रसाद मिश्र-राजनांदगांव)

दिलों में जाति सेवा की, लगन सच्ची लगायेंगे।
उसी के वास्ते जन्मे, उसी पर प्राण जायेंगे॥ १॥
बला से आफतें आयें, घिरें दुख के घने बादल।
कदम जो पड़ चुका आगे, न हम उसको हटायेंगे॥ २॥
मिटाकर द्वेष की धारा, बहाकर प्रेम की गंगा।
सभी अति हर्ष से हिलमिल,वहां गोते लगायेंगे॥ ३॥
पकड़कर ज्ञान का दीपक, मिटा सब भेद भावों को।
स्वयं निज देश के अज्ञान केतम को मिटायेंगे॥ ४॥
न बेचेंगे कभी कन्या, मिले यदि इंद्र काधनभी।
नहीं हम श्राप उनका शीश पर अपने चढायेंगे॥ ५॥
हमारी बच्चियां प्यारी सुकोमल अल्पवयबाली।
न उनको ब्याह बूढ़ों से, कभीविधवा बनायेंगे॥ ६॥
मिटाकर कुप्रथायें आप अपनी जाति की सारी।
उसे आदर्श की ऊंची शिखर पर हम चढ़ायेंगे॥ ७॥
जिन्होंने डूबती नैया संभाली देश की अपने।
उन्हीं निज पूर्वजों के विगत गौरव गीत गायेंगे॥ ८॥
मिटी अब मोह की रजनी, उजाला ज्ञानका फैला।
न अब भी जो जगे होंगे, उन्हें हम सब जगायेंगे॥ ९॥
घने अज्ञान के तम में अंधेरी स्वार्थ-गलियों में।
भटकते जो अरे होंगे उन्हें हम पथदिखायेंगे॥। १०॥

वर्ष १, संख्या ४, जनवरी १९२६ ई.

प्रोत्साहन-गीत

(१)

भामाशाह, प्रताप-सरीखे, नर-रत्नों को जन्म दिया।
भारत का इस जगतीतल पर, जिसने उन्नत भाल किया।

(२)

हो सपूत उस बीर-भूमि के, वीर-कार्य अविराम करो।
राजस्थानी वीर युवाओ, उठो, उठो, कुछ काम करो॥
सैनिक हो तुम क्रान्ति समर के, परिवर्तन के हामी हो॥
नित्य हितैषी हो समाज के, उन्नति पथ के गामी हो।

(३)

गौरव-रवि चमकादो अपना, अखिल जगत में नाम करो।
राजस्थानी वीर युवाओ, उठो, उठो कुछ काम करो॥
अन्ध रूढ़ि से ग्रसित जाति के, केवल तुह्मी सहारे हो।
एक मात्र जीवन-धन हो, प्यारे, आंखों के तारे हो॥

(४)

हो उद्धार न जब तक इसका, तब तक मत विश्राम करो।
राजस्थानी वीर युवाओ, उठो, उठो, कुछ काम करो॥
'हम फिर अपनी पतित जाति को, उन्नत करके छोड़ेंगे।
इसकी नीरस नस-नस में रस-नूतन भरके छोडेंग ;।
बाहु उठा यह करो प्रतिज्ञा, विघ्नो से संग्राम करो।
राजस्थानी वीर युवाओ, उठो, उठो, कुछ काम करो॥

– जगन्नाथप्रसाद खत्री "मिलिन्द"

॥ श्री ॥

राजस्थान

(विविध विषय विभूषित हिंदी मासिक पत्र)

'काट कठिन रूढि बंधन को, फिर से करे समाजोत्थान।
बजा क्रान्तिका शंख संजीवन, मुर्दों में फूंकेगा जान।
सत्याग्रह का पाठ पढाकर, कर्मयोग का देगा ज्ञान।
फहरानेको ध्वजा प्रेम की, जाग उठा है "राज़स्थान"॥

वर्ष १} अकोला-फरवरी सन् १९२६ {संख्या ५

उन्नति

यदि उन्नति चाहते हो, तो ब्राह्य वस्तुओं तथा काम काज में भिन्नता और विचार तथासंकल्प में अभिन्नता करो। हिंदुओं में वर्ण व्यवस्था वास्तव में इसलिए है कि काम भिन्न-भिन्न हों, परन्तु हृदय एक हों। किन्तुधीरे-धीरे यह असली कारण लौकिक व्यवहार में गुम व गुप्त हो गया, और आत्म-उन्नति के स्थान पर आत्म-अवनति आ गई। मेरे प्यारों! याद रखो, कि शास्त्र व स्मृति तुम्हारे लिये हैं, तुम शास्त्र व स्मृति के लिए नहीं। भारतवर्ष कीनदियों काप्रवाह पलट गया, पहाड़ों से हिमरेखा (Glaciers) हट गई; बन कट गए; परन्तु बस गए; देश की दशा बदल गई, राजसत्ता पलट गई, लोगों के रंग और के और हो गए; परन्तु तुम इस क्षणभंगुर संसार में जो प्रतिशत बदलता रहता है, पुराने रस्म व रिवाजों को जिनमें कुछ जान बाकी नहीं है, कायम रखनां चाहते हो। हाय! वह मनुष्य जो आगे को तो चले और पीछे को देखे कैसा बुद्धि हीन होगा। मेरे प्यारे! तुम ऋषियों की संतान हो, परन्तु उनके समय में नहीं रहते हो।

रेल, तार, बिजली, स्टीमर सब तुम्हारे पीछे पड़े हुए हैं। तुम्हारा मुकाबला तो बीसवीं शताब्दी के यूरोप तथा अमेरिका के विज्ञान वेत्ताओं और शिल्पकारों की बुद्धि से है। याद रखो कि या तो अपने को वर्तमान युग में रहने के योग्य बनाओ, अथवा पितृलोक में पधारो। तुम्हें हमारा सलाम, प्रणाम है।

(स्वामी रामतीर्थ)

वर्ष १, संख्या ६, मार्च १९२६

विवाह धर्म का अंश क्यों है. ?

(महात्मा गांधी द्वारा)

(श्रीमान् सेठ जमनालालजी वजाज की सौभाग्यवती कन्या कमलादेवी के विवाह के दिन आश्रमवासियों की शाम की दैनिक प्रार्थना के बाद महात्माजी ने अत्यन्त उपयोगी उपदेश उस विवाह को लक्ष्य में रख कर दिया था। वह उपदेश नीचे दिया जाता है। इस उपदेश को मनन करने के लिये मारवाड़ी भाईयों से हम विशेष प्रार्थना करते हैं और चाहते हैं कि वे उस आदेश को हृदयांकित करले जो आदेश महात्मा जी ने उपदेश के अन्त में चिरंजीव रामेश्वर और सौभाग्यवती कमलादेवी को दिया हैं। सं.)

आप लोग, भाई और बहने दोनों, जो बाहर से परिश्रम उठा कर रामेश्वर प्रसाद और कमला इन दोनों को आशीर्वाद देने को आये हो इससे मुझे आनन्द होता है और मैं आपको धन्यवाद भी देता हूं। धन्यवाद देने का सबब यह है कि इसको आप सामान्य विवाह नहीं समझते। हिन्दू जाति में जो विवाह होता है, उसमें बहुत आडम्बर होता है। रंग-राग, नाच-तमाशा खाना-पीना अनेक प्रकार का प्रलोभन होता है। विवाह का धार्मिक अंश जिसके कारण विवाह करना योग्य समझा गया है। वह धार्मिक कारण छुप जाता है, हम धार्मिक अंश को भूल जाते हैं। विवाह में पैसे का व्यय इतना अधिक होता है कि गरीबों को विवाह करना आपत्ति सी हो जाती है। कई लोग कर्जदार हो जाते हैं, और उस कर्ज में से जन्म भर भी उनके लिए छूटना मुश्किल हो जाता है, ऐसे विवाह से वर और कन्या दोनों गृहस्थाश्रम में धर्म-विधि का पालनकरें या आकाशपुष्पवत हो जाता है। जिसमें इतना आडम्बर होता है और जो विवाह-विधि इतनी विकारमय होती है और जिसे विकारमय बनाने के लिये माता-पिता इतना परिश्रम उठाते हैं उससे वर और कन्या संयममय जीवन व्यतीत करें यह मुश्किल बात है। यद्यपि इस आश्रम का आदर्श यह है कि विवाहित होते हुए भी ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए और उसी प्रकार कुछ लोग रहते भी हैं। बालक और बालिकाओं को ब्रह्मचर्य की शिक्षा और पदार्थपाठ दिये भी जाते हैं। ऐसा होते हुए भी आश्रम के नजदीक और उसकी छाया में विवाह किया जाता है इसका कारण क्या? इसको धर्म-संकट माना जाय। अहिंसा का पालन करने वाले किसी पर बलात्कार नहीं करते। आश्रमवासियों में से जो ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते उनके लिए विवाह करना कर्तव्य ही है। और इस कर्तव्य को करने में हम उनको आशीर्वाद क्यों न दें? और विधि भी अच्छी क्यों न चलावें? यह भी कर्तव्य है और इसके पालन करते हुए और सोचते हुए मैंने यह देखा है कि हिन्दुस्तान में अथवा सारे संसार में जहां विवाह में धार्मिक विधि मानी जाती है वहां उसमें संयम का अंश होता है। विवाह स्वेच्छाचार के लिए नहीं है, स्मृतियों में भीलिखा है कि जो दम्पती नियम से रहते हैं वे भो ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। मैंने भी इसको बहुत समय तक नहीं समझा था। पर बहुत विचार करने के बाद मैं समझ सका। जो अपने विकारों का नाश नहीं कर सकते वे मर्यादा में रह कर विकारों पर अंकुश रखते हुए

अनिवार्य इतना ही व्यवहार कर सकते हैं। वे भी संयमी कहलाते हैं। जमनालालजी का और मेरा जो सम्बन्ध है वह आप खूब जानते ही हैं। हम दोनों में यह निश्चय हुआ कि जितनी सादगी से और कम खर्च से विवाह कर सकें करना चाहिए। इस तरह से विवाह की क्रिया करनी चाहिए कि जिनसे दोनों पर ऐसा प्रभाव पड़े कि वे विवाह का सच्चा अर्थ समझ सकें। विवाह को आडम्बर रहित बनाना, भोजनादि को और गान तान को स्थान नहीं देना ऐसा अच्छी तरह से कहां हो सकता है? अगर बम्बई में किया जाय तो मारवाडी समाज को और जमनालाल जी के मित्रों को इससे पाठ मिलेगा। आजकल सुधारों के नाम से जो अधर्म चल रहा है, वह वायु नष्ट हो जावेगा। जो धर्म समझना चाहें उनके लिए दृष्टान्त हो जावेगा। परन्तु मुझे यह भय था कि जितनी सादगी के साथ यहां विवाह हो सकता है उतनी सादगी के साथ वहां नहीं हो सकेगा। इसकी दलीलों में मैं उतरना नहीं चाहता। इसी कारण से मैंने वर्धा को भी छोड़ दिया और बम्बई को भी छोड़ दिया। परन्तु इस कार्य को कैसे किया जाय? जमनालालजी और उनके माता-पिता की सम्मति से ही काम नहीं चल सकता था। रामेश्वर प्रसाद के वडील वर्गकी भी सम्मति की जरूरत थी। प्रभुका अनुग्रह था कि केशवदेवजी ने भी इसे स्वीकार कर लिया। मारवाडी समाज में धन बहुत है और खर्च भी अधिक होता है। इतना अधिक कि गरीबों को विवाह करना अशक्य सा हो जाता है और उन पर बोझ पड़ता है। विवाहों में फुलवाड़ी, भोजन बत्तियां और नाइकाओं का नाच होता है। मैं नहीं जानता कि मारवाडी लोगों में नाच होता है या नहीं परन्तु गुजरात के धनिक लोगों में तो कहीं कहीं होता है। इसका असर सारे मारवाडी समाज पर, और मारवाडी समाज हिन्दू जाति का एक अंश है इसलिए उस पर भी, इतना ही नहीं, बल्कि मुसलमान इत्यादि जातियों पर भी पडता है। हां मैं यह मानता हूं कि उस अन्य जातियों पर थोडा है। पड़ता इससे आप सोच सकते हैं कि धनिक लोगों पर कितना बोझ है। परन्तु जो धनवान लोग धन कमाने में मस्त हैं, और अहंकार से ईश्वर को भूल गये हैं, उनकी बात दूसरी है। मारवाडी लोगों में धन है। दुराचार होते हुए भी धर्म के लिए प्रेम है। यह बात मैं खूब जानता हूं। धर्म के लिए वे प्रति वर्ष लाखों रुपये देते हैं। इसका मुझे प्रत्यक्ष अनुभव है। इसलिए हम दोनों ने सोचा कि बिलकुल सादगी से विवाह किया जाय इसमें स्वार्थ और परमार्थ दोनों हैं। जमनालाल जी और केशवदेवजी का रामेश्वरप्रसाद और कमला का भला सोचना यह तो स्वार्थ और दूसरों को मार्ग बताना यह परमार्थ। आप देखेंगे कि इस विवाह में आडम्बर नहीं होगा। नाच-गान नहीं होगा, विवाह के समय केवल धार्मिक विधियां ही की जायेगी। आप लोगों को निमंत्रण इस भाव से दिया गया है कि आप इसके साक्षी हों और इसमें आप सम्मत हों और ऐसी प्रतिज्ञा करें कि आप इसका अनुकरण करेंगे। संभव है कि मेरी इसमें भूल हो और आप ऐसा करना पसंद न करें। हिन्दुस्तान में चन्द धनिक लोग होने से वह धनिकों का देश नहीं हो जाता। यह कंगालों का मुल्क है। यहां पर जितने लोग भूख से मरते हैं और समय पर अन्न न मिलने से व्याधि ग्रस्त हो जाते हैं और भूक खींचने से जडवत् बन जाते हैं उतने दुनिया के और किसी देश में नहीं। यह मेरा कहना नहीं है मगर इतिहास कारों का कथन है। हिन्दू मुसलमान इतिहासकारों का नहीं

राज्यकर्ता के कौम के लोगों का यह कथन है। ऐसे कंगाल मुल्क के करोडपतियों को भी ऐसा काम करने का अधिकार नहीं है जिससे कंगालों के पेट में दर्द हो। धनिक लोग हिन्दुस्तान में ही धन कमाते हैं। वे बाहर में धन कमा कर धनवान नहीं होते। यों तो बाहर के लोगों को दु:ख देकर धन कमाना भी महापाप है। जितने करोड़पति या लखपति हिन्दुस्थान में हैं वे कंगालों को और भी कंगाल बनाते हैं। हिन्दुस्थान के सात लाख देहात हैं। उनमें से कई का नाश हो रहा है। उनका खून चूसा जा रहा है। इसके परिणाम यह हुआ कि जिनको एक समय भी खाने को नहीं मिलता वे लोग मर जाते हैं। इस देश में पशु और मनुष्य दोनों मरते हैं। ऐसी हालत में इतना ही धन खर्च करना चाहिए जो धर्म के लिए अनिवार्य हो। और बचा हुआ धन ही परोपकार में व्यय करें जिससे हिन्दुस्थान के कंगालों का भी भला हो और धनिकों का भी भला हो, इस दृष्टि से हम देखें तो यह विवाह अनुकरणीय है। यह एक सामान्य सुधार नहीं है। इसकी जड़ खूब भीतर जाती है। और इसका परिणाम भी अच्छा ही होगा। इस तरह का कार्य अगर गरीब करेगा तो भी उसका काम तो होगा ही, पर इतना प्रभाव नहीं पड़ेगा। जमनालाल जी दस हजार, बीस हजार और पचास हजार भी फेंक दे सकते हैं और उनके मारवाडी भाई भी यह कहेंगे कि कैसा अच्छा विवाह किया। परन्तु उन्होंने धन होते हुये भी इसका उपयोग नहीं किया। अपने अधिकार को छोड दिया। इसका परिणाम अच्छा ही होगा। कारण गीता जी में भी लिखा है कि श्रेष्ठ लोग करते हैं उसका अनुकरण दूसरे लोग करते हैं यह सच्चा और अनुभव सिद्ध वाक्य है। मैंने आपका अनुग्रह माना है और मैं आपको धन्यवाद देता हूँ। आप कमला और रामेश्वर प्रसाद दोनों को आशीर्वाद देंगे। दूसरे भी ऐसा करेंगे तो अच्छी बात होगी। ऐसा करने से स्वत: की, मूल्क की और धर्म की सेवा होगी। रामेश्वर प्रसाद समझता ही है और कमला भी इस उमर की हो गयी है कि उसके मां-बाप उसको मित्र जैसी समझ सकते हैं। इन दोनों को समझना चाहिये कि इनके माता-पिता जो इतना परिश्रम कर रहे हैं, इतने लोग साक्षी बनने के लिए यहां आ गये हैं। यह विवाह स्वच्छन्द के लिए नहीं विकार का गुलाम बनने के लिए नहीं यह दम्पती आदर्श दम्पती बने। उनके ऊँचे भाव बढाने के लिए ही यह सब कर रहे हैं। गृहस्थाश्रम में भी विकार को दबाने का मौका है। शास्त्र तो यह बताता है कि केवल प्रजा की इच्छा होने पर ही विकारवश हो सकते हो। इसको हम भूल गये हैं और हमको यह बात कोई बतलाता नहीं। रामेश्वर प्रसाद को यह बात मैं बतलनाा चाहता हूँ कि स्त्री पुरुष की गुलाम नहीं है। वह अर्द्धांगिनी है, सहधर्मिणी है। उसको मित्र समझना चाहिए। रामेश्वप्रसाद स्वप्न में भी कमला को गुलाम न समझे। हिन्दू धर्म में भी ऐसे लोग अभी हैं जो स्त्री को अपना माल समझते हैं। ये दोनों नये जीवन में प्रवेश करते हैं। मैंने एक बार कहा है यह तो यह एक नया जन्म है। यह दम्पती शिव-पार्वती या सावित्री या सत्यवान या सीता-राम के समान आदर्शभूत हो। हिन्दूधर्म ने स्त्रियों को इतना उच्च स्थान दिया है कि हम सीता-राम कहते हैं, राम-सीता नहीं, राधा-कृष्ण कहते हैं कृष्ण राधा नहीं। अगर सीता नहीं होती तो राम को कोई नहीं जानता। अगर सावित्री नहीं होती तो सत्यवान का नाम भी कहीं सुनाई न देता। अगर द्रौपदी न होती तो पाण्डवों का पता भी न

चलता। दृष्टांत खोजने की जरूरत नहीं है। मेरा विश्वास है कि यह कार्य हमको परिणामकारक होगा। मुझको ऐसा सोचने का मौका नहीं आने पावे कि मैंने कैसा अकार्य किया। अभी मेरे आयुष्य के शेष दिन रहे हैं उसमें मैं ईश्वर से डर कर चलना चाहता हूँ। जो कुछ करता हूँ अपनी अन्तरात्मा को पूछ कर करता हूँ। मेरी अन्तरात्मा कहती है कि यह दम्पती हमारे लिए आदर्श होगी हमको पश्चाताप का कोई मौका नहीं देगी। अन्त में इन दोनों को आशीर्वाद देता हूँ कि दोनों दीर्घायु हों और अपने बडिलों को भी सुशोभित करें और धर्म की रक्षा तथा देश की सेवा करें।

वर्ष १, संख्या ६, मार्च १९२६

जमनालालजी बजाज की पुत्री के विवाह पर कुछ सम्मतियां

उपादेय अनुकरण

सेठ जमनालाल जी बजाज ने अपनी सुपुत्री कमला कुमारी के विवाह संस्कार में केवल मारवाडी समाज के लिये ही नहीं किन्तु हिन्दू जाति के लिये एक आदर्श स्वरूप रखा है। भारतवर्ष की वर्तमान आर्थिक संकटमय परिस्थिति में, और खुसूसन ऐसे समय में जब कि देशके लाखों नर नारियों को परिमित वृत्ति से निर्वाह करके भारत के स्वातन्त्र्य संग्राम में जुटना है, क्या हिंदू और क्या मुसलमान, ईसाई वगैरह सभी जातियों को सेठजीकाही अनुकरण करना उपादेय और हितकर होगा। इस विवाह में वर पक्षवालों की प्रशंसा किये बिना भी मैं नहीं रह सकता, उन्होंने सेठ जमनालालजी की तरह प्रोत्साहक साधन मिलते हुए भी विकास-विमुख जाति भाइयों की यद्वा तद्वा-समालोचना की परवा न की, और सहर्ष शुभ संकल्प को पूरा किया।

इस विवाह में मुझे दो त्रुटियां विशेष अखरी। एक तो समयोचित विहित संगीत का अभाव, और दूसरा कमला कुमारी को पाणि-ग्रहण आदि संस्कार विधि के समय घूंघट और डबल ओढनी की ओट में इतना ढांप देना कि सप्तपदी तक में भी कदम उठाने के लिये दूसरों का ही सहारा लेना पडता था। भावपूर्ण संगीत से संस्कार के गाम्भीर्य और प्रभाव में वृद्धि होती है, एवं वाताकाश की पवित्रता उपस्थित नर नारियों को मुग्ध करती हुई उसकी स्मृतिको और भी स्थिर बना देती है। एक बात और। इस आदर्श विवाह का स्थान साबरमती आश्रम की जगह वर्धा वा मुम्बई अत्युत्तम होता। आखिर शुभादर्शों के प्रदर्शन के बिना जनता को प्रेरणा तथा उत्तेजना कैसे हो? मुझे इस विषय में महात्माजी की दलील जंची नहीं।

-अर्जुनलाल सेठी

आदर्श नहीं, एक स्मरणीय विवाह -

आपने सेठ जमनालालजी बजाज की पुत्री कमला बाई के विवाह के सम्बन्ध में मेरी सम्मति मांगने की कृपा की इसके लिए धन्यवाद।

मैं इस विवाह को आदर्श तो नहीं कह सकता किन्तु उसे एक स्मरणीय विवाह अवश्य समझता हूँ। उस विवाह में आडम्बर नहीं था, अपव्यय नहीं था, विकार-सामग्री न थी, रूढिपूजा न थी और कुरीतियां न थी। उभय पक्ष से बहुत थोडे लोग बुलाये गये थे। वे केवल मित्र अथवा समाज सुधार और देशसेवाके कार्य के साथी ही थे दोनों ओर समधियों का सा नहीं बंधु जनों का सा नि:संकोच व्यवहार था। पुरुषों में ही नहीं स्त्रियों में यही बात थी। वर और बधू एक दूसरे के घर विवाह के पहले आते जाते थे। मिलनी, तेलबान,, दिखावा. तोरण भात बढार पहरानी, सिरगूंथी आदि अनावश्यक रूढियों का नाम न था। फुलबाडी, जुलूस, नाच गाने और जीमनवार भी न थे। देने और लेने की कुप्रथा न थी। सादगी और पवित्रता का वायु मण्डल था। और फिर साबरमती का तट बर्तमान भारत के श्रेष्ठतम आश्रम का सामिप्य और संसार की सबसे बडी जीवित विभूति का आशीर्वाद जिस दम्पति को जीवन की ग्रंथि बंधने के समय प्राप्त हो उसके सौभाग्य का क्या कहना। वरवधू की जोडी भी अच्छी थी। रामेश्वरप्रसाद गुजरात के राष्ट्रीय विद्यापीठ में स्नातक की पढाई कर रहे हैं। 21 वर्ष की आयु है, स्वस्थ शरीर और सुशील स्वभाव है और धनी होते हुए भी उनमें विनय है। कमला भी खासी शिक्षिता है। आयु का १५ वा वर्ष है, पर वैसे पूर्ण नारित्व को प्राप्त कर चुकी है। सुन्दर और तनदुरस्त है। अपने माता-पिता का शील और विनय उसमें पूरा उतरा है। सप्तपदी अर्थात् परस्पर बचन उन्होंने अपने ही मुखसे लिए दिए थे। सारे विवाह का कार्य तीन घंटों में समाप्त होगया था।

ये बातें मारवाडी समाज की दृष्टि से क्रान्तिकारिणी बातें हैं और ये जमनालालजी के सर्वथा योग्य ही हैं क्यों कि भले ही कोई उनसे मतभेद रखें पर इतना सत्य है कि वे जो कुछ मानते और कहते हैं उसके अनुसार चलने की वे ईमानदारी से कोशिश करते हैं। इस विवाह में जमनालालजी की सुधार प्रियता की ईमानदारी स्पष्ट तथा प्रदर्शित हुई है। परन्तु इस में उनके साहस का पूरा परिचय नहीं मिला और यही एक बात इस विवाह के आदर्श होने में बाधक हुई। यह बात थी विवाह में पर्दे का होना। जमनालालजी पर्दे के विरोधी हैं, वे इसे अन्यायपूर्ण एवं हानिकारक प्रथा मानते हैं। फिर भी कमला से, उसी कमला से जिसे उन्होंने अबतक प्रकृति और धर्म के स्वतंत्र वायु मण्डल में पाला था, घूंघट निकलवाया ही गया। क्यों? शायद इसी विचारसे कि वर पक्ष के चिर संचित भावोंको गल्त भावोंको ठेस न लगे। पर यह विचार तो उस समय भी होना चाहिये था जब सैकडो स्त्री पुरुषों के बीच कमला ने अपने ही शब्दों में पत्निपद स्वीकार किया। मेरे ख्यालमें, जमनालालजी ने जैसावे स्वयं मेरे सन्मुख स्वीकार कर चुके हैं, इस संबंध में और बातों की तरह वह पक्ष को सहमत करने की पूरी चेष्टा नहीं की इस प्रयत्नाभाव का, इस कमजोरी का फल यह हुआ कि कमला को पर्दे का अन्याय सहन करना पडा और संभव है बहुत दिन तक सहना पडे। सार एक अच्छा अवसर हाथ से जाने दिया गया।

इस एक त्रुटि के सिवाय मुझे इस विवाह में सभी बातें मारवाडी समाज ही नहीं, अन्य हिन्दु समाजों के लिये भी अनुकरणीय मालूम होती हैं। इस त्रुटिकी क्षति पूर्ति जमनालालजीं अपने पुत्र अथवा दूसरी पुत्री के विवाह में कर सकते हैं। वह पर्दे को तोड़कर ही नहीं

प्रत्युत धनवान कुल और अग्रवाल जाति की संकुचित परिधि को छोड़कर वे किसी माहेश्वरी, खंडेलवाल आदि निर्धन घर के योग्य बालक अथवा बालिका का आवाहन करें तो मेरी समझ में वे मारवाडी समाज में विवाह का आदर्श स्थापित कर सकेंगे।

राजस्थान सेवासंघ
अजमेर - ०७- ३ - २९ } रामनारायण चौधरी

आदर्श विवाह :-

सत्याग्रह आश्रममे सेठ जमनालालजी बजाज की सौभाग्यवती कन्या के शुभ विवाहका निमंत्रण मिलते ही हृदय में गुदगदी होने लगी कि महात्माजी की देख रेख में होनेवाले इस आदर्श विवाहोत्सव में अवश्य सम्मिलित होऊँ। इसी निश्चयानुसार मैं २७ फरवरी रातको साबरमती के लिये घर से चल पड़ा। अहमदाबाद स्टेशन पर गाड़ी से उतरते ही स्वयम् सेवकों द्वारा स्वागत किया जाकर मैं सत्याग्रह आश्रम के निकट सेठ साहिब के बंगले पहुँचा। सेठ साहिबके बंगले को देखकर महाकवि कालीदास के अभिज्ञान शाकुन्तल के कण्व ऋषि के तपोवन का दृश्य आंखों के सामने नाचने लगा। साबरमती पुण्यसलिता सरयूका रूप धारण किये हुए थी। सत्याग्रह आश्रम तपोभूमि की स्मृति दिला रहा था। साबरमती तीर निर्मित सेठ साहिब के निकटही कदली स्तम्भलतागुल्मादि युक्त रंग विरंगी खादीका रमणीय विवाह मण्डप अपूर्व शोभा दे रहा था। सेठ साहिबसे स्नेहाभिषित आतिथ्य ग्रहण करते करते तथा प्रेम सम्भाषण करते करते सायंकाल होगया और सायंकृत्य समाप्त करने पर भोजन की पुकार हुई। भोजन आडम्बर विहीन व साधा था। विशुद्ध आटे की पूरियां दो एक शाक वे भी हार्दिक प्रेमकी सुगंध मे सने होनेके कारण सुस्वाद में राजा महाराजों के छप्पन भोग को भी लजाते थे। भोजनोपरांत साबरमती की उज्वल धवल बालुकामयी भूमिपर आबाल वृद्ध स्त्री पुरुषों सहित हम सब लोग महात्माजी के साथ जगन्नियंता परमात्माकी प्रार्थना के लिये उपस्थित हुए। सम्मिलित मधुर ध्वनिसे हृदय तन्त्री के सारे ही तार झनझना उठे। प्रार्थना के उपरांत महात्माजीने एक छोटासा सारगर्भित भाषण दिया। उसके बाद सब लोग विवाह मंडप में लौट आये। रात्रीके आठ बजे विवाह कार्य पं. नेकीरामजी और सेठ साहिब के कुल पुरोहित की अध्यक्षतामें प्रारंभ हुवा। वेद ध्वनिसे लगातार अग्नि कुंडमें आहुतियां गिरने लगीं। सप्तपदी प्रारंभ होनेसे पूर्व ही महात्माजी पधार गये और इस पुण्यमय पवित्र कार्य का भार उन्होंने स्वयं ग्रहण किया। हिन्दू विवाह संस्कार में सप्तपदी का कार्य एक विशेष महत्व रखता है। वर कन्या अपने भावी जीवन के मार्गको तय करने के लिये परस्पर प्रतिज्ञा बद्ध होते हैं। प्रतिज्ञायें अग्नि, वेदमंत्र व देवताओं की साक्षीमें की जाती हैं, परन्तु देखा जाता है कि वरवधू संस्कृतसे अनभिज्ञ होने के कारण उनके निज के करने के इस पवित्र कार्यको किरायेके पण्डित ही सम्पादन कर डालते हैं। इसका फल यह होता है कि गार्हस्थ्य जीवन में विरले ही भाग्यवान् वास्तविक दाम्पत्य सुख लाभ कर पाते हैं। सेठ साहिब की षोडस वर्षीया कन्या कमला बाई व महात्मा जी के परम कृपापात्र द्विविंशत वर्षीय होनवार वर श्रीयुत् रामेश्वरप्रसादजी दोनों ही योग्य थे और

महात्माजीने इस सप्तपदी जैसे पवित्र कार्यकी प्रतिज्ञाएं वरकन्या के मुखसे हमलोगों के समक्ष उच्चारण करवाई। अपूर्व दृष्य था। वर श्वेत खादी की धोती, अंगरखा, दुपट्टा और लाल रंगकी खादी की पगड़ी धारण किये हुए था। इसी प्रकार कन्याभी लाल रंगकी खादी के सादे वस्त्र धारण किये हुए थी। परस्पर भावी जीवनके कल्याणमय मार्गको तय करने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध हो रहे थे। कृष्ण पक्षकी प्रतिपदा का चन्द्रमा अपनी शतसहस्र रश्मियों द्वारा शुभाशिर्वाद सिंचन कर रहा था। साथही हम लोगों की अन्तस्थली में भी आशीर्वाद की ध्वनी गूंज रही थी। निकटस्थ सम्बन्धियोंने कन्यादानके समय वर वधु को यथा शक्ति कुछ भेंट करना चाहा परंतु सेठ साहिबने किसी की भी भेंट को स्वीकार न किया। यहां तक कि कन्याके मातुल वंशीय सम्बन्धियोंसे भात (मायरा) तक ग्रहण नहीं किया। दूसरे दिवस प्रात:काल हम लोगोंको सेठ साहिबने एक प्रीति भोज दिया, जिसमें नाना व्यंजनों के स्थानमें केवल मोहन भोग, पूरी, दो तीन साग, पापड पकौडी, सुस्वादु चटनी आदि ही तैयार किये गये थे। भोजनोपरान्त वर कन्या विदा कर दिये गये। साथही वरकन्याको हार्दिक आशिर्वाद देते हुए हम लोगोंने भी सेठ साहिब से विदा ग्रहण की।

जिस करोडपतिकी कन्याके विवाहमें लाखों का वारान्यारा होता वह विवाह कुछ सैकड़ों में ही प्रतिपादित हो गया। विवाहोपलक्ष्यमें लक्ष्मीका सदुपयोग किस प्रकार करना चाहिये, दानवीर त्यागमूर्ति सेठ साहिब ने समस्त हिन्दु धार्मिक समुदाय के समक्ष इसका एक आदर्श उदाहरण उपस्थित कर दिया है।

आज कल विवाह की आडमें हिन्दु समुदायमें जो आडंबर रचे जाते हैं वे किसी भी विचारशील पुरुषसे छिपे नहीं है। धर्म शास्त्रानुसार १६ संस्कारों में विवाह संस्कार एक मुख्य संस्कार है, परन्तु इसी सर्वश्रेष्ठ संस्कारको मिथ्या एवं अनावश्यक आडंबरोंसे लिप्त होते देखकर बडा दु:ख होता है। ऐसे अवसर पर धनके अपव्ययकी कुछ सीमाही नहीं रहती। जिनके पास पर्याप्त द्रव्य नहीं होता है उनके सिरपर हजारोंका कर्ज लद जाता है। परन्तु विचारे साधारण गृहस्थियों को जाति गत रूढि संस्कारों को छोडते नहीं बनता, इसी में कई सद्‌गृहस्थ कंगाल होगये और हो रहे हैं। इन्हीं कारणोंसे कन्याका जन्म होना हिन्दु गृहस्थमें सुखद नहीं माना जाता। भानुकुलवंशीय लक्ष्मण के हृदय में मेघनाद के शक्तिबाण लगने से जिनती पीडा हुई थी उससे अधिक पीडा आज कल सद् जात वंश हिन्दु गृहस्थ को कन्याके उत्पन्न होने का सम्वाद सुनकर हो जाती है। लिखते लज्जा आती है कि हमारे कई घरोमें इसी दुष्प्रथा के कारण बिचारी कन्या जन्मतेहां विष द्वारा अथवा अन्य किसी जघन्य उपायद्वारा मार डाली जाती है। कई गृहस्थ इसी दुष्प्रथा के विवाह में खर्च करने में असमर्थ होने के कारण सकुटुम्ब यवन अथवा ईसाई हो जाते हैं। यदि ऐसी ही अवस्था रही तो हिन्दु जाति का भगवान् ही मालिक है। ऐसी दशा में सेठजी ने इस प्रकार सादगी एवं मितव्ययतासे काम लेकर वैश्य समुदाय ही नहीं समस्त हिंदु संसार के सन्मुख एक अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित किया है। अत: क्या हम आशा करें कि हमारे देश के धनीमानी, गर्वीले सेठ साहूकार, करोडाधीश दानवीर वर्धानिवासी सेठ जमनालालजी की कन्या के आदर्श विवाह से कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगे?

– रामचंद्र शर्मा, अजमेर

एक आदर्श -

सेठ जमनालालजी ने अपनी कन्या के विवाह से मारवाडी समाज के सामने एक आदर्श उपस्थित कर दिया है। इसलिए मारवाडी समाज सेठजी का अत्यंत ऋणी है। विवाह संस्कार की प्रचलित बुराईयां को सभ्य मारवाडी समाज जानता हुवा भी उस जाति के बडे हिस्से के डर से कि जो लकीर का फकीर बना हुआ है, विवाह संस्कार दोष रहीत नहीं बना सका था। इस विवाह से सुधारकोंका साहस बढ कर उनके विचार कार्य रूप में परिणत होकर मारवाडी समाज की निर्बलता दूर हुए बिना न रहेगी। क्यों कि इस विवाह के समय वर तथा वधूको विवाह संस्कार का मूल उद्देश समझा कर महात्माजी ने उनके भविष्य के कर्तव्य को स्पष्ट कर दिया था। इस से केवल उन वर वधूही का कर्तव्य स्पष्ट नहीं हुआ किन्तु ऐसे विवाह करने वालों का कर्तव्य भी स्पष्ट हो गया है। यदि मारवाडी समाज इस कर्तव्य का पालन करेगा तो अवश्य उसकी दुर्बलता नष्ट होकर वह संसार की सभ्य जातियों में स्थान पा सकेगा। इस विवाह को अन्ध परंपरा से चली आई अनुचित रूढियों से मुक्त, सादगीपूर्ण तथा धार्मिक विधियुक्त बनाया इसलिए मारवाडी समाज सेठजी को धन्यवाद दिये बिना न रहेगा, किन्तु सेठजी को शाब्दिक धन्यवाद की अपेक्षा सक्रिय कृतीसे ही अधिक सन्तोष होगा। देखें मारवाडी समाज त्यागी वीर का कितना सन्मान करता है।

-ऋषबदास रांका, जलगांव

श्रीमती सेठानी का साहस

(नीचे का पत्र श्रीमती अंजनादेवी चौध रानी अजमेर का है। विवाहप्रसंग में उपस्थित मारवाडी महिलाओं में से आपकी सम्मति हमें प्राप्त हुई है। आपने श्रीमती सेठानी के साहस की सराहना करते हुये कुछ पक्षपात नहीं किया है; किन्तु उस सचाई को प्राप्त किया है, जिसकी ओर से सभी ने दुर्लक्ष किया है। वस्तुत: श्रीमती जी का साहस सराहनीय है और यदि मारवाडी महिलायें इसी प्रकार सब कार्यों में अपने पति का साथ दिया करें तो समाजसुधार का कार्य बहुत सुगम हो जाय। क्या मारवाडी महिलायें इस उज्वल उदाहरण से कुछ शिक्षा न ग्रहण करेंगी?

-संपादक)

श्रीयुत जमनालालजी बजाज मारवाडी समाज में एक धनिक और धार्मिक आदमी हैं उनका परिचय मुझे देना नहीं होगा क्यों की उन्होंने समय पडने पर धार्मिक कार्यों में भाग लिया है। उन कार्यों से ही सब लोगों को उनका परिचय हो गया है। खास करके उन्होंने असहयोग आंदोलन में तो इतना स्वार्थ त्याग किया है कि मारवाडी समाज के धनिक वर्ग में उन्होंने ही धर्म के लिये सबसे ऊँचा पद प्राप्त कर लिया है।

जमनालालजी बजाज की पुत्री कमला देवी उनकी पहली सन्तान है। उन्होंने उसको कैसे लाड प्यार से लालन पालन किया यह किसी से छिपा नहीं है। हां इस लाड प्यार से समझो या उनको अधिक कार्य होने से समझो, कमला देवी की शिक्षा पूरी नहीं हुई जैसे की

जमनालालजी की पुत्री की होनी चाहिए थी। तथापि उन्होंने उसे शिक्षा काफी अच्छी दिलाई।

अभी वर की उमर करीब २१ या २२ की होगी इतनी अवस्था में उन्होंने इतनी योग्यता प्राप्त कर ली है कि बाई कमलाके साथ शादी होने के बाद वे दोनों गृहस्थाश्रम में सुख पुर्वक धर्म के साथ अपना जीवन व्यतीत करेंगे और साथ ही देश की सेवा को भी नहीं भूलेंगे। अब बाई कमला की अवस्था १४ साल की है और १५ वर्ष में वह पैर रख रही है। परंतु वह ऋतुमती पहलेसे होती थी ऐसी हालतमें देखिये जमनालालजी की साहस। मारवाडी जाति में कन्या का मासिक धर्म से हो जाना धर्म का नष्ट हो जाना समझा जाता है। यद्यपि धर्म की बात तो यही है कि कन्या मासिक धर्म से न हो तब तक शादी करना ही नहीं चाहिये। सेठजी की तो लोग पीठ पीछे ही बदनामी करते होंगे पर सेठानीजी का साहस सराहनीय है, क्योंकि उनको मुंह पर सुननी पडी है। सेठानीजी ने सेठजी का सब अच्छे कामोंमें साथ दिया जैसाकि उनको देना ही चाहिये था। हिन्दू जातिकी विदुषि माताओं सीता, सावित्री, द्रोपदी, शैव्या, दमयन्ती ने अपने पतियों का साथ दिया है, वैसे ही आज हम सब बहिनों को भी धर्म कार्यों में साथ देना चाहिये। अस्तु।

केवल मित्रों को निमन्त्रण दिया गया। मारवाडी रिवाज के माफिक सेठजी की जैसी स्थिति है उसके अनुसार उनको कितना आडंबर करना चाहिये था? हाथी घोडे पालखी आतिश बाजी, भोज में कई तरह की मिठाई, नाच गान और भी कई पुरानी रूढि जैसे तेज वान, हलद हाथ कुछ भी उन्होंने नहीं किया। खाली धार्मिक विधि से २-२॥ घण्टे में विवाह का सब काम समाप्त हो गया। जब महात्मा जी ने सप्तपदी बुलवायी उस समय का दृश्य देखने के लायक था। हमारी जाती में वर तो हमेशा ही नेग के वक्त शुद्ध या अशुद्ध कुछ बोलता है पर कन्या के लिये यह नयी बात थी। सब बात अच्छी थी पर एक कसर रह गयी। वह यह कि कमला बाई से परदा कराया गया।

भोजन भी बिना मिर्च मिठाई का बिलकुल सादा दोनों समय दिया जाता था। कोई दहेज नहीं दिया गया। एक समझने की बात यह कि सेठजी ने ऐसा क्यों किया? उनके पास धन की तो कमी है ही नहीं। वे चाहते तो अपनी पुत्री के विवाह में लाख रुपया खर्च कर सकते थे पर, बहुत धन होते हुये भी उन्होंने सुधार के लिये ही ऐसा किया है। परन्तु इस में यदि जमनलालजी की धर्म पत्नि साथ न देती तो सेठजी इतना सुधार नहीं कर सकते थे। नवटियों की घर की स्त्रियों ने भी समझदारी से काम लिया। अगर इसी तरह मारवाडी जाति में पुरुष जमनालालजी की साहस दिखावें और स्त्रियां अपने पतियों को सहायता दें तो जाति में बहुत जल्दी सुधार हो सकता है।

-अंजना देवी

माहेश्वरी-बन्धु

(कलकत्ता)

(श्रीडीड़ माहेश्वरी पञ्चायत द्वारा प्रकाशित, सन् १९२६)

वर्ष-१, ४८वीं संख्या, फाल्गुण शुक्ला, रविवार, सं. १९८२, २१ फरवरी १९२६

लेख सूची

कल्याण

(मुम्बई)

अंक १वर्ष १ अगस्त १९२६ अंक १

श्री हरिः

विषय सूची

कल्याण के नियम।

१- भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-समन्वित लेखों द्वारा जनता को कल्याण के पथ पर पहुँचाने का प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

२- यह प्रति मासकी कृष्णा एकादशीको प्रकाशित होता है।

३- इसका अग्रिम वार्षिक मूल्य डाकव्यय सहित भारतवर्षमें ६) रु० और विदेशोंके लिये ४॥) रु० नियत हैं। एक संख्याका मूल्य ।=) बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र नहीं भेजा जायगा।

४- ग्राहकोंको मनिआर्डर द्वारा चन्दा भेजना चाहिये, नहीं तो वी. पी. खर्च उनके जिम्मे और पड़ जायगा।

५- इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकार कर प्रकाशित नहीं किये जायँगे।

६- ग्राहकोंको अपना नाम, पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक, नम्बर अवश्य लिखना चाहिये।

७- पत्रके उत्तर के लिये जवाबी कार्ड अथवा टिकट भेजना आवश्यक है।

८- भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि, ईश्वरपरक कल्याणमार्गमें सहायक अध्यात्म विषयके लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें, लेखों को घटाने बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है।

९- प्रबन्ध सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होने की सूचना मनीआर्डर आदि व्यवस्थापक के नाम से भेजना चाहिये और सम्पादक सेसम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि सम्पादकके नामसे भेजना चाहिये।

व्यवस्थापक

कल्याण कार्यालय,

सत्सङ्ग भवन, शिवनारायण नेमाणीकी बाड़ी

ठाकुरद्वार रोड, मुंबई।

Printed by Pandit Shivratan Lalman Bajpayi at shree Venkateshwar steam press, 38/48 Khetwadi 7th Khambata Lane and edited & published by Hanuman prasad poddar at Thakurdwar Road.

कल्याण के विशेषांकों की सूची

१. भगवन्नामाङ्क	वर्ष २, अंक १, श्रावण कृष्ण ११, सं. १९८४,	पृष्ठ सं. ११०
२. भक्ताङ्क	वर्ष ३, श्रावण, सं. १९८५,	पृष्ठ सं. २८६
३. श्रीमद्भगवद्गीताङ्क	वर्ष ४, श्रावण, सं. १९८६,	पृष्ठ सं. ५०५
४. श्रीरामायणाङ्क	वर्ष ५, श्रावण, सं. १९८७,	पृष्ठ सं. ५९२
५. श्रीकृष्णाङ्क	वर्ष ६, श्रावण, सं. १९८८,	पृष्ठ सं. ५१२
६. ईश्वराङ्क	वर्ष ७, श्रावण, सं. १९८९,	पृष्ठ सं. ६१८
७. शिवाङ्क	वर्ष ८, श्रावण, सं. १९९०,	पृष्ठ सं. ६६६
८. शक्ति-अङ्क	वर्ष ९, श्रावण, सं. १९९१,	पृष्ठ सं. ७०४
९. योगाङ्क	वर्ष १०, श्रावण, सं. १९९२,	पृष्ठ सं. ८८४
१०. वेदान्ताङ्क	वर्ष ११, श्रावण, सं. १९९३,	पृष्ठ सं. ७४४
११. संताङ्क	वर्ष १२, श्रावण, सं. १९९४,	पृष्ठ सं. ८७४
१२. मानसाङ्क	वर्ष १३, श्रावण, सं. १९९५,	पृष्ठ सं. ९२८
१३. गीता-तत्वाङ्क	वर्ष १४, श्रावण, सं. १९९६,	पृष्ठ सं. १०७२
१४. साधनाङ्क	वर्ष १५, श्रावण, सं. १९९७,	पृष्ठ सं. ७९२
१५. श्रीमद्भागवताङ्क	वर्ष १६, श्रावण, सं. १९९८,	पृष्ठ सं. १०७२
१६. संक्षिप्त महाभारताङ्क	वर्ष १७, श्रावण, सं. १९९९,	पृष्ठ सं. ९३७
१७. संक्षिप्त वाल्मीकि रामायणाङ्क -	वर्ष १८, आश्विन, सं. २०००,	पृष्ठ सं. ५३६
१८. पद्मपुराणाङ्क	वर्ष १९, श्रावण, सं. २००१	
१९. गौ-अङ्क	वर्ष २०, आश्विन, सं. २००२,	पृष्ठ सं. ७४४
२०. मार्कण्डेय ब्रह्मपुराणाङ्क-	वर्ष २१, माघ, सं. २००३,	पृष्ठ सं. ७२५
२१. नारी-अङ्क	वर्ष २२, माघ, सं. २००४,	पृष्ठ सं. ८००
२२. उपनिषदाङ्क	वर्ष २३, माघ, सं. २००५,	पृष्ठ सं. ७७६
२३. हिन्दू-संस्कृति-अङ्क	वर्ष २४, माघ, सं. २००६,	पृष्ठ सं. ९०४
२४. स्कन्दपुराणाङ्क	वर्ष २५, माघ, सं. २००७,	पृष्ठ सं. ८२२
२५. भक्त-चरिताङ्क	वर्ष २६, माघ, सं. २००८,	पृष्ठ सं. ८०८
२६. बालक-अङ्क	वर्ष २७, माघ, सं. २००९।	
२७. संक्षिप्त नारद-विष्णु-पुराणाङ्क -	वर्ष २८, माघ, सं. २०१०,	पृष्ठ सं. ८००
२८. संतवाणी-अङ्क	वर्ष २९, माघ, सं. २०११,	पृष्ठ सं. ८००
२९. सत्कथाङ्क	वर्ष ३०, माघ, सं. २०१२	
३०. तीर्थाङ्क	वर्ष ३१, माघ, सं. २०१३	पृष्ठ सं. ७०४

३१. भक्ति-अङ्क	वर्ष ३२, माघ, सं. २०१४	पृष्ठ सं. ७०८
३२. मानवता-अङ्क	वर्ष ३३, माघ, सं. २०१५	पृष्ठ सं. ७०४
३३. संक्षिप्त देवी-भागवताङ्क -	वर्ष ३४, माघ, सं. २०१६	पृष्ठ सं. ७०४
३४. संक्षिप्त योगवाशिष्ठाङ्क	वर्ष ३५, माघ, सं. २०१७	पृष्ठ सं. ७००
३५. शिव-पुराणाङ्क	वर्ष ३६, माघ, सं. २०१८	पृष्ठ सं. ७०४
३६. संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्त-पुराणाङ्क -	वर्ष ३७, माघ, सं. २०१९	पृष्ठ सं. ६८२
३७. श्रीकृष्णवचनामृताङ्क	वर्ष ३८, माघ, सं. २०२०	पृष्ठ सं. ६९२
३८. भगन्नाम-महिमा और प्रार्थना अङ्क -	वर्ष ३९, माघ, सं. २०२१	पृष्ठ सं. ७००
३९. धर्माङ्क	वर्ष ४०, माघ, सं. २०२२	पृष्ठ सं. ७००
४०. श्रीरामवचनामृताङ्क	वर्ष ४१, माघ, सं. २०२३	पृष्ठ सं. ७०४
४१. उपासनाङ्क	वर्ष ४२, माघ, सं. २०२४	पृष्ठ सं. ७००
४२. परलोक और पुनर्जन्माङ्क -	वर्ष ४३, माघ, सं. २०२५	पृष्ठ सं. ६९६
४३. अग्निपुराण और गर्ग सहिताङ्क -	वर्ष ४४, माघ, सं. २०२६	पृष्ठ सं. ७००
४४. अग्निपुराण गर्ग-संहिता एवं नरसिंह पुराण अङ्क-	वर्ष ४५, माघ, सं. २०२७,	पृष्ठ सं. ७००
४५. श्रीरामाङ्क	वर्ष ४६, माघ, सं. २०२८	पृष्ठ सं ७००.
४६. श्री विष्णु-अङ्क	वर्ष ४७, माघ, सं. २०२९	पृष्ठ सं. ५४०
४७. श्री गणेश-अङ्क	वर्ष ४८, माघ, सं. २०३०	पृष्ठ सं. ५२८
४८. श्री हनुमान-अङ्क	वर्ष ४९, माघ, सं. २०३१	पृष्ठ सं. ५२८
४९. श्री भगवत्कृपा-अङ्क	वर्ष ५०, माघ, सं. २०३२	पृष्ठ सं. ५२८.
५०. संक्षिप्त वराहपुराणाङ्क	वर्ष ५१. माघ, सं. २०३३	पृष्ठ सं. ४७२
५१. सदाचार-अङ्क	वर्ष ५२, माघ, सं.२०३४	पृष्ठ सं. ४३२
५२. सूर्याङ्क	वर्ष ५३, माघ, सं. २०३५	पृष्ठ सं. ४३२
५३. निष्काम कर्मयोगाङ्क	वर्ष ५४, माघ, सं. २०३६	पृष्ठ सं. ४३२
५४. भगवत्तत्त्वाङ्क	वर्ष ५५, माघ, सं. २०३७	पृष्ठ सं. ४३२
५५. श्री वामन-पुराणाङ्क	वर्ष ५६, माघ, सं. २०३८	पृष्ठ सं. ४१६
५६. चरित्रनिर्माणाङ्क	वर्ष ५७, माघ, सं. २०३९	पृष्ठ सं. ४३१
५७. मत्स्यपुराणाङ्क (पूर्वाध) -	वर्ष ५८, माघ, सं. २०४०	पृष्ठ सं. ४६८
५८. मत्स्यपुराणाङ्क (उत्तरार्ध) -	वर्ष ५९, माघ, सं. २०४१	पृष्ठ सं. -
५९. संकीर्तनाङ्क	वर्ष ६०, माघ, सं. २०४२	पृष्ठ सं. ४७२
६०. शक्ति उपासना-अङ्क	वर्ष ६१, माघ, सं. २०४३	पृष्ठ सं.-
६१. शिक्षाङ्क	वर्ष ६२, माघ, सं. २०४४	पृष्ठ सं. ४७२
६२. पुराण कथा अङ्क	वर्ष ६३, माघ, सं. २०४५	पृष्ठ सं.-

६३. देवताङ्क	वर्ष ६४, माघ, सं. २०४६	पृष्ठ सं. ४०८
६४. योगतत्त्वाङ्क	वर्ष ६५, माघ, सं. २०४७	पृष्ठ सं. ४०८
६५. संक्षिप्त भविष्यपुराणाङ्क	वर्ष ६६, माघ, सं. २०४८	पृष्ठ सं. ४०८
६६. शिवोपासनाङ्क	वर्ष ६७, माघ, सं. २०४९	पृष्ठ सं. -
६७. श्रीरामभक्ति-अङ्क	वर्ष ६८, माघ, सं. २०५०	पृष्ठ सं. -
६८. गोसेवा-अङ्क	वर्ष ६९, माघ, सं. २०५१	पृष्ठ सं. ४७०
६९. धर्मशास्त्राङ्क	वर्ष ७०, माघ, सं. २०५२	पृष्ठ सं. -
७०. कूर्मपुराणाङ्क	वर्ष ७१, माघ, सं. २०५३	पृष्ठ सं. -
७१. भगवल्लीला-अङ्क	वर्ष ७२, माघ, सं. २०५४	पृष्ठ सं. -
७२. वेदकथाङ्क	वर्ष ७३, माघ, सं. २०५५	पृष्ठ सं. ५१५

निवेदन।

'कल्याण' के जीवनका प्रथम वर्ष पूरा हो गया। दयामय भगवान्की कृपा और उसकी शुभ प्रेरणा से 'कल्याण' के द्वारा जो कुछ कार्य होना अभीष्ट था, सो हुआ। परन्तु हमें इससे संतोष नहीं है। 'कल्याण ने' जिस उद्देश्य से जन्म ग्रहण किया है उसके लिये कार्यक्षेत्र बड़ा ही विस्तीर्ण है। क्षुद्र कलेवर और परिमित शक्ति को लेकर सारे क्षेत्र में कार्य करना बड़ा कठिन है। इसके अतिरिक्त कल्याण के मार्ग में कण्टक भी अनेक हैं। जगत की वर्तमान परिस्थिति इसके उद्देश्य से सर्वथा प्रतिकूल है। आजकल की शिक्षा और सभ्यता भी इसके मार्ग में बड़ी बाधक हैं। अत्यन्त रमणीय जड़ पदार्थों के पीछे प्रमत्त होकर बड़े बेग से दौड़ने वाले इस परिणाम-ज्ञान शून्य, विषयान्ध जगत को विनाश के इन्द्रिय तृप्ति करमार्ग से लौटना किसीभगवत्कृपा प्राप्त महान् तपस्वीका पुरुष का ही कार्य हो सकता है। इस 'कल्याण' का सम्पादन जिसके हाथ में है वह तो स्वयं ही उपर्युक्त मार्ग में कहीं सुख शांति का पता न देखकर ''यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूय:'' वाले कल्याणधाम का मार्ग ढूंढ़ रहा है, ऐसी स्थिति में उसके द्वारा कल्याण सम्पादनकी संभावना कैसे की जा सकती थी? एक बात अवश्य थी, वह थी परमगुरु की कृपा। जिसके सहारे अधम, उत्तम; अमङ्गल, मंगल; पापी, पुण्यात्मा और बद्ध, मुक्त हो सकते हैं। वही एक बल था और उसी परम बल के आधार पर 'कल्याण' का एक वर्ष निर्विघ्न समाप्त हुआ और उसी की प्रेरणा से अपनी अत्यन्त साधारण सामर्थ्य होने पर भी 'कल्याण' यत्किञ्चत कार्य कर सका! इसके सिवाय कृपालु भक्तों, लेखकों और ग्राहक, अनुग्राहकों की सहायता से बड़ा सहारा मिला।

इस वर्ष 'कल्याण' के द्वारा सबसे बड़ा काम होली के अवसर पर श्रीभगवन्नामका अनेक जगह बड़ी संख्या में जप होना था। (हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे, हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।) तारक मंत्र के साढ़े तीन करोड़ जप के लिये प्रार्थना की गयी थी। परन्तु पाठकों को यह जानकर बड़ा हर्ष होना चाहिये कि भगवत्कृपा से उसकी संख्या लगभग पैंतीस करोड़ हो गयी। गांव-गांव और घर-घर में परमपावन भगवन्नामका प्रचार हो गया। होली के दिनों में सैकड़ों जगह श्री हरिकीर्तन और नगरकीर्त्तन हुए। प्रमाद और गाली गलौज बंद हो गया। कई जगह सत्संग भवनकी स्थापना हुई। यह सब भगवान और गुरु देवकी कृपा का ही परिणाम है।

यह बात मुक्तकण्ठ से स्वीकार की जाती है कि कल्याण को जनता ने आशानुरूप ही ही अपनाया। इस समय 'कल्याण' की ३००० प्रतियां छपती हैं। हिन्दी में संभवत: बहुत थोड़े ऐसे मासिकपत्र होंगे जिनकी पहले ही साल इतनी प्रतियां छपी हों, विशेषकर 'कल्याण' जैसे एक भक्ति,ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार सम्बन्धी (अधिकांश में आजकल की सभ्यता और शिक्षा के प्रतिकूल भाव फैलानेवाले, पढ़े लिखे और सभ्यताभिमानी तथा विषयी पुरुषों की दृष्टि में व्यर्थ) मासिक पत्र की!

इसमें हमें अपनी कृति या अपने किसी बल पौरुष पर रत्ती भर भी अभिमान नहीं है।

इस उन्नति का कारण केवल भगवत्कृपा, और उन्हींकी प्रेरणा से उत्पन्न हुई जनता की स्वार्थ रहित सच्ची सहानुभूति है। हम तो सर्वथा अकिचन हैं।

'नहिं, विद्या नहिं बाहु बल, नहिं खरचन को दाम।
तुलसी ऐसे पतित को, तुमही राखत राम॥'

सब कुछ उसी की प्रेरणा से होता है अतएव हम तुच्छाति तुच्छजीव किस बात पर अभिमान करें?

वर्ष की समाप्ति के समय हम अपने समस्त अपराधों के लिये प्रेमी लेखक, ग्राहक, अनुग्राहकों से विनयावनत होकर क्षमा याचना करते हुए प्रार्थना करते हैं कि वे अपनी कृपा सुधाधारा से सदा सर्वदा हमें यों ही नहलाते रहें! अन्त में प्रार्थना है कि आप लोगों की भगवत् प्रेरित सहानुभूति और सद्भावना हमें विशेष शक्ति प्रदान करे जिससे हम और भी उत्साह और बलसम्पन्न होकर आप लोगों की कुछ सेवा करने में समर्थ हो सकें।

- **सम्पादक**

ॐ

नूतन वर्ष

दीपशिखाकी भांति जीवनकी ज्योति क्षण क्षणमें क्षीण हो रही है। दीपकके तेलकी तरह जीवन के आधार स्वरूप श्वासों की सम्पत्ति प्रतिक्षण घट रही है। जीवन-सूर्यके अस्ताचलकी समय समीप-अति समीप आ रहा है! तबभी इस 'गाफिल मुसाफिर'को चेत नहीं होता। अरे! दिन रहते रहते घरका सीधा मार्ग पकड़ ले, नहीं तो रात के अंधकार में पड़ कर राह भूल जायगा! बिछुड़ जायगा साथियों से और भटकेगा जंगल-जंगल में हताश, निराश और उदास हुआ! चेत, शीघ्र चेत! किस माया-मरीचिका मेंभूल रहा है? किस मोहमदमें मतवाला हो रहा है। याद रख, यहां तेरी तृप्ति असम्भव है। तृप्ति होती तो अब तक हो न जाती? जहां गया वहींसे हाथ झड़का कर अतृप्त लौटना पड़ा। राजा बना, देवता बना, इन्द्र बना परन्तु कहीं तृप्ति नहीं हुई। तृप्ति के अथाह सागर में निमग्नन होने में कुछ न कुछ कसर रह ही गयी। "इतना सा और हो जाय" यह सदा ही बाकी रहा!

अब तो तू उस आनन्द समुद्र के तट पर आ पहुंचा है। "इतना सा और हो जाय" को भूलकर कूद पड़ इस सच्चिदानन्द सागर में! गहरी डुबकी लगा! तुझे प्रेम रत्न मिलेगा, अमूल्य धन मिलेगा। उसे पाकर तू सचमुच तृप्त हो जायगा सदा के लिये कृतार्थ हो जायगा! कुछ भी तो अपूर्णता नहीं रहेगी!

तोड़ दे सारे बंधनों को, छोड़ दे सारी लाज शरम को! निर्लज्ज और निरकुंश कबीर का यह गीत याद करता हुआ मार गहरा गोता!

"घूंघट के पट खोल रे, तोहे राम मिलेंगे!"

यदि अब भी नहीं चेता, किनारे से वापस लौट गया, हाथ में आये हुए अमूल्य पारस को फेंक दिया तो पीछे सिवा पछताने के और कुछ भी उपाय हाथ में नहीं रह जायगा! इसलिये-

"जीती बाजी मत हार रे, तू पकड़ हरीको।"

ऐसा मौका फिर कठिनता से मिलेगा। मत जाने दे हाथ से इस सुअवसर को! काल की चक्की तो अनवरतचल ही रही है। न जाने कब पिस जायगा? तू समझना है, बड़ा होना हूँ। काल समझता है कि इसकी परमायु के दिन पूरे हो रहे हैं। वास्तव में काल की समझ पक्की है। अतएव इस कालके भय से काल काभरोसा छोड़कर तू तत्काल ही काल का काल बन जा! ऐसा बन जा कि, फिर काल कभी तेरे सामने अपना अस्तित्व ही न दिखासके। वहां चला जा, जहां कभी काल की कल्पना ही नहीं हुई! शीघ्रता कर कहीं काल को तेरी इस कल्पना का पता लग जायगा और वह चिड़िया पर बाज की भांति तुझ पर पहले ही हमला कर बैठेगा तो तेरी सारी आशा धूल में मिल जायगी। कल्पना की सारी सृष्टि उस महाप्रलय में नष्ट भ्रष्ट हो जायगी! अतएव गुपचुप; परन्तु त्वराके साथ इस कल्पना को कार्यरूप में परिणत कर ले!

देखता नहीं? देखते देखते यह "कल्याण" पत्रका भी एक वर्ष बातों में बीत गया। अभी कल की कीसी बात है। परन्तु स्मरण रख, इस कल्याणका ही एक वर्ष नहीं बीता, इसी के साथ साथ मजदूर-सम्राट, कंगाल, धनी, मूर्ख, पंडित, जनता, नेता, श्रोता-वक्ता, पाठक-सम्पादक, अधिक क्या सृष्टि के समस्त चराचर का काल की गणना के लिये कल्पित किया हुआ एक वर्ष पूरा हो गया।

विचार करो! "कल्याण" के प्यारे पाठक और पठिकाओं! जीवनके इस पूरे एक वर्ष की घटनाओं को स्मरण कर हिसाब किताब ठीक करो! इस एक साल के लगभग पचहत्तर से अस्सी लाख श्वासों कापरमधनतुमने किस काम में खर्च किया? सि धन को कहीं व्यर्थ या प्रमाद में तो नहीं उड़ा दिया? कहीं रत्न देकर, बदले में कांच के टुकड़ों का संग्रह तो नहीं कर लिया? यदि ऐसा किया है तो बहुत बुरा किया है, इसके लिये पश्चाताप करो! परमात्मा से क्षमा याचना करो! स्मरण रखो, जो श्वास प्रभु के चिन्तन भजन में या उसकी सेवा में जाता है वही सार्थक है, बाकी सब व्यर्थ है। यदि श्वास रूपी धन को, (भोग,त्याग, समाज, जाति, देश या धर्म किसी भी बहाने से) असूया ईर्षा, काम,-क्रोध, द्वेष मत्सर हिंसा-प्रतिहिंसा, घृणा-उपेक्षा, व्यभिचार-अनाचार, लोभ-मोह और मद-मान आदि कुसंगियों के सहवास में लुटा दिया है तो तुमने बड़ी ही भूल की है! इन कुसंगियों की कुसंगतिका परिणाम सोचकर कलेजा कांप उठता है। परन्तु कोई चिन्ता नहीं! अब भी सावधान हो जाओ "गयी सो गयी जब राख रही को" आगे के लिये एक श्वास भी व्यर्थ मत जाने दो। घर का काम करो, व्यापार करो, देश सेवा करो, धर्म प्रचार करो, जो कुछ भी कहो परन्तु श्वास की प्रत्येक ध्वनि के साथ उसके नाम की नित्य ध्वनि को मिला दो। सबका भरोसा छोड़कर लेट जाओ उसके पावन चरण प्रान्त में, सारा बोझा उतारकर डाल दो उसके, सुरसरी जनक चरण नखों में, पूर्व के पापों के लिये न घबराओ! उनका भार तो वह स्वयं उठावेगा। सुनी नहीं उसकी दिव्य घोषणा?

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"

(गीता १८,६६)

सब धर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मेरी शरण हो जा, मैं तुझे समस्त पापों से छुड़ा दूंगा। तू चिन्ता न कर! कितने भरोसे के वचन है?

जानते हो शरण किसे कहते हैं? करना सब कुछ परन्तु अपने लिये कुछ भी नहीं। जैसे सती पतिके लिये सब कुछ करती है। ('सब कुछ' का अर्थ यह नहीं कि उसके बताये हुए कामोंको छोड़कर दूसरे मनमाने ''आलतू फालतू'' कामोंका करना!) जब सारा भार ही उसके चरणोंमें डाल देते हो तो उसी के हो जाते हो, तुम्हारा अलग कोई स्वार्थ रहता ही नहीं। तुम उसके और वह तुम्हारा! जब दोनों एक ही हो गये, अपनापन अलग रहा ही नहीं, तब तुम्हें अपने लिये अलग क्या करना बाकी रहा? तुम तो अपने आपको उसके चरणों में सौंप कर सब कुछ कर चुके!

जब तक करना ही नहीं रहा तब आश्रय और भरोसा किस बात का? और वह भी किससे? दूसरे की तो कल्पना ही नहीं रही।

उत्तम के अस बस मन माहीं।
सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं॥

उत्तम पतिव्रता की भांति अन्य पुरुषका अस्तित्व स्वप्न में भी नहीं रह जाता। बस-

एक भरोसो एक बल, एक आश विश्वास।
एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास॥

इसका नाम है ''शरण''। इस शरणका असली भाव तभी समझ में आता है जब अन्त:करणके सम्पूर्ण पापोंकी कालिमा समूल धुल जाती है और उसमें भगवत् भावोंका सन्तत प्रवाह बहने लगता है। पापोंकी कालिमाको जड़से धोनेके लिये सबसे बढ़िया साबुन है-

''श्रीभगवन्नाम''

आज यह तुम्हारा 'कल्याण' नूतनवर्षकेअभिनन्दनके अवसर पर उसी कल्याणकारी 'भगवन्नाम' की निधि लेकर तुम्हारे द्वार पर उपस्थित हुआ है। अनुरोध यही है कि प्रसन्नता के साथ इस परम निधिको ग्रहण करो और अपने मित्रों, बान्धवों, स्नेहियों, घरवालों, देशवासियों, मनुष्य जातिके लोगों और जीव मात्र में यथाशक्ति इसे वितरण कर उनके सच्चे सुहृद होने का परिचय दो।

तुलसी सो सब भांति परम हित,
पूज्य प्राणतें प्यारो।
जाते होई सनेह राम पद,
एतो मतो हमारो॥

वही घरका है, वही मित्र है, वही परम हितैषी है, वही प्राणों से प्यारा है कि जिससे श्रीरामचरणोंमें प्रेम होता है।

जय सच्चिदानन्द! हरि : ॐ

त्यागभूमि

(अजमेर)

वर्ष १ विजयादशमी संवत् १९८४ अंक १

विषय-सूची

चित्र-सूची

मार्ग शीर्ष, संवत् १९८४

'त्यागभूमि'?

प्यारे पंडितजी,

नमस्कार। आपने अपने पत्र का नाम 'त्याग-भूमि' रक्खा है। मेरी समझ में नहीं आया, क्यों? क्या त्याग-भूमि से अभिप्राय है कि हमारी भूमि वह है जिसको उसके पुत्रों ने त्याग दिया है, या इससे यह मन्तव्य है कि हमारी भूमि में त्याग-भाव प्रधान है? दोनों प्रकार से मुझे आपका यह नाम पसन्द नहीं आया। मेरी सम्मति में आपको इसका नाम या तो स्वर्ग-भूमि रखना चाहिए था या नरक-भूमि।

भारतवर्ष की भूमि वास्तव में स्वर्ग-भूमि थी, क्योंकि इसमें यज्ञ होते थे। नाना प्रकार के अपूर्व पदार्थ पैदा होते थे। मनुष्य भी इसके हर प्रकार से मान्य-योग्य थे। उनके शरीर अ-रोग होते थे, पुष्ट होते थे, बलवान होते थे। अन्दर भय नहीं था। वह निर्भय होकर संसार का काम करते थे और अपनी आरोग्यता के कारण संसार के पदार्थों से अपने जीवन को आनन्दमय रखते थे। उनके अन्दर यश, कीर्त्ति और परोपकार की इच्छा थी। वह सदैव "विजय" की कामना करते थे। वह इस जगत् को मिथ्या और त्याग करने के योग्य नहीं समझते थे। वह अपने लिए और मनुष्य-मात्र के लिए बल और विद्या की प्राप्ति और वृद्धि चाहते थे। उनकी स्त्रियां वीरवती होती थीं, वह उनको त्यागवती नहीं कहते थे। त्याग भी अच्छी चीज़ है, परन्तु अपने समय पर। नौजवानों और दुनियादारों के लिए त्याग करना अस्वाभाविक (Unatural) है। परन्तु दुनिया में धर्म्म के रास्ते पर चलते हुए अपने कर्तव्य पालन करके किसी समय पर दुनिया को लात मार देनी, यह भी एक अच्छा गुण था। हमारी बदक़िस्मती से हमने "त्याग" केवल "त्याग" को इतनी पदवी दे दी कि हमसे हमारा देश भी छिन गया। अगर केवल "त्याग" ही हमारे जीवन का उद्देश्य है और त्याग ही हमारा लक्ष्य है, तो फिर हम अपने देश की स्वाधीनता के लिए क्यों इतना झगड़ा करते हैं? हमसे बड़ा दुनिया में कोई त्यागी नहीं हो सकता। हमने अपना देश त्याग दिया, अपनी स्वाधीनता (आज़ादी) त्याग दी। अपना धन-दौलत दूसरों के सुपुर्द कर दिया। यहाँ तक कि अपनी इज्जत भी त्याग दी और वह भी दूसरों के सुपुर्द कर दी। इस त्याग-वृत्ति का यह फल है कि आज हमारे अनगनित देशवासी भूखों मरते हैं, नंगे रहते हैं। बे-घर व बे-सामान है। दुनिया में न उनका नाम है, न उनकी कीर्ति है। वह डंगरों की तरह अपना जीवन बिताते हैं। दूसरे लोग उनसे ख़िदमत लेते हैं, काम कराते हैं। उनको जिस तरह चाहें, अपने मतलब के लिए इस्तेमाल करते हैं। हम तो त्याग-मूर्ति बने हुए बैठे हैं। मेरी तो समझ में नहीं आता कि हम 'त्याग' का स्वर क्यों अलापते हैं! हम तो बहुत त्याग कर चुके। इस त्याग ने हमारा ख़ाना ख़राब कर दिया, हमको धूल में मिला दिया, और हमें घर का छोड़ा न घाट का। कृपा करके अपने पत्र का नाम बदल दीजिए और त्याग-प्रवृत्ति का प्रचार न कीजिए। इस समय तो हमें पुरुषार्थ का, साहस का, हौसले का और आशा का प्रचार ज़रूरी

है, न कि त्याग का। मैं चाहता हूँ कि आप मेरा यह पहला संदेश अपने पाठकों को पहुंचा दें।

आपका मित्र,

लाजपत राय

नम्र निवेदन

'त्याग-भूमि' के लिए यह सौभाग्य और गौरव की बात है कि वह पूज्य लालाजी का यह सन्देश अपने पाठकों तक पहुँचा रही है। देश की मौजूदा हालत को देखकर पूज्य लालाजी को जो मर्म-वेदना हो रही है वह हमारे और पाठकों के लिए एक सजीव स्फूर्ति का काम देगी। 'त्याग' और 'त्याग-भूमि' के सम्बंध में पूज्य लालाजी ने जो व्यथा और व्यंग भरे विचार प्रकट किये हैं उनके सम्बन्ध में मुझे अपना नम्र निवेदन उनकी सेवा में पेश करना ज़रूरी है। 'त्याग' और 'त्याग-भूमि' से हमारा अर्थ और उद्देश्य केवल यही है कि देश को पराधीनता की बेड़ियों से छुड़ाने के लिए भारत का बच्चा-बच्चा अपना सर्वस्व होम देने को तैयार होजाय। जबतक वह देश को आज़ाद नहीं देख लेता तबतक किसी दूसरी चीज़ में उसका मन न लगे। यह दर्द, यह कलंक, यह बैचेनी और यह बलिदान का भाव पैदा करना ही 'त्याग-भूमि' के जीवन का लक्ष्य है। दुनिया को छोड़ कर जंगल में धूनी रमाना, इसे हम त्याग नहीं मानते। समाज, देश और धर्म की सेवा के लिए अपने को सब तरह अर्पित कर देनां — खपा देना — यह अभिप्राय हमारा त्याग से है। भारत को बलिदान के ऐसे मतवाले वीरों की भूमि देखना 'त्याग-भूमि' की लालसा है। मैं पूज्य लालाजी को विश्वास दिलाता हूँ कि, यदि 'पुरुषार्थ का, साहस का, हौसले का और आशा का प्रचार' 'त्याग-भूमि' के द्वारा न हुआ तो उसका जन्म निरर्थक समझना चाहिए। वीरता और उसके साथी गुण, साहस, निर्भयता, तेजस्विता, दृढ़ता, परामक्रम, आशा, उत्साह, हौसला, कर्मण्यता आदि 'त्याग-भूमि' के त्यागी का पहला लक्षण है। त्यागी से हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि अपने अच्छे से अच्छे गुण, बड़ी से बड़ी शक्ति, श्रेष्ठ से श्रेष्ठ वैभव, सब कुछ देश, धर्म और समाज के काम आवे। हमारा जीवन कोरा व्यक्तिगत जीवन न रहे, वह देश की सम्पत्ति हो जाय और हमारे दीन-दुखी भाइयों की सेवा में लगे। **ह.उ.**]

अधःपात!

भारत की वर्तमान लम्पटता पर किस देश-हितैषी को गहरी चोट नहीं पहुँचती होगी? हमारे नरेशों की लम्पटता ने तो हद कर दी है। भूतपूर्व इन्दौर-नरेश दो-दो महारानियों के रहते हुए एक अमेरिकन महिला- मिस मिलर-से विवाह करने पर तुले हुए हैं; उधर उदयपुर के अपंग महाराजकुमार तो दो महारानियों के रहते हुए तीसरी शादी लाखों रुपया ख़र्च करके, हाल ही, कर भी चुके हैं। इसे लम्पटता नहीं तो और क्या कहें? नरेशों के आदर्श की बात तो एक ओर रही; दुनिया की लोग-हँसाई की शर्म भी ताक पर रख दी गई! समझ में नहीं आता, किन कठोर शब्दों में ऐसी विषय-लोलुपता की निन्दा की जाय — प्रजा —जन का घायल हृदय किस प्रकार उन्हें चीर कर दिखाया जाय। भूतपूर्व इन्दौर-नरेश के पुत्र · वर्तमान इन्दौर-नरेश — उनकी दोनों महारानियां, सगे-सम्बन्धी, प्रजाजन सब उनके अमेरिकन विवाह का विरोध कर रहेहैं। सुनते हैं, मन्त्रि-मण्डल भी इसका विरोधक है। फिर भी आप विवाह के लिए ज़मीन-आस्मान के कुलावे मिला रहे हैं। इस विषयान्धता का कुछ ठिकाना है! राज-पाट खोने जैसी भारी क़ीमत दे कर भी, जान पड़ता है, महाराज ने काफ़ी सबक नहीं सीखा। किसी काम के पीछे पड़ जाने की उनकी धुन मूल में चाहे कितनी अच्छी हो; पर उसका ऐसा घोर दुरुपयोग का अनर्थ किसी को कैसे सहन हो सकता है? कहते हैं, मिस मिलर को हिन्दुस्थानी जीवन बहुत पसन्द है और उसने महाराज के जीवन को इतने ही थोड़े सम्पर्क में थोड़ा-बहुत सुधार दिया है, और आगे विवाह हो जाने पर तो बहुत कुछ सुधार देगी। मिस मिलर के इस प्रभाव का हम स्वागत करते हैं। पर क्या यह नहीं पूछ सकते कि यदि उन्हें हमारे गुलाम देश पर और हमारे एक नरेश पर इतनी ही दया करना मंजूर है तो क्या उनसे विवाह किये बिना यह सब नहीं हो सकता? क्या दो महारानियों वाले पदहीन महाराज की पत्नी बन कर ही वह उनपर यह उपकार कर सकती हैं — एक मित्र रह कर नहीं? पर, कहते हैं, अमेरिकन युवतियाँ भोली-भाली होती हैं। फिर एक पुरुष के साथ एक विदेशी बहन पर ऐसा कटाक्ष उचित नहीं। हम उसमें भूतपूर्व महाराज को ही पूरा दोष-भागी मानते हैं। उन भाइयों की कार्रवाई पर हमें हँसी आती है जो शुद्धि की धुन में, मिस मिलर को हिन्दू बना लेने के प्रस्ताव पर, महाराज की सहायता के लिए आगे बढ़ रहे हैं! एक अमेरिकन महिला के हिन्दू होने के आनन्द के बहाव में बेचारी उन महारानियों की फ़जीहत और ज़िल्लत न जाने कहाँ बह गई!

उदयपुर के श्रीमान् महाराजकुमार तो कह गुज़रे! कहते हैं श्रीमान् महाराणासाहब की सम्मति के ख़िलाफ़ यह सब.....हुआ है। अनुभवी लोग कहते हैं कि नरेशों की शिक्षा-दीक्षा, आहार-बिहार, रहन-सहन, मित्र-मण्डली, और राज-काज का प्रायः सारा वायुमण्डल ही ऐसा दोषमय होता है कि उनको विषय भोग के सिवा प्रायः कुछ सूझता ही नहीं। यदि यह सब ठीक है तो कितने सोचने और सचेत हो जाने की आवश्यकता है? शृंगार-विलास और विषय-भोग को आचरण हिन्दू-जीवन में आटे में नमक के बराबर स्थान अवश्य है; पर यदि कोई दिन भर ही स्त्री की या विषय-विलास की बातें सोचा करे तो क्या यह चौंकने और जागरूक रह कर इलाज करने योग्य मानसिक रोग नहीं है? इस समाज के नरेश के

मन इतने गिरे हुए हैं, उसके प्रजाजन में यदि कामिनियों और रमणियों के चित्रों की पूजा करने लगे -- क्योंकि इतने विवाह वे बेचारे कहाँ से करें?-ख़ुशबूदार तैल और कामोत्तेजक, वीर्यवर्धक, दवाइयों के विज्ञापनों पर उनकी आँखें नाचती रहें, कामशास्त्र और कोकशास्त्र उनकी गीता-रामायण बन बैठें तो कौन आश्चर्य की बात है? जिस समाज में इन बातों का दौर-दौरा हो उसके नायकों के लिए यह गहरी चिन्ता का विषय है। उन्हें सतर्क रह कर इस कामान्धता को रोकने का पूरा उद्योग करना चाहिए।

ह.उ.

राजस्थान की हलचलें

राजस्थान की हलचलों का ख़याल आते ही बिजोलिया, जयपुर, बीकानेर, भरतपुर, ग्वालियर और इन्दौर —राजस्थान की प्राय: सब बड़ी रियासतें सामने आ जाती हैं। इनमें से कहीं प्रजा के हित की बातें हो रही हैं, कहीं उसके हित पर लीपापोती करने की चेष्ठा की जा रही और कहीं देशी-नरेश पर संकट आ रहा है। बिजोलिया और जयपुर पर टिप्पणियां अलहदा लिखी गई हैं।

बीकानेर में श्वेतांबर जैन परिषद ने जैन-जगत् में कुछ जागृति की है। एक स्थायी आश्रम खुलने की ख़बर है, जिसमें खादी-संगठन के लिए भी उद्योग किया जायेगा।

भारतपुर देशी नरेश ओर ब्रिटिश सरकार की खींचा-तानी का क्षेत्र बन रहा है। एक ओर से कहा जाता है, राजा किशन का बुरा प्रभाव श्रीमान् भरतपुर नरेश और उनके राज्य-कार्य पर पड़ रहा है; और दूसरी ओर राजा किशन ब्रिटिश अधिकारियों की भरतपुर को निगल जाने की चालों का भण्डाफोड़ कर रहे हैं। श्रीमान् भरतपुर-नरेश मालूम तो उत्साही, साहसी और जानदार होते हैं; पर इतने ही से कोई आदर्श नरेश कैसे हो सकता है? और जब तक राज्य में सुव्यवस्था और सुनीति न हो एवं प्रजाबल का ज़ोर न हो, तब तक किसी भय की आँख को कोई कैसे बचा सकता है?

ग्वालियर के उज्जैन में हालही वकील सम्मेलन हुआ, जिसमें दो बातें ख़ास तौर पर हमारा ध्यान खींचती हैं — एक तो यह कि वकील लोग लोकहित की ओर अधिक ध्यान दें और दूसरे यह कि अपना संगठन बनावें। यह शुभ चिह्न है। वकीलों के संगठन का परिणाम यह होना चाहिए कि वकील अधिक सत्य-भक्त बनें, अदालतों में न्याय का वायुमण्डल फैले, उनमें मामलों-मुक़दमों की संख्या घटे और वकीलों की फ़ीस भी कम हो। इधर लश्कर में हिन्दी और मराठी-सम्मेलन नवंबर के आरंभ में होने वाले थे। राष्ट्र-भाषा और महाराष्ट्र-भाषा दोनों के सम्मेलनों का यह सम्मेलन, इंदौर की तरह, बल्कि उससे भी अधिक सफल हो, प्रत्येक राष्ट्रहितैषी की यही कामना हो सकती है। इन सम्मेलनों का एक परिणाम यह भी होना चाहिए कि मराठी और हिन्दी-भाषा एक दूसरे के अधिक नज़दीक आवें, प्रान्तीय सङ्कुचितता दूर हो और एक-राष्ट्र-भाव की वृद्धि हो।

इंदौर अभी बलवन्तसिंह के मामले का फ़ैसला कर ही नहीं पाया था कि बलवन्ता का

खून उसके सिर पर सवार हो गया! लोग कहते हैं, बलवन्ता ने कई मुसलमान अपराधियों की शिनाख़्त की थी, इसलिए मुसलमानों ने उसे मरवा डाला। टेलर साहब फरमाते हैं - 'इस मामले को हिन्दू-मुसलमान-वैमनस्य का जितना रूप दिया जा रहाहै उतना ठीक नहीं। बलवन्ता बज़ात ख़ास कोई अच्छा आदमी नहीं था। उसका चलन ठीक न था।' सचाई तो आजकल अपना मतलब साधने का हथियार भर रह गई है। देखें, अदालत किस सचाई को हमारे सामने सामने पेश करती है।

इन सब हलचलों की छानबीन हमें तीन परिणामों पर पहुँचाती है — (१) राजस्थान में प्रजा दिन-दिन जग रही है, (२) सत्ताधीश उसे उठाने के बजाय दबाने में,.....स्वार्थ-हानि के भय से, कहीं ऊपरी दबाव से, अपनी शक्ति खर्च कर रहे हैं और (३) ब्रिटिश नौकरशाही बिल्ली की तरह सदा घात में बैठी रहती है और मौक़ा ताकते ही शिकार पर टूट पड़ती है। इसका एक ही उपाय है, राजा और प्रजा के स्वार्थों का एक हो जाना। देखें, परमात्मा सुनिद कब लाता है!

चैत, संवत् १९८४

सम्पादकीय

महात्माजी का स्वास्थ्य

महात्माजी का अस्वास्थ्य सारे देश की चिन्ता को बढ़ा रहा है। १८ मार्च ज्यों-ज्यों नज़दीक आ रही है त्यों-त्यों देश की धुकधुकी बढ़ती जा रही है। इसमें कोई शक नहीं कि महात्मा जी का शरीर काफ़ी दुर्बल हो गया है; पर पाठकों को यह सुनकर अवश्य सन्तोष होगा कि अब उन्होंने फिर दूध लेना शुरू कर दिया है। ईश्वर के मन की कौन कह सकता है! - पर कम से कम मुझे, १८ मार्च का ज़रा भी भय नहीं मालूम होता। महात्माजी का यह कहना बिल्कुल सही है कि जब तक इस शरीर की आवश्यकता रहेगी तब तक यह नष्ट नहीं हो सकता। मेरे ख़याल में सारा देश महात्मा जी के शरीर को आवश्यक ही नहीं अनिवार्य मानता है और अपने इस दुखी, पीड़ित, उठने की इच्छा रखने वाले पुत्र की इस माँग को वह करूणामय हर्गिज़ नामंजूर नहीं कर सकता। पर इस रूचिकर आशावाद की अपेक्षा मुझे इस विषय में उदासीन हो जाना ज्यादा अच्छा मालूम होता है। यह निर्विवाद है कि महात्माजी का शरीर एक न एक दिन हमें छोड़कर चला जाने वाला है। क्षीणतो वह क्रमश: होता ही चला जा रहा है। क्यों न हम अपने को अभी से उस महायात्रा के लिए तैयार कर रक्खें? तैयार कर रखने के मानी यह हैं कि हम भूल जांय कि महात्माजी हमारे अन्दर मौजूद हैं। उन्होंने अपना सन्देश हमें अच्छी तरह दे दिया है, अपने जीवन और आचरण के द्वारा उसका कार्यक्रम-और पदार्थ-पाठ भी हमें बहुत-कुछ दे दिया है। यदि हमें वह प्रिय है, हमने उसे समझ लिया है, तो बस हमारा सारा जीवन उसी की साधना में लग जाय। हमारा खाना-पीना, ऐशो-आराम सब उसी के अर्पण हो जायँ। महात्मा जी के बाद होने के बदले यदि वह बात उनके सामने होने लगे तो कौन कह सकता है कि उनके

जीवन के दिन न बढ़ जायेंगे? हमारी इस गुलामी की और बेबसी की हालत पर महात्माजी के दिल में जो आग धधकती रहती है वह यदि हम सबके दिलमें धधकने लगे तो महात्माजी की ज़िंदगी ज़रूर बढ़ जाय। ईश्वर ने हमें एक महापुरुष दिया। यदि हमने उसे पहचान लिया, उसका संदेश सुन लिया, उसके लिए अपना जीवन दे दिया, तो ईश्वर भी हमें उस महापुरुष के योग्य समझ कर उसे हमारे बीच अधिक समय तक रहने देगा - वर्ना उसकी चीज़ है, जहाँ ज़्यादा ज़रूरत होगी वहाँ उसे क्यों न भेज देगा? सहृदय पाठकों को ये रूखी ज्ञान क़ी बातें इस समय नागवार मालूम होती होंगी; पर वे विश्वास रक्खें कि महात्माजी के शरीर का मोह नहीं बल्कि उनकी आत्मा की भूख मेरी क़लम से ये पंक्तियां लिखवा रही है। शरीर आत्मा का मंदिर है और सर्व-साधारण केलिए कई अंशों तक वह आत्मा से भी अधिक मूल्यवान् वस्तु है। पर आत्मा को ठेस पहुँचने देते हुए शरीर की रक्षा के लिए आतुर होना मनुष्य की भारी भूल है। यदि हम महात्मा जी की आत्मा को सन्तुष कर सकेंगे तो उनका शरीर अपने आप हृष्ट-पुष्ट होता रहेगा। जिन्हें उनकी आत्मा का ख़याल है उनके लिए श्रद्धेय विद्यार्थीजी का नीचे लिखा पत्र उदाहरण-रूप होगा -

कानपुर, १२.२.२८।

प्रियवर उपाध्यायजी, बन्दे।

इससे पहले एक पत्र भेज चुका हूँ। शायद आप अजमेर में नहीं हैं। साबरमती होंगे। इधर महात्माजी के स्वास्थ्य के संबंध में हम लोगों को बहुत चिन्ता है। कुछ पत्र अहमदाबाद से ऐसे मिले, जिनसे चिन्ता बढ़ गई। देश को और संसार को अभी महात्माजी की बहुत जरूरत है। परमात्मा अभी उन्हें हमारे सिर पर रक्खें। यह महज कहने-सुनने की बात नहीं है। समय-समय पर यह जी चाहता है कि गला काट कर रख दें और अन्तिम श्वास की यह अभिलाषा हो कि इस शरीर के शेष दिन महात्माजी के चरणों में अर्पित होकर उनके जीवन को बढ़ावें। किन्तु मन की मसोसन बुद्धि के उदय के इस युग में निःसत्व त्वेष से अधिक मूल्यवान नहीं है। क्या करें और क्या न करें - इससे मन उलटा-पलटा करता है। इतना साफ़ समझ में आता है कि यदि हमारे किसी काम से महात्माजी को तनिक भी सन्तोष हो सके तो उसे अवश्य करें। इसीलिए मैंने अपने तथा बालकृष्ण, तथा कुछ युवकों की ओर से जमनालालजी को एक पत्र लिखा है और आपको भी यह लिख रहा हूँ। हम चर्ख़ा संघ के सदस्य हुए जाते हैं। पर हम केवल दिखावटी सदस्य भी नहीं रहना चाहते। हम काम करेंगे - जहाँ तक बन सकेगा वहां तक। यदि संसार के वर्त्तमान महापुरुष के चरणों में हमारी यह श्रद्धाञ्जलि अर्पित होकर उसके हृदय को एक राई के लाखवें हिस्से बराबर भी संतोष दे सके, तो, हम इसमें अपने हृदय का उद्धार मानेंगे।

आपका-

ग. शं. विद्यार्थी

श्रद्धेय विद्यार्थीजी ने जिस पारदर्शक निर्मलता के साथ अपना हृदय उँड़ेला है, उनकी आत्माके इस सुन्दर, स्फुर्तिदायक शब्दों के बाद मैं इस विषय में अधिक क्या लिखूँ? मैंने तो अपना सब कुछ महात्माजी के अर्पण कर रक्खा है - जिस दिन मैं सब अर्थ में महात्मा

जी के जीवन-कार्य की यत्किंचित भी सेवा करने योग्य अपने को बना सकूँगा, वह दिन मेरे जीवन की कृतार्थता का दिन होगा। मुझ जैसे लोग महात्माजी जैसों को देखकर ही ईश्वर की झलक देख सकते हैं। ऐसी अवस्था में उनके शरीर की हानि से पाठक हमारी हानि की कल्पना कर सकते हैं। परन्तु मुझे यह भी सूर्य-प्रकाश के सदृश स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि महात्माजी की आत्मा की उपेक्षा करके हम उनके शरीर की रक्षा कदापि नहीं कर सकते। अतएव उनकी अस्वास्थ्य-सम्बन्धी हमारी सारी चिंता उनके जीवन-कार्य की सिद्धि में लग जाना चाहिए। यही एक मात्र दवा है। महात्माजी को हमारे बीच अधिक दिनों तक जीवित रखने की।

श्रावण, संवत् १९८५

इन्दौर दरबार और 'कर्मवीर'

१९ जून को इन्दौर दरबार ने 'कर्मवीर' के संपादक महोदय को पत्र लिखा है - "आपका पत्र पिछले कुछ समय से स्टेट के विरूद्ध आग भड़का रहा है।" उसने स्वच्छन्दता से कैबिनेट और स्टेट के कतिपय उच्च ऑफ़िसरों के विरूद्ध असत्य और शरारत से ओत-प्रोत ख़बरें प्रकाशित की हैं। ऐसी ख़बरें प्रकाशित करने वाले व्यक्ति की प्रति सप्ताह की टीका-टिप्पणियाँ इस दर्जे की तो हो ही रही है, जिनपर फ़ौजदारी की नालिश भी अदालत में दायर की जा सकती है; परन्तु हमारी यह (अदालती) दिशा संभवत: अप्रत्यक्ष रूप से आपके पत्र का प्रचार बढ़ा दे, और चूंकि हमारे पास (आप पर) प्रभाव डालने वाला अन्य साधन भी मौजूद है, इसलिए हिज़ हाइनेस की सरकार ने आपके पत्र को रियासत में बन्द कर देना ही निश्चित समझा है। फिर भी आपको अपनी ग़लती सुधारने का अवसर दिया जाता है। आप स्टेट में लगातार भ्रान्तिपूर्ण सनसनी फैलाने वाली ख़बरें प्रकाशित किया करतेहैं। इससे स्टेट की प्रजा में अनुचित उत्तेजना फैलती है, और वह हिज़ हाइनेस की सरकार के प्रति अप्रीति की भावना जमाती है। अत:, मुझे यह कहने की इज़ाजत दी गई है कि, यदि इस पत्र के प्राप्त होने के एक सप्ताह के अन्दर आप अपनी स्टेट-सम्बन्धी आलोचना के प्रकाशन के लिए बिना शर्त क्षमा-याचना कर लें और उसे अपने पत्र में प्रकाशित भी कर दें, तथा भविष्य में ऐसी ग़ैरज़िम्मेवारी और शरारत से भरे लेख प्रकाशित न करने का विश्वास दें तो हम पत्र की बन्दी का आर्डर जारी न करेंगे।"

इस चिट्ठी की भाषा मुझे अच्छी नहीं लगी। इसमें सत्ता की, दूसरों को क्षुद्र समझने की बू आती है। यह अधिक गौरव-पूर्ण और शालीनता से युक्त भाषा में लिखी जा सकती थी। 'कर्मवीर' का जवाब भी काफ़ी लम्बा और जोशीला है, जो दरबार की चिट्ठी की प्रतिक्रिया मालूम होती है। मुझे खेद है कि प्राय: निरन्तर यात्रा में रहने के कारण मैं 'कर्मवीर' के उन समाचारों और टीका-टिप्पणियों को सिलसिले से और ध्यान पूर्वक नहीं पढ़ पाया हूँ, इसलिए उनके सम्बन्ध में कोई राय देना कठिन है; पर इतना तो मैं उन्हें बिना देखे ही कह देना चाहता हूँ कि मुझे इन्दौर दरबार की इस कार्रवाई से बड़ा दुख हुआ। लेखन-स्वातंत्र्य

के इस युग में जो राज्य अख़बारों को इस तरह अपने यहाँ आने से रोकते हैं वे अपनी न्यायशीलता और प्रतिष्ठा की वृद्धि नहीं कर सकते। इन्दौर दरबार ने यदि 'कर्मवीर' की बातों पर शान्ति के साथ विचार करके उनकी सचाई की छानबीन कर ली हो और वे बातें असत्य पाई गई हों, तो एक तो इसकी सूचना उसी समय संपादकजी को देनी चाहिए थी, दूसरे इस चिट्ठी में इस बात का जिक्र होना चाहिए था। यदि ऐसा न किया गया हो और बहुतेरे अधिकारियों की इसी मनोवृत्ति का यह परिणाम हो कि फ़लां बात सच हो या झूठ, हमारे ख़िलाफ़ लिखी ही क्यों गई, तो मुझे दुख के साथ कहना पड़ता है कि यह अच्छा नहीं हुआ। और इन्दौर दरबार की यह दलील कि अदालती कारखाई करने से आपके पत्र का प्रचार बढ़ेगा - इसलिए उसे रियासत में बंद कर देना ही निश्चित समझा है, मेरी समझ में नहीं आई। इंदौर दरबार की अपनी तथा रियासत की रक्षा की चिंता का यथोचित ध्यान रखते हुए भी मैं यह कह देना चाहता हूँ कि ऐसी दशा में अदालत में नालिश करना ही सबसे अधिक न्यायोचित होता।

'कर्मवीर'-संपादक ने अपने उत्तर में यह कहा कि 'इंदौर दरबार की ये सारी बातें एकतर्फ़ा हैं और उन्हींकी तरह हम भी यह कह सकते हैं कि लिखी गई समस्त बातें अक्षरश: सत्य हैं। एकाधबार को छोड़कर इंदौर-दरबार ने आज तक इनका कोई प्रतिवाद नहीं भेजा।' किसी निष्पक्ष न्यायालय में जबतक इस बात का फ़ैसला नहीं हो जाता तब तक 'कर्मवीर'-संपादक के इस कथन के बल की कैसे उपेक्षा की जा सकती है कि "संभव है न्यायालय के सन्मुख कुछ ऐसी बातें प्रकट होतीं जो इंदौर मंत्रि-मंडल के लिए असुविधाजनक होतीं। शायद इसीलिए मंत्रि-मंडल के विद्वानों ने यह मार्ग ग्रहण किया हो।" 'कर्मवीर' दो ही दशाओं में दोषी माना जा सकता है - (१) या तो इंदौर-दरबार ने प्रतिवाद भेजे हों और उसने न प्रकाशित किये हों या (२) न्यायालय में उसकी प्रकाशित बातें झूठी साबित हों। इनके अभाव में इंदौर-दरबार की इस कार्रवाई को न्याय-संगत कहना कठिन है। प्रवेश-निषेध राज्य के हाथ में आख़िरी शस्त्र है। मेरा ख़याल है कि 'कर्मवीर' के मामले में अदालती कार्रवाई करने के पहले उसका उपयोग करना अनुचित हुआ और दरबार का यह ख़याल कि 'कर्मवीर' के रियासत में बंद कर देने से वैसी ख़बरें छपना या फैलना बंद होजायेगा, गलत है। यदि वे बातें सचमुच असत्य हैं और दरबार ने ख़ूब छानबीन कर ली है, तो न्यायालय के सामने अपना मामला रख देना उसका एकमात्र राजमार्ग है। मुझे दु:ख के साथ कहना पड़ता है कि यह दवा मर्ज़ को अधिक बढ़ाकर छोड़ेगी। दमन सत्य की रक्षा या प्रजा के हित का साधन कभी नहीं हो सकता। 'कर्मवीर' का निषेध दमन का ही एक रूपहै। इंदौर के मंत्रिमण्डल के प्रधान अधिकारियों से, जिनकी सज्जनता पर मेरा विश्वास है, ऐसी कार्रवाई की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। अब तक यदि बंदी का हुक्म निकल भी चुका हो तो भी न्याय की रक्षा के लिए यह उचित होगा कि खुली अदालत में 'कर्मवीर' पर मामला चला कर उसे अपनी सफ़ाई का पूरा-पूरा मौक़ा दिया जाय। अन्यथा तटस्थ लोगों की भी सहानुभूति इस मामले में 'कर्मवीर' की ओर ही रहना विशेष संभवनीय है।

अपूर्व और अनुकरणीय

श्रद्धेय श्री जमनालाल जी बजाज भारत के उन कर्मवीरों में है जो कहते कम हैं करते ज्यादा हैं, जो कहते हैं वही करते हैं और करने को तैयार रहते हैं। मैं ज्यों-ज्यों उनके निकट सम्पर्क में आता जाता हूँ त्यों त्यों उनके संबंध में महात्माजी का यह कथन बड़ा ही अध्ययन-पूर्ण मालूम होता जाता है-'जिन्होंने सेवा-धर्म का स्वीकार किया है उनको जमनालालजी के जीवन में बहुत बातें अनुकरणीय प्रतीत होंगी।' श्रीमान् जमनालालजी के अथक प्रयत्न से हाल ही में उनके वर्धा स्थित श्री लक्ष्मीनारायण के मन्दिर के ट्रस्टियों ने एक प्रस्ताव द्वारा मन्दिर अछूतों के लिए खोल दिया है; जिसके समारोह का रोचक और ज्ञान-प्रद वर्णन और आचार्य विनोबा का सुन्दर प्रवचन एक मित्र ने भेजने की कृपा की है, जिसे स्थानाभाव से, अगले अंक में, प्रकाशित करने की चेष्टा की जायगी। जहाँ तक मुझे पता है अस्पृश्यता-निवारण के सिल्सिले में यह पहला ही उद्योग सेठ साहब की तरफ से हुआ है। सत्ताहीन और पराधीन भारत में, हिन्दू जैसी अनेक अन्ध-विश्वासों से पूर्ण शिथिल जाति में सामाजिक और धार्मिक सुधार करना कितना कष्टकर और कठिन है, इसका ज़रा भी ज्ञान जिन्हें हैं वे जमनालालजी को इस सत्साहस के लिए भूरि-भूरि धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते। आचार्य विनोबा के शब्दों में जमनालालजी ने 'माता को अपनी बिछुड़ी हुई सन्तान से मिला देने का पुण्य प्राप्त किया है।' ऐसे प्रकृत सुधारक हिन्दू-समाज के गर्व और गौरव है। परमात्मा इन्हें चिरंजीव करें और इनके आदर्श से हम जैसे हजारों जीवन अनुप्राणित हों।

भाद्रपद, संवत् १९८५

सम्पादकीय

'त्याग-भूमि' की ओर से

पाठक बन्धुओ, 'त्याग-भूमि' आज कुछ अपनी कथा आपको सुनाना चाहती है। इस अंश के आपके हाथ में पहुँचने पर 'त्यागभूमि' का प्रथम वर्ष ख़तम होता है। जब यह निकली थी तब प्रथम वर्ष की सफलता के लिए मैंने दो बातें अपने सामने रक्खी थीं- एक तो यह कि वह अपने जीवन-कार्य और कार्य-क्षेत्र की विशेषता की छाप पाठकों के दिल पर डाल दे और दूसरे इसके ३००० ग्राहक हो जाँय। मुझे यह देखकर हर्ष होता है कि प्राय: दोनों बातों में इसने इस वर्ष सफलता प्राप्त कर ली है। किसी नई पत्रिका के प्रथम वर्ष में ही २,३०० ग्राहक होजाना सफलता की ही बात है। फिर 'त्याग-भूमि' में न तो चटक-मटक है, न रसीली- रँगीली बातें हैं और वह प्रकाशित भी ऐसे स्थान से होती है जहाँ न छपाई की सुविधा है, न कागज़ की, न चित्रों या ब्लाकों की। मंडल ने यदि अपना प्रेस न किया होता तो यहाँ से इसका निकलना ही असंभव होता। इसके अलावा उसे नामधारी संपादक भी कैसे मिले ? एक तो साल भर एक जगह जम कर बैठा ही नहीं और दूसरे ठहरे कवि, जिनका भावुक मन अपनीमस्ती के साथ मुक्तगगन में उड़ता रहता है। फिर भी

पत्रिका जिस रूप में आप के सामने आती रही है वह प्रधानतः हमारे उन साथियों के मौन परिश्रम का फल है, जो कानून की भाषा में सम्पादक नहीं समझे जाते हैं। यही कारण है। जो मैं अपने को इस हर्ष का थोड़ा सा अधिकारी मान सकता हूँ। पर यह हर्ष दुख- मिश्रित भी है। इसके सम्पादन में, प्रूफ संशोधन में, छपाई सफाई में, अथवा व्यवस्था-सम्बन्धी बातों में जो कुछ त्रुटियां रही हैं उनसे मैं भली भाँति परिचित हूँ। इन दोषों का अपराधी मैं अपने को मानता हूँ। मेरा कर्तव्य था कि यहाँ, अजमेर, में, बैठ कर अपने साथियों की मदद करता। पर मैंने अपने को, अच्छा हो या बुरा, दो घोड़ों पर बैठा रक्खा है। और इसके लिए अपने सहृदय पाठकों से क्षमा मांगने के सिवा दूसरा उपाय अभीनहीं दिखाई देता। अस्तु।

परन्तु हमारे साथी तो इस सफलता का श्रेय हमारे उन मित्रों को देना चाहते हैं जिन्होंने समय-समय पर उनसे मार्ग दिखाया है, उत्साहित किया है, और लेख, कवितादि भेजते रहे हैं तथा मंडल को 'त्याग-भूमि' की आर्थिक चिन्ता से प्रायः मुक्त कर रखा है, जिसके कारण वह इतनी सस्ती दी जा रही है। हमारे वे मित्र और हितेषी भी इस जस के भागी हैं, जिन्होंने हमारे पाठक-परिवार की बृद्धि करने में सहायता दी है।

पर सफलता के इस वर्णन से आप यह न समझें कि हम अपने को कृतार्थ मानते हैं। पत्रिका के नाम को सार्थक और उसके गुरुतर उद्देश्य की पूर्ति के लिये तो अभी हमें और हमारे साथियों को अपना सारा जीवन खपाना होगा। अभी इसके कई अंशों में कई प्रकार के सुधार की आवश्यकता है, जिनके कुछ नमूने पाठकों को अगले वर्ष से दिखाई देंगे।

इस एक वर्ष में 'त्याग-भूमि' ने हिन्दी-संसार में और राष्ट्रीय सेवा-क्षेत्र में, क्या काम किया इसके सम्बन्ध में हम अपने मुँह से क्या कहें? मित्रों, पत्रों, तथा विद्वानों की जो रायें अब तक प्रकाशित की जा चुकी हैं वे ही इस बात पर भली-भांति प्रकाश डाल रही है। फिर 'त्यागभूमि' के प्रकाशित होने के बाद मासिक पत्र-पत्रिकाओं के स्तम्भों में तथा सामयिक विषयों में जो वृद्धि और रूपान्तर हुए हैं, उनकी ओर भी आप एक बार दृष्टिपात कर लें। इसके प्रकाशन से हिन्दी संसार में एक हलकी हलचल सी होती हुई दिखाई पड़ रही है। फिर भी मैं समझता हूँ, इसके निर्णय के वास्तविक अधिकारी तो हमारे पाठक, संपादक और आलोचक बंधु ही हैं।

२,३०० ग्राहक को जाने पर भी 'त्याग-भूमि' को इस वर्ष ८,००० घटी उठानी पड़ी है। इसका पहला कारण यह है कि 'त्याग-भूमि' अभी ५/ में घर पड़ती है,पर पाठकों को रु. ४/ में ही दी जाती है। दूसरे विज्ञापन की आमदनी भी 'त्याग-भूमि' ने अपने लिए अग्राह्य मानी है। यह ठीक है कि मित्रों ने 'त्यागभूमि' को आर्थिक चिन्ता से मुक्त-सा कर रखा है; परन्तु 'त्याग-भूमि' तो केवल उनके स्नेह पर निश्चिन्त नहीं होना चाहती। उसने स्वलम्बन का दुर्गम-पँथ अपने लिए स्वीकार किया है। वह चाहती है कि केवल अपने पाठकों से प्राप्त मूल्य के बल पर खड़ी रहे। न विज्ञापन का सहारा ले, न मित्रों की विशेष सहायता का! हो सकता है कि आज यह पागल का स्वप्न जान पड़े। पर 'त्याग-भूमि' को जाना तो इसी दिशा में है। जितनी तेजी से उसके पाठक-परिवार की वृद्धि होती जायगी उतना हीमित्रों की कृपा का यह बोझ हलका होता जायगा! जिस दिन 'त्याग-भूमि' की सहायता में लगने

वाला मित्रों का रुपया उससे श्रेष्ठ काम में लगने लगेगा, उस दिन मुझे 'त्याग-भूमि' की सफलता का सच्चा हर्ष हो सकेगा।

यहाँ इन मित्रों के नामोल्लेख करने की इच्छा प्रबल होती है परन्तु इनके स्नेह की पवित्रता मुझे भौंहें तान कर उँगली से मना कर रही है। और मुझे उसके सामने सिर झुका ही लेना चाहिए।

अन्त में मैं उन सज्जनों से क्षमा-प्रार्थना करना चाहता हूं जिन पर 'त्याग भूमि' में मुझे प्रसंगोपान्त कर्तव्य:वश कठोर टीका-टिप्पणी करनी पड़ी है। 'त्यागभूमि' न तो केवल आलोचना या विरोध करने वाली पत्रिका है, न 'हां में हां' मिलाने वाली। वह अपनी बुद्धि और शक्ति भर सत्य और न्याय को सामने रख कर लिखती है उसमें कभी मित्रों पर टीका हो जाती है और कभी विरोधियों की स्तुति। 'त्यागभूमि' का उस दिन मेरी दृष्टि में कुछ 'मूल्य न रहेगा, जिस दिन वह किसी का विरोध केवल इसलिए करेगी कि वह विरोधी हैं और किसीका समर्थन केवल इसलिए करेगी कि वह उसका मित्र है। आशा है, पाठक उसको इसी स्थिति को अच्छी तरह समझ लेने की कृपा करेंगे।'

आश्विन संवत् १९८६)

सेवा बनाम महत्वाकांक्षा

अजमेर में आगामी चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के आस-पास अग्रवाल- महासभा काअधिवेशन होने वाला है। एक तो राजस्थान सामाजिक सुधारों में यों ही पिछड़ा हुआ है, फिर अग्रवालों में विधवा-विवाह के कारण दो दल हो गये हैं। अग्रवाल-महासभा दोनों के साथ निष्पक्ष और उदार व्यवहार रखना चाहती है। वह जहाँ विधवा-विवाह को अभी उचित नहीं समझती, तहां विधवा-विवाह करने वालों या उसमें भाग लेने वालों का बहिष्कार भी नहीं करना चाहती। वह अग्रवाल मात्र की संस्था है। फिर किसी के व्यक्तिगत विचार वआचार कैसे भी हों, उसने अपना दर्वाज़ा हर एक के लिए खुला रक्खा है। परन्तु पिछले साल बम्बई से पुराने विचार के लोगों ने पंचायत-सभा के नाम से एक अलहदा सभा बनाई है और उसके कुछ प्रतिनिधि अजमेर में भी आंदोलन करनेके लिए आ पहुंचे हैं। कुछ इसके प्रभाव से, तथा कुछ, कहते हैं, व्यक्तिगत द्वेष और महत्वाकांक्षाओं से प्रेरित होकर अजमेर के अग्रवालों को महासभा की सेवा के अवसर पर दो दलों में बंटवा देना चाहते हैं। मैं अजमेर से रवाना हुआ तब तक समझौते की कोशिश हो रही थी। मुझे आशा है कि अब तक उसमें सफलता मिल चुकी होगी। पर दुर्भाग्य से यदि ऐसा न हुआ हो तो मैं महासभावादी भाइयों से कहूँगा कि वे अपनी ओर से शांति और नम्रता का भंग किसी प्रकार से न होने दें और न विघ्नों और कठिनाइयों के कारण हिम्मत ही हारें। विघ्न तो शुभकार्यों कीसिद्धि के प्रथम चिह्न हैं। और पंचायतवादी भाइयों से कहना चाहता हूं कि यदि सचमुच सिद्धांत और आदर्श का भेद है तो शौक से अपनी सभा अलग कीजिए अथवा महासभा में ही शरीक होकर अपने विरोध की आवाज उठाइए,परन्तु यदि आप में से कोई व्यक्तिगत द्वेष या

महात्वाकांक्षा से प्रेरित होकर कोई काम करेंगे तो पीछे पछताने के सिवा कुछ हाथ न आवेगा। अब समय आ गया है कि हम अपने हृदय से सेवा भाव को इतना प्रबल बना लें कि उसके सामने व्यक्तिगत द्वेष और महत्वाकांक्षा को शरम आने लगे। हमें अपने को और वस्तु स्थिति को इतना न भुला देना चाहिए कि द्वेष और महत्वाकांक्षा की वेदी पर सेवा-भाव को कुरबान होना पड़े।*

(आश्विन, संवत् १९८६)

चंक्रम

'त्यागभूमि' की शिकायतें

'त्यागभूमि' इस संख्या से अपने तीसरे साल में क़दम रख रही है। पिछले साल उसने कैसी लेख-सामग्री पाठकों को दी, यों तो इसका फैसला हमारे पाठक और आलोचक भाई ही कर सकते हैं; पर इधर कई मित्रों और समाचार-पत्रों और बंधुओं ने त्यागभूमि पर जो टिप्पणियां और अग्रलेख आदि लिखकर उसकी योग्यता, और छोटी-सी सेवा के प्रति अपना प्रेम और सहानुभूति प्रदर्शित करने की कृपा की है, इससेभी इस पर रोशनी पड़ जाती है। 'त्याग-भूमि' के किस प्रेमी को यह सुनकर आनंद न हुआ होगा कि युवक-भारत के सरदार पं. जवाहरलाल नेहरू ने उसे हिन्दी की 'सब से अच्छी' पत्रिका बताया है। मेरी राय में पहली साल की अपेक्षा दूसरे साल में 'त्यागभूमि' का स्टैंडर्ड किसी कदर अच्छा ही रहा है। ग्राहक-संख्या भी पिछले वर्ष से ज्यादह-तीन हजार से ऊपर है। त्या. भू. ४००० छपती है। घटी के ठीक अंक, यह लेख लिखते वक्त तक मेरे पास नहीं आये हैं- फिर भी अनुमान है कि इस वर्ष ७ हजार से अधिक हानि न उठानी पड़ेगी। इस वर्ष तो ऐसी योजना बनाई है कि जहां तक हो ५ हजार से अधिक हानि न उठानी पड़े। यदि त्या. भू. अपना पूरा मूल्य पाठकों से ले और साथ ही विज्ञापन छापकर भी आमदनी करने लगे तो यह घटी सहज ही पूरी हो सकती है; पर अभी तो त्या. भू. अपनी इसी नीति पर दृढ़ रहना चाहती है। वह देखना चाहती है कि अपनी उपयोगिता और सेवा के बल पर इतने कम दाम लेकर भी किसी तरह स्वावलंबिनी हो सकती है, या नहीं।

यह तो हुआ त्या. भू. का उज्ज्वल पक्ष या एक पक्ष; अब दूसरे पक्ष की सुनिये। छपाई-सफाई में, प्रूफ-संशोधन में समय पर प्रकाशित होने में वह अभी पिछड़ी हुई है। प्रबंध-संबंधी शिकायतें भी मेरे कानों पर आती रहती हैं। इन सबके लिए मुझे बहुत दुख है। यों तो मनुष्य जितना अधिक योग्य और पूर्ण होगा उतना ही अधिक उसका कार्य निर्दोष और अच्छा होगा। पर हममें से कोई पूर्णता तो दूर रही, बड़ी योग्यता तक का दावा नहीं कर सकता। त्या. भू. ही नहीं, सारे सस्ता-मंडल के दफ्तर में ३० साल से ज्यादह उम्र के २-४ ही कार्यकर्ता होंगे। खुद मेरी उम्र भी बहुत थोड़ी-सिर्फ ३६ साल की है। फिर अव्वल

---

* *अब यह निश्चित रूप से तय हो गया है कि अग्रवाल महासभा और अग्रवाल पंचायत सभा अलग-अलग होंगी।*

तो देश के किसी अग्रणी प्रान्त या शहर में, अथवा किसी श्रेष्ठ-संस्था में भी थोड़े वेतनपर काम करने वाले प्रथम श्रेणी के सु-योग्य कार्यकर्ता मुश्किल से मिलेंगे. फिर राजपूताना जैसे पिछड़े हुए प्रान्त में और अजमेर-जैसे प्रकाशन और प्रेस-संबंधी कामों में बहुत असुविधापूर्ण नगर में, हम अधकचरे लोगों के द्वारा इससे अधिक अच्छा फल न दिखाई दे तो आश्चर्य की बात नहीं। पर योग्यता की हममें चाहे कमी हो, किन्तु लगन, सेवा-भाव और उत्साह की कमी हममें पाठकों को न मिलेगी, यह दावे के साथ कहा जा सकता है। इसका यह अर्थ पाठक न समझें कि हम अपनी कठिनाइयों और अयोग्यताओं का रोना रोकर उनकी जबान बंद कर देना या अपनी त्रुटियों को जारी रहने देना चाहते हैं। इस वर्ष हमारी कोशिश होगी कि पाठकों को और भी कम शिकायतों का अवसर मिले। हमारी इच्छा को निबाहना परमात्मा के अधीन है।

पर इससे भी बढ़कर शिकायतें त्या. भू. की मेरे पास आती रहती हैं जिन पर, वर्षारंभ में, सविस्तार विचार कर लेना जरूरी है। उनका अधिक सम्बन्ध है 'त्यागभूमि' की, यों कहिए कि उसके सम्पादक की विचार-नीति से। ये शिकायतें चार प्रकार की हैं। एक तो देशीराज्यों में राजनैतिक काम करने वाले भाइयों की तरफ से; दूसरे देश सेवक मित्रों और साथियों की ओर से तीसरे और चौथे, सम्पादक बंधुओं तथा अन्य आलोचकों की तरफ से।

इनमें देशीराज्य के कुछ कार्यकर्त्ताओं का कहना तो यह है कि तुम अंग्रेजी राज्य के पीछे तो कसम खाकर पड़े रहते हो; पर देशी राज्यों के सत्ताधीशों की क्यों रिआयत करते हो? इनके लिए तो मीठी नीति और उनके लिए कड़वी नीति क्यों? फिर कार्यकर्ता और अधिकारी दोनों पर एक ही साथ टीका-टिप्पणी कर देने से अधिकारियों को उस कार्यकर्ता को कुचल देने का, या तुम्हारी सम्मति का आश्रय लेकर उसे हानि पहुंचाने का अवसर मिल जाता है। इधर कार्यकर्ता बेचारा उनके मुकाबले में यों ही साधन हीन होता है, किसी तरह जनता में वह जागृति लाने, अन्याय अत्याचार का विरोध करने का भाव और बल उनमें जागृत करने का उद्योग करता है कि तुम- जैसों के अप्रत्यक्ष सहयोग से लाभ उठाकर अधिकारी उन्हें पीस दे सकते हैं। वे तुम्हारी निष्पक्षता, सत्यता की तारीफ कर देते हैं; तुम्हारी संस्थाओं और कामों में सहायता दे देते हैं- तुम उनको भला आदमी समझ लेते हो, तुम्हारे साथ मीठी-मीठी बातें करते हैं, तुम्हारा आदर कर देते हैं- बस तुम उन्हें सर्टिफिकेट दे देते हो। ख़त्म हुआ। मरा बेचारा वह कार्यकर्ता जो उनकी ख़फ़गी और जुल्म की परवा न करके अपनी जान झोंकता है, ऐसी दलीलें देकर और बिगड़ कर चाहते हैं कि मैं सदा जनता का और जनता के सेवकों का, उनकी तरफ से अधिकारियों, या देशी नरेशों की पोल खोलने वाले, उनका विरोध करने वाले कार्यकर्त्ताओं का ही पक्ष लिया करूँ। तुम न्यायाधीश नहीं, जनता के पैरोकार हो। जनता और जनता के सेवकों के पास क्या है? रूखी-सूखी खाकर गुजर करते हैं। भीख मांगकर, जिल्लतें उठाकर, कहीं से अपने प्यारे कामों के लिए रुपया लाते हैं। और इधर घरवाले, जात बिरादरीवाले एवं राजवाले, सबसे सताये जाते हैं। अधिकारी से सब डरते हैं, सब उसका मुलाहिजा करते हैं, पैसे की उसे कमी नहीं, जिसे

चाहे दबा देने की तो असाधारण शक्ति उसके पास रहती है। फिर नरेशों का तो पूछना ही क्या?

यौवनंधन सम्पत्ति प्रभुत्वमविवेकता।
एकैकप्यनर्थाय किमृयत्र चतुष्टयम्॥

अर्थात् जवानी, धन, प्रभुता और अविवेक इन चारों में से यदि एक भी हो तो अनर्थ हो जाता है, फिर जहां इन चारों का सम्मेलन हो वहां तो अनर्थ का क्या पूछना? इतना होने पर भी आप सोलहों आना प्रजा का पक्ष न लेकर अधिकारियों के गुण गा दिया करते हैं। इससे तो आप कुछ भी न लिखा करें तो अच्छा।

देश-सेवक मित्रों की ओर से यह शिकायत सुनी जाती है कि तुम तो देश-सेवकों की ही बहुत आलोचना करते हो। अपनों के ऐब तो उल्टा छिपाना चाहिए या लोगों के सामने उन्हें बदनाम करना चाहिए? महात्मा जी ऐसा करें तो लोग उनकी सुनें भी तुम्हें यह ज़ेबा नहीं देता।

कुछ सम्पादक बंधु तथा दूसरे मित्र समझते हैं, मैं उपदेश देता हूँ। अपने को बड़ा समझता हूँ। महात्मा जी की तरह लिखता हूँ। 'कौवा चले हंस की चाल!' बहुत साधु नबनो!

कुछ मित्र यह भी कहते हैं- तुम तो महात्माजी के अंधभक्त हो। हर बात में उन्हीं की लकीर पीटते हो। अपने चक्कर से अलग नहीं हो पाते। रट में पढ़ गये हो। नई रोशनी और नये जमाने को भी देखो। नये विचारों का भी आदर करो।

अब इन पर क्रमशः मेरा भी नम्र निवेदन सुन लीजिए। पहले देशी-राज्यों की शिकायत को लें। देशी राज्यों के संबंध में मुझे वह नीति मंजूर है, जो महात्माजी ने इस सम्बन्ध में निर्धारित की है और जिसे अब तक हमारी राष्ट्रीय महासभा भी मानती आ रही है। अर्थात् देशी राज्यों से सीधी लड़ाई मोल न लेना। मैं यह मानता हूँ कि असहयोग को सफल या कार्यकारी बनाने के लिए हमारे आपस में, हिन्दुस्तानी मात्र के सहयोग की आवश्यकता है। अर्थात् हम जहां तक हो किसी भी हिन्दुस्तानी जाति, दल, वर्ग, सम्प्रदाय को अपने राष्ट्रीय ध्येय से दूर न जाने दें- हमारी शक्ति उन्हें नजदीक लाने ही में खर्च हो। यदि हम ऐसा नहीं करते हैं तो बड़ी अदूरदर्शिता से काम लेते हैं। यदि हम हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य बढ़ाते हैं, यदि हम मजदूरों और मालिकों के झगड़ों को पैदा करते या फैलाते हैं; यदि हम ब्राह्मण अब्राह्मण के विवाद में सक्रिय दिलचस्पी लेते हैं, तो मेरी नाकिस राय में हम देश को राष्ट्रीय एकता, व्यापक संगठन और आजादी की तरफ नहीं बढ़ाते बल्कि अपनी शक्तियों को तितर-बितर करने की ओर अग्रसर करते हैं। आपस में फूट फैलाने की नीति मुझे आत्मघातक मालूम होती है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि हम किसी के जुल्मों या ज्यादतियों को भेड़बकरी की तरह सहते रहें। हम आंदोलन, विरोध, सत्याग्रह सब करें-जहां जैसी जरूरत हो वहां इनमें से किसी भी उपाय को काम में लावें पर इस तरह से और उसी हद तक कि हमारी राष्ट्रीय एकता और देशव्यापी संगठन में बाधा न पड़े। इसका सबसे बढ़िया असली

तरीका महात्माजी ने सुझाया है, जिसका उल्लेख इसके पहले अंक में किया जा चुका है। महात्माजी की तरह मैं भी देशी राज्यों में और देशी नरेशों में सुधार की आशा रखता हूँ। उनकी वर्तमान अनेक बुराइयों की जिम्मेदार इस ब्रिटिश सल्तनत को मानता हूँ, इसलिए उन असहायों के खिलाफ बगावत मचाने को उत्साह नहीं होता। फिर भी, चूंकि मैं एक देशी राज्य का प्रजा- जन हूँ, वहां की खराबियां, ज्यादतियों, जुल्मों से वाकिफ हूँ इसलिए सोलहो आने अपनी इस इच्छा का पालन नहीं कर पाता हूँ। ऐसी दशा में मेरी कलम से देशी राज्यों के प्रति सौम्य-टीका ही तो निकलेगी?

अब रही सत्ताधरियों के गुणा गाने और उधर देश-सेवकों पर टीका करने की तथा न्यायाधीश बनने की बात। मैं भी मानता हूँ कि मनुष्य को निर्बल का पक्ष लेना चाहिए; सबल का नहीं पर मैं एक कदम और आगे बढ़ना चाहता हूँ कि निर्बल को हमें उसी बात में सहायता देनी चाहिए, जिसमें वह सच्चाई और इंसाफ पर हो। यदि हम सच्चाई और न्याय की परवा न करके उसका साथ देंगे तो एक तो लोग हमें भला और सच्चा आदमी न समझेंगे, हमारी बात का एतबार न करेंगे और दूसरे उस निर्बल की भी झुठाई और बेइनंसाफी को हम बढ़ावेंगे या मजबूत करेंगे जिससे आगे चलकर वह और कमजोर हो जायगा एवं गिर जायगा। मनुष्य के पास सबसे बड़ा बल है उसकी सच्चाई--सच्चाई के सामने धन, सत्ता और तोप-तलवार सब सिर झुकाते हैं। यदि ये सब मिलकर उसका मुकाबला करें भी तो ज्यादह दिन तक नहीं ठहर सकते। ऐसी हालत में मैं प्रजाजन या निर्बल का पक्ष हर मामले में नहीं ले सकता; सिर्फ उन्हीं मामलों में ले सकता हूँ और लूँगा जिस में वे सच्चाई पर और इन्साफ पर होंगे। इंदौर में मजदूरों की जबरदस्त हड़ताल के समय तथा अभी बिजोलिया में किसानों के आंदोलन के समय मैंने मनजूर और किसान भाइयों के सामने सबसे पहली शर्त यही रखी थी कि आप सच्चाई पर कायम रहना चाहते हो, इंसाफ का रास्ता पसंद करते हों, और शान्ति को किसी तरह भंग न होने दें तो मैं आपका हूँ और मरते दम तक आपका साथ न छोड़ूँगा; पर अगर इनमें से आपने किसी भी बात को छोड़ दिया तो आपके लिए मिट्टी के ढेले की तरह बेकार हूँ। दोनों जगह इन भाइयों को यह शर्ते मानने में दिक्कत न पड़ी और ईश्वर ने उन्हें सफलता दी। मेरा तो दिन-दिन विश्वास होता जाता है कि जहाँ सच्चाई है वहाँ सफलता अवश्य मिलनी चाहिए और जहां हमें निर्बलता का अनुभव होता है वहाँ और कुछ नहीं सच्चाई की ही कमी है। जो आदमी सच्चा है उसे डर किस बात का? और जहाँ डर नहीं है वहाँ निर्बलता के क्या मानी होते हैं? जब हम झुठाई पर सच्चाई का मुलम्मा चढ़ाते हैं तो निर्बलता आकर भूत की तरह हमें पछाड़ देती है।

अब अधिकारियों के गुणगान का प्रश्न रहा। यह बात जरूर है कि 'त्यागभूमि' को सत्ताधारियों, धनियों, विद्वानों, सत्पुरुषों, नेताओं और महान् पुरुषों के रूप में अपने मित्र-हितैषी, पृष्ट-पोषक, प्रोत्साहक और गुरु-जन, प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है; पर त्या. भू. उनके गुण-गान में प्राय: पीछे ही रहती है। एक महात्मा जी का अपवाद हो सकता है। उसका कारण तो यह है कि लेखक महात्माजी को अपना नेता ही नहीं हृदय देव समझता

हैं। उनका नम्र अनुयायी बनने और कहलाने में वह अपनी बड़ी इज्जत समझता है। इससे उसके आत्माभिमान को किसी तरह ठेस नहीं पहुंचती, बल्कि उसकी सच्चाई को आनन्द होता है। जब मैं देखता हूँ कि बुद्धि, ज्ञान, क्रियाशीलता, अनुभव और तपस्या इन सब गुणों का सम्मेलन आज-विश्व को जाने दीजिए-भारत में और किसी व्यक्ति में नहीं है, और मैं अपने को इन गुणों में उनसे बहुत छोटा पाता हूँ तो मेरा मस्तक उनके चरणों में बरबस झुक जाता है, मेरा हृदय जबरदस्ती उन्हें खींचकर अपने में बंद कर लेता है; यहां मैं लाचार हूँ। पर इसके अतिरिक्त त्या. भू. ने कभी अपने किसी मित्र की बिना प्रसंग के प्रशंसा नहीं की। और जो कि वह भी उससे कम, जितनी की वह मेरी दृष्टि में उसके पात्र हैं। हां, उन सज्जनों की प्रशंसा में अलबत्ता मैं उदार रहा हूँ, जिन्हें मैं 'स्वजन' नहीं कह सकता। फिर सत्ताधारी और धनी मित्रों की प्रशंसा में तो मैं और भी सावधान और जागरुक रहता हूँ क्योंकि आजकल उनके दिन बुरे हैं। उनके पास जाते ही लोगों को खुशबू में भी बदबू आने लगती है। उनके प्रीति पात्र होते ही लोगों को 'घृणित' के सिवा सहसा दूसरी कल्पना नहीं आती। इस अनुदारता के वातावरण, में थोड़ी बुद्धि रखने वाला सम्पादक भी काफी सतर्क रहता है- फिर त्या. भू. में सम्पादक के लिए तो पाठक उससे भी कम बुद्धि और सतर्कताकी कल्पना करेंगे। अभी तक मैंने प्राय: इंदौर और उज्जैन की ही कुछ घटनाओं पर टीका-टिप्पणी की है। जहाँ का ज्ञान अधिक हो वहीं की घटनाओं पर कुछ कलम चलाना ज्यादह कारगर होता है, और वहां के लोग उम्मीद रख सकते हैं। उज्जैन के मामले में वहाँ के सूबा श्री किचलू साहब से तो मेरी दुआ-सलामत तक नहीं थी, उस टिप्पणई के बाद उन्होंने एक स्टेशन पर मेरी सूरत-शक्ल देखी। इंदौर के मामले में श्री बापना साहब और कि वे साहब आदि से मेरी अच्छी मुलाकात जरूर है। पर इनकी तारीफ में मैंने लिखा क्या? बापना साहब सज्जन और शरीफ हैं। कि साहब विद्वान हैं- यही न? बापना साहब ने 'कर्मवीर' की बंदी की तो क्या मैंने यह लिखा कि उन्होंने अच्छा किया? पर साईंजी गिरफ्तार किए गए, क्या मैंने बापना साहब को बधाई दी? पर यह भी हम क्यों और कैसे मान लें कि हर आदमी जो अपने को देश-भक्त कहता है, अच्छा ही है, सच्चा ही है और हर आदमी जो अधिकारी बन जाता है बुरा ही है और झूठा ही होता है? हां, यह बात ठीक हैं कि हम सबलों के मुकाबले में निर्बलों की सहायता करें; अधिकारियों के मुकाबले में प्रजा का साथ दें; पर निर्बल और प्रजाजन यदि गलत रास्ते जाते हों तो? तो भी हम उनका पक्ष ही लेते चले जायं? उन्हें कुछ भी न कहें? मीठा प्रेम का उलहना तक न दें? मैंने तो इस सम्बन्ध में ये नियम अपने लिए मार्ग-दर्शक बनाए हैं-

(१) झुठाई और बे-इंसाफी का कहीं भी पक्ष न लिया जाए, चाहे वह प्रजा में हों या राजा में।

(२) देशी राज्यों में स्वेच्छाचार की जो प्रणाली है उसका विरोध किया जाय और उत्तरदायित्वपूर्ण शासन पद्धति जारी करने का उद्योग किया जाय।

(३) जहां के नरेश या अधिकारी प्रजा का हित चाहते हों, या करते हों; भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं में विघ्न न डालते हों, उनसे अच्छे काम कराए जा जा सकते हों तो उन्हें

ऐसे कामों के लिए उत्साहित किया जाय और जहां हर तरफ निराशा हो, वहां तीव्र विरोध तो ठीक सत्याग्रह तक किया जाए।

मैं नहीं समझता कि किसी भी विचारशील पाठक को इनमें कोई आपत्ति हो सकती है। अब रही यह बात कि अधिकारी इस थोड़ी भी स्तुति और कार्यकर्त्ताओं की मीठी नुकताचीनी से भी लाभ उठाते हैं तो देश-सेवक को इससे घबराना क्यों चाहिए? यदि वह त्रुटि उसमें उसके कार्य में नहीं है तो उसे निर्भय रहना चाहिए। टीका करने वाले के भ्रम को दूर करने का उद्योग करना चाहिए। यदि टीका सच है तो उसके कारणों को दूर करके अपने को अधिक प्रभावशाली बनाने का यत्न करना चाहिए। यदि हमारे काम में कोई ख़ामी है, हमने कोई ग़लती की है तो अधिकारी लोग ऐसे बेवकूफ नहीं होते हैं कि उन्हें उनका पता न चले। उनके पास देखने की सैकड़ों चलती-फिरती आँखें होती है। बल्कि मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि हमारी बुराइयों का खुद हमारे पास भी इतना अच्छा 'रेकार्ड' न होगा जितना अधिकारियों के पास होता है। वह इतना होता है कि बिना किसी की सहायता के भी हमें जीता आला देने के लिए काफ़ी हो जाता है। अतएव अपने एक भाई की प्रेममय नुकता चीनी पर चिढ़ने या बुरा मानने के बजाय हम देश-सेवक या उनके समर्थक अपनी त्रुटियों और खामियों को सुधारने और सुधरवाने का उद्योग करें तो बढ़ा लाभ होगा। मेरे लिए यह मुश्किल नहीं है कि एक और देश-सेवकों की खामियों पर और दूसरी और अधिकारियों की थोड़ी-बहुत अच्छाई नज़र आ जाती है। उस पर चुप्पी साध लिया करूं; क्योंकि यदि सबलों को मेरा थोड़ा भी सहारा निर्बलों को अनुचित रीति से दबाने के लिए मिल जाता हो तो मैं अप्रत्यक्ष रूप से भी इस बुराई का साधन नहीं बनना चाहता। पर अपने लिए यह मानना कि मेरे लिखे को अधिकारी लोग इतना महत्व देते होंगे, जितना कि कहा जाता है, शायद अपने को बहुत बड़ा मान लेना होगा। ख़ैर!

मेरा आदर करने और संस्थाओं के लिए रुपया देने के सम्बन्ध में मुझे इतना ही कहना है कि मैं निमंत्रण मिलने पर भी आज तक प्राय: किसी राज्य का मेहमान नहीं बना हूँ। जहां दूसरे मित्र होते हैं वहां राज्याधिकारियों के यहां ठहरने तक से परहेज रखता हूँ- उनके तथा धनी मित्रों के वैभव से डरता हूँ और अपनी ग़रीबी और सादगी पर बहुत संतुष्ट रहता हूँ। आज तक किसी नरेश या राज्याधिकारी से कोई आर्थिक सहायता त्यागभूमि या सस्ता-मंडल के लिए नहीं ली गई- मंडल और त्यागभूमि में एक-एक पैसे का हिसाब रहता है और वह बाकायदा ऑडिट होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि यदि हमारे किसी कार्य को अच्छा समझकर कोई उसकी सहायता करे तो हम उसके लिए किसी दल या वर्ग से खास परहेज रखना चाहते हैं; बल्कि यह कि त्यागभूमि या मंडल ने आज तक किसी अधिकारी से सहायता के लिए प्रार्थना नहीं की। सिवा इसके कि वे पुस्तक माला और त्यागभूमि के ग्राहक बनें।

देश-सेवकों की आलोचना करने के आक्षेप के उत्तर में मुझे इतना ही निवेदन करना है कि अपने दोषों की आलोचना से घबराना या उसकी शिकायत करना मैं एक भारी कमज़ोरी समझता हूँ। जो मनुष्य अपनी उन्नति का उत्सुक है, अपना बल बढ़ाने के लिए लालायित

है, वह तो प्रेम से उलटा अपनी आलोचना का आवाहन और स्वागत करेगा न कि विरोध और प्रतीकार। आलोचक अपने को ख़तरे और हानि में डालकर टीका करता है- इस उद्देश्य से कि वह त्रुटि दूर हो। प्रेम और सहानुभूति की टीका, तथा बदनाम करने वालीटीका में भेद होता है। दोनों की भाषा बिल्कुल जुदी होनी है। मुझे नहीं याद पड़ता कि मैंने कभी किसी पर इस तरह टीका की हो जिससे वह लोगों की दृष्टि में गिर जाता हो। जहां तक हो सकता है, ऐसी टीका आमतौर पर करता हूँ— किसी का नाम लेकर नहीं। फिर बदनामी का भय कहां रह जाता है? अब रही आलोचना के अधिकार की बात। सो भाई, सम्पादक बनते ही औरों की तो ठीक राम-कृष्ण, ईसा-बुद्ध, पैगम्बर, और ईश्वर तक की आलोचना का अधिकार हो जाता है— महात्माजी की और मुझ-जैसे नगण्यों की तुलना ही क्या? हमें तो इतना ही देखना चाहिए कि टीका में कुछ सार है या नहीं। टीका करने वाला उसका अधिकारी है या नहीं- इस झगड़े से टीका-पात्रों को क्या लाभ हो सकता है? और यदि टीका का उद्देश्य सचमुच यही है कि टीका-पात्र को लाभ हो, तो यह लाभ हम अपने प्रतिपक्षियों, विरोधियों और शत्रुओं को तो दें; पर अपने मित्रों, साथियों, को न दें- यह कहां का न्याय?

अब उपदेश देने और अपने को बड़ा समझने के एतराज़ को लीजिए। प्रत्येक वक्ता या लेखक क्या यह नहीं कहता कि यह काम बुरा है इसे न करो, यह अच्छा है, इसे करो? और क्या यह उपदेश नहीं है? फिर अकेला 'त्याग-भूमि' का संपादक ही इसका दोषभागी क्यों? अब कोई यह कहे कि तुम नीति-सदाचार, धर्म, पवित्रता की बातें लोगों से बहुत करते हो— मानो कोई धर्माचार्य हो, और इसे वे उपदेश कहते हों तो बात दूसरी है। पर इन बातों पर तो मैं, समय-अ-समय ज़ोर इसलिए देता रहता हूँ कि नीति-सदाचार मनुष्य जीवन की सबसे पुख्ता बुनियाद है। यदि इसकी हम अवहेलना करें तो समाज और देश-कार्य की जड़ नहीं जम सकती। मैंने देखा है कि कितने ही अच्छे कार्य-कर्ताओं और कुछ नेताओं ने नीति-सदाचार सम्बन्धी गलतियाँ करके अपना जीवन बिगाड़ लिया है और अपनी कार्य-शक्ति नष्ट या कम कर ली है। फिर भारतवर्ष की संस्कृति तो नीति-प्रधान ही ठहरी। वहां नीति और पवित्रता की अवहेलना करके कोई मनुष्य जनता की सेवा नहीं कर सकता, पथदर्शक या नेतानहीं बन सकता। जो व्यक्ति रुपये-पैसे के मामले में कमज़ोर है; जो स्त्री-पुरुष सम्बन्धी पवित्रता में ढीला है; जो पद और प्रतिष्ठा का भूखा है वह इस देश और यहां के समाज की कोई स्थायी और भारी सेवा नहीं कर सकता-यह मेरा दृढ़ विश्वास है और जब देश-सेवक कहलानेवालों में इसकी कमी, या अवहेलना या उदासीनता पाता हूँ तो मेरा जी जलने लगता है, मुझे ऐसा मालूम होता है मानों हम जहर खींच कर अमृत पाना चाहते हैं और ऐसी अवस्था में मुझसे इन बुराइयों की आलोचना किये बिना नहीं रहा जाता। यदि यह उपदेश है और बुरी बात है तो पाठक इसकी जो सजा देंगे वह मुझे सानन्द स्वीकार होगी, पर मैं अपने इस कर्तव्य से कदापि मुँह न मोड़ूँगा, जब तक कि मेरा वर्तमान विश्वास बना हुआ है, जो कि अनुभव-सिद्ध है।

अब बड़ा बनने या समझने की बात का जवाब लीजिए। यह ग़लतफहमी बहुतांश में

इसलिए फैल सकी है कि मैं और सम्पादक भाइयों की तरह 'हम' नहीं बल्कि अपने लिए मैं का प्रयोग करता हूँ। इसका स्पष्टीकरण पहले एक टिप्पणी में कर चुका हूँ। फिर भी यहां इतना कह देना ज़रूरी है कि मैं भी अपने को 'हम' लिखता, यदि मैं यह मानता होता कि त्यागभूमि या मैं जनता के प्रतिनिधि हैं - उसका प्रतिनिधित्व करते हैं। खुद-बखुद लोगों का प्रतिनिधि बनजाने का सिद्धांत मुझे मान्य नहीं।

औरों की तो कौन कहे, त्या. भू. के पाठकों के भी प्रतिनिधित्व का गौरव त्या. भू. को या मुझे प्राप्त नहीं। उनमें विविध विचार, आदर्श और आचरणवाले लोग हैं। त्याग भू., जो एक खास उद्देश से, खास 'मिशन' को लेकर निकली है, भला सचाई के साथ उनकी प्रतिनिधि कैसे बन सकती है? और मैं भी अपने को इतना बड़ा कैसे समझ लूं? त्या. भू. इस अर्थ में किसी की प्रतिनिधि नहीं है। उसका सम्पादक एक मामूली आदमी है। वह अपने टूटे-फूटे विचार, भाव और अनुभव पाठकों के सामने टीका, सूचना या 'उपदेश' (?) के रूप में रख देता है और उन्हें उनके अनुसार चलने की प्रेरणा करता है। उसके साथी भी जिन पर कि त्या. भू. के सम्पादन का अधिकांश भार है, इसी उद्देशय की पूर्ति में अपनी शक्ति लगाते हैं। पाठक, त्या. भू. की सब बातें मानने और करने के लिए बंधा हुआ नहीं है। जिसका जी चाहे माने, जिसका जी चाहे न माने। त्या.भू. को अपनी अल्पता का ज्ञान है, नम्रता उसे प्रिय है, इसलिए उसने 'प्रतिनिधिक' रूप ग्रहण नहीं किया है। ऐसी दशा में तो उलटा मित्रों को उससे नम्रता की शिकायत होनी चाहिए, न कि बड़प्पन अपनी तरफ लेने की।

साधु बनने और महात्माजी की नकल करने की आपत्ति पर मेरा यह निवेदन है कि साधु बनने के अर्थ यदि सज्जन बनना है तो साधु बनना बुरा क्यों? क्या मित्र लोग यह चाहते हैं कि मैं बुरा बनूं या बुरा बना रहूँ? पर मैं तो यह मानता ही नहीं हूँ कि मैं अपने को 'साधु' समझता हूँ। हां, साधु बनना मेरे हृदय की साध अवश्य है; पर यदि वह बुरी हो तो भी मुझे स्वीकार है। अब 'साधु बनने' के ताने के मानी यदि यह हैं कि मैं हूँ तो दुष्ट, परन्तु साधु बनने का ढोंग रचता हूँ, तो यह अवश्य विचारणीय बात है। मैं तो एक मोटी-सी बात जानता हूँ जो पाखण्डी होता है, उसको चाहनेवालों के बजाय न चाहनेवाले अधिक मिलेंगे। उसके निन्दकों की संख्या बड़ी होगी। वह अधिक दिनों तक किसी की मित्रता, स्नेह या प्रेम का पात्र नहीं बना रह सकता। मेरे जीवन में मुझे अब तक नहीं याद पड़ता कि मेरी मित्रता या स्नेह होकर किसी से टूटा हो। मेरे मित्रों की संख्या दिन-दिन बढ़ ही रही है। जो मुझे अपना विरोधी मानते रहे हैं वे भी मुझसे प्रेम करने लगते हैं- जो उदासीन रहते थे वे भी मुझे अपने निकट करने योग्य समझने लगते हैं। यदि मैं सचमुच सत्य और अहिंसा का भक्त हूँ तो जिन-जिन से मेरा थोड़ाभी परिचय होगा, उन्हें मुझे कम से कम 'एक भला आदमी' मानना ही होगा। वे मुझे सनकी कहेंगे, अंध- भक्त कहेंगे, सीधा-भोला कह देंगे, पर यह नहीं कहेंगे कि यह दुष्ट है, बदमाश है, लफंगा है, और यही मैं अपने पास सबसे बड़ा बल समझता हूँ।

महात्माजी की नकल तो मैं जान-बूझकर नहीं करता हूँ- अपने आप हो जाती है। जब

मैं किसी बात का विचार सत्य और अहिंसा को सामने रखकर करता हूँ तो महात्मा-जी के वचनों की सचाई प्रत्यक्ष होने लगती है। उनकी भाषा उनकी सचाई का प्रतिबिम्ब है। ऐसी दशा में एक सचाई के भक्त मे उनकी शैली का अनुकरण अपने आप हो जाता हो तो कोई आश्चर्य नहीं : और नकल आखिर चलेगी के दिन तक ? फिर नकल में वह जोर कहां जो असल में होता है। पाठकों ने 'त्यागभूमि' के सम्पादक में एक जिद देखी होगी। यदि उसका व्यापार उधार पर होचलता हो तो यह ज़िद के दिन तक चल सकती है ? 'त्यागभूमि' जोर के साथ अपनी बातें पाठकों के सामने रखती है; और उससे पीछे नहीं हटती। यदि अन्ध-भक्ति, या नकल हो तो पाठकों को 'त्यागभूमि' में कुछ भी विशेषता का अनुभव न होना चाहिए। फिर 'त्यागभूमि' में नये से नये विचारों की छान-बीन होती है। संसार की स्थितिगति से पाठकों को परिचित रखने का प्रयत्न किया जाता है; आधुनिक तत्वों, समस्याओं पर प्रकाश डालने की चेष्टा की जाती है। पाठकों की स्वतन्त्र विचार-शक्ति को बढ़ाने की कोशिश की जाती है; हर बात उन्हें दलीलों के साथ समझाने का यत्न किया जाता है, कोई बात उन पर लादी नहीं जाती। किसी गुरु या ग्रंथ की दुहाई देकर पाठकों से कोई बात मनवाने का उद्योग नहीं किया जाता। दलीलों को ताक पर रखकर महात्मा गांधी, या गीता के नाम का आश्रय, किसी सिद्धान्त के या चीज के प्रचार के लिए नहीं लिया जाता। फिर कोई यह कैसे कह सकता है कि 'त्यागभूमि' नवीन बातों और तथ्यों से पिछड़ी हुई है ? पर इसके यह मानी नहीं हैं कि 'त्यागभूमि' सब बातों में सब तरह ठीक है- कहीं कोई कमी या खामी उसमें नहीं है। हम उसकी बड़ाई सुनकर फूल जाना नहीं चाहते। बल्कि अपनी अल्पशक्ति के अनुसार उसे दिन-दिन उपयोगी बनाने की चिंता कर ही रहे हैं। और उन पाठकों, मित्रों, आलोचकों को मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ जो उसकी सच्ची या झूठी त्रुटियों को बिल्कुल बरदाश्त करना नहीं चाहते; और जो समय-समय पर हम लोगों के कान ऐंठते रहते हैं। वे उन सज्जनों से कम 'त्यागभूमि' पर उपकार नहीं करते हैं, जो उसके गुणों की प्रशंसा करके उसे उत्साहित करते हैं। 'त्यागभूमि' केवल आलोचक नहीं, एक नम्र साधक भी है। वह लिख कर, छापकर अपनी जिम्मेदारी से बरी हो जाना नहीं चाहती। उसके सेवक अपने तथा समाज के जीवन मेंउन बातों का संचार होता हुआ देखना चाहते हैं। पर यह तो उनके उद्योग से भी बढ़कर प्रभु-कृपा पर अवलम्बित है। वे तो नम्र नत-मस्तक होकर प्रभु से इतना ही माँगते हैं।

असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्माऽमृतं गमय।

मन्दिर-प्रवेश-आंदोलन

श्रीमान् जमनालालजी बजाज की देश-सेवा की लगन और त्याग के भावों की प्रशंसा करने की आवश्यकता नहीं। आज वे देश के उन व्यक्तियों में हैं जिन पर हमारे राष्ट्र-निर्माण का कुछ आधार है। उन्होंने कोई काम हाथ में लिया नहीं कि सुव्यवस्था और उत्साहपूर्वक उसे सफल बनाने में वे जुटे नहीं। चरखा-संघ का बहुत बड़ा काम उन्होंने अपने ज़िम्मे ले ही रक्खा है, इधर दूसरी संस्थाओं और प्रान्तों के कामों की भी सीधी ज़िम्मेवारी उन पर है तिस पर भी अभी उन्होंने एक और काम अपने सिर पर लिया। वह है अछूत भाइयों के लिए मन्दिर-प्रवेश का आंदोलन। सबसे पहले आपने अपना वर्धा स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण का मन्दिर तमाम अछूत भाई-बहनों के लिए खुलवा दिया जिसका संक्षिप्त वृतान्त त्या. भू. में दिया ही गया था। उसके बाद ही आपने बम्बई, तथा महाराष्ट्र के कुछ भाग में इस हलचल को जारी रखने का उद्योग किया। इसका फल यह हुआ कि हाल ही एलिचपुर (बरार) में श्री दत्तात्रेय का मंदिर भी उसके ट्रस्टियों ने अछूतों के लिए मुक्त कर दिया और यह विधि खुद सेठ जी के ही हाथों से सम्पन्न हुई। उस समय वर्धा के सत्याग्रहाश्रम के आचार्य जो बोधप्रद ऐर सेठसाहब का भावप्रद भाषण हुआ, उसका सार पाठकों के लाभार्थ यहां दिया जाता है। आचार्य विनोबा ने कहा-"×× मन्दिर का मुख्य उद्देश तब तक पूरा नहीं होता जब तक कि वह सबके लिए खुला न हो। सूर्य को हम देव इसीलिए समझते हैं कि उसका लाभ सब उठा सकते हैं। मंदिर एक पाठशाला है जहाँ यह अनुभव किया जाता है कि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है, सब उस तक पहुँच सकते हैं। ईश्वर के अनंत गुण हैं। परन्तु उसका मुख्य गुण है सब पर प्रेम करना। नदी को हम देवता इसीलिए मानते हैं कि वह सब के लिए समान रूप से खुली है। जहाँ भेद होता है वहाँ ईश्वर नहीं। हम मन्दिर इसीलिए बनाते हैं कि अभेद-भाव को प्राप्त हों। ऐसी दशा में अपने मन्दिरों में भी हम भेद-भाव रक्खें हव (वह) कैसा? भेद-भाव के लिए संसार में और जगहें क्या कम हैं? मंदिर में तो हमारे पैर पड़ते ही भेद-भाव चला जाना चाहिए। मंदिर में पत्थर की मूर्ति बनाकर उसे हम शिर झुकाते हैं। इसका भाव यही है कि हमें यह प्रतीति हो कि न कुछ वस्तु में भी ईश्वर है और रज-कण से भी रजःकण हैं —इतनी नम्रता हमारे अन्दर आ जाय, सब प्रकार के अभिमान को छोड़ देने के लिए, मैं रज से भी रज हूँ, यह जानने के लिए 'सर्व ईश्वर-स्वरूप है, इस अभेद-भाव का अभ्यास करने के लिए जहाँ जाने की जरूरत है वहीं अर्थात् देव-मंदिर' में भी यदि भेदभाव रखना पड़े तो फिर वह मंदिर ही क्या। मंदिर में जाकर तो कम से कम हमारे राग-द्वेष अभिमान आदि विकार दूर होने चाहिए। कुछ लोग शिकायत करते हैं कि अछूतों के संसर्ग से मंदिर गंदे हो जायँगे। पर मैं कहता हूँ कि सर्ग से हमारा पाखण्ड कम होगा। फिर हम भी तो कहां सर्वदा सोलहों आना साफ़-सुथरे रहते हैं? कितने ही अंत्यज ऐसे हैं जो साफ़-सुथरे रहते हैं, तुलसी की पूजा करते हैं, मद्य-मांस से परहेज करते हैं। एक अंत्यज ने अपनी लड़की का नाम रखा 'एकादशी'। इस अन्त्यज की धार्मिकता की, पवित्रता की या काव्य-शक्ति की, किसकी बड़ाई कीजाय? बर्डस्वर्थ भी एक बार इसके आगे हार खा सकता है। कुछ लोग कहते हैं कि रैदास जैसे भगत को कोई थोड़ेही

मंदिरों में जाने से रोकता है? पर मैं पूछता हूं कि बेचारे अछूतों के लिए ही इतनी बड़ी शर्त क्यों? हम अस्वच्छ, भक्त न होते हुए भी मंदिर में जा सकते हैं; किन्तु अस्पृश्य बेचारा स्वच्छ और भक्त होकर नहीं जा पाता है— यह खूब न्याय है?

कुछ लोगों का कहना है कि अछूतों को पाठशालाओं में भले ही आने दो, हमारे कुओं से पानी भी भरने दो, किन्तु मन्दिर तो पवित्र जगह है उसे उनकी छूत से खराब न होने दो। परन्तु मैं कहता हूँ चूँकि मन्दिर 'पवित्र' है इसीलिए वे सबसे पहले उनके लिए खुले होने चाहिए और उनके संपर्क से यदि मान भी लें कि हमारा शरीर कुछ गंदा हो जायगा तो उसके एवज में हमारा मन कितना धुलकर साफ़ हो जायगा। इसके विपरीत उनको आने से रोककर यदि हम शरीर की स्वच्छता को कायम रखना चाहेंगे तो आत्मा को खो बैठेंगे।"

सेठ माहबनेमंदिर को खोलतेसमय अपने भाषणमें कहा—

"हमारे हिन्दू घरों का यह एक नियम है कि जो बड़ा बलवान और समर्थ है वह छोटे, निर्बल और असहाय की रक्षा करे। पर क्या हम अपने छोटे और असहाय अछूत भाइयों केसाथ इस नियम का पालन करते हैं? हम ईश्वर को जगन्माता, जगत्पिता और पतित-पावन कहते हैं और उसी के मन्दिर में उसके असहाय निरीह पुत्रों को जाने से रोकते हैं। यह मानता कि जो खुद पतित-पावन है वह अछूत के संपर्क से अपवित्र हो जायगा, ईश्वर कीविडम्बना करना है। फिर क्या पिता या माता अपने सब पुत्रों को समान प्यार नहीं करते, और क्या उनका स्नेह उस पुत्र के लिए अधिक नहीं उमड़ता जो कमज़ोर और दुखी है? और यदि हम ऐसे ही पुत्रों को उसकी माता से जुदा कर रक्खे तो क्या यह पाप नहीं है? जरा उस स्नेहमयी माता और करूणामय पिता की व्यथा की तो कल्पना कीजिए। फिर क्या ईश्वर का दरबार हम मुट्ठी भर गण्यमन्य लोगों के ही लिए खुला रहता है? और ऐसे स्थान को हम ईश्वर का मन्दिर भी कैसे कह सकते हैं जहाँ उसके सब पुत्रों को जाने की छुट्टी नहीतं? मन्दिर तो वास्तव में ऐसा होना चाहिए जहाँ से आध्यात्मिकता और धार्मिकता टपकी पड़ती हो। क्या ऐसे क्षुद्र और अन्याय पूर्ण भेद-भाव को कायम रखकर हम ऐसे उच्च और शुद्ध आदर्श की प्राप्ति की आशा रख सकते हैं? ऐसे मन्दिर तो हमारे पाखण्ड के ही प्रदर्शक हैं और हमें दूसरी जातियों और धर्मों के सामने हास्यास्पद बनाते हैं।'

मालूम हुआ है कि देहली में भी मन्दिर खुला करने का आन्दोलन छिड़ गया है और अजमेर में भी कुछ-मित्र इसके लिए उद्योग कर रहे हैं। परमात्मा, अपने विरूद की ही रक्षा के लिए, उन्हें सफलता दे। (सेठ जमनालाल बजाज की साधु प्रचेष्टा की प्रशंसा करते पं. मदनमोहन मालवीय ने उन्हें बधाई-पत्र लिखा था, जो 'त्यागभूमि' में प्रकाशित हुआ था)।

श्रीः

प्रिय जमनालाल जी,

आपने अपने भगवद्भक्त पूर्वजों के स्थापित किये भगवान् लक्ष्मीनारायणके मन्दिर में ब्राह्मण से लेकर चाडाल पर्यन्त सब श्रदालु भाइयों को जगत्पिता की पावनमूर्ति का दर्शन करने की स्वतंत्रता दी और जो कूँवे बनवाये उस पर सब जाति के भाइयों को स्वच्छ वर्तन से पानी भरनेका अधिकार दिया यह सुनकर मुझ को बहुत संतोष हुवे, आपके ये दोनों काम सर्वथा शास्त्र के अनुकूल हैं और घर-घर वासी विश्वात्मा इससेप्रसन्न होगा।

परमात्मा आपकी धर्म की भावना, देश भक्ति और निष्काम लोक सेवा के भाव को दिन दिन अधिक दृढ़ करे और आपके द्वारा देश का और लोक का दिन-दिन अधिक उपकार हो।

आपका

मदनमोहन मालवीय।

विश्वविद्यालय, काशी,

अ. श्रावण शुक्ला ११, सं. १९८५.

गांवों की ओर

इस समय देश का हर एक भक्त, आज़ादी का हर एक पागल, इसी धुन में है कि ऐसे कौन-कौन काम किये जायँ जिससे ब्रिटिश सरकार भारत को आज़ाद कर देने पर मजबूर हो सके। सबसे बड़ा दबाव जो इस सरकार पर पड़ सकता है वह है इसके आमदनी के जर्ये बंद कर देना या रोक देना। इसके इतने तरीके हो सकते हैं— (१) विदेशी वस्तु विशेष कर वस्त्र बहिष्कार (२) शराबख़ोरी बन्द कर देना (३) वर्तमान अनुचित लगानबन्दी को मिटवाना इन कामों के संगठन से जहाँ सरकार की आमदनी को गहरा धक्का पहुंचेगा तहां देश में आन्दोलन और संगठन का भी अवसर मिलेगा विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार और खादी के प्रचार के द्वारा देश के सब दलों और वर्गों को ब्रिटिश राज्य के खिलाफ संगठित किया जा सकता है। शराबख़ोरी मिटाने का आंदोलन खड़ा करने के बाद दलित और राजपूत जातियों को जगाया जा सकता है। लगान-नीति की पोल खोल कर सारी मोई किसान जनता को सरकार के ख़िलाफ़ खड़ा किया जा सकता है। अब रहे मज़दूर सो उनसे हड़ताल कर देने की शक्ति का असर अभी तक सिर्फ मिल-मालिकों पर ज़्यादह पड़ा है; सरकार के ख़िलाफ़ अभी तक रेल्वे, जहाज़ आदि के मज़दूरों ने कोई सफल हड़ताल नहीं की है, पर उसकी शक्ति से सरकार बे-खबर नहीं है। इस तरह पूर्वोक्त सब दलों और श्रेणियों में काम करने की, उन्हें जगाने और संगठित करने की बहुत आवश्यकता है। अब तक देश में जो कुछ राजनैतिक या स्वराज्य-संग्राम सम्बन्धी काम हुआ है वह मुख्य करके शहरों और कुछ कस्बों में प्रधानतः मध्यम श्रेणी के कार्यकर्ताओं द्वारा हुआ है। इनमें तो थोड़ा संगठन और जागृति हो भी चुकी है और हो भी रही है; किन्तु ग्रामीण जनता प्रायः अछूती पड़ी है। खादी कार्य कर्ता सबसे पहले गाँवों में पहुँचते हैं। बारडोली की विजय ने सारे देश का और देश के नेताओं का ध्यान इस तरफ़तेजी के साथ खींचा है। राष्ट्रीय गुजरात विद्यापीठ, प्रेम महाविद्यालय में ग्राम-संगठन और ग्राम-सेवा की शिक्षा का प्रबन्ध भी कर दियाहै। सस्ता-साहित्य-मंडल-ग्राम-संगठन पर एक बड़ी पुस्तक अध्यापक रामदास गौड़ से लिखवा रहा है। इधर बम्बई और मदरास प्रांतों में प्रभावशाली कृषक-संघ बन गये हैं एवम् संयुक्त प्रान्त में सैनिक-सम्पादक भाई श्री पं. कृष्णदत्त जी पालीवाल भी किसान-संगठन का उद्योग कर रहे हैं।

भारत के प्रत्येक प्रान्त में किसान-संगठन के दीर्घ और दृढ़ उद्योग की परम आवश्यकता है। युवकों और मज़दूरों की शक्तियों का संगठन तो हो रही है, पर उसकी सीमा शहरों तक ही मर्यादित है। क्योंकि मज़दूर तो एक बड़ी तादाद में वही मिल सकते हैं जहाँ कई मिलें या कारख़ाने हों। युवकों का अधिक समुदाय भी शहरों में ही एकत्र मिल सकता है। देहात में न तो युवक-संगठन की आवाज पहुँच पाई है, न मजदूर-संगठन वहां से हो ही सकता है। किसानों को कई शिकायतें हैं, कई दुःख हैं, वे हर तरह सताये और पीसे जाते हैं; उनके एक-एक दुख को लेकर आन्दोलन खड़ा किया जा सकता है और उनके एक सूत्र में बांध कर स्वराज्य-संग्राम में उनकी सहायता ली जा सकती है। पर बिल्ली के गले में घण्टी बांधे

कौन? देश की आँखें युवक-दल की ओर लग रही हैं। युवक-दल ही देश की आशा, प्राण, हाथ-पाँव सब कुछ है वही इस कठिनकार्य में आगे पैर बढ़ाने के लायक है। पर वही अभी इसमें सबसे अधिक शिथिल है। शिक्षित और शहरवासी युवक-गांवों से घबड़ाते हैं। उनका फ़ैशन और शौक़ीन मिज़ाज़ी उनके पांवों में बेड़ियाँ डाले हुए है। यदि साढ़े सात (७॥) लाख गाँवों के लिए ७॥ हज़ार युवक भी अपने जीवन के पांच-पांच (५-५) साल दे दें तो वह चमत्कार दिखाई दे सकता है, जिसकी कल्पना भी बहुतों ने न की होगी। इसके लिए सबसे आवश्यक है कि युवक अपने जीवन को ग्रामों के योग्य बनाने का प्रण कर लें। जब तक उनकी दृष्टि गांवों की ओर न जायगी और वे अपने जीवन को गाँवों के साँचे में डालने के लिए तैयार न होंगे, तब तक जिस स्वाधीनता की वे साध लगाये बैठे हैं वह उनसे रूठी ही रहेगी इसमें मुझे तिलमात्र संदेह नहीं है।

(मार्गशीर्ष संवत् १९८६)

चंक्रम्

'बिड़लाजी के गुलाम'

जब पौधा छोटा नन्हा होता है तब लोग उसके कांटे की भी हिफ़ाज़त करते हैं; पर जब वह बड़ा हो जाता है तब उसके पत्तों, टहनियों और डालियों तक कीकाट- छांट करने से उसका सुव्यवस्थित विकास माना जाता है। जब तक 'त्यागभूमि' नई और नन्हीं थी तबतक मित्रों, संपादक-बंधुओं और आलोचक सज्जनों ने भी उसके और उसके सेवकों के दोषों और त्रुटियों पर ध्यान न देकर उनकी इच्छाइयों के लिए उन्हें प्रोत्साहित किया; पर अब शायद इन दो ही तीन वर्षों में 'त्या. भू.' के जीवन में वह समय आ गया है जब उसकी कांट-छांट में ही उसका विकास छिपा हुआ हो। इसलिए अब जगह--जगह से उसके तथा उसके सम्पादक पर तरह-तरह के आक्षेपों की बौछार होने लगी है। इन आक्षेपों का मैं स्वागत करता हूँ; क्योंकि एक तो ये हमें अपनी त्रुटियों को देखने और सुधारने का अवसर देते हैं और दूसरे आक्षेपक भाइयों को यदि कोई भ्रम हो गया हो तो उसे भी दूर करने का मौका हमें मिल जाता है। ऐसे कुछ आक्षेपों का विचार पिछले दो अंकों में किया जा चुका है। अबकी एक आक्षेप जरा गंदे रूप में आया है। बातचीत में एक मित्र ने कहा— 'आपको भी तो बिड़लाजी और जमनालालजी के गुलाम कहते हैं।' आज इसी शिकायत याभ्रम पर हमें विचार कर लेना है। मुझे दु:ख है कि इस सम्बन्ध में मुझे कुछ ऐसी बातें पाठकों के सामने रखनी पड़ेंगी जिन्हें मैं अब तक बहुत पवित्र मानता आया हूँ और जिन्हें सर्व-साधारण के सामने रखना मानों उनकी पवित्रता की मर्यादा तोड़ना है। पर आज तो प्रसंग पाठकों से कुछ जी-खोल कर बातें करने का आगया है। अतएव आशा है, मेरे मित्र और पाठक गण मुझे इस मर्यादा-भंग के लिए क्षमा करेंगे।

सबसे पहले यह समझ लेना जरूरी है कि सस्ता मंडल, त्या. भू. या मुझसे श्री बिड़ला

जी और जमनालालजी का क्या और कैसा सम्बन्ध है और इसे गुलाम का सम्बन्ध कह सकते हैं या नहीं। सस्ता-मंडल की कल्पना मेरी नहीं, बल्कि जमनालालजी की है। मुझे यह चीज प्रिय थी और इसलिए मैंने इसे अपना बना लिया, यह दूसरी बात है। बिड़लाजी सस्ता-मंडल के अध्यक्ष श्री जमनालालजी की परेरणा से बने, मेरी तो मुलाकात बिड़लाजी से उसी समय हुई जब जमनालालजी ने उनके सामने सस्ता-मंडल के अध्यक्ष बनने का प्रस्ताव रक्खा। ऐसी दशा में यदि जमनालालजी और बिड़लाजी सस्ता-मंडल की उन्नति में मुझसे अधिक दिलचस्पी लें, उसकी चिन्ता रक्खें, उसके लिए अच्छे आदमी जुटावें और धनलावें या लगावें तो इसमें कौनसी अनहोनी बात है? और यदि अच्छे और जीवनदायी साहित्य का प्रचार करने में मैं भी अपनी थोड़ी-सी शक्ति लगा देता हूँ तो इससे बिड़लाजी और जमनालालजी का गुलाम कैसे हो जाता हूं, यह समझ में नहीं आता। यदि बिड़लाजी की मिलों के कपड़ों का, उनकी बीमा-एर्जेसियों का, और जमनालालजी के व्यापार का कोई प्रचार-कार्य सस्ता-मंडल के कर्मचारियों के द्वारा अथवा पुस्तकों के द्वारा या मेरे दवारा होता हो तो यह आक्षेप सही हो सकता हैं। पाठक जानते हैं कि जमनालालजी और मैं दोनों खादी-भक्त हैं और खुदबिड़लाजी भी खादी के प्रचार में आजकल काफी सहयोग दे रहे हैं। और कम से कम मुझे विश्वास होता है कि यदि भारत-माता के उद्धार के लिए अपनी मिलों को स्वाहा करने का समय आया तो बिड़लाजी उस समय पीछे न रहेंगे। फिर बीमा एजेंसियों की तो बात ही क्या है?

'त्या.भू.' की स्थिति सस्ता-मण्डल से भिन्न है। 'त्या.भू.' 'मालव-मयूर' का विकसित रूप है। भाई जीतमल जी 'मालव-मयूर' सञ्चालक थे और मैं संपादक था। जब 'मानव-मयूर' का रूपान्तर करने की योजना हम लोगों ने बनाई तब भाई घनश्यामदासजी ने खुद ही सूचित किया कि आप लोग इस पत्र को अलहदा क्यों रखते हैं, मण्डल में आप ही लोग सौंप देते? हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी, बशर्ते कि उसकी संपादन और सञ्चालन-नीति में वर्तमान संपादक की राय सर्व प्रधान रहे। और खर्च-वर्च की बात को छोड़कर मुझे नहीं याद पड़ता कि 'त्या.भू.' की नीति में मण्डल के किसी सदस्य ने कोई हस्तक्षेप किया हो। त्या.भू. कासंपादक उतना ही स्वतंत्रता से त्या.भू. में लिखता है जितनी कि वह 'मालवमयूर' या 'हिन्दी नव-जीवन' में लिखता था। बल्कि मंडल का सहयोग मिलने से त्या.भू. की शक्ति बहुत बढ़ गई है और मण्डल की भी प्रतिष्ठा उसके द्वारा जमी है। आज भी यदि मण्डल त्या.भू. को अपने से अलहदा करना चाहे तो मुझे इस पर कोई आपत्ति न होगी। 'त्या.भू.' से बिड़लाजी की विशेष प्रीति रही है। 'मालवमयूर' पर उनकी दृष्टि गड़ी थी। एकबार कलकत्ता में स्वर्गीय पं. ईश्वरीप्रसादजी शर्मा के सामने उन्होंने मुझसे कहा था, देखो यह 'हिन्दू-पंच' है। इसकी हजारों प्रतियाँ बिकती हैं। तुम्हारा 'मालव-मयूर' सिर्फ ५०० छपता है। तुम्हारे विचार अच्छे हैं, लिखते भी अच्छा हो। 'मयूर' की भी हजारों प्रतियाँ बिकनी चाहिए। मैंने नम्रता से उत्तर दिया— "इसमें हमारा ही दोष है। हममें प्रचार-विद्या की कमी है। फिर मैं लोक-रंजन के लिए पेज के पेज भरने में भी दक्ष कहाँ हूँ? हम छोटे लोग हैं; छोटे काम करते हैं। परन्तु हमें अपने काम पर विश्वास है।

'मालवमयूर' भी कभी बढ़ेगा।'' इस समय बिड़लाजी से मेरा इतना परिचय हो गया था कि यदि मैं आर्थिक कठिनाई उनके सामने रखता तो वह उसी समय उसको दूर कर देते। परन्तु मुझसे यह न हुआ। त्या.भू. को मण्डल में लेने का प्रस्ताव तथा उसे बढ़ा कर सस्ते मूल्य में देने की सूचना का श्रेय खुद घनश्यामदासजी को है न कि मुझे। मैं तो सेठ-साहूकारों से रुपया माँगने में, सत्ताधारी मित्रों और गुरूजनों से अपना काम निकलवा लेने में बड़ा भारू हूँ। भाई बनारसीदासजी चतुर्वेदी मेरी इस त्रुटि पर बार-बार कहा करते हैं कि 'तुम्हें फायदा उठाना नहीं आता। तुम ५ साल आश्रम में महात्मा जी के विश्वासपात्र बनकर रहे। एक जिम्मेदारी का — 'हिन्दी नवजीवन'— का काम करते रहे। तुम चाहते तो अब तक स्थिति का फायदा उठाकर एक बड़े आदमी बन गये होते।' पर न जाने क्यों, मुझे इस छोटेपन पर ही बड़ा संतोष है। अतएव पाठक समझ लें कि मण्डल या त्या.भू. को जो कुछ रूपया मिला है या मिलता उसका श्रेय मुझे बिलकुल नहीं है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि वे दोनों महानुभाव तथा दूसरे मित्र मुझे एक भला और ईमानदार कार्य-कर्ता समझते हैं और इसलिए रूपये- पैसे की और दूसरी तरह की मदद करने या कराने में नहीं हिचकते। फिर यदि त्या. भू. में इन लोगों की तारीफों के पुल बाँधे जाते तो भी एक बात थी। त्या.भू. के प्रथमांक में मैंने बिड़लाजी पर एक टिप्पणी लिखी थी। उसमें मैंने सत्योक्ति के बजाय न्यूनोक्ति से ही काम लिया था। किन्तु इस पर भी बिड़ला जी ने मुझे डाँट बतलाई। लिखा कि त्या.भू. से मेरा इतना निकट सम्बन्ध है कि मेरे लिए उसमें कुछ भी लिखा जाना उचित नहीं है। मैंने उत्तर दिया— यह सोचना संपादक का काम है। अब बताइए मुझे बिड़लाजी का गुलाम कहने वाले कितने अन्धकार में है? बिड़लाजी से अब मेरा परिचय ८ वर्ष पुराना हो गया। पर मैंने सिवा एक- दो बार उनके कुछ अच्छे कार्यों की स्तुति के कुछ नहीं लिखा। यदि लिखना चाहूँ, और कभी लिख सका तो एक पुस्तक लिखी जा सकती है। इतना घनिष्ट परिचय होने पर भी मैं उनके लिए कुछ लिखते हुए डरता हूँ, पर मेरे आदरणीय भाई और महात्माजी के विश्वस्त सेक्रेटरी श्री महादेव देसाई ने तो 'गुजराती नवजीवन' में पूरा एक लेख बिड़लाजी के गुणों के वर्णन में छापा है, जहां कि उसका १/१० भी मैंने अब तक त्या. भू. में नहीं लिखा है। यही हाल श्री जमनालाल जी के बारे में है। जमनालालजी के प्रति मेरा जो आदरभाव है; उनके जिन अमूल्य गुणों का परिचय मुझे हुआ है उनको देखते हुए जब त्या.भू. में उनके लिए मुझे संयम से काम लेना पड़ता है तब मेरे सत्य-प्रेम को एक आघात पहुंचता है। यदि केवल सत्य पर दृष्टि रक्खी जाय तो मुझे अपने ऐसे तमाम मित्रों की गुणावली से त्या.भू. को भर देना चाहिए पर मित्र-मित्र से स्तुति के भूखे नहीं होते और मित्रता की कसौटी भी स्तुति नहीं होती। इसलिए त्या.भू. को पाठक उसके मित्रों की अकारण स्तुति से रहित पाते हैं। कलकत्ता में एक घनिष्ट संपादक मित्र ने मुझसे कहा था 'देखो हरिभाऊ जी, आपने बिड़ला जी पर टिप्पणी लिखकर ठीक नहीं किया। लोग समझेंगे पैसे के लिए सिड़ला जी की स्तुति करते हैं। बल्कि आप तो कभी-कभी यों भी उन पर टीका-टिप्पणी कर दिया कीजिए जिससे लोगों का यह ख्याल न होने पावे' मेरे ये मित्र मुझसे अधिक व्यवहार-कुशल हो सकते हैं; पर मुझे उनकी सलाह जँची नहीं। उसमें मुझे

आडम्बर, झुठाई और अन्याय की बू आई। यदि कोई अच्छा काम करता है तो संपादक को उसकी तारीफ़ करनी चाहिए, यदि बुरा करता है तो उसकी निन्दा। फिर वह मित्र हो या शत्रु। जितना ही हम इस सिद्धांत से आगे-पीछे हटते हैं उतना ही हम अपने कर्तव्य से च्युत होते हैं। एक तो बिड़ला जी या दूसरे अच्छे कार्यों में सहायता दें; फिर उसका पुरस्कार उन्हें दिया जाय ख़्वामख़ाह निन्दा। मैं ऐसे मित्र संपादकों को जानता हूं जो धनियों से धन भी ले लेते हैं और फिर अपने को निर्लिप्त दिखाने के लिए उनकी निन्दा करके उलटा उन पर अपनी धौंस भी जमाते हैं। 'उन्हीं की जूती उन्हीं का सिर' मुझे यह व्यवहार-नीति पसंद नहीं; यदि इसे मैं दुष्टता और कृतघ्नता नहीं तो अ-सज्जनता अवश्य कहूँगा। बल्कि व्यवहारिकता तो यह कहती है कि जो लोग अधिकांश में अच्छे काम करते हैं उनसे यदि कभी कोई बुरा भी काम हो जाय तो उनकी उपेक्षा कर देनी चाहिए; या मामूली टीका करके छोड़ देना चाहिए... पर मेरे मित्र ने मुझे बिलकुल ही उलटी सलाह दी। उनका भाव तो खड़ा शुद्ध था, मुझे व्यवहार-ज्ञान सिखाना ही उनका हेतु था। पर मुझे व्यवहार-हीन रहना ही पसंद आया। आज मुझे 'बिड़लाजी के गुलाम' प्रमाण-पत्र मिलने पर मेरे ये मित्र अपनी नसीहत के औचित्य पर अपनी प्रशंसा कर सकते हैं, किन्तु मेरा हृदय तो यह कहता है कि अभी मुझमें लोकापवाद की परवा न करने की पूरी शक्ति नहीं आई है, अन्यथा जमनालालजी और बिड़लाजी जैसे धनी लोगों में मुझे जिन सद्गुणों और सद्भावों के दर्शन हुए हैं यदि उनका मैं सचमुच गुलाम अपने को घोषित कर पाता और उनका अनुकरण करने में सफल हो पाता तो अपने को बड़भागी समझता। इसके यह मानी नहीं है कि जमनालालजी या बिड़ला जी में कोई दोष नहीं है, उनसे गलतियाँ या बुराइयाँ नहीं होती है, ऐसे दोष और बुराइयाँ तो उनसे अधिक मुझे अपने में दिखाई देती हैं। पर मैंने यह जरूर देखा है कि जमनालालजी और बिड़लाजी अपने दोषों को जानने और सुधारने के लिए मुझसे अधिक आतुर रहते हैं और यही कारण है जो मुझ-जैसा धनियों से दूर भागने वाला आदमी उनकी मण्डली में जी रहा है। पाठकों को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि मैंने तब तक अपने मुँह से जमनालालजी या बिड़लाजी से 'मालव-मयूर' या त्या.भू. के लिए आर्थिक सहायता नहीं मांगी जब तक कि त्या.भू. मण्डल की पत्रिका नहो गई; बल्कि जमनालालजी के सामने तो मैं स्वयं 'मयूर' और त्या.भू. का जिक्र तक न करता था कि कहीं वे यह न समझ लें कि मदद चाहता होगा। महात्माजी मेरे लिए पिता-तुल्य हैं। परन्तु आज तक मैंने उनसे त्या. भू. या मण्डल के लिए 'यंग इण्डिया' या 'नवजीवन' में कुछ लिखवाने या उनसे अच्छे शब्द प्राप्त करने की चेष्टा नहीं की। त्या. भू. और मण्डल के मेरे साथी इस बात पर मेरी दिल्लगी भी उड़ाते हैं कि दूसरे लोग महात्माजी से अपना काम बना लेते हैं, उनसे कुछ नहीं बनता। पर अपनी इस वृत्ति में मेरा मूल भाव यही रहता है कि हम स्वावलंबन, पुरुषार्थ और अपने कार्य की श्रेष्ठता के बल पर ही मित्रों और गुरूजनों की सहायता और आशीर्वाद के पात्र बनें, न कि उनके अपने खानगी संबंधों के कारण। फिर भी मैं मानता हूँ कि इस अपने इकरंगेपन की बदोलत मेरे कार्यों के लिए जितनी अनुकूलता होनी चाहिए उतनी कई बार नहीं हो पाती है। इस वृत्ति पर यदि कोई अनुदारता से विचार करे तो उसे इसमें अपने

प्रति अभिमान और दूसरे के प्रति तिरस्कार की भी बू आ सकती है। पर मेरा तो स्वभाव ही लड़कपन से ऐसा पड़ गया है। ब्राह्मण के घर में जन्म होते हुए भी मेरे माता-पिता और चचा ने मुझे स्वाभिमान की शिक्षा दी और भिक्षा-वृत्ति को नीच समझने के संस्कार मुझ पर डाले। और आज मैं स्वाभिमान के साथ छाती पर हाथ रखकर कह सकता हूं कि अपने या अपने परिवार के भरण-पोषण या सुख-सुविधा के लिए ये हाथ अपने किसी धनी या सत्ताधारी मित्र के सामने नहीं फैले-बल्कि अपने सार्वजनिक कार्यों के लिए भी जब मैं किसी के यहां सहायता के लिए जाता हूँ, तो ऐसा मालूम होता है, मानो मुझे अपनी आत्मा का हवन करना पड़ता है, हालाँकि मेरी बुद्धि बराबर यह कहती है कि सार्वजनिक कार्यों के लिए भिक्षा माँगना, अपमानित होना, जलील होना बड़े भाग्य का लक्षण है। अबतक मेरी बुद्धि और मन के संस्कारों की यह खींचातानी चली ही आती है और मैं उसका एक दयाजनक 'फुटबाल' बना हुआ हूँ । ऐसी दशा में तो मित्र लोग मुझे यदि अभिमानी कहें तो एक बार मैं मान लूँगा; परन्तु किसी धनी के गुलाम बनने का ताना दें तो मेरी अन्तरात्मा इस बात को मानने के लिए हरगिज तैयार नहीं है। मैं अपने घर में अपनी माँ से भी कोई चीज़ सहसा माँगकर नहीं लेता था। धनी और अधिकारी मित्रों के सहवास में जब मैं अपनी सादगी और गरीबी की रक्षा में चिन्तित नजर आता हूँ तब मेरी व्यवहार-बुद्धि पर उन्हें जरूर तरस आती होगी; परन्तु मैं 'मूर्ख' कहलाकर भी कंजूस के धन की तरह उसकी रक्षा करता हूँ। क्योंकि मैं मानता हूँ कि ब्राह्मण का बल है उसका ज्ञान और तप एवं उसका भूषण है उसकी दरिद्रता। सो यदि मैं ज्ञान और तप का दावा नहीं कर सकता तो कम से कम अपने प्यारे भूषण दरिद्रता की उज्ज्वलता तो न कम होने दूँ। एक बार एक धनी मित्र के यहां मुझसे पूछा गया आप दूध लेंगे या छाछ? मैंने एक क्षण सोच कर उत्तर दिया 'छाछ'। उन्होंने आश्चर्य से पूछा 'छाछ क्यों?' मैंने उत्तर दिया— 'ब्राह्मण का धर्म है कि यदि श्रेष्ठ और कनिष्ठ दो चीजें उसके सामने लाई जायं तो वह कनिष्ठ को स्वीकार करे। श्रेष्ठ को स्वीकार करना भोग है, कनिष्ठ को स्वीकार करना त्याग है।'

अब श्री जमनालालजी के साथ व्यवहार का हल सुन लीजिए। १९२२ में मैं भारतीय कांग्रेस-समिति का सदस्य था। 'हिन्दी नवजीवन' से रूपया उधार लेकर मैं उसके अधिवेशनों में गया था। उसमें ६०-७० खर्च हुए होंगे। मैंने अपने दिल को इस तरह समझा लिया था कि अपने काम से तो जाता ही नहीं हूं। कांग्रेस का काम है। जमनालालजी इतनी सहायता दे देंगे। उस समय महात्मा जी जेल में थे और 'हिन्दी नवजीवन' खासतौर पर जमनालाल जी के चार्ज में था और मैं था उसका संपादक। जमनालालजी से मेरा काफी परिचय हो गया था। महात्माजी को तथा उन्हें मेरे काम से पूर्ण संतोष था। एक बार जमनालालजी से मैंने इस रकम का जिक्र किया। उन्होंने पूछा क्या आपकी यह मांग REASONABLE (उचित) है? मेरा माथा उनका। मैंने जमनालालजी से इस प्रश्न की आशा नहीं की थी। मेरे मानी स्वभाव को बड़ी ठेस लगी। जमनालालजी ने कहा- 'यदि आपके पास रुपया नहीं था तो आप न जाते।' उनकी इस बात ने मेरे हृदय में सत्य स्थिति का प्रकाश डाला। तुरन्त अपनी भूल समझ ली। उन्हें धन्यवाद दिया कि आपने मुझे आज एक पतन से बचा लिया।

तब सेआज तक मैंने जमनालाल जी से ऐसे सार्वजनिक काम के लिए भी कभी सहायता नहीं चाही जिसे उन्होंने अपना काम नहीं समझ लिया है और जिसमें मेरा उनसे सहयोग नहीं है। हालाँकि मेरे साथ उनका प्रेम एक छोटे भाई की तरह है, फिर भी मैं स्वप्न में भी महात्मा अपनी मर्यादा को नहीं भूलता हूँ।

वे निजी और पवित्र बातें मुझे आज इसलिए प्रकाशित करना पड़ी है कि 'त्यागभूमि' के और मेरे आलोचक मित्र तथा पाठक हमारी स्थिति को ठीक-ठीक समझ लें। अज्ञान के कारण वे हमारे साथ अनुदारता या अन्याय न कर बैठें। वे जान लें कि 'त्या.भू.' और उसका संपादक एक अलग ढंग का आदमी है। उसे दुनियादारी की दुनियावी भलाई-बुराई की विशेष पर्वा नहीं है। क्योंकि वह जानता है कि सब लोग सब बातों की तह तक नहीं जाना चाहते, जा भी नहीं सकते। वह तो अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा, अपने मनके भावों पर ही प्रधान दृष्टि रखता है। भावों में ही संशोधन करने की चेष्टा करता रहता है। जिससे आचरण और कार्य अपने आप ठीक होते रहें। और यदि इस विधि की उत्तमता मैं मुझे भ्रम नहीं है, या इसमें मैं शिथिल नहीं हूं तो मुझे विश्वास है कि आलोचक मित्रों की यह अनुदारता या आतुरता अधिक दिनों तक नहीं टिकी रह सकती। बिड़लाजी या जमनालालजी मेरे नजदीक इसलिए आदरणीय नहीं है कि उनके पास धन है; बल्कि इसलिए हैं कि उनमें उच्च गुण हैं जो भारत के धनियों में कम देखे जाते हैं। यदि मैं धन का ही पुजारी और गुलाम होता तो भारत में बहुत धनी मुझ जैसे तुच्छ गुलाम को भी खरीदने में कमी नहीं करते। अस्तु कुछ सज्जनों के ऐसे आक्षेपों से उन्हें चाहे आत्म-संतोष के सिवा और लाभ न होता हो, पर मुझे तो आत्म-संशोधन और आत्म-निवेदन में बहुत सहायता मिलती है और इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूं। दादू दयाल ने ठीक ही कहा है—

निन्दक बाबा वीर हमारा। बिन ही कौड़ी बहै विचारा॥
कोटि कर्म के कल्मष काटै। काज सँवारे बिन ही सांटै॥
आपन डूबे और को तारे। ऐसा प्रीतम पार उतारे॥
जुग-जुग जीवो निन्दक -मोरा। रामदेव तुम करो निहोरा॥
निन्दक मेरा पर उपकारी। दादू निन्दा करे हमारी॥

'ह. उ.' क्यों?

हिन्दी साप्ताहिकों में 'श्रीकृष्ण-संदेश' का ऊंचा स्थान है। उसकी विशेषता है— विचार-शीलता, गंभीरता। उसके संपादक हैं मेरे पुराने काशी के मित्र श्री लक्ष्मण नारायण गर्दे जी, महाराष्ट्रीय होते हुए भी बरसों से लगातार हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। उनके द्वारा संपादित 'श्रीकृष्ण-संदेश' की एक पिछली संख्या के विनोद-स्तम्भ में, इस आशय का एक विनोद किया गया है कि जब 'त्यागभूमि' की संपादकीय ज़िम्मेदारी हरिभाऊजी पर ही है तो वह अपनी टिप्पणियों के नीचे 'ह. उ.' क्यों लगा दिया करते हैं? इससे उत्तर में, लिखा गया है कि हरिभाऊजी महात्मा जी के साथ संपादकी कर चुके हैं, इसलिए 'नवजीवन'

'यंग इंडिया' की तरह उनके लेख भी अपनी मुहर से अंकित होने ही चाहिए। इससे दो तरह की ध्वनियाँ निकलती हैं— एक तो यह कि योंही महात्माजी का अन्धानुकरण किया जाता है; दूसरे यह कि अपने को भी हरिभाऊजी यदि महापुरुष नहीं तो एक विशिष्ट पुरुष मानते हैं। मुझे आरंभ में ही कह देना चाहिए कि मुझे यह विनोद मीठा और निर्दोष मालूम हुआ और इसका आनन्द भी मैंने लूटा। पर एक गंभीर-पत्र में छपने के कारण उसकी गंभीर ध्वनियों की ओर भी मेरा ध्यान गया। जहां तक मुझे याद पड़ता है 'त्यागभूमि' के पाठकों के सामने अभी तक मैंने इस विषय पर कुछ प्रकाश भी नहीं डाला है, इसलिए मैं उचित समझता हूं कि इस संबंध में मैं अपनी दलीलें हिन्दी-पाठकों के सामने रख दूँ जिसमे उन्हें यह मालूम हो जायगा कि न तो यह अन्धानुकरण है, न मिथ्याभिमान; बल्कि सोच-समझकर, उपयोगी जानकर ढाली हुई प्रथा है।

एक पत्र के ही संपादक और उपसंपादकों का व्यक्तित्व अलग-अलग होता है। सामान्य सिद्धान्त और प्रधान नीति को मानते हुए भी प्रसंगोपान्त उनका अर्थ लगाने और पालन करने में उनकी जुदी-जुदी वृत्तियाँ होती हैं। फिर उनकी योग्यता, महत्व, अनुभव और शैली भी होती हैं। किसी चीज का महत्व केवल इसी बात पर नहीं होता कि वह किस पत्र में छपी है; बल्कि इस बात पर भी होता है कि वह किसकी लिखी हुई है। मनुष्य के हृदय पर केवल लेख की सुन्दरता और दलीलों का असर नहीं होता; बल्कि लेखक के व्यक्तित्व का भारी असर होता है। महात्माजी अपने नाम से जिस बात को मामूली तरह से लिख देते हैं उसे यदि मैं अपने नाम से बहुत सजाकर भी लिखूँ तो भी पाठकों के दिल पर उसका वह असर नहीं होगा। अतएव लेखादि के नीचे संपादकों का नाम दे देने से प्रत्येक की कीमत के अनुसार उसे महत्व मिलता है और प्रत्येक के व्यक्तित्व का अपना स्वतंत्र विकास होता रहता है। कई बार ऐसा भी होता कि मुख्य संपादक की अपेक्षा सहायकों की टिप्पणियाँ लेख अच्छे निकल जाते हैं। एक वृद्ध संपादक महोदय ने इसी बात पर बहस निकल पड़ने पर मुझसे कहा था कि 'भाई शुरू में जब.... हमारे सहायक बनकर आये तब उनके दो-चार लेख अच्छे निकले। बस पाठकों पर यह छाप पड़ गई कि लिखने वाले तो यही है। फिर यदि मेरा लेख अच्छा भी होता तो पाठक उसे मेरा नहीं समझते थे। भिन्न-भिन्न संपादक यदि अपने हस्ताक्षर से लिखते रहें तो यह भ्रम क्यों फैलने पावे ? और इसमें हानि भी क्या है ? यदि कोई एक संपादक अपनी योग्यता, विद्वत्ता, व्यक्तित्व, श्रमशीलता आदि के कारण पाठकों का प्रिय बन रहा हो तो दूसरों को ऊँचा उठने में उससे सात्विक स्फूर्ति ही मिलती है। यदि किसी के विचार में कोई दोष है, किसी की दी हुई बात में कोई गलती है, किसी का कोई अनुमान निराधार है, किसी का कोई आक्षेप अनुचित है तो उसकी वास्तविक जिम्मेदारी उसकी अपनी होती है; उसे अपने बारे में विचार और सुधार करने का स्पष्ट अवसर रहता है और एक की गलती का फल दूसरे को नहीं भोगना पड़ता। पाठकों के सामने प्रत्येक की जिम्मेदारी रहने से उनके अन्दर ज़िम्मेदारी का भाव अधिक पैदा होता है। फिर जहाँ मुख्य संपादक सब बातों को बारीकी के साथ नहीं देखता हो वहाँ प्रत्येक की जिम्मेदारी का अलग-अलग निदर्शन और भी उचित एवं आवश्यक है। ऐसी

अवस्था में 'श्रीकृष्ण-संदेश' के विनोद की ध्वनि तभी साधार कही जा सकती है जब अकेला 'ह. उ.' ही अपनी 'मुहर' लगाता हो। जहाँ 'सुमन' 'सुकट' 'कृष्ण' 'प्रेमी' सब अपनी-अपनी मुहर लगाने के लिए 'ह. उ.' के बराबर ही स्वतंत्र हैं तहां 'महात्माजी के साथ संपादकी करने' में सूचित व्यंग्य कैसे सार्थक हो सकता है? मैं भाई गर्देजी को धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने यह मीठा विनोद छापकर मुझे इस सम्बन्ध में अपने कुछ विचार हिन्दी-पाठकों के सामने रखने का अवसर दिया।

संचालक के गुण

स्वराज्य जिस प्रकार बिना बलिदान के नहीं आ सकता उसी प्रकार बिना संगठन न तो वह मिल ही सकता है, न ठहर ही सकता है। भारत-जैसे विशाल देश में एक महान् देश-व्यापी संगठन होने के पहले की अवस्थाओं में छोटे-छोटे परस्पर पूरक संगठनों का होना अनिवार्य है। यह संगठन भिन्न-भिन्न सार्वजनिक संस्थाओं और सभाओं के रूप में हो रहे हैं। पर संस्थाओं और सभाओं का संगठन अच्छा और फलदायी तभी हो सकता है जब संचालक सुयोग्य हों। सुयोग्य संचालक के अभाव में हम उसके सदस्यों या कार्यकर्ताओं में प्रतिस्पर्द्धा, द्वेष, वैमनस्य,विरोध के भाव प्रबल देखते हैं और फलतः संस्थाओं का जीवन ही खतरे में पड़ जाता है। ऐसी दशा में देश-व्यापी संगठन की तो आशा ही दूर पड़ जाती है। कुछ सार्वजनिक संस्थाओं के ऐसे दुःखपूर्ण दृश्य मेरी आंखों के सामने हैं और उनसे नसीहत लेने के विचार से ही यह टिप्पणी लिख रहा हूँ।

मेरी राय में संचालक के लिए सबसे पहली आवश्यक बात यह है कि वह अपने को संस्था का सेवक, पोषक या ट्रस्टी (वाली) समझे; मालिक, नेता, बुजुर्ग न समझे। वह महत्वाकांक्षी तो हो, किन्तु अधिक से अधिक सेवा करने का, न कि नाम या महत्ता पाने का। संचालक होने के कारण उसे आज्ञा देनी पड़ती है; पर आज्ञा पालन में उसे किसी से पीछे न रहना चाहिए। जो खुद तो आज्ञा देते हैं पर आज्ञापालन में अरुचि रखतेहैं वेसंचालक नहीं हो सकते, न बने रह सकते हैं। जो दूसरों पर नियम लादना चाहते हैं; पर खुद नियमों का भंग होने पर भी उसकी परवा नहीं करते वे संचालक होने के योग्य नहीं। जहां संचालक सेवा परायण है वहां अपने से छोटों और साथियों को उससे सदा प्रोत्साहन मिलेगा। वह अपने विरोधियों को भी अवसर देने कीइच्छा रखेगा। जहां सेवा का भाव है वहां व्यक्तियों से द्वेष नहीं हो सकता। जहां यह भावना होती है कि काम 'मेरे ही द्वारा' हो वहां या तो उसके मूल में सत्ता का प्रेम है, या कीर्ति की चाह है। जहां यह प्रवृत्ति है वहां दूसरे साथियों के उत्साह और उमंग को हम जान में या अनजान में रोकते रहते हैं। संयम सिखाना एक बात है; शक्ति को कुंठित कर देना दूसरी! संयम के मानी है विवेकयुक्त उपयोग। कुंठित करने के मानी हैं अविवेक -पूर्ण रोक। कुछ देश- सेवक या संचालक ऐसा समझ कर सत्ता प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं और सत्ता मिलने पर अपने अंदर एक शक्ति आ जाने का अनुभव करते हैं कि बिना सत्ता मिले हमसे काम नहीं हो सकता। यह बात मेरी समझ में नहीं आती। जो व्यक्ति सेवा परायण है, जो अपने अभिमान और अहंकार को छोड़कर अपने को एक रजकण समझकर मानव-जाति की सेवा के अर्पण हो जाता है उसे

सत्ता की क्या आवश्यकता है। वह तो प्रेम की सत्ता का भूखा होता है न कि अधिकार की सत्ता का शिकार। बात यह है कि अनेक प्रकार के लोगों से मनुष्य तभी काम ले सकता है और तभी उन्हें काम दे सकता है जब उसमें सहन-शीलता, धीरज, नियम-निष्ठा, आज्ञापालन मे गुण प्रधान रूप से हों। जिनमें इन गुणों की कमी होती है वे अधिकार-सत्ता को अपने हाथ में लेकर इनकी पूर्ति उसके द्वारा करने का प्रयत्न करते हैं। पर इसे वे अपनी बड़ी हानि करते हैं। इन आवश्यक गुणों को प्राप्त करने का प्रयत्न फिर उनकी ओर से नहीं होता और इनके अभाव में वह सत्ता भी उनके पास अधिक दिनों तक नहीं ठहरती-इससे दोनों तरह घटी में रहते हैं। फिर जब केवल सत्ता से काम लिया जाता है तब मिथ्याभिमान, अहम्मन्यता आदि दुर्गुण बढ़ जाते हैं और व्यक्ति का पतन और संस्था या संगठन का विनाश हो जाता है। अतएव संचालक को यह उचित है कि प्रेम की सत्ता को अपना साधन बनावे और पूर्वोक्त अवगुणों को घटाने का उद्योग करे। कम से कम अपनी प्रिय संस्था और प्रिय कार्य को तो उसे अवगुणों के कुफल से बचा ही लेना चाहिए। अपने समस्त सद्गुणों सद्भावों, सत् शक्तियों का लाभ अपनी संस्था या अंगीकृत कार्य को मिलना चाहिए; परन्तु अपने तमाम दुर्गुणों, दुर्भावों और दुष्प्रयत्नों के बुरे परिणाम खुद भोगकर संस्था और कार्य को उससे बचा लेना चाहिए। यह नियम जबतक संचालक अपनी आंखों के सामने नहीं रक्खेगा तब तक वह अपनी संस्था को फलती-फूलती न देख सकेगा।

पौष, संवत् १९८६

'घासलेटी साहित्य'

पौष के 'विशाल-भारत' में 'घासलेट विरोधी-आंदोलन का उपसंहार' नामक संपादकीय लेख प्रकाशित हुआ है। उससे मालूम होता है कि भाई बनारसीदास जी अब इस आंदोलन को अपनी तरफ से बंद कर रहे हैं। यद्पि घासलेटी साहित्य के विषय में पिछले दिनों पत्रों में दोनों पक्षों की ओर से कुछ लिखा गयाउस सबको मैं नहीं पढ़ सका हूं तथापि मैं इतना अवश्य मानता हूँ कि इस आन्दोलन को उठाकर भाई बनारसीदास जीने हिन्दी-साहित्य और समाज पर उपकार ही किया है, और उन्हें उन तमाम सज्जनों की ओर से धन्यवाद मिलना चाहिए जिन्हें साहित्य में सुरूचि से कुछ रूचि है, और जिन्हें समाज में फैलाई जाने वाली इस गन्दगी से घृणा है, फिर चाहे वह कितने ही अच्छे उद्देश्य से क्यों न फैलाई जाती हो। एक तरह से तो भाई चतुर्वेदी जी ने इस आन्दोलन के द्वारा 'त्यागभूमि' के एक उद्देश्य की पूर्ति की है और उसका बोझ हलका किया है। मुझे यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं है कि 'त्या.भू.' ने इस आंदोलन को अनुराग की दृष्टि से देखा है, और यदि मैं अपने अन्य कामों से 'त्या.भू.' के लिए अधिक समय निकाल सकता तो इस विषय में लिखता भी जरूर रहता। इस ख्याल से कि जब एक भाई एक काम कर रहे हैं, और त्या. भू. का मत इस सम्बन्ध में छिपा नहीं है, 'त्या. भू. इस तरफ अधिक ध्यान न दे सकी।

जब 'घासलेटी' शब्द मैंने पहली बार पढ़ा तभी मेरे मन में यह ख़्याल पैदा हुआ था कि

यह शब्द उस साहित्य के साथ पूरा न्याय नहीं करता। उसमें केवल बदबू ही नहीं है और भक से जल उठने और फैल जाने का सामर्थ्य ही नहीं है बल्कि इससे भी बढ़कर और हानिकार दोष हैं। इसलिए मैं इसे जहरीला साहित्य कहता हूँ। मैं जानता हूँ कि ये शब्द बहुत कठोर हैं, परन्तु इनका प्रयोग उस साहित्य के लिए किया गया है, न कि उसके प्रचारकों के लिए। प्रचारकों में से कइयों की लेखनी में ग़ज़ब की ताकत है, प्रतिभा का चमत्कार है, काव्य के गुण हैं, और कुछ तो सचमुच साहित्य और समाज की सेवा के सद्भाव से ही इस साहित्य का सृजन कर रहे हैं। परन्तु मैं अपने और अपने मित्रों के और दूसरे युवकों के अनुभव से आंखें नहीं मूँदना चाहता। हो सकता है कि जिनको ऐसे साहित्य के बुरे अनुभव हुए हैं उनका मन उन भाइयों से ज्यादा कमजोर हो, जो ऐसे साहित्य को आवश्यक और शायद स्वास्थ्यप्रद भी समझतें हों और जो कहते हों कि हमारे मन पर तो इसका कुछ असर नहीं होता। जब महात्मा गांधीजैसे जितेन्द्रिय को भी हम ऐसे साहित्य की निन्दा करते हुए देखते हैं, सूर और तुलसी - जैसे उच्च और बलिष्ठ आत्माओं को अपनी कमजोरियो से भयभीत देखते हैं तब मेरी दृष्टि में इस साहित्य की और ऐसी प्रवृत्तियों की भीषणता और बढ़ जाती है। सयाने तो वही समझे जाते हैं जो 'काजल की कोठरी' में पैर ही नहीं रखते हैं। बुराइयों के मध्य में रहते हुए अथवा निमन्त्रण देकर उनको अपने आसपास जुटाकर उनसे मुक्त रहने, उनका असर अपने पर न होने देने का प्रयत्न साहस कहा जा सकता है, समझदारी नहीं। जब कि हमारा समाज यों ही अनेक कमजोरियों का घर बना हुआ है, पुरुपार्थ के बजाय बिलासिता, इन्द्रिय-लोलुपता और उससे उत्पन्न कायरता के कीटाणुओं से व्याप्त हो रहा है तब तो उसके सामने इस मधुमुख विकारमय साहित्य को रखना मेरी समझ में उसकी सेवा नहीं असेवा करना है। वैज्ञानिक ढंग से शरीर शास्त्र या मानसशास्त्र या कामशास्त्र के विद्यार्थियों के सम्मुख इन विषयों की चर्चा करना एक बात है, और लुभावने, मोहक और फुसलाने वाले ढंग से उन विकारों की रमणीय चित्र खींचना दूसरी बात है। उनकी ओर से पाठकों के मन में ग्लानि उत्पन्न करने वाला साहित्य एक प्रकार का होता है, और उसका चस्का लगाने वाला दूसरी प्रकार का। मैंने स्वयं इस प्रकार की कुछ पुस्तकें पढ़ी हैं। मैंने देखा है कि ग्लानि उत्पन्न करने के बजाय ऐसा साहित्य मन को विकारों को तरफ ले जाता है। सम्भव है जो भाई अज्ञान से, भ्रम से, सेवा या स्वार्थ भाव से इस साहित्य को बढ़ाना पसन्द करते हैं उनको उनकी बुराइयों का यथेष्ट अनुभव न हो। इसलिए मेरी प्रार्थना उनसे है कि वे मनुष्यों के अब तक के अनुभवों को अपने जोश से ठुकरावें नहीं। अपनी कलम की करामात, अपनी कल्पना का कौशल, अपनी प्रतिभा का प्रकाश वे ऐसे साहित्य की सृष्टि में दिखावें जिससे समाज की कमज़ोरियाँ हटें, और जीवन, बल और पुरुषार्थ के भाव जागृत हों। वे उन्नत और पुष्ट, परिश्रमी और उद्योगी, तेजस्वी और उत्साही समाज के रचयिता बनें न कि आरामतलब एवं आणोद-प्रमोद-प्रिय, तेल-फुलैन, घुंघराले बाल, चिपके गाल, और पतली कमर के जीवों का निर्माण करें। वे कृपाकर स्मरण रखें कि भारत का भावी पुरुष, नगर-निवासी, इन्द्रिय-लोलुप, परोपजीवी और ऐश्वर्यभोगी नहीं, बल्कि ग्रामवासी, परिश्रम और पुरुषार्थ का

पालक, स्वावलम्बी और सदाचारी होगा। उसके हाथ में वीणा नहीं, हँसुवा होगा। सिर पर कोमल कुंतल नहीं बल्कि बोझ का गट्ठा होगा। मुख में चाय, पान और सिगरेट नहीं, मोटे आटे का मोटा रोट और साग-पात होगा। वह प्रकृति का पुजारी होगा; सभ्यता के नाम से पुकारी जाने वाली विकृति का शिकार नहीं। क्या अच्छा हो, यदि ये हमारे प्रतिभा-सम्पन्न लेखक रमणीयता के अलंकार छोड़ कर सैनिकता का बाना पहनें। कवि और कलाकार बनने के बजाय सैनिक और साधु बनने की महत्त्वाकांक्षा रक्खें।

आन्दोलन, संक्षोभ और प्रचार ये विचार-प्रवाह को बदलने के जबरदस्त साधन हैं। इनसे जो शक्ति निर्माण होती है और वातावरण बनता है उसका सु-व्यवस्थित उपयोग यदि ठोस और स्थायी कामों में न कर लिया जाय तो वह परिश्रम सार्थक नहीं माना जा सकता। मेरी राय में भाई बनारसीदास जी का कार्य अब ऐसी अवस्था में पहुंच गया है कि जब उसका रचनात्मक रूप लोगों के सामने आवे अर्थात् हम अब केवल अच्छे और उपयोगी साहित्य का ही नमूना लोगों के सामने पेश करें। आशा है, हिन्दी के लेखक और प्रकाशक-बन्धु ऐसे ही साहित्य के निर्माण और प्रचार में अपना बल लगायेंगे जो समाज को दीन और क्षीण नहीं बल्कि पराक्रमी और दुर्दमनीय बनावे।

ह०उ०

माघ संवत् १९८६

चंक्रम

रण-निमन्त्रण

साबरमती में कार्य-समिति ने महात्माजी पर सविनय भंग के संग्राम का भार छोड़कर उन्हें अपना सर्वाधिकारी बना कर सारे देश को पूर्ण स्वतंत्रता के दारुण रण का निमंत्रण दियाहै। बहुत संभव है कि यह अंक पाठकों के हाथ में पहुँचने से पहले ही महात्माजी का रणाह्वान वाइसराय के पास पहुँच जाय और दोनों ओर के शस्त्रास्त्रों की करामात रणांगण में दिखाई देने लगे। निश्चय ही भारत का, या यों कहें कि राष्ट्रीय महासभा का, अमोध अस्त्र है अहिंसा, कष्ट-सहन और पशु-बल की प्रतिनिधि ब्रिटिश सरकार के शस्त्रास्त्र हैं जेल के कष्ट, मशीनगन, हवाई जहाज़ों से बरसने वाले बम-गोले इत्यादि। स्वराज्य के सैनिकों ने अपने और अपने प्रतिपक्षी के बलाबल को तौलकर ही इस बार दृढ़ता से क़दम आगे बढ़ाया है और उनके विश्व-वंद्य तपस्वी सेनापति का आदेश है कि जबतक स्वतंत्रता और अहिंसा का एक भी प्रतिनिधि भारत में बाक़ी है तबतक यह युद्ध स्थगित न हो। इस बार हमारे संग्राम की व्यूह-रचना इस प्रकार की गई है कि बहुत संभव है सबसे पहले हमारे सेनापति ही कृष्ण-मंदिर की यात्रा करें। उस समय उनका आदेश है कि सारे देश में अहिंसात्मक नियम-बद्ध सत्याग्रह छिड़ जाय। १९२१ में वह अपने बाद जेल में आने से हमको मना कर गये थे, अब की हमको रण-निमंत्रण देकर जा रहे हैं।

इस अंक के प्रकाशित होने तक बहुत संभव है कि सत्याग्रह की सारी योजना पाठकों

तक पहुँच जाय; परन्तु जबतक हमारे सेनापति ने बाज़ाब्ता उसे प्रकाशित नहीं किया है, तबतक, जैसा कि पं० मोतीलालजी नेहरू ने कहा है — हम सैनिकों को उसके जानने की इच्छा न रखनी चाहिए। हमारा तो काम है सेनापति के आदेशों की राह देखना और उनपर चलना।

आशा है हमारा राजस्थान, प्रताप और दुर्गादास का समराङ्गण, विक्रम और भोज की पराक्रम-भूमि, आल्हा और उदल की त्यागभूमि, इस स्वतंत्रता-यज्ञ की बलिबेदी पर अपनी आहुति देने में किसी से पीछे न रहेगी। समय आ गया है कि हम तौल कर नहीं, फूँक-फूँककर नहीं बल्कि जी-खोलकर, आगे बढ़-बढ़ कर अपनी आहुति चढ़ावें। हम विश्वास रक्खें कि हमारी ये अहिंसात्मक आहुतियाँ भारत के ही नहीं सारे संसार के कल्याण का साधन बनेंगी। यदि अंग्रेज़ों को दूर देखने की आँखें हों, अपना स्थायी हित समझने की बुद्धि हो तो वे यज्ञ से घबरायेंगे नहीं, इसका विरोध नहीं करेंगे, बल्कि इस अपनी आत्म-शुद्धि का अनोखा और ईश्वर-दें अवसर समझेंगे। परमात्मा उन्हें सन्मार्ग दिखावें और हमें दें अपने निश्चित पथ पर दृढ़ता के साथ आगे बढ़ते जाने का बल और साहस।

जो भाई हिंसात्मक क्रान्ति में विश्वास रखते हैं उनके लिए भी अपने बलिदान का यह ऐसा अवसर है जो शायद फिर न आ सके। सशस्त्र क्रान्ति में विश्वास रखते हुए भी वे अच्छी तरह जानते हैं कि उसे सफल बनाने के साधन आज सुलभ नहीं हैं। परन्तु नि:शस्त्र प्रतीकार या क्रान्ति का प्रशस्त मार्ग उनके लिए खुला हुआ है। उसके आश्चर्य या सेनापति भी देश में हैं और उन्हें हमारी महासभा ने संग्राम-संचालन की सारी ज़िम्मेदारी सौंप दी है। ऐसी दशा में उनका भी कर्तव्य है कि वे थोड़ी देर के लिए अपने विश्वास को काम में लाना रोक दें और अपने पूरे दल-बल के साथ इस समर-क्षेत्र में कूद पड़ें। क्या हिंसावादी और क्या अहिंसावादी दोनों के देश-प्रेम और स्वतंत्रता की लगन की परीक्षा का यह अवसर है, देखें कौन आगे बढ़ता है और सबसे पहले किसके चिता-स्थल परभावी इतिहासकार को शिला लेख मिलता है –'भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का प्रथम बलिदान।'

जैनियों के लिए दुर्लभ अवसर

संसार 'अहिंसा-धर्म' के प्रचार के लिए सबसे अधिक ऋणी जैनियों का है। जैन-ग्रन्थों में अहिंसा की जैसी तर्क-युक्त विवेचना मिलती है वैसी शायद ही किसी सम्प्रदाय के प्राचीन ग्रान्थों में मिलती हो। पर आज का जैन-जीवन सत्य-अहिंसा के बाह्याचार से ही ओत-प्रोत दिखाई पड़ता है। ऐसे समय में महात्मा गान्धीजी का अहिंसात्मक रण-आमंत्रण जैनियों की अहिंसा-भक्ति को कसौटी पर चढ़ा देता है। यहाँ मैं अपने एक जैन मित्र का पत्र प्रकाशित करता हूँ जिससे मालूम हो जायगा कि जैन-धर्म के सच्चे प्रतिनिधियों का कर्त्तव्य इस समया क्या है। पत्र महात्माजी के नाम लिखा गया है —

''पूज्यवर महात्माजी!

सादर बन्दे। कृपया मेरा नाम भी सत्याग्रहियों की सूची में लिख लें। मैं एक जैनी की, हैसियत से ऐसे अहिंसात्मक आन्दोलन में, जिसका सफल हो जाने पर करोड़ों मनुष्यों के

दुख दूर हो सकते हैं, भाग लेना अपना परम सौभाग्य समझता हूँ। मुझे दुख तो केवल इतना ही है कि आज जैन-समाज इस पवित्र मौक्षदायी आन्दोलन में, जिसमें उसे सबसे आगे बढ़कर भाग लेना चाहिए था, सबसे पीछे है। पशु-पक्षी और वनस्पतिकाय जीवों की रक्षा के लिए भी बलिदान होने की जो धर्म प्रेरणा करता है, उसके अनुयायियों को पंचेंद्रिय मनुष्य-प्राणियों की रक्षा के लिए बलिदान होने को कितना उत्सुक होना चाहिए, यह सरल सत्य भी आज जैन--जाति की समझ में नहीं आ रहा है।''

इस आन्दोलन के सफल हो जाने से न केवल भारत वर्ष का ही उद्धार होगा बल्कि संसार के सामने ऐसा उदाहरण पेश होगा जिससे अन्य पराधीन हिंसात्मक जातियाँ भी हिंसावृत्ति को छोड़कर अहिंसा के पथ पर चलेंगी और अपना उद्धार कर सकेंगी। भला, इससे अधिक सौभाग्य की बात जैन-समाज के लि क्या हो सकती है?

× × × × × ×

मेरी पत्नी ने जो कुछ वर्षों पहले गहनों और विलायती कपड़ों से लदी हुई थी, अब सब-कुछ छोड़ दिया है, और जहाँ हमारे यहाँ ओसवाल मारवाड़ी जैन-समाज में परदे का घोर साम्राज्य है, ता. २६ के स्वाधीनता के जुलूस में उसने परदा-प्रथा को तोड़कर स्वयं सेविका की हैसियत से भाग लिया। जब मैंने सत्याग्रहियों में नाम लिखाने के संबंध में अपना निश्चय प्रकट किया तो उसने सहर्ष इस विचार का स्वागत किया और अब वह स्वयं भी ऐसा करने के उत्सुकता प्रकट कर रही है। आशा है आपके आशीर्वाद से और जैन- धर्म के पवित्र उपदेशों से उसके हृदय में दिन-प्रति दिन शरीर का मोह छोड़ने का बल बढ़ता जायगा।

मैं आपको यह भी विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि इस आन्दोलन में जब कभी अंग्रेज़ भाइयों की गोली का शिकार होने का सुअवसर प्राप्त होगा तो आप मुझे पीछा हटते न पायेंगे।

मेरा पूर्ण विश्वास है कि मेरे आत्म बलिदान से अन्य जैन भाइयों को भी उत्साह मिलेगा।''

क्या इस पत्र की सजीव प्रेरणा अन्य जैन भाई-बहनों को भी अहिंसा की ऐसी आदर्श-सेवा के लिए अनुप्राणित करेगी? इस अहिंसात्मक संग्राम में भाग लेकर वे न केवल अपने धर्म की सेवा करेंगे बल्कि ३० करोड़ भारतवासियों को गुलामी की बेड़ियों से छुटकारा दिलाने के भी यशभागी बनेंगे।

हमारे व्यभिचारी नरेश

मध्य भारत के एक सज्जन ने कई व्यभिचारी राजाओं का उल्लेख करके महात्मा गांधी जी से पूछा था कि इन बातों को जानते हुए भी आप चुप क्यों हैं? कई राजा बूढ़े हैं, कइयों के अनेक रानियाँ हैं, लेकिन उनसे सन्तुष न होकर वे कई औरतों को उपरानियाँ (पासवान या रखेल) बनाये रखते हैं। क्या आप ऐसे राजाओं से भी कुछ आशा रखते हैं?

इसका उत्तर देते हुए महात्माजी 'हिन्दी नवजीवन' में लिखते हैं — ''मैं तो मनुष्य-

मात्र से पवित्र बनने की आशा रखता हूँ; क्योंकि अपने से भी मैं यही आशा रखता हूँ। इस जगत् में कोई भी पूर्णतया शुद्ध नहीं है। प्रयत्न से सब शुद्ध बन सकते हैं! कोई-कोई राजा व्यभिचारी हैं; क्योंकि प्रजा-जन भी व्यभिचार से मुक्त नहीं हैं। इसलिए हम राजाओं पर क्रोध न करें। अथवा राज्य-संस्थाओं का विचार करते समय, राजाओं के व्यक्तिगत दोषों को उसके साथ मिला न दें। यह तो इस बात का तात्त्विक निर्णय हुआ। परन्तु इससे कोई यह न समझ बैठे कि मेरे मतानुसार, हमारी राज- संस्थाओं के दोषों को या राजाओं के व्यभिचार आदि को मिटाने के लिए किसी भी तरह का कोई प्रयत्न ही न किया जाय। सामाजिक दोषों को मिटाने का जो भी प्रयत्न भारतवर्ष में होता है, उसका प्रभाव राजा लोगों पर भी कुछ-कुछ-कुछ तो अवश्य ही पड़ता है। इस प्रभाव का परिमाण निकालने का हमारे पास कोई यंत्र नहीं। सच बात तो वह है कि सामाजिक शुद्धि के हमारे प्रयत्न बहुत शिथिल हैं। इसलिए सामाजिक शुद्धि कीगति भी यत्किंचित् है। व्यभिचारी राजा के लिए विशेष प्रयत्न हो सकता है और वह है, ऐसे राज्य से उस राज्य की प्रजा का असहयोग। दु:ख है कि रिआया में इस प्रकार की जागृति और शक्ति का प्राय: अभाव है। यही नहीं बल्कि राजाओं के अधिकारीगण स्वार्थ के वश होकर राजाओं को उनके कुकर्मों में पूरी-पूरी सहायता करते हैं।

अब रही देशी-राज्य-संस्थाओं की बात। सो जैसे चक्रवर्ती, वैसे उनके माण्डलिक। हमारे देश की चक्रवर्ती संस्था आसुरी है। इसलिए १९२० से असहयोग के प्रचण्ड शस्त्र का उपयोग किया जा रहा है। चक्रवर्ती संस्था जब दैवी बनेगी तब राजा भी अपने आप शुद्ध हो जायँगे। यह सनातन नियम है। आज देशी राज्यों के विरोध में जितना आन्दोलन हो रहा है उससे चक्रवर्ती शासन दृढ़ बनता जाता है। क्योंकि आन्दोलन का एक अर्थ यह भी है कि देशी राज्यों को दबाने में चक्रवर्ती संस्था की सहायता मिले। आशा है, इस खुलासे को पढ़कर देशी राज्यों के बारे में मेरी चुप्पी को समझना मुश्किल नहीं रह जायगा। मेरा वह मौन असहयोग का उपांग है।''

मरुस्थल का आशाजनक शिक्षा-केन्द्र

पिलाणी (शेखावाटी) में बिड़ला-बन्धुओं-द्वारा स्थापित और उन्हीं के दान से सञ्चालित बिड़ला-कालेज है, जिसे दो-तीन बार देखने का मुझे सुअवसर मिल चुका है। यद्यपि यह एक सरकारी विद्यापीठ से संलग्न कालेज है तथापि इसके संस्थापकों और संचालकों को मैंने इस बात के लिए चिन्ताशील और भरसक प्रयत्नशील देखा है कि यह शिक्षालय राष्ट्रीय भावों से, राष्ट्रीय जीवन से, परिपूर्ण हो। मेरा खयाल है कि जबतक यह शिक्षालय अपने इस ध्येय के निकट न पहुँच जायगा तबतक बिड़ला-बन्धुओं को इसकी प्रगति से सन्तोष नहीं हो सकता। पिछले दिनों इस शिक्षालय का पारितोषक-वितरणोत्सव हुआ था जिसके कार्य विवरण से मालूम होता है कि बिड़ला-बन्धुओं ने अपने दान से ७ लाख का ट्रस्ट रजिस्ट्री करवा दिया है। दो छात्रालय २०० विद्यार्थियों के निवास के निमित्त बन रहे हैं। कालेज में व्यायाम और खेल-कूद की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। नित्य सुबह सब विद्यार्थियों

के लिए आध घंटे का शारीरिक पंक्ति-बद्ध व्यायाम अनिवार्य है। कालेज के अन्तर्गत बाद-विवाद सभा, साहित्य-सभा, सहयोग-समिति और नाटक-मंडली भी है। उत्सव के समय सभापतिजी ने विद्यार्थियों को आपस में संगठन देश-प्रेम और भातृ-स्नेह का भाव उत्पन्न करते हुए शिक्षा का सदुपयोग करने की सलाह दी। श्री घनश्यामदास जी बिड़ला ने अपने व्याख्यान में कहा कि हम लोगों को कालेज की वर्तमान प्रगति से सन्तोष न मान लेना चाहिए। हमारी तो यह आशा और चेष्टा है कि शीघ्र ही यह शिक्षालय विज्ञान एवं विविध उपयोगी उद्योग और कलाओं की शिक्षा देता हुआ राजस्थान में ज्ञान और विद्या का अखण्ड दीपक प्रदीप्त कर दे। हमारा आदर्श यह है कि यह संस्था विद्यार्थियों के जीवन में सादगी के साथ उच्च देश-प्रेम तथा सेवा का भाव भर दे। हमें इस संस्था में विद्यार्थियों की अधिक संख्या से उतना प्रयोजन नहीं है जितना कि थोड़े परन्तु गुण-सम्पन्न विद्यार्थियों से, जो कि जीवन में किसी ज्वलन्त उद्देश्य को सामने रखकर विद्योपार्जन करते हों।

इस वर्ष से कालेज के जीवन में कुछ आशाजनक सुधार हुए हैं। एक अनुभवी और उत्साही प्रिन्सिपल हिन्दू-विश्वविद्यालय से बुलाये गये हैं, राष्ट्रीय शिक्षा के अनुभवी व्यक्ति संचालक-समिति में लिये गये हैं और सबसे बड़ी बात तो यह है कि खुद घनश्यामदासजी भी इसे आदर्श-रूप देने में बहुत दिलचस्पी ले रहे हैं। मैंने उन्हें बड़ी चिन्ता के साथ अध्यापकों से शिक्षालय में खादी, सादगी और सेवाभाव के प्रवेश के विषय में बात-चीत करते हुए और उन्हें उत्साहित करते हुए देखा है। जिस संस्था में संचालकों के ऐसे उच्च भाव हों, धन की कमी न हो, वहाँ विद्वानों का और शिक्षा-शास्त्रियों का अभाव कैसे रह सकता है। और यहाँ इन सब का संगम हो वहाँ संस्था के शुभ भविष्य की आशा क्यों न रक्खी जाय? संस्थाओं के बनाव-बिगाड़ का आधार है वे लोग जिन पर उसके काम की सीधी ज़िम्मेदारी होती है। वे जितना ही अपने को संस्था के आदर्श के योग्य साबित करेंगे उतना ही संस्था का जीवन सफल होगा। जो शिक्षालय यह चाहता है कि मेरे विद्यार्थी त्यागी, देश-भक्त, कष्ट-सहिष्णु और सेवा-भाव वाले हों तो उनके सामने अध्यापकों-आचार्यों और गुरू-जनों का ऐसा ही आदर्श होना चाहिए। आशा है, पिलाणी कालेज के शिक्षक और अध्यापक इस सूत्र को अपने सामने से न हटने देंगे। धनकी विपुलता संस्थाओं में उन्नति में सहायक भी होती है और कई बार बाधक भी हो जाती है। शिथिल संचालकों में वह लापरवाही और अकर्मण्यता उत्पन्न कर देती है; कर्तव्य-परायण और जागरूक सञ्चालकों की शक्ति वह कई गुना बढ़ा देती है।

त्या.भू. और राजस्थान :

त्या. भू. राजस्थान की पत्रिका है। राजस्थान उसकी मातृ भूमि, राजस्थानी उसके कार्यकर्ता और राजस्थानी ही उसके प्रधान सहायक और पृष्ठ-पोषक हैं। फिर भी मुझे यह लिखते हुए दु:ख होता है कि राजस्थान के जीवन में वह अभी ओत-प्रोत नहीं हो पायी है, हालांकि उसके कार्यकर्ताअवश्य ही राजस्थानी जीवन की भरसक सेवा कर रहे हैं। लेकिन त्या.भू. की इस कमी की ज़िम्मेदारी से उसके राजस्थानी पाठक, प्रेमी विद्वान और लेखक भी नहीं बच सकते। वे यदि मन पर धार लें तो राजस्थानी साहित्य और जीवन से त्या. भू.

का एक-एक पृष्ठ भर दें। त्या.भू. के आरंभ के समय मैंने राजस्थानी विषयों की एक सूची तैयार की थी उसे यहाँ प्रकाशित कर देता हूँ और आशा रखता हूँ कि राजस्थानी भाई इन विषयों पर सदा-सर्वदा कुछ न कुछ सामग्री त्या. भू. के लिए भेजते रहेंगे, जिससे त्या. भू. में राजस्थान के लिए एक स्तम्भ निश्चित किया जा सके।

लेख-सूची

१. राजस्थान कैसे जगे?
२. राजपूत-संस्कृति
३. राजपूत-जीवन की विशेषतायें
४. प्रताप का जीवन-कार्य
५. तपस्वी प्रताप
६. चित्तौड़ की पुकार
७. चित्तौड़ की आह
८. मेवाड़ कब उठेगा?
९. मेवाड़ का गौरव
१०. मेवाड़ की वीराङ्गनायें
११. हल्दीघाटी
१२. चेटक की स्वामि-भक्ति
१३. मीरा का सन्देश
१४. मीरा की स्फूर्ति
१५ मेवाड़ के लोक-गीत
१६ मेवाड़ का
१७ भामाशाह का त्याग
१८ भामाशाह की मेवाड़-सेवा
१९ पद्मिनी
२० मेवाड़ की सतियाँ
२१ चित्तौड़ का किला
२२ अशर्फी पहाड़ी
२३ मेवाड़ के किसान
२४ मेवाड़ में बेगार-प्रथा
२५ मेवाड़ का व्यापार
२६ मेवाड़ के उद्योग-धन्धे
२७ मेवाड़ में खादी-कार्य के लिए क्षेत्र
२८ ऊपर माल में वस्त्र-स्वावलम्बन
२९ विजोलिया में पञ्चायत-संगठन
३० बेगृ में किसानों का आन्दोलन
३१ जागीरदारों की मनोवृत्ति
३२ जागीरों से हानि-लाभ
३३ छोटे ठिकाने रहें या मिटें?
३४ राजस्थान के देशी-राज्य
३५ स्वराज्य और देशी-राज्य
३६ नरेन्द्र-मंडल में देशी नरेशों की स्थिति
३७ देशी-राज्य और ब्रिटिश राज्य का सम्बन्ध
३८ सन्धियों का मूल्य
३९ देशी नरेश और उनकी प्रजा का सम्बन्ध
४० देशी राज्यों में प्रजा की उपेक्षा
४१ राजस्थानी युवकों को चेतावनी
४२ राजस्थानी युवकों के सामने कार्य
४३ राजस्थानी युवकों की स्वाभाविक शक्तियाँ
४४ राजस्थानी युवकों की कमज़ोरी
४५ आरोग्य की दृष्टिसे राजपूताना
४६ वीर जयमल और फत्ता
४७ राजपूत कौन थे?
४८ राजपूताने के आदिम निवासी
४९ राजपूताने में अछूतों का प्रश्न
५० विधवा-विवाह और राजपूताना
५१ मारवाड़ियों की सामाजिक कमज़ोरियाँ
५२ मारवाड़ियों में गुप्त रोगों का प्रभाव

११५ राजस्थानी नरेशों की साहित्य-सेवा
११६ राजस्थान की युद्ध-नीति
११७ राजस्थान का रनवास
११८ महाराष्ट्रियों की दृष्टि में राजस्थान
११९ राजपूत और महाराष्ट्र
१२० राजपूताना और गुजरात का सम्बन्ध
१२१ देलवाड़े की कला
१२२ आबू का आ
१२३ नक्खी तालाब का सौन्दर्य
१२४ परमारां की वीरता
१२५ राजस्थान की गर्जना
१२६ मुसलिम संस्कृति का राजपूताने पर प्रभाव
१२७ राजपूतों का युद्ध-आदर्श
१२८ राजपूतों का प्रतिज्ञा-पालन
१२९ राजपूतों का शौर्य
१३० राजपूतों के शौर्य का सदोष भाग
१३१ नर्मदा का संगीत
१३२ विन्ध्याचल का वैभव
१३३ महेश्वर की 'सरस्वती'
१३४ मण्डन मिश्र और शङ्कराचार्य
१३५ विक्रम का पराक्रम
१३६ भोज की साहित्य-आराधना
१३७ कालिदास की कला
१३८ उज्जैन का ऐश्वर्य
१३९ धर्म-नगरी उज्जैन
१४० मध्य भारत का सार्वजनिक जीवन
१४१ अहल्याबाई की धर्म-सेवा
१४२ अहल्यादेवी की शासन चातुरी
१४३ जसवन्तराव हुलकर की बहादुरी
१४४ सैंधिया और हुलकर
१४५ मध्य भारत पर मरहठा संस्कृति का प्रभाव
१४६ मध्य भारत दक्षिणी और अ-दक्षिणी
१४७ महाकाल का महा-मंत्र
१४८ उज्जैन में ज्योतिष विद्या
१४९ मध्य भारत की संधियाँ
१५० मध्य भारत के उद्योग-धन्धे
१५१ मध्य भारत में खादी का क्षेत्र
१५२ माही किनारे के भील
१५३ बाल-विवाह कैसे मिटे?
१५४ प्रजा का भय
१५५ प्रजा का आलस्य
१५६ प्रजा की बेफ़िकरी
१५७ निरूद्यमी किसान
१५८ मालवा में बअलाइयों के दुःख
१५९ बाग की गुफ़ायें
१६० साचा.....
१६१ मांडू की महिमा
१६२ मांडू की रूपमती
१६३ मांडवगढ़
१६४ बुंदेले वीर
१६५ मर्दानी लक्ष्मीबाई
१६६ मालवे में मिल-उद्योग
१६७ इन्दौर का मिल-उद्योग
१६८ मध्य भारत का राजनैतिक जीवन
१६९ मध्य भारत में शासन-सुधार
१७० मध्य भारत और राजपूताने के सार्वजनिक जीवन की तुलना

फाल्गुन, संवत् १९८६

'शत्रोरपि गुणा वाच्या'

हिन्दी के वयोवृद्ध साहित्य-सेवी पं० लज्जाराम जी बूँदी-निवासी के नाम से कौन हिन्दी-प्रेमी परिचित न होगा? आप वर्षों तक 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' (बंबई) के संपादक रहे हैं और कई पुस्तकों के रचयिता हैं। त्या.भू. के व्यवस्था-विभागवालों ने, प्रचार की धुन में, शर्माजी को भी अपने विज्ञापन आदि भेज दिये, जिनकी पहुँच देते हुए पंडितजी ने एक बढ़िया पत्र भेजा है। उसकी नकल नीचे देने को जी ललचा उठा है :—

''प्रणाम। अथवा कर्मणा वर्ण मानने वाले को जो लिखना चाहिए वह?

वैशाख सं.८६ की 'त्यागभूमि' और सस्ता-साहित्य-मंडल की पुस्तकों का सूचीपत्र मिला। सूचीपत्र मैंने रख छोड़ा है; जब आवश्यकता होगी, इसमें से पोथियाँ मँगवाया करूँगा।

आप-जैसे उच्च कोटि के देश-भक्तों के सिद्धान्त और उद्देश्यों के अनुसार पत्रिका बढ़िया है। सच तो यह है कि प्रचलित मासिक साहित्य में मैं इसे सर्वोच्च स्थान देता हूँ। किन्तु आप लोग उन्नति की घुड़ दौड़ में देश की टांग पकड़ कर हाइड पार्क में घसीट ले जाना चाहते हैं। महतर के हाथ का मलीदा खाना जिनको ग्राह्य हो, उनके लिए शायद इससे बढ़कर कोई पेपर न होगा। मुझ-जैसा दकियानूसी खयालवाला व्यक्ति न तो आपकी 'त्यागभूमि' को खरीद सकता है, और न मुझे उसके लिए कुछ लिखकर पत्र मुफ्त लेने की ममता है। बस इसलिए क्षमा मांगता हूँ। आरम्भ में आपका नमूना आने पर भी मैंने कुछ ऐसा ही निवेदन किया था। इतना अवश्य कहना चाहिए कि आपके विचार चाहे जैसे हों; किन्तु 'त्याग भृमि' का कल्याण 'शत्रोरपि गुणा वाच्या' से प्रशंसनीय है। अन्त में धृष्टता के लिए क्षमा कीजिए। मैं साढ़े पांच मास से बीमार हूँ। आयु भी मेरी ६६ वर्ष की है। थक गया हूँ, इसलिए स्व-मत प्रतिपादन करने के लिए लिखने-पढ़ने की अब शक्ति धीरे-धीरे चींटी की चाल से जा रही है। प्रसन्न रहिए।

भवदीय,

लज्जाराम महता

पुनश्च: -- ''इस कार्ड को यदि प्रकाशित करना अभीष्ट हो तो ज्यों-का-त्यों पूरा, अधूरा नहीं।''

पण्डितजी ने इस पत्र में जिस उदारता और विशाल-हृदयता का परिचय दिया है; यदि उसकी प्रतिध्वनि हमारे प्रत्येक सनातन-धर्मी और आर्य-समाजी कहे जाने वाले भाई के हृदय से उठने लगे, तो छोटी और थोथी बातों के लिए होने वाले आपसी झगड़े और कटुता बहुत-कुछ बन्द हो जायँ। पण्डित लज्जारामजी अपनी बृद्धता और साहित्य-सेवा के कारण मुझ-जैसे युवकों के लिए योंही नमनीय हैं, इसलिए मतभेद के कारण उनका मीठा उलहना भी 'त्या. भू.' के लिए आशीर्वचन ही है।

पाठकों से

देश में सत्याग्रह-संग्राम की जैसी धूम मच रही है और इस प्रान्त में इस संग्राम की जैसी कुछ ज़िम्मेवारी मुझ पर है और आ रही है, उसे देखते हुए मैं नहीं कह सकता कि कब मुझे कृष्ण-मन्दिर में जाने का सौभाग्य प्राप्त हो। मैंने अपने जीवन में सत्कर्म को मुख्य माना है और भरसक कर्ममय जीवन व्यतीत करने की कोशिश की है। अपने कर्तव्य का, अंगीकृत कार्यों का पालन करते हुए यदि अभी तक मुझे जेल से बाहर रहना पड़ा है, तो इसमें भी मैंने अपने को दुखी नहीं अनुभव किया है, और अब यदि कर्तव्य-पालन के लिए जेल जाना पड़े, तो वहाँ भी मैं आशा करता हूँ कि अपने को दुखी अनुभव नहीं करूँगा। मैंने कर्तव्य-पालन को जितनी प्रधानता दी है, उतनी परिस्थितियों को नहीं। परिस्थिति जैसी भी मिली है, मैंने उसका स्वागत किया है और उसी में भरसक अपने कर्तव्य को निबाहने की, अपने काम को सफल बनाने की चेष्ठा कीहै। १९२१ में जब ज़ाब्ता फौज़दारी के क़ानून को तोड़ने के लिए स्वयंसेवकों की भरती हो रही थी तब मैंने महात्मा जी से उसमें अपना नाम लिखाने की इजाज़त चाही थी। एक सुयोग्य सैन्य-सञ्चालक को तरह उन्होंने छूटते ही उत्तर दिया था - ''तुम तो 'हिन्दी-नवजीवन' का काम करते-करते ही जेल जा सकते हो।'' एक तरह से इसे मेरा दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि 'यंग इंडिया' और गुजराती 'नवजीवन' पर मुकदमे चले और उनके सम्पादकों को सज़ा मिली, पर उन्हीं लेखों का अनुवाद 'हिन्दी नवजीवन' में छापने पर भी मैं अछूता बचा रहा। संभव है उस समय मेरी सेवायें इसी लायक़ समझी गई हों। पर अब मुझ पर दूसरी तरह की — कांग्रेस-कार्य की सीधी ज़िम्मेवारियाँ आई हैं, और मैं तो नमक-कानून को तोड़ने वाले स्वयंसेवकों में अपना नाम भी लिखा चुका हूँ। दरअसल तो मैंने सबसे पहले आश्रम में ही महात्मा जी को अपना नाम दिया था; पर राजस्थान की आवश्यकताओं ने मुझे महात्माजी को पहली टुकड़ी में जाने के सद्भाग्य से वंञ्चित कर दिया। मैंने एक नम्र और आशाधारक सिपाही की तरह इसमें भी सन्तोष मानने की चेष्टा की है। अब मेरा ख़याल है, वह दिन दूर नहीं है, जब मैं नमक-क़ानून तोड़ने के लिए निकल पड़ूँ और सरकार की किसी जेल का महमान बनूँ। जेल-जीवन का अनुभव जबतक नहीं हुआ है, तब तक मैं अपनेको अधूरा देश-सेवक मानता हूँ। अतएव इस ख़याल से कि अब मुझे जल्द ही जेठ नसीब होगी, और इस महान् पवित्र संग्राम में अपनी छोटी-सी टूटी-फूटी आहुति देने का सुअवसर निकट आ रहा है, बड़ी खुशी हो रही है। इस समय कौन देश-भक्त ऐसा होगा, जिसे घर काँटे की तरह न चुभता हो और जेल महल की तरह न मालूम होता हो? इस पीड़ा का अनुभव वे लोग अच्छीतरह कर रहे हैं जो समर-क्षेत्र में कूद पड़ने के लिए एक पैर पर खड़े हैं परन्तु जिन्हें कार्य-वश रोक रखना पड़ता है। जब कि राष्ट्र के जीवन में ऐसा विकट समय आ रहा है कि, या तो हम यदि जी-जान से कूद पड़े तो ५-५० बरस आगे निकल जायँगे, या हिचकिचाते रहे और सोचते रहे तो ५-५० बरसे के लिए मुर्दा हो जायेंगे, तो कौन ऐसा भारतवासी होगा, जो या तो जेलों को भरने के लिए या युद्ध-सामग्री एकत्र करने के लिए न दौड़ पड़े?

'त्या. भू.' के पाठकों पर भीइस समय एक ज़िम्मेवारी है। 'त्या.भू.' ने अपने एक-एक

श्वास में जीवन, जागृति, बल और बलिदान की आराधना करने की चेष्टा की है। यदि उसका यह दावा सही है, तो उसका प्रत्येकपाठक इस समय स्वतंत्रता-संग्राम में किसी से पीछे न रहेगा। कम से कम राजस्थानी पाठकों को, फिर वे राजस्थान में रहते हों चाहे बाहर, मैं निमंत्रण देता हूँ कि वे अपना कदम जोर के साथ आगे बढ़ावें। जो स्वयंसेवक बनना चाहें वे कांग्रेस कमिटी के दफ्तर (अजमेर) से प्रतिज्ञा-पत्र मँगवालें और भरकर भेज दें तथा बुलौआ आने पर योग्य सेवा करने के लिए तैयार रहें। जो दूसरे कामों से छुट्टी न पा सकते हों वे जितनी कुछ आर्थिक सहायता कर सकें, करें। 'त्या.भू.' या कांग्रेस के दफ्तर के पते पर सहायता भेज सकते हैं। 'त्या. भू.' के दफ्तर में जो रकम पहुंचेगी उसकी पहुँच 'त्या. भू.' में छपती रहेगी।

संभव है कि अगला अंक पाठकों के हाथों में पहुँचने तकमैं जेल चला जाऊं। अतएव अभी से मैं पाठकों से निवेदन कर देना चाहता हूं कि मेरी अनुपस्थिति में वे 'त्या.भू.' को और उसके तत्कालीन सेवकों को उसी प्रेम भाव से देखते और अपनाते रहें। मेरा ख़याल तो यह है कि उस अवस्था में 'त्या.भू. ' का अधिक प्रचार करने और उसकी अधिक सहायता करने की उनकी ज़िम्मेवारी बहुत बढ़ जाती है। और मुझे विश्वास है कि यदि 'त्या.भू.' ने अपने इस थोड़े से जीवन में अपने पाठक-परिवार की कुछ भी सेवा की है, अपने उद्देश्य को कुछ भी पूरा करने का प्रयत्न किया है, तो वह उनके स्नेह और सहायता की पात्र अवश्य बनी रहेगी! मैं तो सदा 'निष्काम कर्म' का हामी रहा हूँ। जब तक मैं आज़ाद हूँ अपने अंगीकृत कामों के प्रति अपनी ज़िम्मेवारियों को पूरा करने की भरसक कोशिश करता हूँ जिस दिन मेरी लिखने, बोलने या काम करने की आजादी छिन गई, उस दिन मैं दूसरे जीवन में प्रवेश करूंगा। और इस बात पर विश्वास रखूँगा कि बाहर रहने वाले मित्र अपने कर्तव्य का पूरा पालन करने में कोई कसर न उठा रक्खेंगे।' ह. उ.

स्वतंत्रता की पुकार : राजस्थानियों की जिम्मेवारी

प्यारे राजस्थानी भाइयों!

सत्याग्रह-संग्रम का शंख बूढ़े तपस्वी ने फूँक दिया है और वह अपनी छोटी-सी परन्तु दृढ़-संकल्पी सेना को लेकर विजय के लिए चल पड़ा है। उसने कह दिया है कि मेरे जीवन में अब यह स्वतंत्रता का अन्तिम धर्म-युद्ध है। और इसलिए वह तथा भारत का प्रत्येक देश-भक्त इसमें अपनी अन्तिम आहुति देने के लिए तैयार हो रहा है। हमारा राजस्थान भी इसमें पीछे कैसे रह सकता था? कार्य-समिति के दवारा महात्माजी को सत्याग्रह का अधिकार मिलते ही हमारी प्रान्तिक कांग्रेस-कमेटी के सत्याग्रह करने का प्रस्ताव पास करके उसके संचालन की सारी सत्ता प्रान्तीय कार्य-समिति को दे दी थी और अभी अहमदाबाद में महासमिति की बैठक होने के बाद हमारी कार्य-समिति ने सत्याग्रह की तैयारी आदि के और संचालन-संबंधी सब अधिकार फिलहाल मुझे दे दिये हैं। यों तो प्रान्त के प्रधानमन्त्री के नाते मुझसे और मेरे उत्साही साथियों से जितना कुछ बन पड़ा है, सत्याग्रह की तैयारी के लिए उद्योग किया गया है। प्रसिद्ध साँभर झील के अलावा नमक

बनाने के दूसरे स्थान देखे गये हैं, नमक बनाने के प्रयोग किये जा रहे हैं, स्वयं-सेवक बनाने का प्रबल और सत्याग्रह का वातावरण उत्पन्न करने का काम भी जारी है;पर अब सारी ज़िम्मेवारी आ पड़ने से मेरा बोझ बहुत ही बढ़ गया है। मैंने बहुत कांपते हुए किन्तु आशावान हृदय से अपने दुर्बल कंधों पर बोझ लिया है। मेरी आशा का आधार है इस युद्ध की, इसके साधनों की पवित्रता, इसके आचार्य की घोर तपस्या, राजस्थान का बलिदान-पूर्ण इतिहास और अन्त में राजस्थानियों की देश-भक्ति। मुझे इस युद्ध में ईश्वर का प्रत्यक्ष हाथ दिखाई पड़ता है और इसीलिए मैंने इस भारी ज़िम्मेवारी को उत्साह और दृढ़ता के साथ अपने सिर पर ले लिया है। इस समय अस्वास्थ्य, कुटुम्ब,दूसरे अंगीकृत कार्य, अपना संकोच, विनय, अल्पता आदि किसी भी कारण से पीछे हटना या पीछे रहना मैंने एक दरजे की कायरता समझा। मानव-जीवन के इतिहास में स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए प्रारंभकिये गये ऐसे अपूर्व शान्ति-संग्राम में यदि मैं, मेरा कुटुम्ब-परिवार, मेरे और काम सब स्वाहा हो जायँ तो भी कोई बड़ी बात न होगी। यदि ये सब स्वतंत्रता के काम न आये तो फिर कब आयेंगे? इन भावों से प्रेरित होकर मैंने यह साहस कर डाला है। मुझे विश्वास है कि राजस्थान का प्रत्येक देश-भक्त स्वतंत्रता का प्रत्येक पागल, 'हिन्दी-नवजीवन', 'त्यागभूमि', 'सस्ता-मंडल', खादी और अछूत सेवा, आदि किसी भी कारण से मेरे प्रति स्नेह और सद्भाव रखनेवाले प्रत्येक राजस्थानी भाई-बहनों फिर वे हिन्दुस्तान में कहीं भी, किसी भी कोने में हों,मेरे द्वारा उठनेवाली राजस्थान की इस पुकार पर इस संग्राम में अधिक से अधिक हिस्सा लिए बिना न रहेंगे।

मेरी मांगे सिर्फ दो हैं...

जन और धन

जिनको ईश्वर ने धन दिया है उनके सामने उसके सदुपयोग का ऐसा स्वर्ण संयोग सदियों तक फिर न आवेगा। जिनको परमात्मा ने पुत्र, भाई, पुत्री या बहनें दीहैं उन्हें उसके ठीक अनुग्रह को सार्थक करने का फिर कौन सा मंगल-समय मिलेगा? महात्माजी के रूप में प्रत्यक्ष ईश्वर या स्वतंत्रता-देवी ही, हमारे घोर पापों का प्रायश्चित करने के लिए बलिदान का खप्पर अपने हाथों में लिये हमारा आवाहन कर रही है। ओ बलिदान कीइस पुण्य भूमि के सुपुत राजस्थानियो, बोलो-इस स्वातंत्र्य-यज्ञ में तुम्हारी आहुति कैसी होगी? तुम कायरों और गीदड़ों की श्रेणी में बैठना चाहते हो या वीरों और आत्म-त्यागियों की पंक्तियों में ऊंचा सिर रखना चाहते हो? तुम जीवन और आजादी चाहते हो, या मृत्यु और गुलामी? यदि जीवन और आजादी चाहते हो तो अपने धन--जन की आहुति लेकर समर-क्षेत्र में कूद पड़ो। सत्याग्रही स्वयंसेवक बनकर, कांग्रेस कार्यालय के प्रतिज्ञा पत्र पर हस्ताक्षर करके इस धर्म युद्ध में अपनी दुर्लभ नर-देह सार्थक करो।

प्रान्तीय कांग्रेस कार्यालय

अजमेर

२६/३/३०

आपका विनीत बंधु

हरिभाऊ उपाध्याय

राजस्थान-संदेश

प्रति अङ्क ≈)।	इच्छा हो वा कि अनिच्छा हो, हो प्रेम कि इससे द्वेष तुम्हें, है जीना तो सुनना होगा, नूतन-युग का "संदेश" तुम्हें!	वार्षिक मूल्य, ३ ॥)

वर्ष १ला) अजमेर कार्तिक शुक्ल ९ सम्वत् १९८६ रविवार १० नवम्बर १९२९ ईस्वी अङ्क २५ वां

वायसराय की घोषणा

राजस्थानी नेताओं का वक्तव्य

राजपूताना व मध्य-भारत के देशी राज्यों के कार्यकर्त्ताओं ने वायसराय की घोषणा और उस पर दिये हुए नेताओं के उत्तर के सम्बन्ध में निम्न लिखित वक्तव्य प्रकाशित किया है:-

"वायसराय की घोषणा और उस पर नेताओं के दिए हुए सम्मिलित उत्तर में देशी राज्यों की प्रजा का कुछ भी उल्लेख न होने का हम घोर विरोध करते हैं। बीकानेर महाराजा ने असोसिएटेड प्रेस के प्रतिनिधि से जो कुछ कहा है उससे पूर्णतया स्पष्ट हो गया है कि प्रस्तावित गोलमेज़ परिषद में देशी राज्यों की प्रजा के प्रतिनिधियों को बिलकुल स्थान नहीं मिलेगा। महाराजा सा० देशी राज्यों की प्रजा के प्रतिनिधियों को ऐसी परिषद में स्थान न मिलना, राजाओं के सहयोग की एक अनिवार्य शर्त के तौर पर रखना चाहते हैं।

यह आश्चर्य का विषय भी है और खेद का भी कि देशी राज्यों की ७ करोड़ प्रजा के महत्वपूर्ण दल की न केवल राज्यों और सरकार द्वारा अन्याय पूर्वक उपेक्षा की गई है, बल्कि उन भारतीय नेताओं द्वारा भी उपेक्षा की गई है जिनके स्वतन्त्रता के संग्राम मेंदेशी राज्य निवासी सदा निःसंकोच भाव से सहायता देते रहे हैं। अस्तु।

अब यह निश्चित रूप से स्पष्ट कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि देशी राज्यों के प्रजाजन इस अपमान को चुपचाप सहन नहीं करेंगे। उनके दृष्टि बिन्दु से वायसराय की घोषणा बहुत ही असन्तोष जनक और सर्वथा अस्वीकार करने योग्य है और महाराज बीकानेर ने जो उसकी व्याख्या की है, उसकी तो जितनी निन्दा की जाय थोड़ी है। ब्रिटिश भारत के नेताओं के लिये तो यह विश्वासघात करने से कम न होगा यदि वे भारत के विषय निर्माण सम्बन्धी किसी भी ऐसी योजना में भाग लेंगे, जिसमें देशी राज्यों की प्रजा के प्रतिनिधियों को अपनी राय देने का मौका न दिया गया हो।

हस्ताक्षर-विजयसिंह पथिक

प्रयागराज भण्डारी, मंत्री, मारवाड़ हितकारिणी सभा

जोधपुर'

एम. एल. वर्मा, मन्त्री पूर्वीय मेवाड़ किसान परिषद

(उदयपुर राज्य)

प्यारेलाल सारस्वत,जनरल सेक्रेटरी शेखावाटी युवक संघ

(जयपुर राज्य)

एस. डी. वर्मा, मन्त्री युवक मण्डल नीमच

स्वामी रामानंद, रामानंदाश्रम उज्जैन

(ग्वालियर राज्य)

एस. एन. शर्मा, मन्त्री हिन्दू सभा, भोपाल

जी. एल. वर्मा, मन्त्री , हाड़ौती हितबर्धक सभा कोटा

लादूराम त्रिपाठी, प्रेसिडेण्ट, युवक संघ, सलामपुर

(जयपुर राज्य)

नोट- अन्य राजस्थानी नेताओं के हस्ताक्षर लिये जा रहे हैं।

राजस्थान

(कलकत्ता)

वर्ष १ | अक्षय तृतीया संवत् १९९२ वि; | संख्या १

राजस्थान के नियम

ग्राहकों के लिये

१) "राजस्थान" वर्ष में चार बार अक्षय तृतीया, सावणी-तीज, दीपावली और वसंत पंचमी को प्रकाशित होता है।

२) "राजस्थान" का वार्षिक मूल्य सर्वसाधारण के लिये ५) रु० और 'राजस्थान रिसर्च-सोसाइटी' के सदस्यों लिये ३) रु० है। पत्र बी. पी. से नहीं भेजा जाता।

३) विदेशों के लिये वार्षिक मूल्य ९) रु० या १२ शिलिंग है।

४) एक अंक का मूल्य १॥ रु०

५) ग्राहकों को चाहिये कि वे अक्षय तृतीया से ग्राहक बने वैसे वे चाहे जिस अंक से ग्राहक बन सकते हैं।

लेखकों के लिये—

१) राजस्थान में राजस्थान के इतिहास भाषा और साहित्य, संस्कृति और कला इन्हीं विषयों से संबंध रखनेवाले निबंध प्रकाशित होंगे।

२) जिस अंक में लेखक कालेख प्रकाशित होगा वह अंक तथा उनके निबंध की २० मुद्रित प्रतिलिपियां लेखक के पास भेज दी जायगी।

३) लेखक के निबंध ज्यों के त्यों छापे जायंगे। उनमें तब तक संशोधन किया न जायगा जब तक अनिवार्य न प्रतीत हो।

४) लेख प्राप्त होने पर स्वीकृति-पत्र भेज दिया जायगा। अस्वीकृत लेख डाक व्यय आने पर वापस कर दिया जायगा।

५) लेख संबंधी पत्र-व्यवहार संपादक के नाम से और प्रबंध-सम्बन्धी पत्र-व्यवहार मंत्री, राजस्थान रिसर्च-सोसाइटी के नाम से करना चाहिये।

राजस्थान-संपादक

२७, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता।

वर्ष १	अक्षय तृतीया संवत् १९९२ वि.	संख्या १

लेख सूची

वर्ष १	सावणी तीज १९९२ वि.	संख्या २

लेख सूची

वर्ष १ **मार्गशीर्ष १९९२** **संख्या ३**

लेख-सूची

लेख-सूची

मारवाड़ी

(कलकत्ता)

वर्ष १ | जनवरी, १९३६ | अंक १

लेख-सूची

मारवाड़ी वर्ष १ अंक २

लेख-सूची

मारवाड़ी वर्ष १ अंक ३

लेख-सूची

मारवाड़ी वर्ष १ अंक ४

लेख-सूची

वन्दे मातरम्

राजस्थान

संचालक
श्रीमणिलालजी
कोठारी

अधिकारांक

सम्पादक
हरिभाऊ उपाध्याय
ऋषिदत्त मेहता

वर्ष २ एक ३१, ब्यावर, सोमवार चैत्र शुक्ला १५ सम्वत् १९९३ इस अंक का मू० ।=)

लखनऊ कांग्रेस के अधिवेशन पर ६ अप्रैल १९३६ को 'अधिकारांक' के रूप में प्रकाशित)

विषय सूची

तमन्ना
(लेखक- श्री राष्ट्रीय पथिक)

चढ़ लेने दे हृदय आज बलिवेदी पर चढ़ लेने दे!
त्यागक्षेत्र में सब सेना से एक कदम बढ़ लेने दे!!
धर देने दे; मां-चरणों में प्राण-पुष्प धर देने दे!
अपनेपन को भूल, आज सर्वस्व भेट कर देने दे!!
हां, घिरने दे, भाग्य शून्य में विपति घनों की घिरने दे!
अनय-दुर्ग पर सच्चाई की पीत पताका उड़ने दे!!
वीरभूमि की धूल धरे शिर भाव-सैन्य को बढ़ने दें!
पूर्ण शक्ति से उन्हें क्रान्ति के गिरि पर- निर्भय चढ़ने दे!!
क्षुद्र शक्ति को समर भूमि में दिल भर खूब बिचरने दे!
असिधारा में पड़ परवशता सर से पार उतरने दे!!
क्या परवाह डूब जायेगा, मरना है मर जाने दे!
माता हित मिट जाने वालों में तो नाम लिखाने दे!
जय है किस को मिली, स्थिर किस किस का यहां निशान हुआ!
जीवन उसके ही सफल हुआ, जो जीवन-हित बलिदान हुआ!!

इस सन्त की सीख

यद्यपि महात्मा गांधी को अब भारत का ही कहना विश्व के साथ अन्याय करना होगा क्योंकि वे अब जिस स्थान पर हैं-वे संसार की अमूल्य सम्पत्ति बन गये हैं। किन्तु एक विश्व की विभूति होते हुए भी, राजस्थान* को इस बात का गौरव प्राप्त है कि उसने एक ऐसे महापुरुष को जन्म दिया है जो न केवल भारत ही अपितु विश्व का कर्णधार बना है। लेकिन विश्व के वे और विश्व उनका होते हुए भी आज उसके हृदय में अपनी जन्मभूमि की कितनी चिन्ता है कि यह उस ऐतिहासिक भाषण के एक अंश से प्रतीत होगी जो उन्होंने दूसरी गोलमेज कानफरेन्स में भारत के एक मात्र प्रतिनिधि की हैसियत से दिया था। उस भाषण में भारत की मांग गागर में सागर के रूप भरी गई थी और जिसे मंजूर न होने की सूरत में भारत को जुदा रास्ता पकड़ना पड़ेगा इसकी सूचना उसी समय कर देनी पड़ी थी। अत: जो सूचना बृटिश को थी वही देशी नरेशों के लिए भी समझनी चाहिए।

देशी राज्यों के सम्बन्ध में महात्मा गांधी क्या चाहते हैं और कांग्रेस क्या चाहती है वह

** संपादकीय अनवधानता के चलते गाँधीजी का जन्म राजस्थान में लिखा गया है जबकि यह तथ्य सर्वविदित है कि गांधीजी राजस्थान में नहीं गुजरात में जन्मे थे। —लेखक*

इन पंक्तियों को पढ़ने से स्पष्टतः मालूम हो जायगा।

(इस समय के काल्पनिक शासन विधान में देशी राज्यों की प्रजा का क्या स्थान हो इस सम्बन्ध में महात्मा गांधी ने अपने ऐतिहासिक भाषण में राजाओं को सम्बोधित करते हुए कहा था कि....)

मैं उन महान् नरेशों के विचार के लिए एक या दो सूचनायें पेश करने का साहस करूंगा, और यह मैं निवेदन करूंगा जनता का, जनता की ओर से निर्वाचित, समाज की निम्नातिनिम्न श्रेणी का एक प्रतिनिधि होने की हैसियत से मैं उनसे विनती करूंगा कि वे जो कोई भी योजना तैयार करें और समिति के सामने स्वीकृति के लिए पेश करें, उनके लिए उचित होगा कि वे उसे योजना में प्रजा का भी उचित ध्यान रक्खें। मैं यह खयाल करता हूं और जानता हूं कि, उनके हृदयों में उनकी प्रजा का हित है। मैं जानता हूं वे उनके हितों की रक्षा का उत्साह के साथ दावा करते हैं। किन्तु यदि सब बातें ठीक हुईं तो वे 'प्रजाकीय भारत' - यदि ब्रिटिश भारत को मैं यह नाम दूं - के साथ अधिकाधिक सम्पर्क में आवेंगे और उस भारत के निवासियों के साथ उसी तरह समान हित स्थापित करना चाहेंगे, जिस प्रकार 'प्रजाकीय भारत' 'नरेशों के भारत' के साथ समान हित स्थापित करना चाहेगा। अन्त में, कुछ भी हो, दोनों भारतों में वस्तुतः कोई भी तात्विक का या सच्चा भेद नहीं है। यदि कोई एक जीवित शरीर को दो हिस्सों में बाँट सकता हो तो आप भारत को दो हिस्सों में बांट सकते हैं। अज्ञात समय से वह एक देश की तरह रहता आया है और कोई भी कृत्रिम सीमा उसे विभाजित कर नहीं सकती। नरेशों की प्रशंसा में यह कहना ही पड़ेगा कि जिस समय उन्होंने साफ तौर से और साहस के साथ अपने आपको संघ-शासन के पक्ष में घोषित किया, उस समय उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि वे भी उसी रक्त के हैं, जिसे कि हम-वे भी हमारे ही भाई-बंधु हैं। वे इसके विपरीत कर ही कैसे सकते थे? हमारे उनके बीच इसके सिवा और कोई अन्तर नहीं कि हम सामान्य व्यक्ति हैं और ईश्वर ने उन्हें विशिष्ट पुरुष, नरेश बनाया है। मैं उनकी भलाई चाहता हूं, मैं उनकी सब प्रकार की वृद्धि चाहता हूं, और मैं प्रार्थना करता हूं कि उनकी सुख-समृद्धि का उपयोग उनकी अपनी जनता, उनकी प्रजा की प्रगति में हो।

(कांग्रेस को बहुत से महाराजा आज हौवा मान बैठे है किन्तु कांग्रेस क्या है और उसने राजाओं की भी क्या सेवा की है कि यह बताते हुए महात्मा गांधी ने दूसरी गोलमेज के प्रथम भाषणों में कहा था कि...)

यदि महाराजागण मुझे आज्ञा देंगे तो मैं यह बतलाना चाहता हूं कि आरम्भ में ही महासभा ने अपनी भी सेवा की है। मैं इस समिति को याद दिलाना चाहता हूं कि वह व्यक्ति भारत का बृद्ध पितामह ही था, जिसने काश्मीर और मैसूर के प्रश्न को हाथ में लेकर सफलता को पहुँचाया था और मैं अत्यन्त नम्रतापूर्वक कहना चाहता हूँ कि ये दोनों बड़े घराने श्री दादा भाई नौरोजी के प्रयत्नों के लिए कम ऋणी नहीं हैं। अब तक भी उनके घरेलू और आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करके महासभा उनकी सेवा का प्रयत्न करती रही।

आशीर्वचन

जनाब ऋषिदत साहब,

एडीटर, 'राजस्थान' तस्लीम।

आपका खत पहुंचा, जिससे मालूम हुआ कि 'राजस्थान' का विशेषांक लखनऊ कांग्रेस वे वक्त निकलने वाला है। देशी राज्यों का मसला आजकल रोज व रोज मुल्क में अहमियत पकड़ता जा रहा है। बाज भाइयों को ऐतराज है कि इस मसले में कांग्रेस दिलचस्पी नहीं लेती और ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के बाशिन्दों को दो निगाहों से देखती है। लेकिन यह सही नहीं है। कांग्रेस ने हमेशा यह कहा है कि स्वराज्य न सिर्फ ब्रिटिश इंडिया के रहने वालों के ही लिये होगा, बल्कि उसमें देशी राज्यों के बाशिन्दे भी शामिल होंगे। ताज्जुब है कि ऐतराज करने वाले यह नहीं सोचते कि कांग्रेस जैसी जिम्मेवार जमात ऐसी मसनूई तकरीक क्यों कर जायज जारी रख सकता है। क्या देशी रियासतों के रहने वाले हमारे भाई नहीं हैं? क्या उनके और हमारे आर्थिक हितों में कोई फर्क है? कांग्रेस ने ऐसी बात कब कही? मसला जो कुछ है वह तरीकेजात का है। अगर देशी राज्यों के रहने वाले भाई मुझे मुआफ करेंगे तो मैं उनसे यह कहने की जुरअत करूंगा कि इस बारे में पहला कदम कुरबानी और ईसार का उन्हीं को उठाना होगा। देशी-राज्यों के राजाओं से कोई उम्मेद नहीं है और न आइन्दा होगी। इसलिये मेरी राय में तो यह तफरीक उसी तौर पर मिटेगी जबकि रियासतें भी ब्रिटिश भारत में शामिल कर ली जायें। अफसोस है लार्ड डलहौजी की पालिसी कुछ दिन और जारी नहीं रही। अगर रहती तो यह मसला हमारे सामने इस वक्त न होता, लेकिन ऐसा क्यों कर हो और कब हो? ब्रिटिश सरकार से तो अब उम्मीद रखनी फिजूल है। अब तो उनका साफ मफाद इस में है कि पराये नाम राजाओं को बाकी रक्खा जाय और उनका नाम लेकर अंगरेज प्रधानमन्त्री के जरिये देशी राज्यों में जो चाहें वे करें। यह चीज तो मुल्क को अख्तियारात मिलने पर ही हो सकती है। उस वक्त नरेशों से भी शायद उम्मीद की जा सकें कि वे अपना रवैया बदलें और रिआया को बजाय जानवर के मनुष्य समझें। लेकिन फिर भी कांग्रेस इस बारे में जो कुछ कर सकती है वह कर रही है और आइन्दा भी करेगी। कांग्रेस में रोज व रोज यह खयाल बढ़ता जा रहा है कि रियासतों के मामले में और ज्यादा दिलचस्पी ली जाय, लेकिन जैसा मैंने ऊपर कहा है कि इस बारे में पहला कदम कुरबानी और ईसार का इन्हीं को (देशी राज्यों के बाशिन्दों को) उठाना होगा, उठाना चाहिये। बहरहाल मैं अभी देशी रियासतों में रहने वाले भाइयों से फिर कहूंगा कि हम लोगों की, जो ब्रिटिश भारत में हैं, उनके साथ पूरी हमदर्दी है। सिर्फ हमदर्दी ही नहीं है, बल्कि हम इस तफरीक को मिटा देना चाहते हैं और मौका व वक्त आने पर जो भी सहायता हम दे सकते हैं उन्हें अवश्य देंगे।

''राजस्थान'' अखबार मैं नहीं पढ़ता, लेकिन मैंने उसकी तारीफें बहुत सुनी हैं और उसके लायक एडीटर से जाती तौर पर वाकिफ हूं। मैं 'राजस्थान' को इस विशेषांक के लिये दिली मुबारिकबाद भेजता हूं और उम्मीद करता हूँ कि वह मिस्ल साबिक के अपने

मकसद में पूरी कामयाबी हासिल करेगा और इस अखबार को और लायक एडीटर का हाथ मजबूत करने के लिये जो सहायता देशी-रिसायतों के निवासी दे सकें, जरूर दें।

– डा. सय्यद महमूद

'आजादी लेना है

तो.....'

आज राजस्थान मुल्क की आजादी के रास्ते में एक बड़ी समस्या के रूप में उपस्थित माना जाता हैं। अगर आजादी लेना है तो इस समस्या का हल करना ही होगा। मेरा यह निश्चित मत है कि आज की परिस्थिति में कांग्रेस का बताया हुआ नुसखा ही मुफीद हो सकता है। आशा है राजस्थान इस नुसखे का पूरी तरह से उपयोग करेगा।

– जमनालाल बजाज

हमें जीने का हक है

(लेखक-श्रीजयनारायण व्यास, भू. पू. सम्पादक 'अखण्ड भारत')

आवश्यकता पड़ी तो हम मरेंगे- यह हमारा पवित्र कर्तव्य है; पर हमारा यह भी हक है कि हम जिएं, हमारा यह अधिकार है कि मनुष्य की तरह जिएं।

हवा पानी, भोजन आदि हमारे जीवन के लिये आवश्यक साधन हैं। इनकी पशुओं को भी आवश्यकता रहती है। हमें ये साधन उपलब्ध होते हैं, पशुओं को भी होते हैं। हाँ, जहां हमें पशुओं की भांति ही ये साधन प्राप्त हैं वहां हम मनुष्य रहते हुए भी पशु हैं और हमें यह बात साफ तौर पर मान लेनी चाहिये कि जो लोग हमें निरे पशुओं की तरह रखते हैं वे जङ्गली हैं। ऐसे लोगों के न रहने से हमारी अवस्था अच्छा हो सकती है और हम यह कामना करें तो अनुचित नहीं कि हम ऐसे रक्षकों की रक्षा और शरण में न रहें।

मनुष्योचित अधिकार

पाशवोचित अधिकारों से आगे बढ़कर मनुष्यों को मनुष्योचित अधिकार प्राप्त करना ही चाहिए। मनुष्य बोलता है, अत: उसे बोलने की स्वतन्त्रता तो प्राप्त होनी ही चाहिए। मनुष्य लिख सकता है, उसे लिखने की आज्ञा भी रहनी चाहिए। मनुष्य सामूहिक प्राणी है, अत: उसे अधिकार होना चाहिए मिलजुल कर रहने का, संगठन बनाने का, मनुष्य को अपने व्यक्तिगत मामलों को अपनी इच्छानुसार निबटाने का हक रहना चाहिए, उसे इस बात का भी हक होना चाहिए कि वह धर्म-कर्म के मामलों में अपनी स्वतंत्र इच्छा का उपयोग करे। यदि उसे ये स्वतंत्रतायें प्राप्त नहीं हैं तो वह मनुष्य ही कैसा? सच तो यह है कि उस अवस्था में वह पशु से भी गया बीता है। एक बिल्ली स्वतन्त्रता पूर्वक इस घर से उस घर तक फुदक सकती है, मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता। एक गाय स्वतन्त्रता पूर्वक गोचर भूमि में चर सकती है, पर मनुष्यों को वह आजादी कहां? उसको तो विशेष प्रकार की बातों ही में

आजादी है। वे बातें हैं स्वतन्त्रता पूर्वक बोलना, लिखना, संस्थाएं बनाना, व्यक्तित्व को सुरक्षित रखना, इच्छानुसार धर्म का पालन करना आदि। इन्हीं बातों को नागरिकता के अधिकारों की प्राप्ति और मनुष्य की मौलिक स्वतंत्रता कहते हैं। ये जहां सुरक्षित हैं वहां मनुष्य-मनुष्य के रूप में बसते हैं। जहां ये बातें नहीं, वहां मनुष्य-मनुष्य तो है ही नहीं, पर सही मानी में पशु भी है या नहीं, यह बात विचारणीय ही है।

अधिकार प्राप्ति

जो मनुष्य मनुष्य होते हुए मनुष्योचित अधिकार प्राप्त न करे उसे मनुष्य नाम से पुकारा तो जाता है; पर यह हैं लाचारी; परन्तु उस मनुष्य, को मनुष्य होते हुए जो मनुष्य की तरह रहने नहीं देता। उसे क्या कहें ? 'राक्षस' तो बड़ा नाम होगा, पर कुछ इसी के आसपास वह हो सकता है। हां, इतना तो अवश्य कहना पड़ेगा कि जो राजा या राज्याधिकारी मनुष्य को मनुष्योचित अधिकारों से वञ्चित रखता है वह सभ्य पुरुष, भला आदमी सही मानों में मनुष्य नहीं है। खैर, वे कुछ भी करे जो समाज मनुष्योचित अधिकारों से वञ्चित है उसका तो यह कर्तव्य है कि वह अपनी अवस्था में परिवर्तन करे। इस स्थान पर मुझे देशी राज्यों की मूक प्रजा को दो शब्द कहने पड़ते हैं। देशी राज्यों की प्रजा को मनुष्योचित अधिकार प्राप्त नहीं है। इसका ब्यौरा देने की आवश्यकता नहीं। कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने भी इस बात को मान लिया है कि इतना इशारा ही काफी है।

साधन क्या हो ?

हमें अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिये निम्नलिखित साधनों की परम आवश्यकता है।

१. समाचार पत्र

२. संस्थाएं

इन्हीं दो साधनों से हम आंदोलन कर सकते हैं, पराये हमें अपने राज्यों के अन्दर प्राप्त नहीं है। अत: हमारा पहिला कर्तव्य यह है कि हम अपने राज्यों के अन्दर उक्त दो साधनों की प्राप्ति के लिए प्रयास करें।

बाहर और अन्दर

इसके लिए हमें रियासतों के बाहर और अन्दर से प्रयास करना पड़ेगा। कई लोग बाहर रहकर आवाज कसते है कि अन्दर काम करो, कई अन्दर से पुकार मचाते है कि बाहर से प्रयास करो। कभी-कभी बाहर और अन्दर की बातों को लेकर सिद्धान्तों की कुश्ती शुरू कर दी जाती है। यदि बहुत गम्भीरता से सोचें तो यह सैद्धान्तिक मतभेद कुछ व्यर्थ-सा है। वैसे तो भारत एक और अखण्ड है। इसमें कोई स्थान बाहर और अन्दर है ही नहीं। सभी स्थान अन्दर ही अन्दर है। वर्किङ्ग कमेटी ने बाहर और अन्दर के इस कृत्रिम भेदभाव का नाश भी कर दिया है; फिर भी सुबिधे के लिये यह मान भी लिया जाय कि अमुक स्थान बाहर और अमुक अन्दर है तो भी हमें दोनों स्थानों से आवाज उठानी ही होगी, यही नहीं काम भी दोनों स्थानों में करने होंगे।

हमें जीवित रहना है.

यदि बाहर से आवाज उठाकर हम अपने हक पास में तो अच्छा और अन्दर से प्रयास करके मनुष्यता के अधिकार प्राप्त कर सके तो भी अच्छा। हमें तो अपने अधिकार प्राप्त करना ही है। जब तक हम ये अधिकार प्राप्त न कर सके तब तक हमें अपने को मनुष्य कहने का हक नहीं है। मनुष्योचित अधिकार प्राप्त करने पर ही हम यह कह सकते हैं कि हम जैसे हैं। अन्यथा हमारा: जिना मरने से भी खराब है। पर हमें मुर्दा होकर जिन्दा कहलाने का हक नहीं है। हमें जिन्दा रहना है। हम जिन्दा रहेंगे और जीवित रहने के लिये जो भी साधन हमें प्राप्त हो सके उनका हम उपयोग करेंगे। हमारे सामने एक ही चीज है। वह यह कि हमें जीवित रहना है हमें जीवित रहने का हक है।

भारत भू मन मांहि बसी रहै

(रचयिता-प्रो. मुंशीराम शर्मा, एम. ए. 'सोम')

भाल पै धौल हिमाकृति चन्दन,
जासु छटा नभ मांहि लसी रहैं;
अङ्क में खेलति ब्रह्मजा, जन्हुजा,
भानुजा, सिन्धु सदा हुलसी रहै;
विन्ध्य बनावत मेखला मञ्जु,
सदा अरि-ही झङ्कार धसी रहैं;
पूजत जा पद सिन्धु सदा
सोई भारत भू मन मांहि बसी रहै।

जो सुजला, सुफला, कमलावति,
भानु प्रभा सो सदा विकसी रहै;
सारद सोम-सुधा मयि चांदनी
जा बसुधा तल पै बिहंसी रहैं;
प्रेम-पगी सुमनावलि माणिक-
रासि सदा जेहि क्रोड लसी रहै;
दिव्य विभूति प्रसुति-मयी
सोई भारत-भू मन मांहि बसी रहै।

शान्ति-प्रहारिण भ्रान्ति निवारिण,
जो जन-तारिणि पुण्य धनी रहैं;
शान्ति-प्रदायिनि जो वर-दायिनि,
देवि-स्वरूप सदा हुलसी रहै;
विश्व-विहारिणी सौख्य-प्रसारिणि,
शक्ति प्रताप-मयी बिलसी रहै;
पावन ज्ञान मयी बहि भावन
भारत भू मन मांहि बसी रहै।

भसुर गौतम-व्यास-प्रसू जेहि
अंक सदा सुखारासि घनी रहै;
भूपति राम, युधिष्ठिर, कृष्ण,
अशोक समेत 'अशोक' बनी रहै;
भामह से धनराजन की बलि सो
जो सदाधनराजि रसी रहै;
जो रही सेवित देवन सों
सोई भारत भू मन मांहि बसीरहै।

पैंतिस कोटि किलोल करै,
बिकराल करो करवाल कसी रहै;
भीम भयावनि गर्जनि सों
अरि-हीय कपै अपरासि खसी रहैं;
हा, वहि शक्ति-मयी जननी,
सुत, हों तउ बंधन मांहि फंसी रहै;
हैं के स्वतंत्र धरा बिहरै प्रभु,
नित्य यही उर आन बसी रहै।

हम सत्यवान बनें

देशी राज्य के प्रश्नों पर सम्मति प्रकट करने का मैं अधिकार नहीं रखता एवं न राजकीय-विधान की बातें अधिक समझता ही हूं मैं। मैं केवल इतनी ही बात जानता हूँ कि भारतवर्ष की सब प्रजा पराभूत है। इसमें न देशी राज्य की प्रजा अपवाद रूप है, न ब्रिटिश राज्य की। दोनों के पराभव का कारण भी एक ही है। वह यही कि प्रजा का सत्व नष्ट हुआ है। जब तक फिर से हम अपना सत्व प्राप्ति न कर लें तब तक सैकड़ों प्रकार के विधान बनाये जायं या रद्द किये जायं प्रजा के कल्याण के विषय में शंका ही रहेगी।

जिस एक वस्तु के प्राप्त होने से सब कुछ प्राप्त हो जाता है और जिस एक वस्तु के अभाव में सब मिला-मिलाया निकम्मा होता है- वह है प्रजा का सत्व। किस तरह हम सत्यवान हों, यही एक हमारे सब उद्देश्यों का उद्देश्य होना चाहिए।

इस उद्देश्य की सिद्धि में बाह्य साधन, रचना आदि की अनुकूलता सहायक हो सकती है। फिर भी, इस बात को हमें विस्तृत न करना चाहिये कि अन्त में तो यह सिद्धि हमारे अन्दर की स्थित शक्ति के आविष्कार द्वारा ही प्राप्त होने वाली है।

भूत मात्र के हृदय में बसने वाले सर्वव्यापी देवता हमारी इस अन्तः शक्तिको जागरित करें और हमें कल्याण का मार्ग दिखावें।

– किशोरलाल घ०मशरूवाला

देशी राज्य निवासी प्रजा का चिर कालक्रमागत हाहाकार

बूंदी के शहीद के साथ

(बूंदी की बर्ड पंचायत के कुछ भावुक लोगों ने सन् 1923 ई. के बूंदी-आंदोलन में मि. इकराम हुसेन की पाशविकता पर बलिदान होने वाले नानकजी भील के साथ निम्न-लिखित निवेदन पंचों की ओर से उस विश्व के स्वामी की सेवा में भेंजा था। पाठकों की जानकारी के लिये हम उसे नीचे दे रहे हैं।)

अर्जी

लेता जाओ जी नानकजी भील अरजी पंचां की!
दीजो म्हांकी अरजी जाकर परम पिता के हाथ
बूंदी की दुखिया परजा की कीजो सारी बात:
डूब्यो धरम, पाप छायो छै, नीत राज की खोटी
बालक बूढ़ा पचां रात दिन फिर भी मिले न रोटी;

तन ढकवा सारूं न चींथरा, नान्यां डोले नागी
फिर भी पापी म्हां कै ऊपर गोल्यां भर भर दागी!
राजा जी दारू पी सूतो गोलां लूट मचाई!
सब रइयत ने लूट लूट मोटी हेल्यां बणबाई!
भुगती धणी, दुखी म्हे रइयत अब तो कंठ तक डूबी
मरबा सारू सत्याग्रह पर अब तो डट कर ऊबी;
तूं अनाथ को नाथ कुबावै हे तिरलोकीनाथ!
छोड़ बड़ां ने, अब तो धर दे म्हां के माथे हाथ!
इतरी डाक खनवां छां में नानक थारी साथ!
दूजा डाक फेर आवै छै, कह दीजे या बात;
कह दीजे, जां तक म्हांकी होवेगी नहीं सुणवाई
मरबा ऊपर ऊबा छां सब बालक, लोग लुगाई!
धन्न-धन्न! थारी जननी ने मरयो देश के काम
चांद, सुरज, बूंदी छै जां तक थारा रहसी नाम!
डाबी का कुछ देश दहोरी बुरो देश को ताक्यो
दुज मोड़ो ओनाड़ो ठाकर थां पर फन्दो नाख्यो;
रामकिशन हाकम, इकरामो, सुपरडंट को डंक
नाजम धनालाल, यां माथे रहसी सदा कलंक;
छोरा छोरयां को धोंको मत ल्याजे रत्ती मन में
वे म्हां का छै म्हां वां का छां ई दुख सुख जीवन में
कै तो थांरी बलि सूं दुखा सूं म्हां छुट जावां छां
दूजूं मोड़ां बेगाम्हां भी सारा ही आवां छां!
अब तो दो में एक किनारा पर ही रहशी बात
कै तो या अन्याय मिटेगी कै म्हां का सिर साथ!

'बर्ड निवासी'

मरुधर मातारी वीनती

(लेखक -श्रीगणेशलाल व्यास, जोधपुर)

वीनती सुनोनी म्हारी मरुधर माय,
थोड़ी दयाचित लाय दुखियारी विखाय-
म्हांरी करजो थे सहाय म्हांरो हतों सनोनी
मीठी माय। टेक
घानड़ा निजांवा म्हेतो डीलड़ो सुकाय,
मरतोड़ा टाबरिया तांइ करे हाय हाय।
सियाले, उनाले राखां मन में हुलास,
घणी बांबां बिणियां बीनां मोकलो कपास।
घररी धणियां न मिले नाहीं चीर।
फाटगा धाबलिया राल्यां होगई लीरा लीर।
तोई फाटा चीथरां सूं गुजारो करां।
ठंड सूं ठरठरता बिना मौत ही मरां।
ठीकरा अडांणा बाजां घररा घणी,
भूखा मरतां आंख्यां धसगी टाबरिया तणी
सोनाहन्दी चिड़ियां सूं सूना होग्यो देश,
बणियांरे भोगलावे कर्षों हन्दा केश।
राजाजी लगायो नहीं हलवाणी रे हाथ।
म्हाराणीजी बारे निकले सेज गाड़ियां साथ
खेतड़ा जोते न कोई भणो न गुणो,
दारूड़ा पीए ने मोटा मारूड़ा सुणो।
निकामा निठाला बैठा ठकरायां कर।
रोट्यां रा देवाल कर्षा भूंख सूं मर।
खाय पीय ने लारे लागी रावलारी भेट,
रोट्यांरा देवाल हो गया हिंडोलां सू हेठ।
म्हारी मोटी माय म्हाने मारग बताय।
शरणागत आयांरा दुख दालद मिटाय॥

देशी राज्य निवासी प्रजा का

चिरकाल-क्रमागत हाहाकार

बूंदी विनय

जाग बूंदीपति थारी प्रजा दुखारी रे, हाड़ा जागरे!
कांजर थारा राज मांयने लूट खसोट मचावेरे।
थाणदार सिपाही वासूं तनखापावेरे ॥ १ ॥ हाड़ां.
छोटा मोटा नौकर चाकर थारो जोर जणावेरे।
कुलड़ी, मलवा और हलसढ़ी साथ उगावेरे ॥ २ ॥ हाड़ा.
पांच बरस सूं चंदो रण को म्हां सूं जबरन जोड़ेरे।
जो सामां बोलां तो म्हां का माथा फोड़ेरे ॥ ३ ॥ हाड़ा.
दुखड़ो दिन दिन बढ़तो देख्यो म्हां पंचायत कीन्हीरे।
सब पंचां की राय मिली जब अरज्यां दीनीरे ॥ ४ ॥ हाड़ा.
'मदनमोहन' छै स्वारथी मन्त्री उलटो पाठ पढ़ायोरे।
तोपां और बूंदकां भाला ले चढ़ आयोरे ॥ ५ ॥ हाड़ा.
मुखिया, पंच,पटेल गांव सूं पकड़ पकड़ ले जावेरे।
हाथ हड़कड़ी खौड़ा बेड़ी पग पहरावेरे ॥ ६ ॥ हाड़ा.
अबलाओ पर शस्त्र चलाया दमन भयंकर कीन्होरे।
शूरवीर बूंदीपत हाड़ा! परिचय दीन्होरे ॥ ७ ॥ हाड़ा.
श्रीरघुवीर सिंह नरपाला काम सरे ना झांक्यारे।
दारुड़ी सूं मुखड़ो गोड़ो खोलो आंख्यारे ॥ ८ ॥ हाड़ा.
स्वतंत्रता को सागर उभड़यो करे कृषक यो विनतीरे।
हाथी सरखा बहे, गाडरी की कई गिनतीरे ॥ ९ ॥ हाड़ां.

(वरड़ आंदोलनके समय की) **- एक हाड़ोती हृदय कृषक**

मवाड़ विनय

मान मान मेवाड़ा राणा प्रजा पुकारेरे, राणा मानरे !
बिजोलिया की दुख की अरज्यां लिख लिख रैयत थाकीरे !
ऊजड़वा में कसर नहीं अब घड़ियां बाकीरे ॥ राणा.
उदयपुर चित्तोड़ बिजोली नवा पड़ गयागेलारे ।
सतवादी शीशोदवंश मत पाड़े बेलारे ॥ राणा.
दिल्लीपत आगे ना नमियो जीको जग यश गावेरे ।
एक ठिकाणा आगे अब क्यूं शीश झुकावेरे ॥ राणा.
रूस जार को पतो न लाग्यो सुण राणा फतमालरे ।
अब तो सोच विचार आपणो धर्म संभालरे ॥ राणा.
दुखतसागर में गोता खावे, थारी ऊपरमालरे ।
अन्त समय में साथ न जावे धन अरू मालरे ॥ राणा.
थूं जाणो मूं वश में करलूं ले कर में तरवाररे ।
सत्याग्रह के आगे हो जासी थूं लाचाररे ॥ राणा.
अन्यायी, खल, दुष्ट मशखरा ठग ठग माल उड़ावेरे ।
प्राणां सूं प्यारी प्रजा को काढ़ कालजो खाबेरे ॥ राणा.

(बिजोलिया आंदोलन के समय की) **– एक मेवाड़ी कृषक**

वर्ष-३, अंक २९ सोमवार, फाल्गुन शुक्ला ३, सं. १९९३ वि.

काश, तू आज होता

प्रताप! वीर प्रताप!! आज तेरी किन-किन बातों को हम याद करें? तेरे किन-किन गुणों का गुणानुवाद करें। तेरी वीरता, तेरा धैर्य, तेरी कष्ट सहिष्णुता, तेरी दृढ़ प्रतिज्ञा, तेरा स्वातन्त्र्य-प्रेम, तेरी विजय, ये तो सब ऐसी हैं जिनके ऊपर सैकड़ों कवि अपनी कलम छोड़ चुके हैं, हजारों विद्वान अपनी-अपनी विद्वता की सीमा लांघ चुके हैं, लाखों लेखक अपनी लेखन-शक्ति आजमा चुके हैं।

मैं तो तेरे उस छिपे गुण पर दो शब्द लिखूंगा जो उस भील-मित्रता के कारण संसार के सामने आया है। बस तेरी विजय वही थी, दिग्विजय गली में सगाई हुई थी, गली के सगा तू शत्रु से लोहा ले सका, उसी के बल तू शत्रू को नीचा दिखा सका और उसी के बल तू विजयी बना।

एकलिंग जी के समक्ष उस भील सरदार से सन्धि करते हुये, वचन-प्रवचन होते हुये उसे मित्र, सखा, संरक्षक, आत्म-रक्षक बनाते हुये तूने समझा था कि विदेशी सम्राट की अपेक्षा देशी-भील का संरक्षण कहीं अधिक मूल्यवान् है, स्थाई है, सुदृढ़ है। बस तेरी जय वही थी। तू धन्य है।

काश तू आज होता।

- कटार

मूल्य संघ शासनांक छ पैसा

अखण्ड भारत

(बम्बई)

वर्ष १ गुरुवार, १३ अगस्त, १९३६ अंक २०७

महिला आंदोलन की,

तह में

पूंजीवाद का प्रपञ्च

(ले. श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय)

भारत में इस समय भी पतनोन्मुख वर्गवादियों का प्राधान्य है। यह वर्ग बाद व्यावसायिक प्रगतिवादी आंधीमें अपनी मौत आप ही मर जाता- अगर, उसे साम्राज्यवाद की शरणमें लाकर जिन्दा रखनेका संगठित प्रयत्न न किया जाता। यही वर्गवाद भारतीय महिला जगत की गुलामीको मजबूत बनाने में मुख्यतम साधन बना हुआ है। महिलाओं की मांगे इसी पूंजीवादके रंग में रंगी हुई हैं। उनमें वास्तविकता नहीं है, केवल प्रदर्शन ही प्रदर्शन है। सम्पूर्ण आन्दोलन केवल कुछ उच्च वर्गीय स्त्रियोंके शौक व खेल खिलवाड़ का विषय बना हुआ है।

उनकी मांगे वास्तविकतासे छू तक नही गई। उदाहरणके लिये उनकी कुछ मांगोंकी परीक्षा कर लीजिये। उनकी सबसे बड़ी मांग स्त्रियों को सम्पत्तिक अधिकार मिलने विषयक हैं। क्या हिन्दुस्तान की स्त्रियोंके लिये इस प्रश्न का कुछ महत्व है? हिंदुस्तानकी ७५ प्रतिशतके आबादीके पास कोई भी सम्पत्ति नहीं है। एक औसतदर्जे के भारतीय की आय दो आने से अधिक नहीं। आबादीके ८० फीसदी लोंग कर्जों से दबें हुए हैं। ९०० करोड़ रुपयेका कर्जा केवल किसानों पर है। सम्पत्ति की तो कथा ही क्या, जिन्दा भर रहने के साधन तो उनके पास हैं नहीं। इसप्रकार जीवन और मृत्युके बीच टंगे हुए भारतीयों की स्त्रियों क्या सम्पत्ति के अधिकार की चर्चा भी कर सकती हैं?

दूसरी मांग है कि शिक्षा-विषयक। जब देशके मनुष्यों में भी केवल एक फीसदी ही पढ़े लिखें हैं उस देश की स्त्रियोंके लिये शिक्षा का प्रश्न विशेष महत्वपूर्ण नहीं हो सकता। जानबूझ कर अशिक्षित कौन रहना चाहता है? खानेके लिये पैसा न होगा तो शिक्षा पर कौन खर्च करेगा? शिक्षा की समस्या गरीबी के साथ है। वस्तुत: इन सब समस्याओं का मूल एक ही है- पूंजीवाद।

यह पूंजीवाद ही गरीबी का कारण है और गरीबी अशिक्षित रहनेको विवश करती है। तीसरी मांग ''मातृत्व और शिशु पालन'' की व्यवस्था सम्बन्धी पेशकी जाती है। इस मांग

का मूल भी वही है। जिस देशकी माताओंको पेटभर अन्न न मिले वह प्रसवकालमें जीवित कैसे रह सकती है? उनके लिये कितनेही मातृ-मन्दिर खोल दीजिये मृत्यु संख्या कम नहीं होगी। जिन बच्चोंको दूध नसीब न हो वह जिन्दा कैसे रहें?....... बच्चोंके मुखमें दूध नहीं दिया जा सकता। कुछ रहम दिल लोगोंकी उदारता पर एक जातिके समस्त बच्चे परवरिश नहीं पा सकते। कुछ उच्चवर्गीय दानियों का दान उनकी कीत्ति का कारण भले ही बन जाय, राष्ट्र के लाखों बच्चों को जीवन-दान नहीं दे सकता। इस महान् लक्ष्य की प्राप्ति के लिये महान् प्रयत्न करना पड़ेगा। महिला कान्फरेंसोंके थोथे प्रस्तावों से कुछ नहीं बनेगा। ये तो केवल चोंचलेबाजी है।

चौथी मांग यह पेश की जाती है कि स्त्रियों को भी पुरुषोंके समान अधिकार मिलना चाहिये। अभिप्राय यह कि जिस प्रकार उच्च वर्गीय पुरुष समुदाय अपने से निर्बल व्यक्तियोंका रक्त शोषण करता है, उसी प्रकार स्त्रियोंको भी अपनी बहनोंका खून पीनेकी इजाजत दी जानी चाहिये। गुलाम देशमें अधिकार-चर्चाका अर्थ इसके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है?

स्त्रियोंके राजनीतिक अधिकारोंका प्रश्न भी इसी प्रकार निष्प्रयोजक है। अधिकारोंमें प्रथम अधिकार मताधिकार है। जबतक धनवानोंको धनके बल पर मत खरीदने की छूट है तब तक सर्व साधारण के मताधिकारका कुछ अर्थ ही नहीं है। ऐसी अवस्थामें स्त्रियों को दिया हुआ मताधिकार केवल कुछ उच्च वर्ग के व्यक्तियोंकी शक्तिमें अभिवृद्धि करने का कारण बननेके अतिरिक्त कर ही क्या सकता है?

अत; मेरा निश्चित मत है कि स्त्रियों की जागृति का प्रश्न अनिवार्य रुपसे पद दलित निर्धन वर्ग के उत्थान के साथ सम्बद्ध है। उससे अलहदा नहीं है। आखिर ९ फीसदी स्त्रियां किसान और मजदूरोंकी स्त्रियां ही होती हैं। जबतक उन किसानों व मजदूरों का उत्थान नहीं होगा तब तक महिलाओंकी जागृति की.... प्रपञ्च है। जब तक साम्राज्यवाद व उसका सहोदर पूंजीवाद देश पर... रहेगा तब तक महिला आन्दोलन का... स्वरूप कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकता।

इस लेख द्वारा मैं, वर्त्तमान महिला आन्दोलन की कार्य कर्मियों को चेतावनी देना चाहती हूं कि साम्राज्यवाद केविद्यमान रहते भारतीय महिलाओं का कल्याण नहीं हो सकता यदि वह यथार्थमें अपनी बहनोंका कल्याण करना चाहती हैं तो उन्हें सबसे पूर्व साम्यवादी समाजके संगठन का प्रयत्न कराना होगा। इस मार्ग के अतिरिक्त उनके उद्धार का कोई मार्ग नहीं है।

किसानमहासभा का अधिवेशन

मनोनीत सभापति प्रोफेसर रंगा का भाषण

वर्ग जागृति की आवश्यकता पर जोर

आपने यह भी बताया कि किसानोंका मस्तिष्क रखने वाले धारा सभाओंके सदस्योंको

अपने विचार प्रकट करनेकी अधिक स्वतन्त्रता देनी चाहिये ताकि किसानोंका हित साधन होसके।

आगे चलकर आपने स्पेनके मजदूरों और किसानों का जिक्र किया और बताया कि फासिष्ट(पूंजीवाद सैनिक दल) के विद्रोह का उन्होंने विरोध किया है, चीनके युवकोंने भी दक्षिण चीन की स्वतंत्रता की रक्षाके लिये शस्त्र उठा लिये हैं। १९१९-२० ब्रिटिश खानों के मजदूरोंने भी रेल या जहाजसे कोयला भेजना ना मंजूर कर दिया, जब लाल रूस कर स्वेत प्रतिबन्ध लगा था। इसी प्रकार हमारे किसानों को अपनी मांगे मंजूर करानेके लिए जोर देना चाहिये। हम शस्त्रास्त्र काममें नहीं ला सकते, न लाना चाहते हैं। अत: हमारा त्याग ही हमारा बल होगा, त्याग और कष्ट सहन के बल पर हम आगे बढ़ सकते हैं।

× × × × × ×

आपने बताया कि हमें चुनाव तथा मन्त्रीमण्डलके निर्माणके बाद उनसे यह मांग करनी चाहिये कि वे भूमिका, प्रणाली में परिवर्तन करें, किसान की कर्जदारी का काम करें, दुष्काल पीड़ित क्षेत्रोंमें आब पाशी अच्छी व्यवस्था करें जमींदारी और रैयतवारी किसानों को एक सा व्यवहार दें ऐसी मांगोंकी पुष्टिमें हमें जोरदार प्रचार शुरू करना और अपनी परिषदों और भूमिकर कार्यालयोंमें जत्थे ले जा जाना चाहिये,यदि दोनों ओर सुनवाई न हो तो जनता में प्रचार और जागृत करके अपनी मांगे पूरी करानेका प्रयत्न करना चाहिए।

आगे चल कर आपने बताया ऐसी स्थिति आजाय कि असहयोगके सिवा हमारे पास कोई चारा ही न रहे, तब किसानोंको सत्याग्रह करनेको कहा जायगा। किसान दो मास तक लगान अटका सकते हैं। फिर अदालतोंमें अर्जिया दे सकते हैं। जंगल सत्याग्रह का भी आपने जिक्र किया और कहा कि किसानोंके असहयोगसे शासन को अत्यन्त अड़चनोंका सामना पड़ सकता है।

श्रीयुत रंगाने कहा कि कोई भी वस्तु स्वत: बुरी या भली नहीं होती। वर्ग जागृति की भी यही अवस्था है। धनी लोग और जमींदार सावधान हैं और उनकी सर्तकता मनुष्यता का विकास नहीं होने देती। अत: यह बुरी बात है। अभी हमारी वर्गीय जागृतिका पूरा विकास नहीं हुआ है, उसके विकसित होने पर विशेष स्वार्थोंकी धर्म, समाज या राजनैतिक दृष्टि से लूट न हो सकेगी।

अन्तमें आपने वाइसराय तथा महात्मा गांधी की ग्राम्य सेवाओंकी प्रशंसा की और कहा कि यदि वाइसराय वास्तवमें किसानों का हित चाहते हैं तो उन्हें हमारे शत्रुओं की सहायता नहीं करना चाहिये।

महात्माजीके सम्बन्धमें आपने बताया कि वे किसानोंके आदमी हैं और उन्होंने किसानों की वास्तविक सेवा का कार्य शुरू किया है।

राजस्थानी

(कलकत्ता)

भाग ३ | जनवरी १९३९ ई. | अंक १

सूचनिका

१. महाराणा प्रताप
२. श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा
३. श्री चिन्तामणिजी के मंदिर की प्रतिमायें

भाग ३ | अक्टूबर १९३९ ई. | अंक २

सूचनिका

भाग ३ जनवरी १९४० ई. अंक ३

सूचनिका

Regd No.
१३८

रियासती

देशी राज्यों की निर्बल प्रजा का सबल साप्ताहिक

जगदीश प्रसाद माथुर ''दीपक''-प्रधान सम्पादक, प्रकाशक एवँ

मुद्रक के लिये राजस्थान प्रेस अजमेर में मुद्रित

वार्षिक मूल्य ४) **इस प्रति का-)**

६ मास का २ ॥)

वर्ष २ } **अजमेर, बुधवार ता. २० दिसम्बर सन् १९३९** **{ अंक ४८**

रियासतों में अब अंग्रेज दीवान नहीं भेजे जायंगे।

नई दिल्ली (डाक द्वारा)

अब यह दृढ़ता पूर्वक कहा जा सकता है कि देशी रियासतों में अंग्रेज दीवान भेजने की नीति को उच्चाधिकारियों ने तिलाञ्जलि दे दी है। अत: अब जहाँ २ पर भी दीवान की आवश्यकता होगी वहां अंग्रेज को न भेजा जाकर किसी भारतीय रिटायर-हेण्ड को ही भेजा जायगा।

इस नीति परिवर्तन के मुख्य दो कारण हुए। प्रथम यह कि फेडरेशन अब पुराने जमाने की बात हो गई। किसी को भी अब यह विश्वास नहीं है कि फेडरेशन का अब पुनर्जन्म होगा, द्वितीय यह कि अंग्रेज दीवान भेजने की नीति के कारण ब्रिटिशों की काफी बदनामी हुई। एक अंग्रेज दीवान के बने रहते रियासतों में वही सोलहवीं शताब्दी बनी रहे, वैसी जुल्म ज्यातिये होती रहे, नागरिक अधिकारों पर वैसे के वैसे ही प्रहार होते रहे और राजाओं की रंगरेलियाँ भी वैसी की वैसी ही बदस्तूर कायम रहे इन वाकयातों ने अंग्रेज जाति को काफी बदनाम किया। वैसे जहाँ तक अंग्रेज दीवान को भेजने में जो मुख्य हेतु था, उसके लिए अनुभवों ने बताया है कि अंग्रेज दीवान की अपेक्षा भी भारतीय दीवान अधिक लाभदायक साबित हुआ है। राजकोट के मि० केडल और दरबार बीराबाला इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। मि० केडल वह अमानुषिक अत्याचार और दमन नहीं कर सका जितना दरबार वीराबाला ने किया है इसी प्रकार मि० केडल वह पैतरे बाजी नहीं कर सका जैसी की दरबार वीरावाला ने करी। अत: इन सब उदाहरणों को सामने रख कर और अंग्रेज दीवानों के विरुद्ध देश व्यापी उठे आंदोलन को देख कर अब रियासतों में अंग्रेज दीवान को भेजने की नीति में तबदीली करदी गई है।

सिरोही में अंग्रेज दीवान मि. मेक्रेगर के स्थान मि. सिन्हा का चुना जाना तथा जयपुर के अंग्रेज दीवान के स्थान भारतीय दीवान की नियुक्ति मुख्यत: इसी परिवर्तित नीति के कारण है। अत: अब 'हल्दी लगे न फिटकरी रंग चोखो ही आवे' की नीति बरती जायगी।

प्रजा सेवक

(जोधपुर)

राष्ट्रीय हिन्दी साप्ताहिक

ता. ३१ दिसम्बर १९४५

राजस्थान का विद्यार्थी आंदोलन

(लेखक - श्री हुकमराज मेहता, जोधपुर)

राजस्थान का पिछड़ा हुआ विद्यार्थी इस वर्ष उठ खड़ा हुआ है। रजवाड़ी निरंकुशता और पिछड़ेपन को चुनौती देता हुआ वह अपने संगठन बना रहा है। उन विद्यार्थियों के सपने आज सच्चे होरहे हैं जो इस अवस्था को लाने के जोश में अपना सर्वस्व बाजी पर लगाने कभी नहीं हिच किचाए - जिन्होंने अपनी पढ़ाई और भावी जीवन को खतरे में डाला। विद्यार्थोयों का यह नव-जागरण किसे नया सन्देश, नया जोश नहीं दे रहा है!

जागृति और चेतना की नई लहर

इसी वर्ष उदयपुर के संगठित और साहसी विद्यार्थियों ने नई लगने वाली फीस के विरूद्ध डट कर मोर्चा लिया। भरतपुर के बांके विद्यार्थी अपनी यूनियन के हकों के लिए सफलता पूर्वक लड़े। 'जङ्गल धर बादशाह' के प्रतिक्रियावादी गढ़ के विद्यार्थी भी एक बार आत्म सम्मान के लिए उठे। मारवाड़ का विद्यार्थी आन्दोलन भी अपनी चहुँमुखी उन्नति के लिए स्वाधीनता, शान्ति और प्रगति के झण्डे के नीचे आगे बढ़ रहा है यदि यहां के प्रमुख विद्यार्थी कार्यकर्त्ता अधिक समझ और उदारता मे काम लेते तो जोधपुर बहुत ही आगे बढ़ गया होता। लेकिन अब भी जोधपुर बहुत कुछ कर सकता है। यहां एक स्वतन्त्र विद्यार्थी आन्दोलन जन्म ले चुका है जो राजनैतिक दलों, दलबन्दी से दूर रहने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध है जिसमें सभी विचारों के विद्यार्थियों के लिए स्थान हैं। इस वर्ष जागृति की जो लहर आई है इससे राजस्थान का कोई कालेज या स्कूल अछूता नहीं बचा है। रमणी और अबला कहकर कल जिसे अपमानित किया जा रहा था वही राजस्थानी तरुणी आज बगावत का झण्डा लेकर अपने भाइयों के आगे २ चल रही है।

लेकिन देश में फूट

लेकिन इस अभागे देश में जो होता वह सब अच्छा ही नहीं होता। सदियों गुलामी ने यहाँ द्वेष, अविश्वास फूट और क्षुद्र स्वार्थों की शक्तियां पैदा कर दी हैं जो हमेशा राष्ट्रीय

हितों में बाधा डालती है, प्रगति के मार्ग में रोड़ा बनती है। एक जबरदस्त जागृति और चेतना के साथ २ सारे हिन्द में तेजी से गिरोह बन्दियां भी हो रही हैं। समूचा राष्ट्र परस्पर विरोधी टुकड़ों में बंटता जा रहा है। ब्रिटिश भारत का विद्यार्थी आन्दोलन आज खण्ड २ हो एक दूसरे से लड़ रहा है, जिन पूजनीय नेताओं से यह उम्मीद की जाती है कि वे इस सर्वनाश को रोकेंगे, स्वयं इस के शिकार होकर आग में घी डाल रहे हैं जान में या अनजान में। एक समय था जब पं० नेहरू ने अखिल भारतीय छात्र संघ का उद्घाटन किया था और मि० जन्ना उसके सभापति थे। देश के हिन्दू और मुस्लिम छात्र स्वाधीनता, शान्ति और प्रगति के झण्डे के नीचे एक होकर साम्राज्यवाद से जूझ रहे थे। लेकिन आज तो कांग्रेसी विद्यार्थियों का अपना संगठन 'स्टूडेण्ट कांग्रेस' है, मुसलमानों का अपना फेडरेशन और कम्युनिस्ट व उसके साथ २ काम करने वालों का पुराना फेडरेशन - और भी कई छोटे छोटे संघ हैं। फूट के दलाल चाहते हैं कि देश के हर भाग में फूट पैदा हो जाय। उन्हें देश की, विद्यार्थी आन्दोलन की उतनी चिन्ता नहीं जितनी अपनी गुट्ट बन्दी की।

फूट परस्तों से बचें

राजस्थान का यह उठता हुआ तरुण आन्दोलन बड़े पशोपेश में है, वह इधर जावें या उधर - सभी पक्ष उसे अपनी ओर खींच लेने के लिए प्रयत्न शील है। यदि आज हम लोगों ने समझ और दूरदर्शिता से काम नहीं लिया, यदि हम दल गत संकीर्णता के शिकार हो गए तो हम बीसीयों विद्याथिओं की कुर्बानियों पर, सैकड़ो के अथक परिश्रम पर और हजारों की आशाओं पर पानी फेर देंगे। वे सपने एक बार फिर टूट जाएगें जिन्हें पूरा करने के लिए हम रियासती निरकुशता से संघर्ष करते आ रहे हैं और जो आज पूरे होते दीख रहे हैं। यदि ब्रिटिश भारत के फूट के कीटाणु यहां सफल हो गए तो वह काम हमारी बेवकूफी से पूरा हो जाएगा जिसे करने में रियासती शासक असफल हो रहे हैं। राजस्थान शक्ति और शौर्य का प्रदेश रहा है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि राजस्थान के बांके वीर लड़ने में कभी किसी से कम नहीं रहे - लेकिन इतिहास यह भी बतलाता है कि राजस्थान वासियों ने अपनी शक्ति को आपसी कलह में बरबाद कर दिया। हमें इतिहास सबक लेना है - कलह का इतिहास न दोहराया जाय।

हम सबके आभारी हैं

यह सत्य है कि हम में से बहुत सों को आजादी और विद्यार्थी आन्दोलन का सबक 'स्टुडेन्ट फेडरेशन' ने सिखाया है। फेडरेशन हजारों विद्यार्थियों की कुर्बानी, बहादुरी देशभक्ति का ९ वर्ष का ज्वलन्त इतिहास है जो भुलाया नहीं जा सकता, न उन सेवाओं को ही छिपाया जा सकता है। यह भी सत्य है कि हममें से बहुतों को आजादी आन्दोलन का

पैगाम आज विद्यार्थी कांग्रेस ने दिया है, हमारी देशभक्ति को जगाया है, और यह भी सत्य है कि देश के अधिकांश मुसलमान विद्यार्थियों का अपना अलग सँगठन है जो उन्हें आजादी और प्रजातन्त्र का पाठ पढ़ा रहा है, और मुस्लिम जनता के माने हुए नेताओं का उसे भी आशीर्वाद प्राप्तहै, और दुर्भाग्यवश यह भी एक सबसे बड़ा सत्य है कि ये तीनों सबसे बड़े विद्यार्थी सँगठन आपस में लड़-झगड़ कर अपनी और राष्ट्र की शक्तियों का अपव्यय कर रहे हैं। देश भक्ति का तकाजा है कि यह तीनों और अन्य छोटे-मोटे सँगठन मिल कर एक हो जांय। यह राजस्थानी विद्यार्थियों का कर्त्तव्य हो जाता है कि इस एकता के लिए काम करें न कि उस फूट की आग में एक घड़ा घी का अपनी ओर से डाल दें। और यदि हम इसे बुझा न सकें तो स्वयँ इससे बचे रहें। कलकत्ता के बहादुर विद्यार्थियों ने एक होकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद से लोहा लिया, उन शहीद कांग्रेसी, लीगी, हिन्दू सभाई, कम्युनिस्ट और अन्य देश भक्त विद्यार्थियों के खून से एकता का पौधा सींचा गया है, जो

एकता खून से पैदा हुई है, थोथे

शब्द उसे न तोड़ पाए यही

हमारा पहिला कर्त्तव्य है। राजस्थान की विद्यार्थी एकता के बाग को पहले की तरह हम आज फिर खून पसीने से सींचे।

हम मिलकर सोचे

हम रियासती नागरिक दुहरी तिहरी गुलामी के नीचे कराह रहे हैं। हमारी अपनी समस्याएं हैं जिन्हें बाहर वाले अच्छा तरह महसूस ही नहीं कर सकते। हम सबका एक मोर्चा है न केवल ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ बल्कि उससे भी गए बीते राजतंत्र और सामन्तवाद के खिलाफ भी। आज हमें प्रारम्भिक नागरिक अधिकार भी प्राप्त नहीं हैं। हमारे प्रजा मंडल और परिषदें भी पूरी तरह पनप नहीं पाई हैं। उदयपुर में एकत्रित होने वाले साथियों को सोचना है कि इस अवस्था में वे वहाँ ब्रिटिश भारत के अनावश्यक झगड़े खड़े करेंगे? कांग्रेस और फेडरेशन के बखेड़े करेंगे? या एक स्वतन्त्र स्वस्थ और विस्तृत विद्यार्थी संगठन और आन्दोलन की नींव डालेंगे?

स्वाधीनता दिवस की प्रतिज्ञा

आगामी २६ जनवरी को, भारत की आजादी के लिये

कांग्रेस की ओर से जो प्रतिज्ञा ली जायगी वह इस प्रकार है -

'हमारा विश्वास है कि दूसरें लोगों की तरह भारतीय जनता को भी पूर्ण अधिकार है कि वह आजाद हो, अपने परिश्रम का फल प्राप्त करे तथा जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करे, ताकि उसे जीवन में उन्नति का पूर्ण अवसर मिले। हमारा विश्वास है कि यदि कोई सरकार जनता को अपने अधिकारों से वँचित करती है और उसे दबाती है तो जनता को यह अधिकार है कि उस सरकार को या तो बदल दे अथवा नष्ट कर दे। ब्रिटिश सरकार ने भारत में न केवल भारतीय जनता को आजादी से वंचित किया है, बल्कि उसका आधार ही जनता के शोषण पर कायम है; उसने भारत को आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक - सभी दृष्टियों से बर्बाद कर दिया है। अत: हमारा विश्वास है कि भारत को अवश्य ही ब्रिटेन से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेना चाहिए और पूर्ण स्वराज्य प्राप्त कर लेना चाहिए।'

'हम यह स्वीकार करते हैं कि आजादी प्राप्त करने का सबसे प्रभावशाली तरीका हिंसा कदापि नहीं है। भारत ने शांतिपूर्ण और उचित उपायों के द्वारा शक्ति तथा आत्म निर्भरता प्राप्त की है और इन्हीं पर अमल करने पर देश को आजादी मिलेगी।'

'हम पुन: भारत की आजादी की प्रतिज्ञा लेते हैं और पवित्रता के साथ निश्चय करते हैं कि जब तक पूर्ण स्वराज्य प्राप्त नहीं हो जायगा, तब तक अहिंसात्मक ढंग से संग्राम जारी रखेंगे।'

'हमारा विश्वास है कि अहिंसात्मक प्रणाली में आम तौर से और सत्याग्रह के लिए खास तौर से, गांधीजी द्वारा देश के सामने पेश किए गए और कांग्रेस द्वारा मन्जूर किये गये रचनात्मक कार्यों की आवश्यकता है। खादी, साम्प्रदायिक एकता और अस्पृश्य निवारण रचनात्मक कार्य के खास अंग हैं। हम प्रत्येक अवसर पर जाति और धर्म के लोगों में अच्छाई और भाईचारे की भावना को फैलाना चाहिए। हम उन व्यक्तियों के जीवन से गरीबी और अनभिज्ञता को दूर करने की कोशिश करेंगे, जिन्हें नजरअन्दाज किया गया है और उन लोगों के जीवन में हर क्षेत्र में उन्नति लाने का प्रयत्न करेंगे, जो पिछड़े और दबाये हुए हैं। हम जानते हैं कि हमें साम्राज्यवादी प्रणाली का नाश करना है लेकिन हमें अँग्रेजों से झगड़ा नहीं, चाहे वे सरकारी हों या गैर सरकारी।'

हम जानते हैं कि सवर्ण-हिन्दुओं और हरिजनों के भेद का अन्तर जरूर होना चाहिये और हिन्दुओं को अपने दैनिक जीवन में भेदभावों को तिलांजलि दे देनी चाहिये। ये

भेदभाव अहिंसात्मक प्रणाली के मार्ग में रुकावट पैदा करने वाले हैं। यद्यपि हमारे धार्मिक रास्ते अलग 2 हो सकते हैं तथापि हमें अपने आपसी सम्बन्धों में एक ही भारत माता की सन्तान की भांति बर्ताव करना चाहिये, जो समान राष्ट्रीयता, समान राजनैतिकता और समान आर्थिक लाभ के सूत्र में बधे हुए हैं।

'भारत के सात लाख ग्रामों के पुनर्निर्माण और जनता की बेहद गरीबी को मिटाने के लिए चरखा और खादी हमारे रचनात्मक कार्यक्रम के आवश्यक अङ्ग हैं। अत: हमें अपनी निजी जरूरतों के लिये खादी ही प्रयोग में लानी चाहिये और जहां तक सम्भव हो, ग्रामों की बनी हुई वस्तुओं का ही इस्तेमाल करना और दूसरों को भी ऐसा ही करने की प्रेरणा देनी चाहिये। हम रचनात्मक-कार्यक्रम के कुछ अङ्ग अथवा अङ्गों की पूर्ति के लिये अपनी पूरी शक्ति से काम करेंगे।'

'आजादी की अन्तिम लड़ाई में जिन हजारों साथियों ने बड़ी-बड़ी मुसीबतों को बर्दाश्त किया, अमानवीय सख्तियां झेली और अपने जीवन तथा सम्पत्ति की बलि दी, उन्हें हम श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।'

8 अगस्त, 1942 को अ. भा. कांग्रेस कमेटी ने जो प्रस्ताव पास किया था, उसे हम फिर दुहराते हैं। इसमें भारत की स्वाधीनता, विश्वशांति और सबके हित के लिये भारत से ब्रिटिश सत्ता को शीघ्र हटा लेने की मांग की गई है।

PRA JA SEWAK	१६-१-४६.	**सम्पादक**
Popular Hindi Weekly of Rajputana E. C. i:		**अचलेश्वर प्रसाद शर्मा**

मीरा

वर्ष ७] अजमेर २२-१२-४५ अङ्क ४६]

आजादी का केसरिया बाना

"जब मैंने सोचा कि अंग्रेज मेरे करोड़ों भूखे देशवासियों का शोषण कर रहे हैं, और इसी शोषण को सरल बनाने के लिए उन्हें अज्ञान और अशिक्षा के अन्धकार में रख रहे हैं, तो उनके प्रति दिल में घृणा हो गई। मेरी यह दृढ़ धारणा हो गई की भारत में विदेशी शासन अन्याय पर आश्रित है इस अन्याय को दूर करने के लिये मैंने अपना घर बार, परिवार और जीवन तक बलिदान करने की ठान ली। हम लोगों को जो कष्ट और यातनाएं सहनी पड़ी हैं, उन्हें कोई वेतनभोगी सेना क्या सहेगी? हमने तो पराधीन भारत की आजादी के लिये ही केसरिया बाना धारण किया था।"

-कप्तान शाहनवाज

<u>अंग्रेज विरोधी भरतपुर</u>

सामन्तशाही राजस्थान का अंग्रेजों से अन्तिम संग्राम

(लेखक - लोकनायक श्री युगल किशोर चतुर्वेदी)

यों तो सारे भारतवर्ष की भांति भरतपुर भी लगभग १२५ वर्ष से अंग्रेजों के अधीन रहता चला आ रहा है, परन्तु यह निस्संकोच्त्र कहा जा सकता है कि इस राज्य ने अंग्रेजों की अधीनता कभी बिना लड़े भिड़े स्वीकार नहीं की और स्वीकार करने के बाद भी समय २ पर अपना विरोध प्रदर्शित किया है।

यह तो इतिहास प्रसिद्ध बात है कि जिस समय अंग्रेजों की विश्वविजयिनी सेनाओं के सम्मुख भारतवर्ष के समस्त राजा व नवाब नतमस्तक होते हुए उनकी "सहायक-सन्धि" को स्वीकार करते चले आ रहे थे मुसलमान, मराठे व राजपूत शासक अंग्रेजों के अधीन होकर ही अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण रखने में समर्थ हो रहे थे - भरतपुर के योद्धाओं ने ही सब से पहले प्रबल प्रतापी लार्ड लेक का १८०५ के युद्धों में डीग और भरतपुर के किलों पर कड़ा मुकाबला किया था जिसके विषय में आज तक प्रसिद्ध है :-

डीग, भरतपुर, गढ़ कुम्हेर बांकी ब्रजभूमि राजधानी।
हो फ्रन्ट अंग्रेजों से अडबंग जट्ट ने जंग ठानी॥

देहली, अलीगढ़ और लासवारी के प्रसिद्ध युद्धों के विजेता लार्ड लेक को डीग के किले पर ही आटे दाल का भाव मालूम हो गया था, परन्तु रहा सहा गरूर भरतपुर के लौह-गढ़ से टकराकर चकनाचूर हो गया और तीन महीने तक घेरा डालने और कई कई बार आक्रमण करने के अनन्तर तत्कालीन महाराजा रणजीतसिंह से मित्रता की ही सन्धि करनी पड़ी जिसके अनुसार अंग्रेजों ने महाराज के अन्दरूनी मामलात में कभी भी हस्तक्षेप न करने का वचन दिया था।

अंग्रेजों की इस पराजय से भारत में उनकी शान को बड़ा जबरदस्त धक्का लगा था। यहां तक कि जब सन् १९१६ में अंग्रेजों ने नैपाल पर चढ़ाई की गयी तो वहां के राजा ने उपालम्भ के साथ कहा था कि 'जब अंग्रेज मनुष्यों के बनाये हुए, भरतपुर के मिट्टी केकिले को सर न कर सके तो ईश्वर के बनाये हुए इन पर्वतों के किले को क्या जीत सकते हैं। इंगलैण्ड और दूसरी विलायतों में भी इसकी काफी चर्चा रही थी। अंग्रेज स्वयं इतने भयभीत हो गये थे कि सन् १८२५ में घरेलू झगड़ों के कारण जब स्वयं यहां की राजमाता ने अपने पुत्र-उचित उत्तराधिकारी- को शासन सत्ता सुपुर्द कराने के लिये अंग्रेजों की मदद चाही तो, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के उच्च अधिकारियों ने भरतपुर के मामले में छेड़खानी करके अपनी मिट्टी किरकिरी न कराने की ही अपने अधीनस्थ अधिकारियों को सलाह दी थी। पर, जब उनको यह पूरा विश्वास हो गया कि यहां की दशा आंतरिक कलहों के कारण अत्यन्त नाजुक हो चुकी है और स्वयं भरतपुरी जनता ही उनका हस्तक्षेप चाहती हुई उनकी सहायता करने को उत्सुक है तब कहीं जाकर उनका आक्रमण करने का साहस हुआ।

इस प्रकार यद्यपि महाराज बलवन्तसिंह के समय में भरतपुर में अंग्रेजों की सता स्थापित हो गई थी परन्तु दोनों सरकारों में सम्बन्ध बराबरी का ही था। महाराजा बलवंतसिंह के देहान्त के बाद उनके 3 वर्ष की आयु वाले राजकुमार जसन्वतसिंहजी गद्दी पर बैठे। आपके नाबालिगी काल में यद्यपि अंग्रेजों की सहायता से शासन सूत्र संचलित होता रहा, परन्तु बालिग होते ही आपने सबसे पहले जो कार्य किया वह था भरतपुर में रहने वाले पोलिटिकल एजेण्ट को आगरा में रखवाना और अपने राज्य के आन्तरिक मामलों में उसका कोई हस्तक्षेप न होने देना। आप आगन्तुक अंग्रेजों को भी बहुत कम भरतपुर मेंठहरने देते थे और बाहर की मिला कर बिदा कर दिया करते थे। उस समय में अनेक अंग्रेजी फौजी अफसरों को रियासत में मोर का शिकार करने के अपराध में दण्ड दिये जाने की घटनाएं अभी तक गांवों में सुनी जाती हैं। सन् १८९३ में आपका स्वर्गवास हो गया और आपके बाद जो उत्तराधिकारी हुए वह दुर्व्यसनी होने के कारण अधिक राज्य नहीं कर सके। उनके। वर्ष के ज्येष्ठ पुत्र महाराज कृष्णसिंह गद्दी के स्वामी हुए और उनके स्थान पर पुन: नाबालिगी का शासन स्टेट-कौन्सिल द्वारा चलना आरम्भ हुआ।

इस अरसे में इन पंक्तियों के लेखक को अपने भरतपुर के छात्रावास में रहने वाले एक क्रांतिकारी श्रीअयोध्या प्रसाद जी के नाम की याद आती है जिनकी गिरफ्तारी का वारण्ट भी स्कूल में उस समय आया जब आप सर्टीफिकेट लेकर यहां से रफूचक्कर हो चुके थे।

महात्मा गांधी जी के अहिंसात्मक-असहयोग आंदोलन व खादी प्रचार का जोर बढ़ने पर वहां भी काफी प्रभाव पड़ा। राज्य के कई स्थानों से मिल की बनी हुई खादी दूर-दूर तक जाने लगी और स्थानीय लोग भी उसको पूरे तौर से अपनाने लगे। राष्ट्रीय पुस्तकें और चित्रों का प्रचलन बढ़ गया। यह स्वर्गीय महाराज कृष्णसिंह का जमाना था जिन में स्वयं समयानुसार राष्ट्रीय भावों का उदय हो चुका था। पूर्ण अधिकार मिलने के बाद अंग्रेजों के आधिपत्य व हस्तक्षेप को आप सहन नहीं करते थे। आपकी यही इच्छा थी कि आपके यशस्वी दादा महाराज यशवन्तसिंहजी की तरह बिना पोलिटिकल एजेण्ट के नियंत्रण के स्वतंत्र शासन करें। आप राष्ट्रीय नेताओं विशेषत: स्वर्गीय पूज्य पं. मदनमोहन मालवीय जी के समय-समय पर सम्पर्क में आते रहते थे। आपने स्वामी श्रद्धानन्दजी तथालाला लाजपतरायजी के निधन पर सार्वजनिक रूप से शोक प्रकट किया था। आपने कवि सम्राट रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भी हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के अवसर पर भरतपुर बुलाया था। मालूम तो यहां तक हुआ है कि आप श्री सुभाषचन्द्र बोस के भी सम्पर्क में आ चुके थे और कुछ राजाओं से मिलकर राजनैतिक विभाग के कड़ेबंधनों से मुक्त होने का भी चेष्टा करनी चाही थी। परन्तु अवाञ्छनीय घटनाओं के कारण आप शीघ्र ही अंग्रेजी सरकार के कोप भाजन बन गये और आपके विरुद्ध एक जबरदस्त इलजाम लगाया जिसका निराकरण भी आपने एक पुस्तक लिखकर किया था जो आगे चलकर भरतपुर में जब्त करार देकर मेकञ्जी द्वारा हथिया ली और जला डाली गई।

इस अभियोग में महाराज कृष्णसिंह हो भरतपुर से बाहर (देहली में) रहने को विवश होना पड़ा और वहां ही उनका प्राणान्त हो गया। इसके बाद भरतपुर में एडमिनिस्ट्रेटर के रूप में जो अंग्रेजी आधिपत्य जमाने की चेष्टा हुई उसका मुकाबला भी उसी अंग्रेज विरोधी भावना से ही किया गया। मैकेंजी का शासन बड़ा ही कठोर था। परन्तु उस समय भी सन् 30-31 के देशव्यापी राष्ट्रीय आंदोलन से भरतपुर अछूता न रहा था। मैकेंजी को बिदाई के समय काले झण्डे भी दिखाये गये थे।

मारवाड़ी-समाज-गौरव बाला

कुमारी सुधा गोयनका की कला साधना

(पं. माखनलालजी चतुर्वेदी)

नृत्य-निष्णांत बालिकाओं में, छै वर्ष की छोटी-सी कुमारी सुधा गोइनका भी है। नृत्य पर इन्हें अनेकों स्वर्ण पदक दिए गये हैं। कुमारी सुधा के साहस, सारल्य और संगीत का यह सम्मिलन निस्सन्देह गौरव की बात है और यह इसलिये विशोषत: कि कुमारी सुधा, प्रयाग में होने वाले अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन में भी गई थी, जहां संगीत विश्वविद्यालय की योजना निश्चित की गयी। उस संगीत सम्मेलन में, जहां कला पर पदक, विवेकहीन वर्षा की तरह नहीं बरस रहे थे किन्तु जहां कला कसौटी पर चढ़कर, कलाविदों की निष्णांत

रुचि की शस्त्र क्रिया पर चढ़कर, अपना गौरवपूर्ण स्थान पा रही थी, वहां कुमारी सुधा को, छोटीसी छै बरस की सुधा को, सर्व श्रेष्ठ प्रथम पुरस्कार के बाद का नृत्य में, अपनी बालिका स्पर्धिनियों में, द्वितीय पुरस्कार प्राप्त हुआ था। जहां अंगों और अनुभूतियों से अज्ञात देश- लड़कपन- में, कोमल कला इतनी सजगता से उतर रही हो, वहां पण्डित विश्वम्भर प्रसादजी का यह लिखना सर्वथा उचित है कि 'कुमारी सुधा गोयनका का नृत्य, संगीत परिषद का सबसे रोचक कार्यक्रम था।'

अपने गुणों और अपनी कलाओं के प्रति भोली, बालिका सुधा के शिक्षण की सफलता की बधाइयां, हम सुधा के शिक्षक की उन सजग, उन्मादमयी, मनोहर तालों को देंगे, जिनसे उठ कर संगीत की मनोहरता, बालिका सुधा के अंग प्रत्यंगों को परिष्कृत और पुरस्कृत कर उठीं। जिन बातों ने, सुधा में विशुद्ध जीवन की शक्ति, आत्म-संयम, का बल, और संगीत पर हिन्डोलित हो उठने का रक्त पान किया। प्रयाग की 'अखिल भारतीय' परिषद के बाद, कु० सुधा नागपुर में भी शीघ्र ही पुरस्कृत हुई। बेटी सुधाने, निस्सन्देह अपने समाज का गौरव बढ़ाया है। कथन का कंजूस मैं, -परिवार को तो अभी इतने शीघ्र बधाइयां न दूंगा। उस पथ में तो श्रीमती राधादेवीजी तथा श्री किशनलालजी से, अभी और राष्ट्रतेज और तपस्या चाहूंगा। हां बेटी सुधा पर, मैं बाग-बाग हूँ, प्रसन्न हूं।

वेश्या से भी हीन-अधिकार नारी

कानून उनके विवाह को भी नहीं मानता

(राजस्थान में दासियों की दुरावस्था पर श्रीमती सुचिता कृपलानी)

दरोगा जाति राजपूत लोगों में प्रचलित वैश्या वृति व रखेली प्रथा का कलुषित परिणाम है। शताब्दियों से राजपूत लोग रखेलियां रखते आये हैं और उनकी संताने दिन-दिन बढ़ती ही जा रही है। वे अनाथ लोग महलों के पिछवाड़ी व अंधेरी कोठरी में पैदा होते हैं। उनका जीवन अपने मालिक और उसे कुटुम्बियों की गुलामी में बीतता है। अब तक की प्रथा के अनुसार तो उनको कोई वेतन नहीं दिया जाता था, परन्तु अब नाम-मात्र को दो चार रुपया मासिक दिया जाने लगा है। उन्हें कभी साफ व ताजा खाना भी नसीब नहीं होता, उन्हें बहुधा अपने मालिकों की जूठन पर ही सब्र करना पड़ता है। वे अपने मालिक या जागीरदार को छोड़ देने के लिए स्वतंत्र नहीं हैं। अगर कोई ऐसा दुस्साहस कर भी बैठता है तो वह गिरफ्तार कर लिया जाता है और उसके विरुद्ध झूठे सच्चे आरोप लगाये जाते हैं। उन्हें पीटा जाता है, सजायें दी जाती है, अथवा अन्य तरीकों से सताया जाता है। यह सब अक्सर रियासतों के छोटे अफसरों की साजिश और उनके स्वेच्छापूर्ण सहयोग से उनके जानते हुए

होताहै। ये छोटे-2 अफसर बहुधा राजपूत ही होते हैं और अपने अमीर जाति भाइयों की खुशामद में हर तरह तत्पर रहते हैं।

लड़कियां ज्यों-ज्यों वे बड़ी होती है अपने मालिक या मित्रों की विषय-वासना पूरी करने के लिये रख ली जाती हैं। वे उन्हें बेच या दूसरों को नजर भी कर देते हैं। अनियमित रूप से पैदा होने के कारण ये लोग तरीके से कानूनी शादी करने की मांग भी नहीं रख सकते।

इन अभागी औरतों को जहां कहीं इनका मालिक भेजे वहां जाने को बाध्य होना पड़ता है। जागीरदार के लड़के या लड़की के विवाह के अवसर पर, दरोगा युवक तथा युवतियां भी दहेज का एक हिस्सा होते हैं और उनका आदान-प्रदान भी घर की अन्य वस्तुओं की भांति ही होता है। एक वेश्या को कुछ अधिकार मिले हुए होते हैं। परन्तु एक दरोगिन को ये भी नहीं होते। ये लोग कहीं-कहीं तो पूरी तौर पर व्यक्तिगत और आर्थिक गुलामी में रहते हैं। कहीं-कहीं तो वे अपने मालिकों को छोड़ नहीं सकते और न अपनी कोई निजी संपत्ति ही बना सकते हैं। यहां तक की कानून भीउनसे विवाहों को जायज स्वीकार नहीं करता। मालिकों की मरजी पर एक विवाहित दरोगिन भी अपने पति के कुटुम्ब से हटाई जा सकती है। बहुत से ऐसे दरोगाओं ने हमसे आकर कहा कि किस तरह उनकी विवाहित पत्नियां उनसे छीन ली गई। वे कोई भी कानूनी प्रतिरोध नहीं कर सकते क्योंकि कानून उनके विवाह को जायज नहीं मानता।

नया समाज

वर्ष १ कलकत्ता, जुलाई १९४८ अंक१

संचालक

नया समाज

सम्पादक

नया समाज-ट्रस्ट (स्वतन्त्र विचारों का सचित्र हिन्दी मासिक) मोहन सिंह सेंगर

- परामर्श समिति-

श्रीमती महादेवी वर्मा — काका कालेलकर

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी — श्री जैनेन्द्र कुमार

-संस्कृति-अंक : विषय-सूची : अक्टूबर, १९५०

वार्षिक मूल्य ८) 'नया समाज' ३३, नेताजी सुभाष रोड. कलकत्ता-१ (इस अंकका मूल्य१)

संचालक **नया समाज** सम्पादक

नया समाज-ट्रस्ट (स्वतन्त्र विचारोंका सचित्र हिन्दी मासिक) मोहन सिंह सेंगर

- परामर्श समिति-

जन स्वास्थ्य-अंक विषय सूची : नवम्बर, १९५१.......

वार्षिक ८)] 'नया-समाज' कार्यालय, ३३, नेताजी सुभाष रोड, कलकत्ता-१
(एक प्रतिका ॥।)

कल्पना

वर्ष १ हैदराबाद-दक्षिण, अगस्त १९४९ अंक १

विषय-सूची

सम्पादकीय

हिन्दी के सरलीकरण का प्रश्न

भाषा से संबंधित जो अनेक समस्याएँ हमारे सामने हैं, उनमें राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी के सरलीकरण की माँग भी एक विचित्र समस्या है। इस प्रकार की माँग आज तक संसार की किसी भाषा के बारे में कभी नहीं की गयी। मातृ–भाषा के रूप में, अथवा अपर भाषा के रूप में, जो भाषा जैसी भी है, उसे ज्यों की-त्यों सीखा जाता रहा है। जटिलताएँ और अनियमितताएँ संसार की प्रत्येक भाषा में पायी जाती हैं, जिनका स्पष्ट अनुभव, स्वभावतः ही उस भाषा के बोलने वालों को नहीं होता; किन्तु अन्य भाषा - भाषियों को होता है। हमारे लिए अंग्रेजी जटिल है और अंग्रेजों के लिए फ्रेंच अथवा जर्मन— यद्यपि इन तीनों भाषाओं के बोलने वाले अपनी - अपनी भाषा को अत्यंत सरल और नियमित बताते हैं। जो भी हो, अंग्रेजी, जर्मन या फ्रेंच के सरलीकरण की माँग आज तक किसी ने नहीं की; रो–धो कर जैसी भी हो, उन्हें यथास्थिति रूप में सीखा और सिखाया गया। सरलीकरण का प्रश्न यदि कभी किसी ने उठाया भी (जैसे अंग्रेजी के विषय में बर्नार्ड शा ने), तो उस भाषा के बोलने वालों ने ही उठाया, और अन्ततोगत्वा सरलीकरण किया कहीं भी नहीं गया। यह स्वाभाविक ही था। किसी भाषा का रूप प्रयत्न करके, जान -बूझ कर नहीं बदला जा सकता। परिवर्तन (जो वस्तुतः सरल ही है प्रत्येक भाषा में होते रहते हैं, पर वे स्वाभाविक गति से, अनजाने ही, होते हैं। हमें अमुक परिवर्तन करना है, इस प्रकार का कोई ध्येय अथवा आदर्श सामने रख कर नहीं किया जाते। साथ ही, किसी भाषा में जो परिवर्तन क्रमशः, स्वाभाविक गति से, होते भी हैं, वे उस भाषा के बोलने वालों की ही सुविधा के लिए, और उन्हीं के द्वारा, किये जाते हैं; अन्य भाषा भाषी इस सम्बन्ध में न तो जान–बूझ कर कोई हस्तक्षेप करते हैं, और न उसकी सुविधा -असुविधा का ही कोई ध्यान रख जाता है। कोई भाषा अन्य भाषा के संपर्क में आकर, उससे प्रभावित हो जाए, यह बात अलग है।

तब फिर हिन्दी के ही सरलीकरण की मांग क्यों ? बीसियों वर्ष तक भारतवासी जिस प्रकार अंगेजी सीखते रहे, उसी प्रकार क्या आज हिन्दी नहीं सीख सकते ? क्या भारतवासियों के लिए भी हिन्दी सीखना अंग्रेजी सीखने की अपेक्षा कठिनतर है ? हिन्दी–भाषियों ने ऐसा क्या अपराध किया है कि उनकी भाषा को विकृत करने की, तोड़ने–मरोड़ने की बात चलायी जा रही है ?

सरलीकरण की मांग पर हिन्दी भाषियों के मन में उपर्युक्त प्रश्न उठाना और उनका क्षुब्ध होना स्वाभाविक है। उन्हें लगता है कि उनकी मातृभाषा की छीछालेदर की जा रही है। कहाँ तो वे हिन्दी को सँवारने–सुधारने तथा पूरे भारत को उसमें निष्णात बनाने के स्वप्न देख रहे थे, और कहाँ आज उनसे बिना पूछे ही उसमें मनमाने परिवर्तन करने की बात सोची जा रही है। अनेक हिन्दी–भाषी तो सरलीकरण के प्रश्न पर इतने विचलित हो उठे हैं

कि हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के पद से हटा लेने को तैयार हैं। वे कहने लगे हैं कि अहिन्दी-भाषी यदि हिन्दी को अपने यथास्थित रूप में राष्ट्र-भाषा नहीं बनाना चाहते, तो वे कोई दूसरी राष्ट्रभाषा ढूँढ़ लें; हमें हिन्दी के हाथ-पैर और नाक-कान काट कर राष्ट्र भाषा के सिंहासन पर नहीं बैठाना है।

सिद्धान्तत: हिन्दी-भाषियों का कहना ठीक है। लगभग एक हजार वर्षों के निरन्तरप्रयोग और परम्परा ने हिन्दी को जो रूप दिया है, उसे बिगाड़ने का किसी को, विशेषत: अहिन्दी-भाषियों को, क्या अधिकार है? वे सरलीकरण का प्रश्न ही क्यों उठाते हैं?

किन्तु जहाँ हम अन्य भाषाओं के संबंध में सरलीकरण की समस्या कभी न उठायी जाने की बात सोचते हैं, वहाँ यह भी सोचना आवश्यक है कि आज हिन्दी की जो परिस्थिति है, वह शायद किसी भी भाषा की कभी नहीं थी। एक तो भारत इतना विशाल देश है कि उसमें एक दर्जन से भी अधिक सुविकसित और सर्वथा स्वतन्त्र भाषाओं के निश्चित प्रदेश शताब्दियों से मौजूद हैं। इतने विशाल देश में एक प्रान्त की भाषा को संविधान द्वारा राष्ट्र- भाषा कभी नहीं बनाया गया। यह विश्व के इतिहास की एक अभूत-पूर्व घटना है जिसके परिणाम-स्वरूप अभूत, पूर्व समस्याएँ भी सामने आना अनिवार्य है। दूसरे, भारत एक गणतन्त्र राज्य है। अन्य प्रश्नों की तरह भाषा के प्रश्न पर भी सबको अपनी-अपनी सुविधा के लिए माँगें रखने का अधिकार है- भलेही ये सब माँगें पूरी न की जा सकें। हिन्दी को राष्ट्र भाषा का पद न तो स्वभावत: मिल गया है (जैसा प्राचीन काल में संस्कृत को मिल गया था, और न किसी ने उसे अहिन्दी-भाषियों पर डिक्टेटरिया रूप में लादा है (जैसा फारसी या अंग्रेजी को लादा गया था)। स्वभावत: प्रचलित राष्ट्रभाषा ज्यों-की-त्यों स्वीकार कर ली जाती है, और लादी हुई भाषा ज्यों-की-त्यों स्वीकार करनी पड़ती है। किन्तु हिन्दी राष्ट्र-भाषा बनी है एक गण-तन्त्र के संविधान के द्वारा। हिन्दी भाषियों की तरह अहिन्दी-भाषी भी उसे अपने अधिकार की चीज समझें, तो आश्चर्य क्या? अपना यह अधिकार हिन्दी-भाषियों द्वारा अस्वीकृत किये जाने पर अहिन्दी-भाषी इस तरह की व्यंग्योक्तियाँ करने लगे हैं- 'राष्ट्र-भाषा=हिन्दी, यू० पी०=हिन्दी, इलाहाबाद=हिन्दी!' स्पष्ट है कि अन्य प्रान्तों के लोग एकमात्र हिन्दी-भाषियों को राष्ट्र-भाषा हिन्दी के सर्वमान्य आचार्य का पद देने को तैयार नहीं हैं। इस भावना के पीछे अच्छा-बुरा जो कुछ भी हो, उसके लिए दोष किसी को भी दिया जाए, यह अप्रिय बात बिल्कुल प्रत्यक्ष है कि अहिन्दी-भाषी लोग प्रान्तीय हिन्दी से राष्ट्र-भाषा हिन्दी को अलग करके देखने लगे हैं। वस्तुत: हिन्दी को दो रूपों में देखने की इस प्रवृत्ति का सूत्र स्वयं संविधान में ही मिल जाता है, जहाँ हिन्दी का राष्ट्र- भाषा और प्रान्तीय भाषा के रूप में अलग-अलग निर्देश किया गया है।

इस प्रकार की परिस्थितियों का सामना किसी भाषा को कभी नहीं करना पड़ा। राष्ट्र-भाषा के सरलीकरण का प्रश्न इन्हीं का परिणाम है। इसीलिए उसे असंगत और उपहासास्पद कह कर टाला नहीं जा सकता। यों प्रत्येक नयी भाषा सीखने वाले को असुविधाएँ होती ही

हैं, जिसको दूर करने का कोई उपाय उसके पास नहीं होता। किन्तु आज का हिन्दी सीखने वाला अहिन्दी-भाषी अपने-आपको ऐसा निरुपाय नहीं समझता। वह मानता है कि राष्ट्र-भाषा अभी निर्माण की अवस्था में है, और निर्माण होते समय उसके हिताहित, सुविधा-असुविधा का ध्यान रखा जाना चाहिए। हिन्दी-भाषी लाख कहें कि हिन्दी उनकी भाषा है, उसमें परिवर्तन-संशोधन करने का अधिकार केवल उन्हीं को है, वह कभी नहीं मानने का। राजनैतिक आन्दोलनों, ने स्वतन्त्रता ने, और किसी हद तक प्रान्तीयता की भावना ने, उसे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बना दिया है।

फलत: सरलीकरणकी माँग पर हिन्दी-भाषियों का क्षोभ, स्वाभाविक और सिद्धांत-दृष्टि से संगत होने पर भी, परिस्थिति की दृष्टि से उचित नहीं माना जा सकता। वे जितना क्षोभ करेंगे, सरलीकरण का जितना विरोध करेंगे, उतना ही अधिक उसका आग्रह तीव्र होता जाएगा। और उनका यह कहना और भी कम उचित है कि हिन्दी-भाषी हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के पद पर समस्त देश ने मिल कर बिठाया है, केवल हिन्दी भाषियों ने नहीं। उसे इस पद से हटाने का अधिकार भी देश की सम्मिलित जनता को है, अकेले हिन्दी-भाषियों को नहीं। उनके लिए वर्तमान स्थिति में उचित यह होगा कि वे हिन्दी को अभी केवल अपनी मातृ-भाषा समझ कर उसे, यथास्थित रूप में ही समृद्ध और विकसित बनाने का यथाशक्ति प्रयत्न करें। हाँ, उसमें जो अनके अवस्थाएँ (द्विरूपता आदि) चली आ रही हैं, उन्हें दूर कर लें-- इतनी सुविधा वे अहिन्दी-भाषियों को दे सकते हैं और देना चाहिए। सरलीकरण का काम न वे करना चाहते हैं, न कर ही सकते हैं, क्योंकि अन्य भाषा-भाषियों की कठिनताओं का उन्हें पूरा अनुभव नहीं हो सकता। अहिन्दी-भाषी यदि राष्ट्र भाषा को सरल बनाना चाहते हैं, तो स्वयं ही बनाएँ। उन्हें ऐसा करने से न कोई रोक सकता है, न रोकना चाहिए। कलकत्ता, मदरास, बम्बई आदि में जो बाज़ार-हिन्दी प्रचलित है, अथवा पर्यटक साधु-सन्त जिस हिन्दी का व्यवहार करते हैं, वह वस्तुत: सरलीकृत राष्ट्र-भाषा ही है। उसे किसी हिन्दी-भाषी ने नहीं बनाया है-- और न बनने से रोका है। हाँ, यह स्वाभाविक सरलीकरण केवल बोल-चाल की भाषा की हद तक हुआ है। अब जिस सरलीकरण की माँग है, वह लिखित भाषा के विषय में है।

किन्तु एक बात ध्यान देने की है, बोल चाल की राष्ट्र-भाषा, बाज़ार-हिन्दी, प्रान्त-प्रान्त में अलग है। कलकत्ते की बाज़ार-हिन्दी बम्बई की बाज़ार-हिन्दी से बहुत भिन्न है। यह स्वाभाविक ही है। कलकत्तिया हिन्दी बंगला से प्रभावित है, और बंबइया हिन्दी गुजराती-मराठी से। कोई एक स्टैंडर्ड राष्ट्र-भाषा नहीं बन सकेगी। फलत: अखिल-भारतीय, सरलीकृत हिन्दी का रूप समस्त अहिन्दी-प्रान्तों के विद्वान् मिल कर ही निश्चित कर सकते हैं। इस काम में हिन्दी-भाषियों का सहयोग उन्हें कदाचित् ही प्राप्त हो। उसकी अपेक्षा भी नहीं है।

हमारा यह कहना नहीं है कि हिन्दी का सरलीकरण उचित और आवश्यक है, अथवा प्रान्त-भाषा हिन्दी और राष्ट्र-भाषा हिन्दीका पृथक्करण होना चाहिए। किन्तु, यदि अहिन्दी-भाषियों का यह सम्मिलित आग्रह है, तो हिन्दी-भाषियों का इस सम्बन्ध में तटस्थ रहना

ही उचित है, यही हम कहना चाहते हैं। यों भारत के नागरिकों की हैसियत से राष्ट्र-भाषा के विषय में अपनी माँगें रखने का उन्हें भी पूरा अधिकार है। पर अहिन्दी-प्रान्तों की सम्मिलित शक्ति के सामने उनका विरोध सफल नहीं हो सकेगा, और इसका एकमात्र परिणाम होगा हिन्दी-अहिन्दी प्रान्तों में वैमनस्य। हिन्दी-भाषी इस पचड़े में न पड़ें, तो अच्छा है।

ऊपर हमने हिन्दी-व्याकरण के सरलीकरण को ध्यान में रखकर विचार किया है। शब्दावली के सरलीकरण की समस्या का रूप दूसरा ही है। इस सरलीकरण का आग्रह अहिन्दी-भाषी नहीं, कुछ हिन्दी-भाषी ही (और कुछ पंजाबी) कहर रहे हैं। अहिन्दी-भाषियों के लिए तो क्लिष्ट, संस्कृत-प्रचुर हिन्दी ही अपेक्षाकृत सुगम है, क्योंकि अधिकांश प्रान्तीय भाषाएँ स्वयं संस्कृत-प्रचुर हैं। वस्तुतः शव्दावली की समस्या उतनी जटिल नहीं है। समझौते से, मध्यम मार्ग का अनुसरण करके, इसे सुलझाया जा सकताहै।

अन्त में एक-दो प्रश्न और रह जाते हैं। अहिन्दी प्रान्तों द्वारा सरल बनायी हुई हिन्दी को हिन्दी-भाषी राष्ट्रभाषा के रूप में भी स्वीकार करेंगे या नहीं? अथवा केंद्रीय शासन कौन-सी हिन्दी को मान्यता देगा? इन प्रश्नों के उत्तर भविष्य ही देगा। अभी कहना कठिन है कि अन्ततोगत्वा क्या होगा। संभव है कि सरलीकरण ही न हो, अथवा यदि हो भी, तो इतने धीरे-धीरे कि हिन्दी- भाषी भी उसे अपनाते चलें। यह भी असंभव नहीं है कि थोड़े-बहुत सरलीकरण के लिए हिन्दी-भाषी भी और तैयार हो जाएँ, और राष्ट्र-भाषा हिन्दी मातृभाषा हिन्दी ही बनी रहे।

जुलाई, १९५६

साहित्य-धारा

इधर बार-बार 'पत्रिका के एक विशेष व्यक्तित्व' की बात सुनने में आयी है। 'अमुक पत्र निकलता तो अच्छा है, पर भाई, उसका कोई व्यक्तित्व नहीं बन पाया है।' बात समझ में आती है और थोड़ी गहराई भी इसमें है। एक विशिष्ट पत्र में हम एक विशेष प्रकार की रुचि और रचनाओं की आशा करने लगते हैं— और वही, कालान्तर में उसका व्यक्तित्व कहा जाने लगता है।

कभी-कभी एक निश्चित विचार-धारा या एक प्रभावशाली व्यक्ति भी पत्रिका के व्यक्तित्व-निर्माण का कारण बनता है। सामान्यतः कोई सिद्धान्त-विशेष या व्यक्ति-विशेष व्यापक जनजीवन का सूत्रधार बन जाता है और सामाजिक जीवन की गहरी संवेदनाएँ उसके स्वभाव एवं चिन्तन की क्रियाएँ हो जाती हैं। लेकिन एक संकुचित और कुंठित व्यक्ति जो अपने ही तक सीमित रहता हो या कोई सिद्धान्त, जो साधारण जनता में अपरुचि और फूहड़पन का प्रचार करता हो— कभी भी पत्रिका के व्यक्तित्व-निर्माण के लिए उपयोगी नहीं हो सकता।

किसी समय 'सरस्वती', 'नया साहित्य', 'हंस' और 'प्रतीक' का एक व्यक्तित्व था और 'नया पथ' (प्रगतिशील साहित्य का प्रतिनिधि पत्र) का भी एक व्यक्तित्व है। पर इस पत्र को उलटते ही प्राय: उस लोमड़ी का ध्यान हो जाता है, जो दूसरों को तो सगुन बताती है पर स्वयं, कुत्तों का शिकार बन जाती है। कहना न होगा कि आज अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित साहित्य का बड़ा हिस्सा प्रगतिशील साहित्यिकों द्वारा पूरा होता है।

इसी तरह की गड्ड-मड्ड हिन्दी के अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं में होती रहती है। सौंदर्य-प्रतियोगिता से लेकर हॉकी के खिलाड़ियों तक के वर्णन, हमारे संपादक छाप डालते हैं। छपाई-सफ़ाई और कवर-डिजाइन इत्यादि में तो इनकी रुचि का क्या कहना! दो-एक चटख रंग काफ़ी हैं। रचनाओं का चुनाव और भाषा-सम्बन्धी एकात्मकता और उसमें पत्र की अपनी नीति का, पत्र से कोई ताल्लुक नहीं होता- जैसा लेखक ने लिखा, वैसा संपादक ने छापा।

रहा सम्पादकीय, तो संपादक और प्रूफ़ रीडर में अन्तर होना चाहिए। पत्रिकाएँ उलट कर देखें— लगेगा किसी जेल में पागलों की तनहाई की कोठरियों के पास खड़े हैं— अपना मन है, अपनी बातें हैं, जो तू-तू-, मैं-मैं से लेकर, गाली-गलौज़ और फिर नैतिकता और फिर अपनी सफाई तक पहुँच जाती है।

यह सही है कि समाज का प्रभाव साहित्य पर पड़ता है और इसे मानने में भी कोई आपत्ति नहीं कि साहित्य में समसामयिक तत्त्वों का प्रवेश होना चाहिए पर घटनाएँ साहित्य को उस तरह प्रभावित नहीं करतीं जैसे वे राजनीति को करती हैं। घटनाओं को मानवीय अनुभूतियों में समो कर ही साहित्य की चिरस्थायी निधि को सौंपा जा सकता है। सम्भवत: इसीलिए साहित्यिक विचार-विमर्श के लिए भी गहरी अनुभूति, चिन्तन और अध्ययन की अपेक्षा होती है। हमारे संपादकों के लिए यह सब कोरी बकवास है- वे तो सीधी सादी दो-चार बातें जान कर महंतई करना जानते हैं। न वह सीखेंगे न दूसरों की सीख से लाभ उठाएँगे; क्योंकि वे कला, साहित्य और संस्कृति सब में पारंगत जो हैं! यही कारण है कि वे रचना पर कम, और प्रचार पर ज़्यादा सोचते हैं। घटनाओं और समाचारों पर संपादकीय लिखना उनके लिए आसान पड़ता है पर किसी साहित्यिक समस्या को गहराई से छूना उनके लिए हैरानी की बात लगती है। फलत: 'निराला जी की बीमारी', 'देवी जी की असावधानी'- जैसे प्रश्नों पर लिखने में उनकी तत्परता का ठिकाना नहीं रह जाता।

गत मास के सम्पादकीय लेखों में यही बौखलाहट है। अच्छा होता, यदि कुछ सम्पादक प्रवर स्वयं प्रयाग जा कर निराला जी का दर्शन करते और अपनी भक्तिपूर्ण शंकाओं का निवारण करते।

'कल्पना' ने गत मास 'हिन्दी के सरलीकरण का प्रश्न' का सरलीकरण कर दिया है। आभास, जैसे बिचकई करने का होता है। बहुसंख्यक जनसमूह की इच्छा को मान्यता देने के लिए, यह कहाँ तक उचित होगा, कि सैकड़ों वर्षों की कठोर साधना से निर्मित, तथा

लाखों-करोड़ों की ज़बान पर चलने वाली भाषा की नाक-कान काट ली जाए और एक खोखली एवं कृत्रिम भाषा को, राष्ट्रभाषा का रूप दे दिया जाए। एक ही भाषा की इस द्विरूपता के बारे में, 'कल्पना' को निश्चित-मत होना चाहिए।

भाषा गढ़ी नहीं जाती, उसे विद्वान् बैठ कर नहीं बना सकते। भाषा का स्रोत तो जनता है। ऐसी स्थिति में सरलीकृत हिन्दी किसी की भाषा न होकर कारखाने की भाषा होगी--कागज और स्याही की भाषा होगी। अंग्रेजी, लादी हुई भाषा होते हुए भी, धरती पर बसने वाले करोड़ों इंसान की मौखिक-भाषा है, उसमें अनुभूति है, साहित्य है, विज्ञान है – पर यह नयी हिन्दी क्या होगी-- इसका स्रोत क्या होगा? हिन्दी के साथ ही अन्य भाषाओं के लोग भी सरलीकरण की इस लीपा-पोती में न पड़ें, तो शायद स्थिति सुधर जाए।

कहानी और एकांकी : कहानियों की चर्चा करते समय हम पहले कह चुके हैं कि हिन्दी में कुछ नये प्रभावशाली कथाकारों का आविर्भाव हो रहा है। कथा के लिए यह बात सर्वमान्य-सी है कि उसके प्रेरणा के सूत्र जन-जीवन की गहरी अनुभूति से जुड़े हों; कोरी कल्पना या वैयक्तिक दु:ख सुख कथा के क्षेत्र को सीमित बनाते हैं। वैयक्तिक दु:ख-सुख में भी, यदि अनुभूति से साहित्यकार की वैयक्तिक दूरी पर्याप्त न रही है, तो रचना बहुत हल्की हो जाती है। नये कथाकारों ने इस कुंठा को तोड़ा है। लेकिन अब भी जहाँ वे स्थानीय चित्रण में कमाल दिखाते हैं, वहाँ उनमें सामाजिक चेतना और यथार्थ का अभाव है। सामाजिक जीवन की गहराई में सहज पैठ कर और फिर अपनी पिछली परम्परा से आगे बढ़कर उन्हें नये जीवन की अनुभूति करना है। तभी उनका साहित्य नया और अपेक्षित समझा जाएगा, अन्यथा परम्परा से पीछे पड़ने में वह महत्त्वहीन ही बना रहेगा। भाषा, भाव और शैली–सभी में उन्हें आगे बढ़ने की चेष्टा करनी है। यही कारण है कि बहुत-सी कहानियाँ, जो हर महीने छपती हैं, किसी भी तरह पठनीय और साहित्य की वस्तु नहीं बन पातीं। जैसे यह सब लिखने के लिए-पेज भरने के लिए ही रची जाती हों।

'कल्पना' में प्रकाशित कमलेश्वर की कहानी 'मुर्दों की दुनिया', इस मास की विशिष्ट रचना है। स्थानीय रंगत का गहरा प्रभाव कहानी की भाषा में सर्वत्र व्याप्त है। कस्बे के जीवन से संबंधित प्रभावशाली चरित्रों का अंकन हिन्दी में विरल है। 'मुर्दों की दुनिया' का निसार अपनी व्यक्तिगत ख़ामियों और अच्छाइयों में अत्यन्त प्रभावशाली और स्वाभाविक बन पड़ा है। कहीं-कहीं संवेदनशीलता का हल्का वैयक्तिक आग्रह है, जो लेखक की प्रभावशाली शैली में निभ तो जाता है, पर कुशल पाठक को खटकता है।

अन्य पठनीय रचनाओं में, रामेश्वरनाथ तिवारी की 'चोरी' (पाटल), नन्दकुमार पाठक की 'कौन थी' (पाटल), विजयदेव नारायण साही की तीसरी शर्त (राष्ट्र भारती), इस्मत चुगताई की 'नन्हीं की नानी' (कहानी), रामदरश मिश्र की 'मनोज जी' (कहानी) और विलियम सरोयाँ की 'हैरी' (कहानी) उल्लेखनीय है।

हास्य और विनोद का साहित्य हमारे यहाँ नहीं के बराबर है, और जो है भी वह कभी तो भड़ैती की सीमा को छूने लगता है, कभी गन्दगी से भद्दा हो जाता है। 'तीसरी शर्त' में व्यंग्य और हास्य का अच्छा मिश्रण है। इसका हास्य कोरा काल्पनिक न हो कर, जीवन की

यथार्थता को छू सका है।

'नन्हीं की नानी' में प्रेमचन्द की 'बूढ़ी काकी'- सा मजा आता है। इस्मत आपा ने नन्हीं की नानी का चरित्रांकन करने में गहरी सामाजिक चेतना और कथा-शिल्प का परिचय दिया है। मध्यवर्गीय घर की भाषा तो जैसे उनकी विरासत हो। 'हैरी' का महत्त्व इसलिए अधिक है कि उसमें एक अमरीकी की जिन्दगी और उसके स्वभाव के पहलू बड़ी सफ़ाई से चित्रित किये गये हैं।

परिचय और संस्मरण : गत मास डा॰ मोतीचन्द जी का एक पठनीय संस्मरण 'प्रसाद जी : पुण्य स्मरण' 'नवनीत' में प्रकाशित हुआ है। संस्मरण से जिस सहजता और सान्निध्य की हम आशा करते हैं वह इसमें मिल जाएगा। इसके दो स्थलों पर ध्यान दीजिए--

-- प्रसाद जी ने हँस कर मुझे अपनी ओर बुलाया और कहा-- "भाई! मैं तुम्हारे चाचा के साथ का पढ़ा हूँ, फिर भी न तुम मुझसे मिलते हो, न मेरी सुधि ही लेते हो। राजनीतिक चक्कर तो ठीक ही है, पर अपने बुजुर्गों का भी तो ख़्याल रखना चाहिए।"

इसके कुछ आगे चलकर मोतीचन्द जी लिखते हैं--

इसके बाद, जब भी मुझे अवकाश मिलता, मैं या तो प्रसाद जी की दुकान पर जा धमकता या उनके घर पर। उनका दरबार हमेशा मेरे लिए खुला रहता था। मुझे अच्छी तरह से याद है, कि दुकान पर जाते ही प्रसाद जी तमोली को आवाज़ देते थे- "खूब अच्छे पान बनाना!" और फिर पान-सुरती जमाने के बाद हम दोनों तरह-तरह की नयी-पुरानी कहने में लग जाते थे।

इस छोटे से संस्मरण में, एक गहरी निष्ठा सर्वत्र व्याप्त है। •

डा. महादेव साहा का एक परिचयात्मक निबन्ध, 'डा॰ सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या', 'नया समाज' में प्रकाशित हुआ है। डा॰ साहा अध्ययन-परिशीलन और स्मृति के लिए प्रसिद्ध हैं। उनका यह लेख, सुनीति बाबू के जीवन और कृतित्व-संबंधी व्यापक सूचनाएँ देता है। पर क्या आप 'नया समाज' की दाद दिये बिना नहीं रह सकते हैं? जरा इस निबंध के नीचे छपे पति-पत्नी के कार्टून पर निगाह डालें। ऐसी रचनाओं के नीचे, टेली-पीसेज़ का ऐसा चुनाव, शायद पाठक की दृष्टि को भागने से रोकता है, क्यों संपादक जी!

'साधना और त्याग की मूर्ति शिल्पाचार्य श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर' शीर्षक परिचय, श्रीकान्त व्यास ने 'समाज' में लिखा है। प्रस्तुत निबन्ध अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के व्यक्तित्व पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।'

'समाज' की छपाई-सफाई देख कर प्रसन्नता होती है। हिन्दी-मासिकों में अपनी तरह का यह अकेला पत्र है।

निबंध और आलोचना: इधर प्रान्तीय भाषाओं और बोलियों के संबंध में विद्वानों में काफी बहस चलती रही है। हिन्दी प्रदेश के भीतर ही ऐसी अनेक समृद्ध बोलियाँ हैं, जिनमें पर्याप्त साहित्य है, और जिन्हें स्वतंत्र भाषाओं के रूप में स्थान देने की बात चलायी जा रही है। इस संबंध में डॉ॰ रामविलास शर्मा के 'पाटल' (जनवरी) में प्रकाशित लेख के प्रतिवाद में श्री नागार्जुन ने 'मैथिली और हिन्दी' नाम से एक लेख 'राष्ट्रवाणी' में प्रकाशित किया

है। मैथिली के पक्ष में, नागार्जुन जी ने प्रबल और मान्य तर्क दिये हैं। देश की भाषा संबंधी नीति में, बुद्धि-जीवियों और शासकों ने जो उखाड़-पछाड़ मचा रही है, उससे हमारे बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास को काफ़ी क्षति पहुँचने की आशंका है। नागार्जुन जी ने ठीक ही कहा है- ''कल की हमारी राज्यभापा क्या होगी, इसका फैसला मिथिला और भोजपुरी के पृथ्वी-पुत्र करेंगे, मगध के किसान इसका फैसला करेंगे, संथाल, मुंडा, ओरांव आदि आदिवासी।''

कई अंकों के बाद 'आलोचना' त्रैमासिक के मूल्यांकन स्तंभ में श्रीपतराय की एक पठनीय समीक्षा 'नैराश्य के पुजारी' प्रकाशित हुई है। 'सुखदा' और 'विवर्त' की समीक्षा प्रस्तुत करते हुए, लेखक ने जैनेन्द्र साहित्य की प्रवृत्तियों का गहरा विश्लेषण किया है। इसी तरह श्रीपत जी का एक समीक्षात्मक निबंध 'सन्' ५३ का कथा साहित्य 'कल्पना' में प्रकाशित हुआ है। सन्'५३ के प्रकाशित उपन्यासों की अलग-अलग चर्चा करते हुए लेखक ने उपन्यास के तत्त्वों, और सामाजिक आवश्यकताओं पर विचार-पूर्ण मत दिये हैं।

गत मास के अन्य पठनीय निबंधों में यदुपति सहाय का 'अंग्रेज़ी समीक्षा : बीसवीं शताब्दी'- (आलोचना), कृष्णमाचार्य का 'काव्यलोक'- (कल्पना) और डा. राम विलास शर्मा का 'साहित्य की जातीय परंपरा और अन्तरराष्ट्रीयतावाद'- (जन-साहित्य) गिने जा सकते हैं।

कविता : गत मास के 'आजकल' में 'दिनकर' की एक कविता 'सेतुरचना' प्रकाशित हुई है, उसके एक-दो पद इस प्रकार हैं-

मरण नहीं सारा सर्वस्व हरेगा,
चिता नहीं सब कुछ समेट पायेगी।
जो कुछ भी जल जाय, अन्त में सबके
एक ज्योति जीवित ही रह जायेगी।
जैसे लाखों रसिक प्यार करतेहैं,
वैसे ही आगे भी प्यार करेंगे।
फूलों से, पत्तों से, ओसकणों से,
लोग तुम्हारा भी सत्कार करेंगे।

यह स्पष्टता और प्रेषणीयता, 'दिनकर' के लिए कोई नयी बात नहीं है, फिर भी इसमें अनुभूति की वह गहराई नहीं, जो मर्म को छू सके।

'आजकल' के इसी अंक में, नरेश मेहता की एक पठनीय कविता, 'को जागरी?' प्रकाशित हुई है। इस कविता में रूपाइयत का मोह प्रधान हो उठा है, फिर भी काव्य-रसिक पाठक को इसमें पर्याप्त रस मिल जाएगा।

'कल्पना' में प्रकाशित, कीर्ति चौधरी की 'सुधि के क्षण', कूर्मांचली की 'ताक की बात' और अजित कुमार की 'मनहूस कमरा' शीर्षक रचनाएँ पठनीय हैं।

'ताक की बात' में सूक्ष्मता के साथ ही अनुभूति की गहराई है, जो मन को सोचने पर बाध्य करती है।

- **'चक्रधर'**

नवनीत

[हिन्दी डाइजेस्ट]

(बम्बई)

वर्ष १	जनवरी, १९५२	अंक १

लेख-सूची

धर्मयुग

(बंबई)

वर्ष ११ | १३, मार्च, १९६० | अंक ११

(होली केअवसर पर)

धर्मयुग के मुख पृष्ठ पर प्रकाशित कुछ विद्वानों का वक्तव्य

वर्ष ११   २० मार्च, १९६०   अंक १२

"...... भारतमें, और शायद दूसरे मुल्कोंमें भी, बारी-बारीसे अपने को बहुत बढ़ाकर या अपनेको बहुत घटाकर देखनेकी वृत्तियाँ काम करती रहती हैं। मेरी निगा में ये दोनों ही बातें अवांछनीय और अभद्र हैं। निरी भावुकता और जजबाती तरीकोंसे हम जिन्दगीको नहीं समझ सकते। तेजी और हिम्मतके साथ वास्तविकताओंका सामना करके ही जिन्दगी को समझा जा सकता है। '

जिन्दगीके अहम मसलोंसे अलग, बेमतलब, निरुद्देश्य और रूमानी तलाशोंमें हम अपनेको नहीं खो सकते। क्योंकि नियतिका सिलसिला अटूट रूपसे चलता ही रहता है, और वह हमारी फुर्सतके लिये इन्तजार नहीं करती। और न यही मुनासिब है कि हम महज बाहरी, प्रयोजनोंपर ही अटक जायें, और इंसानके भीतर अभिप्रायको नजरअंदाज कर दें। भीतर और बाहरके बीच एक संतुलन कायम करना ही होगा, एक सम्वाद स्थापित करना होगा।

अपने निजी जीवनमें भी हमें शरीर और आत्माके बीच संगतिका सूत्र खोज निकालना होगा। उसी तरह हमें अपने अन्दरके आदिम इंसान और सामाजिक जीवन जीनेवाले परिष्कृत इन्सानके बीच भी हमें एक तारतम्य कायम करना होगा।

– जवाहरलाल नेहरू

३ अप्रैल, १९६०

एक कहानीमें रामने कहा कि कोयल आमके झाड़पर बैठे या नीमके झाड़पर, झाड़ सूखा हो या हरा हो, और कठोर अंधड़ आनेपर झड़ोंके पत्ते चिंघाड़ें या झाडोंकी डालियाँ ऊँची नीची हों, वे टूट भी भले ही जायँ, किन्तु कोकिलाका अभिमान कभी डाँवाडोल नहीं होता। वह जानती है कि उसका अस्तित्व चीत्कार करनेवाले पतोंकी डावांडोल होती हुई डालियोंपर अवलम्बित नहीं है। दस टनकी डालियोंकी अपेक्षा सवा तोले बजनके अपने पंखोंपर उसकी शक्ति और स्वतंत्रताका गर्व अछूता है। हमारे बीच कितनी साहित्य कोकिलाएँ हैं, जो अपने हिलते-जुलते आश्रय स्थानोंसे न घबड़ाकर, अपने पंखोंसे अनेक अंधड़ों को चीरकर अपना पथ बना लें और अपने बंधन देशसे मुक्ति लोक तक अपने जाने की ऐसी खड़ी रेखा खींच दें, जिससे समस्त पंखावान तरुणाई मुक्ति-देशका पर पा ले?

मतभेद तो रहने स्वाभाविक हैं। वाद्योंके भिन्न भिन्न होनेसे जब गीतमें मिठास आती है वृक्षों और पुष्पोंकी विभिन्नतामें जब बाग गर्वीला नजर आता है और संसारके सातों रंग मिलकर जब एक उज्वल रंग बना देते हैं तब कौन कहता है कि विभिन्नता में एकता स्थापित नहीं की जा सकती। मतभेद प्यारी वस्तु है। क्रियाहीन समर्थनकी अपेक्षा ईमानदार मतभेद अधिक मूल्यवान है। किन्तु हो वह मतभेद। बदला न हो।

– माखनलाल चतुर्वेदी

(४ अप्रैलको श्री माखनलाल चतुर्वेदीकी वर्षगांठके अवसर पर, अभिनन्दन सहित)

.० अप्रैल १९६०

तीर्थंकर महावीर ने कहा-

जिसका तू हनन किया चाहता है वह तू ही है; जिसे तू दबाना चाहता है वह भी तू ही है तथा जिसे तू मार डालना चाहता है वह भी तू ही है। ऐसा जानकार कोई भी सरल और प्रतिबुद्ध मनुष्य किसीकी हानि नहीं करता और न किसीका हनन करवाता है। वह मनुष्य ओजस्वी होता है; जिसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं ऐसी अप्रतिष्ठ आत्माको वह जानता है।

कुछ लोग ऐसे हैं जो संसारमें रहकर जिनों का अनुसरण करते हैं, और कुछ लोग त्यागी होकर करते हैं। पर इन दोनों ही को चाहिये कि, जो लोग जिनोंका अनुसरण नहीं करते, उनके प्रति यह मानकर असहिष्णु न हों कि "जिनोने ही सत्य और निःशंक वस्तुका ज्ञान प्रकट किया है।' कारण यह है कि, जिन प्रवचनको सत्य माननेवाले, श्रद्धावान, समझदार, और नियमित प्रव्रज्याका पालन करनेवाले मुमुक्षुको कभी-कभी आत्मा प्राप्ति होती है; तो कभी-कभी जिन-प्रवचनको सत्य माननेवालेको भी आत्म-प्राप्ति नहीं होती। इसी प्रकार, कुछ ऐसे लोग भी होते हैं, जिन्हें आरम्भसे ही जिन-प्रवचन सत्य नहीं लगता और फिर भी आत्म-प्राप्ति होती है; तो कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिनको जिन-प्रवचन सत्य और लगता और आत्म-प्राप्ति भी नहीं होती।

इस प्रकार आत्म प्राप्तिके मार्गकी विचित्रताको ठीक तरह समझकर, समझदारको चाहिये कि वह नाम मुझसे कहे कि : "भाई! तू अपने आत्म-स्वरूपका ही विचार कर। ऐसा करनेसे सारे ही सम्बन्धोंका नाश हो जायगा। असलमें देखना यह है कि मनुष्य प्रयत्नशील है या नहीं। क्योंकि कई लोग जिनाज्ञा के विरोधी होते हुए भी उद्यमवन्त होते हैं; और कुछ लोग जिनाज्ञा के आराधक होते हुए भी उद्यमहीन होते हैं।'

(१० अप्रैल १९६०; चैत्र शुक्ला त्रयोदशीको भगवान महावीरकी)

आचारांग सूत्रसे जयन्तीके अवसरपर

१७ अप्रैल १९६०

मुझे याद आता है कि मैंने किसी अखबारमें पढ़ा था कि कमलका एक बीज हजारों साल निष्क्रिय दबा पड़ा रहा लेकिन हजारों साल बाद सहसा उसमें अंकुर फूट आये और एक दिन सूर्योदयके समय वह भरपूर खिल उठा। जब विदेशी लूटेरोंकी विशाल सेनाएँ आकर भारतीय संस्कृतिके उपवनको ध्वस्त कर जाती थीं, भारतीय संस्कृति और भारतीय जीवनदृष्टि के गहनतम तत्त्व इसी तरह थोड़े दिनोंके लिए निष्क्रिय पड़ जाते थे। पर वे निष्क्रिय पड़ जाते थे, निर्जीव कभी नहीं होते थे। ऐसा ही एक बीज था जो हजारों वर्षसे निष्क्रिय दबा पड़ा रहा मगर जब गुलामीका अँधेरा समाप्त हुआ, सैलाब उतर गया- आजादी का विहान आया तो ढाई हजार वर्ष बाद वह बीज ज्योतिर्मय कमलके रूपमें प्रस्फुटित हो आया। वह बीज था पंचशीलका सिद्धांत। अगर आज युद्ध की विभीषिकाओं को कोई शामिल कर सकता है- महाकालकी विनाशलीलाको कोई संयत कर सकता है तो यही पंच पंखुरियों वाला पूजा कमल जो भारतीय मानसने सत्य और प्रेमसे चर्चितकर मानवजातिको ध्वंससे बचाने हेतु अर्पित किया है। दूसरोंके लिए पंचशील केवल हथकंडा रहा हो मगर हमारे लिए वह एक बुनियादी सिद्धांत रहा है, हमारी संस्कृतिका मूल तत्व रहा है। जो लोग पंचशीलको केवल एक अस्थायी आवश्यकताके रूपमें ग्रहण किये रहे, उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि इस पंच-दल कमलका मृणाल सत्य है- जिसपर पंचशील टिका है, जिससे पंचशील को प्राण, रूप, रस, गंध मिलते हैं। अगर उन्होंने उस सत्यको तोड़ दिया तो फिर पंचशीलका कोई सवाल ही नहीं उठता।

- ताराशकर बन्द्यापाध्याय

(बंगला के प्रख्यात कथाकार ताराशंकर बन्द्योपाध्याय इसी सप्ताह भारतीय राज्यसभा के सदस्य मनोनीत हुए हैं।)

कादम्बिनी

(नयी दिल्ली)

प्रवेशांक: नवंबर १९६०

विषयानुक्रम

		एक प्रति	१.००
एक वर्ष १२.००	:	दो वर्ष	२१.००
		तीन वर्ष	३०.००

हिन्दुस्तान टाइम्स लिमिटेड, कनाट सर्कस, नयी दिल्ली की ओर से
सीताराम गुण्ठे द्वारा लीडर प्रेस, इलाहाबाद में मुद्रित व प्रकाशित

दिनमान

(दिल्ली)

२१ मार्च १९६५

मत और सम्मत

लेखू और देखू

काफ़ी विचारशील लोगों को मौजूदा हालात देश के भविष्य के बारे में निराश कर चुके हैं— इस असम्भव स्थिति में भी, शायद कर्मशील बने रहने की मजबूरी के कारण तिनका ही सही, ढूंढ कर वे 'आशा' बाँधे चलते हैं। यह करुण-विप्रलम्भ या कविता में ही नहीं, बोलचाल में भी अभिव्यक्त होने वाला द्वन्द्व है।

'दिनमान' (२८ फरवरी) में राममनोहर लोहिया के 'संदेश' या 'देखू और लेखू' पर की गयी सम्पादकीय टिप्पणी में भाषा सुधारने की स्कूलमास्टर-सी तत्परता के अतिरिक्त कुछ को परोक्ष से एक आक्षेप भी झलक सकता है। जिस पर वह हो सकता है उस की सोचने की प्रक्रिया, भाषा शक्ति और शैली के सामान्य संदर्भ से जरा भी परिचित व्यक्ति को ऐसा आक्षेप इतना छूछा और निराधार लगता है कि उसे नज़रन्दाज करना ही हम उचित समझ रहे हैं।

विनय कुमार, निजी सचिव,

डॉ. राममनोहर लोहिया, संसद सदस्य

नयी दिल्ली

भविष्य चिन्ताजनक है, निराशाजनक नहीं। स्थिति विकट है, असम्भव नहीं। नहीं तो आशा भी मजबूरी से अधिक कुछ नहीं रहती।

भाषा राजनैतिक चिन्तन का साधन होने से पहले चिन्तनमात्र का साधन है। राजनैतिक युक्तिसंगति से सोचने की प्रतिक्रिया की आत्यन्तिक युक्तसंगति अधिक महत्त्व रखती है। निस्संदेह डॉ० लोहिया भी ऐसा मानते हैं। पर राजनीतिक जब जनता के सामने आता है तो कुछ इतर बातें भी महत्त्व पा जाती हैं। **सं.**

डॉ० लोहिया का पत्र बहुत दिलचस्प है। उनके पत्र की शैली ठीक वैसी है जैसी किसी समाचार साप्ताहिक को अपनानी चाहिए। उन्होंने विदेशी मामलों के भारतीय लेखकों की सही आलोचना की है लेकिन उन्हें यह भी कहना था कि हिन्दी में तो विदेशी मामलों के लेखक शून्यवत हैं, जो थोड़े से लोग लिखते हैं वे अंग्रेजी की नकल करते हैं। मेरा यह मत है कि डॉ० लोहिया 'दिनमान' के विदेशी मामलों पर स्थायी लेखक हो सकते हैं। बेशक उन्हें अपने अतिवादी दृष्टिकोण को छोड़कर तटस्थ दृष्टि से यह कार्य करना होगा। डॉ. लोहिया के रूप में साहित्य, संस्कृति और दर्शन का जानकार एक बहुत सिद्ध व्यक्ति

राजनीति की दलदल में उलझ गया है। मुश्किल यह है कि इस दलदल में उन्हें वैसा ही मज़ा आता है जैसा कि सिगरेट पीने में।

श्रीकान्त जोशी, जवाहरगंज,
खंडवा (म. प्र.)

फ़रवरी २८ के अंक में लोहिया जी ने 'टाइम्स' के नमूने पर 'दिनमान' की जो छवि देखी है वह आप के आउट-राइट इंकार के बावजूद सही है — यानी लोहिया जी ने ऐसा या तो इसलिए कहा कि उन्हें 'दिनमान' के वैसा ही निकलने की सूचना थी, आभास था या फिर 'दिनमान' देख कर उन्होंने, केवल, हिन्दी में 'टाइम' देख लिया — आगे में कहूँ कि 'दिनमान' हिन्दुस्तान की नासमझ पूजा के विपक्ष में 'देशी के चिन्तन का प्रयत्न' करे तो मलीदे की चिन्ता ही न हो।

ऋषीकेश, कानपुर

फूल और काँटे

संपादक का व्यक्तित्व पूरे अंक में व्याप्त है। भाषा में साहित्यिक स्पर्श है और कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि अंग्रेजी का पत्र पढ़ते तो अच्छा होता। हिन्दी दैनिक पढ़कर अक्सर ऐसा लगता है। यह बहुत बड़ी विशेषता है आपके पत्र की।

श्रीकान्त जोशी, जवाहर गंज,
खंडवा (म. प्र.)

सचमुच यह राष्ट्र की भाषा में राष्ट्र का आह्वान है। मेरी हार्दिक बधाइयाँ स्वीकार करें।

जनवरी के आरम्भ में जब मैं यहाँ था तो इस के प्रकाशन की चर्चा मैंने सुनी थी। एक ऐसे विचार-प्रधान समाचार साप्ताहिक का अभाव हिन्दी-प्रेमियों को बराबर खटकता रहा है। जो व्यक्ति यथासम्भव हिन्दी के माध्यम से ही काम करने को बराबर लालायित रहे हैं उन्हें छोटी-छोटी बातों के लिए भी अंग्रेज़ी का सहारा लेने की बात बराबर खटकती रही है। राजनीति के कार्यकर्त्ताओं ने बराबर इस बात का अनुभव किया है कि हिन्दी के पत्रों में देश-विदेश की घटनाओं पर आधिकारिक तौर पर टिप्पणियाँ नहीं मिलतीं। मुझे पूरा विश्वास है कि 'दिनमान' के प्रकाशन से अब इस अभाव की पूर्ति हो गयी है।

सिद्धेश्वर प्रसाद, संसद सदस्य
नयी दिल्ली

'दिनमान' अनेक रूपों में हिन्दी की क्षमता का प्रयोगात्मक परीक्षण है। शास्त्रीय और प्राविधि के विषयों की अभिव्यक्ति में हिन्दी की क्षमता के बारे में शंकाओं का साधार निराकरण हो सकेगा। मुझे 'दिनमान' की भाषा बहुत अच्छी लगी। साफ़-सुथरी, सहज और फसलों की तरह लहलहाती हुई प्रयोजनीय भाषा। बीच-बीच में साहित्यिक वाक्य भी बेल-बूटों की तरह टँके हुए।

डॉ० शिव प्रसाद सिंह, वाराणसी

स्वतंत्र विषय सूची

१- राजस्थान केसरी — २६ दिसम्बर १९२० ई.

वर्धा से प्रकाशित कांग्रेस अंक के मुख पृष्ठ पर रियासती प्रजा की तत्कालीन स्थिति पर विचार प्रेरणा जगाने वाला - एक व्यंग्य चित्र। सम्पादक -- राष्ट्रीय पथिक।

२- राजस्थान केसरी — १३ मार्च, १९२१ ई.

राजस्थान सेवा संघ के सौजन्य से प्राप्त टोंक (राजस्थान) के दमन पूर्व समाचार- सम्पादक राष्ट्रीय पथिक की रियासतों पर पैनी दृष्टि का परिचायक है।

३- नवीन राजस्थान — २९ जनवरी १९२२ ई.

राष्ट्रीय नीति रीति को असहयोग आन्दोलन की दृष्टि से खुलासा करता एक लघु आलेख।

४- नवीन राजस्थान — २९ जनवरी १९२२ ई.

राजतंत्र की दो परस्पर सहयोगी बुराईयां- नौकरशाही और चाकरशाही पर अज्ञात लेखक पोलखोलराम द्वारा अशक्त व्यंग्य।

५- नवीन राजस्थान — २९ जनवरी १९२२

मेवाड़ इलाके में ब्रह्मचारी हरि को बिना किसी आरोप के काल कोठरी में डालने तथा विजय सिंह पथिक के मेवाड़ प्रवेश पर रोक लगाने के समाचार टिप्पणी सहित।

६- नवीन राजस्थान — ५ फरवरी १९२२ ई.

सिरोही राज्य में बेगार को लेकर हुए आन्दोलन में राजकीय प्रताड़ना और आतंक को दर्शाती विशेष संवाददाता की समाचार टिप्पणी।

७- नवीन राजस्थान — १२ मार्च १९२२ ई.

'होली' राष्ट्रीय विवेचना सहित व्याख्या करते हुए तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में नवीन मान्यताओं की स्थापना

८- नवीन राजस्थान — २ अप्रैल १९२२ ई.

रियासती प्रजा विशेषत: ग्रामीण प्रजा की राज्य प्रताड़ना 'बेगार' पर पोलखोलराम द्वारा एक सशक्त व्यंग्य।

९- नवीन राजस्थान — ७ मई १९२२ ई.

भरतपुर नरेश द्वारा दिये गए भाषण का खुलासा करती संवाददाता की रिपोर्ट।

१०- नवीन राजस्थान — मई १९२२ ई.

संवाददाताओं द्वारा भेजी गई अजमेर व करौली की विशेष रिपोर्ट।

११- नवीन राजस्थान १८ जून १९२२ ई.

बून्दी के विज्ञान आन्दोलन के दमन के लिए की जा रही प्रतिरोधात्मक कार्रवाई तथा मेवाड़ राज्य के इलाके बिजौलिया के ४ वर्ष के संघर्ष उपरान्त हुए समझौते की सूचना-मुखपृष्ठ पर।

१२- नवीन राजस्थान १५ जून १९२२ ई.

बेगूँ, बून्दी तथा अजमेर की रियासती प्रजा के दुख-दर्द का प्रतिनिधित्व करते समाचार।

१३- नवीन राजस्थान २५ जून १९२२ ई.

बून्दी के राजपुरा गांव में राज्य पुलिस द्वारा किया गया विनाश और लोमहर्षक अत्याचार, करौली भी त्रस्त। राष्ट्रीय समाचारों में पंडित रामरक्ष के ९० दिन के उपवास पश्चात बलिदान होने पर समाचार टिप्पणी।

१४- नवीन राजस्थान ७ मई १९२२ ई.

रियासती समाचारों के अन्तर्गत सिरोही एवं बिजौलिया इलाकों में गतिशील संघर्ष की सूचना।

१५- तरुण राजस्थान २४ मई १९२७ ई.

अजमेर जेल से छूटे रियासती कृषक प्रजा के सच्चे सेवक विजय सिंह पथिक के प्रति उनकी मेवाड़ यात्रा के मध्य किसानों द्वारा किये गए स्वागत-सम्मान की विस्तृत सूचना।

१६- तरुण राजस्थान १३ अगस्त १९२८ ई.

रियासती समाचारों में स्थानीय समस्याओं का प्रतिनिधित्व करते दो समाचार टिप्पणी-अलवर राज्य का कच्चा चिट्ठा और बीकानेर-बाहर वालों का प्रश्न।

१७- राजस्थान सन्देश १० नवम्बर १९२९ ई.

सम्भावित गोलमेज कान्फ्रेन्स से पूर्व प्रसारित वायसराय के भाषण में रियासती प्रजा के प्रतिनिधित्व के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार पर - राजपूताना मध्य भारत के देशी राज्यों के कार्यकर्ताओं की तीखी प्रतिक्रिया।

१८- वीर भूमि ११ जून १९३४ ई.

प्रवासी राजस्थानी श्री रतनलाल जोशी का जीवन परिचय उनके वक्तव्य सहित।

१९- नव राजस्थान २० मार्च १९३५ ई.

राजस्थान में गांधीवादी विचारधारा से अनुप्रेरित वनस्थली की जीवन कुटीर संस्था

एवं उसके संस्थापक श्री हीरालाल शास्त्री पर एक परिचायक आलेख। सम्पादकीय टिप्पणी सहित।

२०- नव राजस्थान — २४ अगस्त १९३५ ई.

रियासती प्रजा के स्वतंत्रता प्राप्ति अधिकार पर राष्ट्रीय नेता भूला भाइ देसाई का मत कांग्रेस कार्यकारिणी की सहमति सहित।

२१- नवज्योति — २५ अक्टूबर १९३६ ई.

पराधीन भारत में दोहरी गुलामी से जूझती रियासती प्रजा की तत्कालीन स्थिति को स्पष्ट चित्रित करता श्री रामनारायण चौधरी का एक आलेख। विचारोत्तेजक।

२२- नवज्योति — फरवरी १९३९ ई.

छद्मनाम -- 'एक राजस्थानी' द्वारा राजस्थान की सामन्तशाही व्यवस्था पर किया गया खुलासा।

२३- राजस्थान — १५ मार्च १९३७ ई.

संघ शासनांक विशेषांक अवसर पर संघर्ष के उस काल में राजस्थान के स्वातंत्र्य-पुंज वीर महाराणा प्रताप की स्मृति में श्रद्धांजली।

२४- नवज्योति — २१ मार्च १९३७ ई.

ब्रिटिश-सत्ता की 'फूट डालो और राज करो' की नीति का स्पष्टीकरण करता अज्ञातनाम लेखक 'एक राजस्थानी' का विचारोत्तेजक आलेख।

२५- नवज्योति — ९ मई १९३७ ई.

राजतंत्र की प्रताड़ना से निष्कासित बाबू मुक्ताप्रसाद और बीकानेरी सामन्ती शासन के शिकार उदरासर गांव के निवासी सचित्र परिचय।

२६- नवज्योति — ३ अक्टूबर १९३७ ई.

कन्हैया लाल कलयंत्री - अध्यक्ष, राजपूताना मध्य भारत सभा द्वारा प्रसारित रियासती प्रजा की मांगें।

२७- नवज्योति — २३ जनवरी १९३८ ई.

बीकानेर रियासत में नवगठित प्रतिनिधि सभा पर बाबा नरसिंहदास का एक विचारोत्तेजक आलेख।

२८- नवज्योति — ३० जनवरी १९३८ ई.

रियासती प्रजा के भिन्न-भिन्न इलाकों का प्रतिनिधित्व करती पंचत्रयी का चित्र परिचय -- वर्तमान राजस्थान के निर्माता के रूप में।

२९- नवज्योति — ६ फरवरी १९३८ ई.

रियासती प्रजा की प्रतिनिधि संस्था देशी राज्य प्रजा परिषद के प्रमुख कार्यकर्ताओं का सचित्र परिचय।

३०- नवज्योति ६ फरवरी १९३८ ई.

ब्यावर में आयोजित प्रान्तीय राजनैतिक परिषद की द्विदवर्षीय बैठक की कार्रवाई की विस्तारपूर्वक सूचना।

३१- रियासती २० दिसम्बर १९३९ ई.

राष्ट्रपति देशरत्न राजेन्द्र बाबू के जन्मदिन के उपलक्ष में राजेन्द्र कालेज छपरा के छात्रों द्वारा गायी गयी कविता का मुख पृष्ठ पर प्रकाशन।

३२- नवज्योति ६ मई १९४० ई.

राष्ट्रपिता बापू के प्रति कवि उदयसिंह भटनागर की भावनाएं कविता रूप में मुखपृष्ठ पर प्रकाशित।

33 प्रजासेवक ८ अक्टूबर १९७१ ई.

गाँधी जयन्ति के सन्दर्भ में देशी नरेशों के नाम पूज्य बापू का सन्देश - जनता के सच्चे सेवक बनो।

३४- प्रजासेवक १२ नवम्बर १९४० ई.

सुप्रसिद्ध गांधीवादी विचारधारा के कवि श्री सोहनलाल द्विवेदी की राष्ट्रीय विचारधारा से परिपूर्ण एक कविता - 'बढ़े चलो बढ़े चलो' तथा तत्कालीन राष्ट्रभावना से प्रेरित कवि सुधीन्द्र एम.ए. की एक कविता - 'अरी ओ मर मिटने की प्यास' का मुख-पृष्ठ पर प्रकाशन।

३५ हिन्दुस्तान कांग्रेस अंक १९३९ ई.

स्वतंत्रता संग्राम में महिलाओं की भूमिका को उजागर करता श्री मुकट बिहारी वर्मा का आलेख चित्र परिचय सहित।

३६- प्रजासेवक १४ जनवरी १९४१ ई.

कविवर सुधीन्द्र एम.ए. 'साहित्यरत्न' का राष्ट्रवादी भावना का एक प्रेरक गीत 'अब गीत प्रलय के गा कोकिल' मुखपृष्ठ पर प्रकाशित।

३७- प्रजासेवक ६ मई १९४१ ई.

अंग्रेज सरकार की 'फूट डालो राज करो' नीति का खुलासा करता पूज्य बापू का वक्तव्य कि 'फूट का कारण विदेशी शासन है।' तथा साथ ही कवि सुमनेश जोशी की कविता 'हमने सीना तान लिया है' मुखपृष्ठ पर प्रकाशन।

३८- प्रजासेवक २१ मई १९४१ ई.

राजस्थान के दो जन नायक शीर्षक अन्तर्गत सेठ जमनालाल बजाज (नागपुर सेन्ट्रल जेल में) एवं श्री जयनारायण व्यास के अस्वस्थता के समाचारों का मुखपृष्ठ पर प्रकाशन।

३९. प्रजासेवक २८ मई १९४१ ई.

मारवाड़ के जागीरी गांवों की दुर्दशा से पीड़ित पूज्य बापू का तार सन्देश श्री जयनारायण व्यास के नाम।

तथा साथ ही कुमारी शकुन्तला द्वारा रचित महिलाओं की स्वातंत्र्य युद्ध में भागीदारी का आह्वान गीत।

४० प्रजासेवक २६ नवम्बर १९४१ ई.

राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत कवि श्री सुमनेश की कविता 'मां के बन्धन खोल सकेंगे' पूरे एक पृष्ठ की सामग्री।

४१ - प्रजासेवक २७ दिसम्बर १९४१ ई.

रियासती इलाके नागौर के डीडवाना गाँव में नमक बिक्री की प्रक्रिया में अपनाई गई सरकारी अधिकारियों की धाँधली और मनमानी - लेखक श्री कल्याण नारायण मधुसुर की चश्मदीद गवाही के रूप में एक आलेख।

४२- प्रजासेवक १ नवम्बर १९४५ ई.

उत्तरदायी शासन की मांग पर जोधपुर रियासत में हुए आन्दोलन को पंडित नेहरू का प्रेरणा सन्देश विशेष रिपोर्ट रूप में।

४३ - प्रजासेवक ५ दिसम्बर १९४५ ई.

दिल्ली के लाल किले में आजाद हिन्द फौज के अफसरों पर चलाए गए ऐतिहासिक मुकदमें की तारीख पेशी पर हुई कार्रवाई की सूचना।

४४- प्रजासेवक ५ दिसम्बर १९४५ ई.

स्वातंत्र्य संग्राम में विद्यार्थियों की निर्णायक भूमिका पर श्री हुकमराज मेहता का एक स्थितिपरक समीक्षात्मक लेख।

४५- प्रजा सेवक २२ सितम्बर १९४५ ई.

बीकानेर रियासत में 'प्रजा सेवक' प्रतिबन्धित किये जाने की सूचना।

४६ प्रजासेवक ३ अक्टूबर १९४५ ई.

मुम्बई महानगरी में दिनांक २२, २३ तथा २४ सितम्बर १९४५ को हुए कांग्रेस महासमिति के तीन दिवसीय सम्मेलन की विस्तृत सूचना।

तथा साथ ही राष्ट्रपिता की 77वीं वर्षगाँठ समारोहपूर्वक मनाए जाने की सूचना।

४७- प्रजासेवक १६ जनवरी १९४६ ई.

२६ जनवरी १९४६ - पूरे देश में स्वाधीनता के रूप में कब मनाए जाने के कांग्रेस के आह्वान पर स्वाधीनता सेनानियों द्वारा ली जाने वाली प्रतिज्ञा का प्रारूप।

४८- प्रजासेवक ८ मार्च १९४६ ई.

लोक परिषद के नावां अधिवेशन में सभापति श्री जयनारायण व्यास का भाषण -- रियासती जनता की उपेक्षा पर रोष व भविष्य में भी खतरे की आशंका।

४९- आज का बीकानेर २९ जून १९४६ ई.

बीकानेर राज्य प्रजापरिषद का कलकत्ते से प्रकाशित मुखपत्र - बीकानेर रियासत की गतिविधियों को प्रदर्शिता करता पत्र का एक पृष्ठ।

५०- प्रजासेवक ८ मार्च १९४६ ई.

राष्ट्रीय विचारधारा एवं गांधीवादी शिक्षण पद्धति पर आधारित वनस्थली के महिला विद्यापीठ का परिचयात्मक आलेख।

५१- जयहिन्द १८ जून १९४६ ई.

सम्पादकीय टिप्पणी में सम्पादक नाथूलाल वीर द्वारा 'खुली बगावत' की सीख।

------ ---0-----------

॥ ग ॥

गवर्नर का गुस्सा : मारवाड़ियों पर दोषारोपण

पंडित झावरमल्ल शर्मा

बंगाल के गवर्नर लार्ड रोनाल्डशे की उस वक्तृता को पाठक पढ़ चुके हैं जो उन्होंने गत रविवार की शाम को मारवाड़ी और भाटिया जाति के कुछ प्रतिनिधियों को अपने घर पर बुलाकर सुनायी थी। वक्तृता को हमने ध्यानपूर्वक पढ़ा है और उस दिन के अभिनय की बातें भी पूरी तौर से सुनी हैं। बड़े विचार के बाद हमें इस सिद्धान्त पर ठहरना पड़ता है कि गवर्नर साहब का क्रोध अकारण ही इतना चढ़ गया और उन्होंने गुस्से में आकर इतने भले आदमियों को भला बुरा कह डाला। यह सच है, कि कर्मवीर गांधी के सत्याग्रह के मूल सिद्धान्त के साथ एक मारवाड़ियों की क्या सभी देशवासियों की सहानुभूति है, फिर मारवाड़ियों को ही इसके लिये लाल आंखें क्यों दिखलायी जाती हैं?

सत्याग्रह का सिद्धान्त भारत वर्ष का सनातन सिद्धान्त है। विस्मृति के पर्दे ने उसे भुला दिया था। कर्मवीर गांधी ने अपना आदर्श सामने रख कर पर्दे को हटा दिया। हनुमानजी की तरह भारतवासियों को अपना बल याद आ गया। देश में जागृति पैदा हो गयी। इस जागृति को न गवर्नर साहब, बंगाल रोक सकते हैं और न दिल्ली के कर्नल बीडन या बीडन के बड़े भाई सर ओडायर। सत्याग्रह सिद्धान्त की पवित्रता ही उसके अधिक फैलाव का कारण है। परन्तु उससे यह नतीजा निकालना कि दिल्ली, अमृतसर, लाहौर, अहमदाबाद और कलकत्ते की दुर्घटनाएं सत्याग्रहियों द्वारा हुई हैं, सत्य की हत्या करना है। कर्मवीर गांधी जो सत्याग्रह के आचार्य हैं, खूनखराबी और उपद्रव को सत्याग्रह-सिद्धान्त के प्रतिकूल घोषित कर चुके हैं। दरअसल उपद्रव की जड़ पुलिस की कड़ाई है। यदि पुलिस की कड़ाई उपद्रव का कारण न होती तो गत छठी एप्रिल को देश भर में गदर मच जाता। कारण, कि उस दिन ऐसा कोई स्थान नहीं था जहां सहस्त्रों की संख्या में नहों लाखों की संख्या में लोगों ने समवेत हो मातम न मनाया हो। उस दिन के कलकत्ते के दृश्य को हमारे गवर्नर महोदय ने देखा नहीं तो सुना जरूर रोगा, किन्तु क्या जरा भी यहां अशान्ति का भाव पैदा हुआ था? यहां तक कि विस्टल होटल के उद्धत गोरों के पत्थर फेंकने पर भी लोग चुपचाप अपने घरों को चले गये थे। उस दिन भी यदि पुलिस को शान्तिरक्षा का भार सौंप दिया जाता तो न जाने कितने निरपराधों के प्राण जाते। उस दिन की आपकी विवेचना-बुद्धि की सभी ने तारीफ की थी। अब कलकत्ते के उपद्रव के लिये गवर्नर महोदय को दूसरों के सिर दोष थोपने की जरूरत नहीं, उनके लिए उन्हें अपने कड़ाई के विचार का मशकूर होना चाहिये। जब मि० चक्रवर्ती आपसे मिलने गये थे, तब निवेदन किया था कि यदि अब भी सशस्त्र पुलिस को विदा कर दिया जाये अथवा लोगों की आंखों की ओट से हटा दिया जाये, तो किसी तरह के भी दंगे-फसाद की सम्भावना न रहेगी। इसके लिये मि० चक्रवर्ती दायित्व लेने को भी तैयार थे। किन्तुं गवर्नर साहब इस बात पर राजी न हुये और अब उसके परिणाम के लिए आज आप मारवाड़ियों को धमकाते हैं। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है। मारवाड़ी जाति

स्वभाव से ही शान्त है। उसे उपद्रवकारी बता कर गवर्नर महोदय ने गहरी भूल की है, क्योंकि किसी निर्दोष को दोषी बताना उसके हृदय में भारी चोट पहुंचाना है। कर्मवीर गांधी की गिरफ्तारी पर अपने अन्यान्य भारतीय बन्धुओं के साथ मारवाड़ियों ने भी हड़ताल जरूरी की थी, और इसके लिये उन्हें कोई दोष नहीं दिया जा सकता। परन्तु हड़ताल करना और उपद्रव करना एक नहीं है। देशवासियों के साथ हड़ताल करने के कारण मारवाड़ियों के कानून पसन्द और व्यापार-सफल होने में कोइ बट्टा नहीं लगता। हम गवर्नर साहब की इस बात का घोर प्रतिवाद करते हैं कि कलकत्ते का पिछले दो दिनों का उपद्रव मारवाड़ी जाति के एक भाग ने जो काम किया है उसी के कारण हुआ है।

कष्ट सहिष्णुता के पर्याय सत्याग्रह-सिद्धांत के प्रचार को अशान्ति का रूप बताना भी सत्याग्रह के तत्व से अपरचित होने का परिचायक है। क्योंकि स्वयं कर्मवीर गांधी जी यह प्रचारित कर चुके हैं कि जो उपद्रव करते हैं वह सत्याग्रही नहीं, दुराग्रही हैं। गांधीजी ने लोगों को स्पष्ट उपदेश दिया है कि दुराग्रही मत बनो। उपदव मचाना सत्याग्रहियों का काम नहीं। जो उपद्रव करने के कारण सजा पाये, उनके साथ किसी की सहानुभूति न होनी चाहिये। जिस सत्याग्रह का यह उच्चादर्श है, वर्तमान शान्ति को उसका कुपरिणाम बताना भी प्रत्याख्यान का विषय है। तर्क के लिये मान लीजिये कि सत्याग्रह का दुष्परिणाम उपद्रव है, तो कलकत्ते में उसके होने का कोई कारण न था। क्योंकि हम जहां तक जानते हैं कलकत्ता में किसी ने सत्याग्रह के शपथ पत्र पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं यद्यपि उससे लोग सहानुभूति रखते हैं। इसके सिवाय बम्बई रसातल में क्यों न धंस गइ जहां एक नहीं, कई सौ सत्यग्रही अपना कार्य कर रहे हैं।

हमें यह सुनकर आश्चर्य हुआ कि श्रीमान गवर्नर महोदय के साथ-साथ सर कैलाशचन्द्र बोस ने भी लगे हाथों मारवाड़ियों को फटकार बता दी। आत्मविस्मृत मारवाड़ी ऐसे हैं, जिनको चाहे कोई खरीखोटी सुना आये। यदि ऐसा न हो तो, मारवाड़ियों की मानप्रतिष्ठा और धन से ही प्रतिष्ठित बने हुए लोग क्या उनकी बुरी तरह आलोचना कर सकते हैं? अच्छा हुआ, श्रीमान बर्दमान नरेश ने गवर्नर साहब के कथन का स्पष्टीकरण कर दिया और लोगों को समझा दिया कि मारवाड़ी मैदान की मीटिंग में क्यों गये, यह बात सर कैलाश के मस्तिष्क से ही पैदा हुई है। गवर्नर साहब के कथन का यह अभिप्राय नहीं है। मीटिंग में जाने में कोई दोष नहीं। परन्तु जो बखेड़ा हुआ, यह ठीक नहीं, उससे सबकी हानि है। बेशक, इस बात को कौन अस्वीकार कर सकता है, कि बखेड़े-उपद्रव से हानि नहीं होती। परन्तु प्रश्न यह है कि बखेड़ा किया किसने? इसमें मारवाड़ियों का क्या अपराध? शान्तशिष्ट मारवाड़ी जाति पर उपद्रव करने का दोषारोपण नितान्त मिथ्या है और इस दोषारोपण का ही यह फल हुआ कि गत सोमवार को गोरे व्यवसायियों से उनको अपमान सहन करना पड़ा। इस विषय में हम मारवाड़ी समाज के उन कमजोर कर्णधारों से भी कुछ कहना चाहते हैं और वह यह है कि तुम्हारा अशिक्षित होना, तुम्हारी कमजोरी, तुम्हारा दब्बूपन ही तुम्हारा अपमान कराता है। यदि तुममें शिक्षा होती, यदि तुम में आत्मिक बल होता तो क्या गवर्नर के दोषारोपण का यथार्थ उत्तर दिये बिना तुम चले आते। क्यों सर कैलाश बोस की

खरी-खोटी बातें 'गरदन हिलाकर' सुनते रहते। तुम्हारा दब्बूपन ही तुम्हारी भावी उन्नति का बाधक है। तुम चाहते हो कि म्युनिसिपैलिटियों में तुम्हें स्थान मिले, कौंसिलों में तुम्हारे प्रतिनिधि लिये जायें, यह तो तुम्हारे हृदय की वासनायें हैं और उधर जरा अधिकारियों के आंख दिखाने पर 'न बाबा' कहकर भागते हो। एंग्लोइण्डियन अखबार काम पड़ने पर तुम्हें भरपेट कोसते हैं परन्तु तुम कान में तेल डाले सुनते रहते हो। तुम्हारा कोई जोरदार अंग्रेजी पत्र नहीं। जिसके द्वारा तुम दूसरों के किये हुए आक्रमणों का जवाब दे सको। जवाब देना तो दूर रहा, जिन पत्रों के तुम्हारा सम्पर्क है, उनके राजनैतिक आंदोलन के लिये हो 'तोबा' करने को तैयार रहते हो। किसी में तुम्हारा विश्वास नहीं। यही कारण है, कि तुम दुरदुराये जाते हो। शास्त्र का सिद्धांत है कि 'संशयात्मा विनश्यति'। इसलिये संभल जाओ और अपनी जाति में विद्या का प्रचार कर उसे उठाओ। जो कुछ काम करो स्पष्ट और विश्वास के साथ करो। किसी की दबावट अकारण मत सहो। उसी दशा में वर्तमान संघर्ष के समय में तुम ठहर सकोगे।

('कलकत्ता समाचार', वैशाख कृष्णा १, सं० १९७६)

महाराणा प्रताप की सम्पत्ति

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

कर्नल टॉड ने लिखा है - 'शत्रु के प्रवाह को रोकने में असमर्थ होने के कारण उसने (प्रताप ने) अपने चरित्र के अनुकूल एक प्रस्ताव किया और तदनुसार मेवाड़ एवं रक्त से अपवित्र चितौड़ को छोड़ कर सिसोदियों को सिन्धु के तट पर ले जाकर वहां की राजधानी सोगड़ी नगर में अपना लाल झंडा स्थापित करने एवं अपने तथा अपने निर्दय शत्रु (अकबर) के बीच रेगिस्तान छोड़ने का निश्चय किया। वह अपने कुटुम्बियों, मेवाड़ के सरदारों और जागीरदारों के दृढ़ और निर्भीक समुदाय के साथ, जो अपमान की अपेक्षा स्वदेश निर्वासन को अधिक पसन्द करता था, अरवली पर्वत से उतर कर रेगिस्तान की सीमा पर पहुंचा। इतने में एक ऐसी घटना हुई, जिससे उसको अपना विचार बदल कर अपने पूर्वजों की भूमि में ही रहना पड़ा। यद्यपि मेवाड़ की ख्यातों में असाधारण कठोरता के कामों का उल्लेख मिलता है, तो भी वे अद्वितीय राजभक्ति के उदाहरणों से खाली नहीं है। प्रताप के मन्त्री (भामाशाह) ने, जिसके पूर्वज बरसों तक उसी पद पर नियत रहे थे, इतनी सम्पत्ति राणा को भेंट कर दी कि जिससे पच्चीस हजार सेना का १२ वर्ष तक निर्वाह हो सकता था। भामाशाह मेवाड़ के उद्धारक के नाम से प्रसिद्ध है।'[१]

टॉड के इस कथन का सारांश यही है कि महाराणा प्रताप के पास अकबर जैसे शत्रु से लड़ते रहने के लिए सम्पत्ति न होने के कारण उसने अपने कुटुम्बियों और सरदारों आदि सहित मेवाड़ को छोड़ कर सिंध में जाने और वहां नई राजधानी स्थापित करने का दृढ़ संकल्प कर रेगिस्तान की तरफ प्रयाण किया, परन्तु मार्ग में ही, उसके मन्त्री भामाशाह ने बहुत बड़ी सम्पत्ति उसके नजर कर दी, जिससे उसका उत्साह बढ़ा और वह मातृभूमि को लौट आया। टॉड के इस कथन को हम बहुधा कल्पित कथा ही समझते हैं। भामाशाह और उसका पिता (भारमल) उदयपुर राज्य के सच्चे स्वामिभक्त सेवक अवश्य थे, और भामाशाह राज्य की सम्पत्ति की सुव्यवस्था करता रहा, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु आधुनिक शोध के आधार पर यह बात सिद्ध होती है कि महाराणा प्रताप के पास अतुल सम्पत्ति विद्यमान थी और धन की कमी के कारण उसके स्वदेश को छोड़ कर अन्यत्र जा बसने का विचार सर्वथा निर्मूल है।

अब प्रताप की सम्पत्ति के विषय में नीचे संक्षेप से विचार किया जाता है :-

प्रतापी महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) और संग्राम सिंह (सांगा) ने दूर-दूर तक विजय कर बड़ी समृद्धि संचित की थी। महाराणा उदय सिंह के समय बादशाह अकबर ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया, उसके पूर्व ही महाराणा अपने कुटुम्ब सहित चित्तौड़ छोड़ कर मेवाड़ के सुरक्षित पहाड़ों में जा रहा। उस समय राज्य की सारी सम्पत्ति चित्तौड़ से हटा ली गई थी,

---

१. *'टाड-राजस्थान', जिल्द १, पृष्ठ ४०२-३ (आक्सफोर्ड-संस्करण)।*

जिससे अकबर को चित्तौड़ विजय करने पर कुछ भी द्रव्य न मिला। यदि कुछ भी सम्पत्ति उसके हाथ लगती तो अबुल फजल जैसा खुशामदी लेखक राई का पहाड़ बना कर उसका बहुत कुछ वर्णन अवश्य करता, परन्तु उसका इस विषय में मौन धारण करना ही इस बात का प्रमाण है कि मेवाड़ की संचित संपत्ति का कुछ भी अंश अकबर के हाथ न लगा और वह ज्यों की त्यों सुरक्षित रही।

चित्तौड़ छूटने के बाद महाराणा उदय सिंह के लिए सम्पत्ति एकत्र करने का तो कोई साधन ही नहीं रहा था, उसके पीछे महाराणा प्रताप सिंह मेवाड़ के राज्य-सिंहासन पर बैठा, जो बहुधा उम्र भर मेवाड़ के विस्तृत पहाड़ी प्रदेश में रह कर अकबर से लड़ता रहा। प्रताप सिंह के पीछे उसका ज्येष्ठ कुँवर अमर सिंह मेवाड़ का स्वामी हुआ, वह भी लगातार अपने राज्य की स्वतन्त्रता के लिए अपने पिता प्रताप का अनुकरण कर अकबर और जहाँगीर का मुकाबला करता रहा।

महाराणा प्रताप सिंह के समय मुसलमानों से लगातार लड़ाइयां होने के कारण चतुर मंत्री भामाशाह ने राज्य का खजाना सुरक्षित स्थानों में गुप्त रूप से रखवाया था, जिसका ब्यौरा वह अपनी एक बही में रखता था। उन्हीं स्थानों से आवश्यकतानुसार द्रव्य निकाल कर वह लड़ाई का खर्च चलाता था। महाराणा अमर सिंह के समय विक्रमी संवत् १६५६ माघ सुदी ११ को उसका देहान्त हुआ। देहान्त से पूर्व उसके उपर्युक्त बही जो अपनी स्त्री को देकर कहा कि इसमें राज्य के खजाने का ब्योरेवार विवरण है, इसलिए इसको महाराणा के पास पहुँचा देना।

ऐसी दशा में यह कहना अनुचित न होगा कि चित्तौड़ का किला अकबर के हस्तगत होने के पीछे मेवाड़ के राजाओं को संपत्ति एकत्र करने का अवसर ही नहीं मिला था। विक्रमी संवत १६७१ में महाराणा अमर सिंह और बादशाह जहाँगीर की सन्धि हुई। उस समय महाराणा ने शाहजादा खुर्रम से मुलाकात करते समय एक लाल नजर किया जिसके विषय में जहाँगीर अपनी दिनचर्या में लिखता है, -'उसका मूल्य ६०,०००/- रुपया और तोल आठ टाँक था। यह पहले राठोड़ों के राजा राव मालदेव के पास था। उसके पुत्र चन्द्रसेन ने अपनी आपत्ति के समय उसे उदय सिंह को बेच दिया था।[१] वि. सं.१६७३ में शाहजादा खुर्रम दक्षिण में जाता हुआ मार्ग में उदयपुर ठहरा। उस प्रसंग में बादशाह जहाँगीर अपनी दिन-चर्या में लिखता है - 'शाह खुर्रम ने राणा के सम्मान का पूरा खयाल रख कर उसे खिलअत, चारकब, रत्नजड़ित तलवार, जड़ाऊ खपवा (एक प्रकार का शस्त्र), ईरानी और तुर्की घोड़े और एक हाथी देकर सम्मान के साथ उसको विदा किया। उसने राणा के कुँवरों तथा सम्बन्धियों को खिलअतें दीं। राणा ने शाहजादे को ५ हाथी, २७ घोड़े और रत्नों तथा रत्नजड़ित जेवरों से भरा एक थाल नजर किया, परन्तु शाहजादे ने केवल तीन घोड़े लेकर बाकी सब चीजें वापिस कर दीं।[२]' जहाँगीर के इन कथनों से महाराणा अमर सिंह के समय की मेवाड़ की सम्पत्ति का कुछ अनुमान पाठक लोग कर

२. *'तुजुके जहाँगीरी' का अंग्रेजी, राजर्स और बैवरिज-कृत अनुवाद, जिल्द १, पृ. २८५-८५।*

३. *'तुजुके जहाँगीरी' का अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द १, पृष्ठ ३४५।*

सकेंगे। यदि महाराणा प्रताप सिंह के पास कुछ भी सम्पत्ति न होती, तो उसका पुत्र महाराणा अमर सिंह संधि के समय ही इतने रत्नादि कहाँ से प्राप्त कर सकता?

अमर सिंह के पीछे उसका ज्येष्ट पुत्र कर्ण सिंह राजगद्दी पर बैठा, जिसका सारा समय अपने उजड़े हुए इलाकों को आबाद करने में लगा। तदन्तर महाराणा जगत सिंह मेवाड़ का शासक हुआ, जो बड़ा ही उदार राजा हुआ। उसने लाखों रुपए लगा कर उदयपुर में जगन्नाथ राव (जगदीश) का मन्दिर बनवाया और उसकी प्रतिष्ठा में लाखों रुपये खर्च किये। उसने अनेक बहुमूल्य दान किये जिनमें से कल्पवृक्ष दान विशेष उल्लेखनीय है, क्योंकि कल्पवृक्ष की वेदी स्फटिक की बनी थी, मूल में नीलमणि (नीलम) मस्तक में बैडूर्य-मणि (लहसनिया), तने में हीरे, शाखाओं में मरकत (माणिक), पत्तों में विद्रुम (मूंगे), फूलों के स्थान में मोतियों के गुच्छे और फलों के स्थान में भिन्न-भिन्न रत्न लगे हुए थे। उसके नीचे ब्रह्मा, शिव, विष्णु और कामदेव की मूर्तियां बनी थीं।[1] उसने सैकड़ों हाथी, हजारों घोड़े और बहुत से गाँव दान किये।[2] प्रारंभ में वह प्रतिवर्ष अपनी जन्म गांठ के दिन चाँदी की तुला करता था[3], परन्तु वि. सं. १७०५ से प्रतिवर्ष उस अवसर पर सोने की तुला करता रहा।[4] उसकी दानशीलता बहुत ही प्रसिद्ध है। उसके पीछे उसका ज्येष्ठ कुंवर राजसिंह मेवाड़ के सिंहासन पर वि. सं. १७०९ कार्तिक वदी९ को बैठा। उसने उसी वर्ष के मार्ग शीर्ष मास में एकलिंगजी जाकर वहां रत्नों का तुलादान किया।[5] ऐसा उक्त तुलादान के सम्बन्ध की प्रशस्ति से, जो थोड़े ही वर्ष पूर्व मिली है और जो इस समय उदयपुर के विक्टोरिया हाल में सुरक्षित है, पाया जाता है। भारतवर्ष-भर में रत्नों के तुलादान का यही एक प्राचीन लिखित प्रमाण मिला है। उसने राजसमुद्र नाम का प्रसिद्ध तालाब[6] बनवाया, जिसमें १,०५,०७,५८४/- रुपये व्यय हुए।[7]

---

१. स्फटिक्यां वेदिकायां कलयति भुवि यो मलदेशेपुनीलम्, वैडूर्यं मस्तके प्राक् तदनु गुरुगुणान् हीरकान् स्कन्ध केषु ११ मौलिरते शाखिकाग्रे मरकत मतुलं वैद्रमान् पल्लवोधात मुक्त गुच्छान...हयमणि गोमस्फल : पंचशाख : ॥ ११०॥ ब्रह्मा: रुद्रोऽपि विष्णुस्तदनु रतिपति: स्थापितं यस्य नीचै: सोयं संकल्पवृक्षो परतरूसहित: श्रीजगत् सिंह हस्तात् ।...// ॥। //

जगन्नाथ राय के मन्दिर की प्रशस्ति।

२. सिन्धुर दीधा सातसै, हयवर पांच हजार
एकावन सासण दिया, जगपत जगदातार॥
प्राचीन पद्य।

३. 'राजप्रशस्ति' महाकाव्य, सर्ग ५ श्लोक ३४।

४. वही, सर्ग ५, श्लोक ३५-३६।

५. उक्त तुलादान की प्रशस्ति, श्लोक १८।

६. तालाब के विशेष विवरण के लिए देखो मेरा 'राजपूताने का इतिहास', जिल्द १, पृ. ३१०-११।

७. एका कोटि: पञ्च लक्षाणि रूप्य-
मुद्राणां वा सत्सहस्राणि सप्त।
लग्नान्यस्मिन् षट्शतान्यष्टकं वै

ऊपर उद्धृत किए हुए प्रमाणों से पाठकों को उदयपुर राज्य की समृद्धि का ठीक-ठीक अनुमान हो सकेगा। हम ऊपर बता चुके हैं कि महाराणा उदय सिंह, प्रताप सिंह और अमर सिंह को तो सम्पत्ति संचित्त करने का अवकाश ही नहीं मिला। महाराणा कर्ण सिंह अपने उजड़े हुए राज्य को आबाद करने में ही लगे रहे। महाराणा जगत सिंह और राजसिंह को बाहर से कोई सम्पत्ति नहीं मिली। अतएव यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि यह सारी सम्पत्ति कुंभा और सांगा की संग्रह की हुई थी और महाराणा प्रताप सिंह के समय में ज्यों की त्यों विद्यमान थी। ऐसी दशा में यह मानना कि प्रताप सिंह के पास अकबर के साथ की लड़ाइयों के समय सेना का खर्च चलाने के लिए कुछ भी द्रव्य न था, जिससे वह मेवाड़ छोड़ कर सिन्ध में राज्य स्थापित करने को जा रहा था, परन्तु मन्त्री भामाशाह के अपनी सारी सम्पत्ति नजर करने पर वह पीछे अपनी मातृभूमि को लौट आया, सर्वथा निर्मूल है। कर्नल टॉड का उपर्युक्त कथन, सुनी सुनाई बातों के आधार पर लिखा जाने के कारण, विश्वास के योग्य नहीं है। वस्तुत: महाराणा प्रताप बहुत सम्पत्तिशाली था और उसके पास धन की कोई कमी न थी। इसी से वह तथा उसका पुत्र दोनों बरसों तक बादशाहों से लड़ने में समर्थ हुए थे।

(त्यागभूमि, अजमेर, वर्ष-१, अंक-१, विजया दशमी, सं. १९८४)

उद्धार कैसे हो ?

हीरालाल शास्त्री

भारत वर्ष पराधीन क्यों है ? यहाँ पर कमी किस बात की है ? इस देश पर प्रकृति प्रसन्न है। इस देश में करोड़ों इतर देशीय लोग अपना पेट भरते हैं। इस देश के मनुष्यों में आजकल भी जगत्प्रसिद्ध कवि, वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ और आचार्य मौजूद हैं। सम्पत्तिशाली मनुष्यों की भी वैसी कमी नहीं है फिर भी यह देश पराधीन है, और इस देश के रहने वालों को अपने स्वाधीन होने की आशा दूर भागती हुई दिखाई देती है ! यह क्यों ? इसका कारण ? कसर किस बात की है ?

इस प्रश्न का उत्तर देना जितना सहज है उतना ही कठिन है। सब अपने-अपने दृष्टिकोण से इसका उत्तर देने को तैयार हैं। फ़ौरन कहा जा सकता है - यहाँ पर एकता नहीं, यहाँ हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य बढ़ा हुआ है; यहाँ पर हिन्दू-समाज संगठित नहीं है; यहाँ पर जनता का एक बड़ा भाग अछूत समझा जाता है; यहां पर असंख्य विधवायें कष्ट भोग रही हैं; यहां नाना प्रकार की सामाजिक कुरीतियाँ प्रचलित हैं; यहाँ पर प्राचीन मर्यादा छोड़ दी गई है, वर्णाश्रम-व्यवस्था का भङ्ग हो गया है; यहां के लोग संसार के साथ चलने को तैयार नहीं हैं - वे कूपमण्डूक हैं और दूसरों से सद्गुण लेने को तत्पर नहीं हैं; यहाँ की शिक्षा-पद्धति अच्छी नहीं; व्यवसाय सीखने का सुप्रबंध नहीं; ब्रिटिश लोग इस देश को स्वाधीन नहीं होने देते; वे इस देश के निवासियों को सैनिक शिक्षा नहीं देते, वे दमन-नीति का प्रयोग करते हैं, यहाँ के उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन नहीं देते। और भी अनेक बातें इस प्रश्न के उत्तर में कही जा सकती हैं और इन बातों की सचाई को अस्वीकार भी कौन कर सकता है ?

परन्तु मेरे मन में तो यह प्रश्न फिर भी ज्यों का त्यों रहता है; और मैं तो फिर पूछता हूँ - आख़िर भारत वर्ष पराधीन क्यों है ? मेरी समझ में तो सब बातों की एक बात यह है कि भारत पराधीन है, क्योंकि भारतवासियों को स्वाधीन होने की सच्ची लगन नहीं है। संभव है, इस बात को ठीक न समझा जाय; संभव है, इस उत्तर में क्षुद्रता की गन्ध जान पड़े; परन्तु मैं तो फिर भी यही कहूँगा कि भारतवासियों को स्वाधीन होने की सच्ची लगन नहीं है। इसका अर्थ यह है, हम लोगों की नस-नस में कौटुम्बिकता भरी पड़ी है; सामाजिक जीवन का रहस्य क्या है, मालूम होता है, यह हमने समझा ही नहीं है। जितनी चिन्ता हमको अपना विवाह करने की, अपने बालकों को सुशिक्षित बनाने की, कुटुम्ब का भरण-पोषण करने की, समाज में बड़ा कद लाने की, अपने मौज से रहने की है, उससे सौवां हिस्सा भी देश का कार्य करने की चिन्ता हमको नहीं है। जब समाज, देश या धर्म के लिए कुछ करने का प्रश्न उठता है, तो हमारी सबकी 'परिस्थिति' आकर सामने खड़ी हो जाती है पर पुत्र या पुत्री का विवाह करना होगा, तो चाहे कहीं से भी रुपया लावेंगे, उधार भी लावेंगे और

धूमधाम से विवाह करेंगे। पिता का श्राद्ध करना होगा, तो किसी भाँति से भी उसे सम्पन्न करेंगे। बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध करने में कुछ उठा न रक्खेंगे - और नहीं तो किसी भले आदमी से छात्रवृत्ति की भिक्षा ही माँगेंगे। हमारा आशय यह नहीं कि कुटुम्ब का पालन करना, सन्तान को शिक्षा देना आदि मनुष्य के लिए कर्त्तव्य नहीं है। इन शब्दों का यह अर्थ लगाना तो लेखक पर अन्याय करना होगा। मेरा आशय तो यह है कि क्या मनुष्य का कुटुम्ब के प्रति ही कर्तव्य है, समाज के प्रति कुछ भी नहीं है क्या? जिस देश में जन्म लिया, जहाँ के जलवायु से पोषित हुए, जिसमें रहते हैं, शिक्षा पाये हैं, क्या उस देश का हमारे ऊपर किसी प्रकार का हक़ ही नहीं है?

जिस देश में रह कर हम सैकड़ों, हजारों, लाखों अथवा करोड़ों कमाते हैं, उस देश के कार्य के लिए देते समय हमारी 'परिस्थिति' क्यों रुकावट पैदा करती है? दूसरे कार्यों को इतना आवश्यक समझते हैं, तो समाज के कार्य को भी उतना आवश्यक क्यों नहीं मानते? जिस देश में रहकर अपने निज के कार्य के लिए २४ घण्टे बिताते हैं, उस देश के कार्य के लिए घण्टा दो घण्टा भी नहीं बचा सकते? चार भाई ख़ूब कमाने पर उतरे हुए हैं, तो वे पांचवें को देश सेवा के लिए भी क्यों नहीं समर्पण कर देते?

महात्मा गांधी ने एक बार लिखा था - दूसरे देशों में देश-भक्ति करना जनता का स्वभाव है, इस देश में देशभक्ति भी सिखाना पड़ता है। महात्मा जी की यह उक्ति मुझको अक्षरशः सही मालूम पड़ती है। इसका तात्पर्य यह है कि हमलोग अपने व्यक्तिगत अथवा कौटुम्बिक हित-साधन के लिए चाहे जितना परिश्रम कर सकते हैं, परन्तु सामाजिक हित-साधन के लिए भी उतना ही परिश्रम करने को हम तैयार नहीं हैं। समाज के व्यक्तियों की इस दुरवस्था के बराबरी का और कोई दुर्भाग्य समाज के लिए नहीं है। जब सभी यह कह कर दूर हट जावें 'साहब, हमारे तो घर की स्थिति ऐसी नहीं है - क्या करें?' तो फिर बताइये देश का कार्य करेगा कौन? पराधीनता ऐसी वैसी बात तो है नहीं जिसे मिटाने में आप अपने व्यक्तिगत और कौटुम्बिक सुख को बिना छोड़े हुए ही सहायक हो सकें। जिस प्रकार हम अपने आपको असमर्थ मानकर चुप हो जाते हैं, वैसे ही दूसरे भी अपने आपको असमर्थ मान लेंगे, तो उन्हें कुछ कहने का इसे क्या अधिकार हो सकता है?

यह तो हुई एक बात। दूसरी बात यह है कि हम शास्त्रार्थ तो बहुत करते हैं, परन्तु जितना शास्त्रार्थ करते हैं इसके शतांश का भी प्रभाव हमारे खुद के जीवन पर नहीं पड़ता। जिस मार्ग पर चलने का वास्तव में हमारा निश्चय कभी भी नहीं होता, उसका अन्त पहले से ही देख लेने का लोभ हमको रहता है। पाठशाला के विद्यार्थी अपनी वाद सभा में कुछ भी प्रस्ताव सर्व-सम्मति से स्वीकार कर लेने पर भी अपने को उस प्रस्ताव से बँधा हुआ नहीं मानते। यही भाव हमारा है। हम बहस तो बहुत फैला लेंगे, पर निर्णय पर पहुंचने में बड़ा समय लगायेंगे, किंतु निर्णय हो जाने के बाद कुछ करना भी है, इसका विचार ही नहीं आता है। केवल कल्पना के क्षेत्र में विचरण करने से हमारा जी नहीं ऊबता। कुछ सभाओं का मुझे अनुभव है। वहां पर उद्देश्य, नियम स्थिर करने में बड़ी बहस चली-घण्टे बीत गये; परन्तु जिन्होंने इस बहस को लम्बी की, उनके कुछ भी न करने के इरादे का तड़पाने वाला

ज्ञान मुझको है। जिसको वादा करके पूरा करने का भी ध्यान रहता है, वह सदा सोच-समझकर वादा करेगा। जिसको वास्तव में चन्दा देना है, वह सोच-समझ कर लिखेगा। जिसको बहस के बाद कुछ करना भी है वह, मेरी सम्मति में, अवश्य कम बहस करेगा। अतएव आजकल की परिस्थिति में जब हमको अवश्य कुछ करना चाहिए, तो केवल कल्पना से सम्बन्ध रखने वाली बहस को बढ़ाने से क्या लाभ है? क्यों व्यर्थ झूठी आपत्तियां उठा-उठाकर वास्तविक कार्य के मार्ग में कांटे फैलायें? क्यों संगृहीत मतभेद खड़े करें? महात्माजी की 'सत्य' की नीति के विरुद्ध दलील देते समय मेरे एक मित्र ने कहा- 'जब हमारे दूत दूसरे देशों में जायेंगे, तो क्या वे केवल सत्य ही बोल सकेंगे?' और सत्य ही बोलेंगे, तो क्या देश का हितसाधन कर सकेंगे? इसका क्या उत्तर दिया जाय? सत्य के आदर्श की कठिनाइयों की कल्पना करने के बजाय हमको चाहिए कि स्वयं व्यक्तिगत जीवन में तो सत्य का अभ्यास करें। मेरे मित्र की जैसी दलील से सत्य के आदर्श में विश्वास रखने वालों को धक्का पहुंचता है- और वे सत्य की कठिनाइयों की कल्पना से असत्य की ओर प्रवृत्त हो जावें, अथवा असत्य में कम बुराई देखने लग जायं, तो आश्चर्य नहीं। जिसने सत्य का अभ्यास व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन में कर लिया है, वह सहज समझ सकता है कि सत्य का सिद्धान्त व्यवहार में उतना कठिन नहीं है, जितना अभ्यास न करने वाले लोग समझते हैं।

आजकल 'त्याग' शब्द की ही दुर्दशा हो रही है। त्याग के भाव का प्रचार तो हुआ ही नहीं, उसके विरुद्ध आवाजें भी चारों ओर से उठने लगीं। इसमें भी मुझे हमारी विचार प्रणाली का ही दोष मालूम होता है। हमलोग दलील अपने सुभीते के अनुकूल कर लेते हैं। त्याग के विरुद्ध कहने वाले यह दलील देते हैं कि सभी त्यागी हो जायेंगे तो देश का क्या हाल होगा- जिनको पेट भर खाने को नहीं मिलता उन्हें त्याग के लिए कैसे कहा जाय, उन्हें तो यही उपदेश न दिया जाय कि तुम तो लाखों-करोड़ों कमाओ और आराम से रहने की योग्यता प्राप्त करो? परन्तु इस दलील के मूल में भ्रम है और, सच पूछिए तो, इस प्रकार 'त्याग' शब्द के अर्थ की ही हत्या करना है।

त्याग शब्द का अर्थ केवल इतना ही होना चाहिए कि हमलोग हमारे लिए जैसे परिश्रम करते हैं, कमाते हैं, वैसे ही समाज के लिए भी करें। संसार को त्याग देना, देश को त्याग देना, विरक्त हो जाना, कम कमाने से संतुष्ट हो जाना, 'त्याग' का अर्थ नहीं है। इसके अलावा त्याग करने वालों की श्रेणियां होती हैं। समाज के सामूहिक हित के लिए अपने निज के और अपने कुटुम्ब के स्वार्थ को थोड़ा-बहुत तो सभी को छोड़ना पड़ेगा- परन्तु उन सभी का त्याग बराबर नहीं हो सकता।

एक तो ब्राह्मण-वृत्ति होती है और दूसरी होती है वैश्यवृत्ति। ब्राह्मण वृत्ति उसकी कही जाती है कि जो अपने आपको समाज के लिए कतई सौंप चुका - जिसकी कुल शक्तियां समाज के काम में लगेंगी- जिसे अपने अथवा अपने कुटुम्ब के लिए अपना जीवन बिता देना स्वीकार न होने से जो समाज को ही अपना कुटुम्ब समझ लेगा और समाज के लिए ही वे काम करेगा, जो अपने कुटुम्ब के लिए करता। ऐसे ब्राह्मण पहलेभी कम थे, और अब

भी अवश्य कम रहेंगे। इन ब्राह्मणों की आवश्यकतायें कम होना स्वाभाविक है, इनको अपने खुद के लिए कम रुपया चाहिएगा-चाहे वे समाज के लिए करोड़ों उथल-पुथल करते रहें। ऐसे ब्राह्मणों के पालन-पोषण का भार समाज पर होता है। जो लोग 24 घण्टे समाज के सामूहिक हित के लिए अपने आपको झोंकते रहते हैं, ऐसे तपस्वी त्यागियों की सेवा करना समाज का कर्तव्य है।

यह स्पष्ट है कि यह आदर्श साधारण आदमियों के लिए बड़ा कठिन है इसलिए इसके अधिक प्रचार हो जाने का डर हमारे भोलेपन को प्रमाणित करता है। अपने आप मौज में रहना, कुटुम्ब को मौज में रखना, यह तो हर कोई आपके उपदेशों के बिना भी करेगा ही। इसके लिए आपको प्रचार करने की आवश्यकता नहीं परन्तु अपने आपको भूल कर समाज के दुखों को अपने दु:ख समझ लेना सहज काम नहीं है। लाखों आदमियों को जब आप कहेंगे, तो सैकड़ों भी मुश्किल से तैयार होंगे। इसलिए त्याग के इस महान् आदर्श के अधिक परिचालन से हमारी उत्पादक शक्ति कम हो जायगी, हमारा देश दरिद्र रह जायगा, हम कम सम्पन्न होंगे, हमारे नवयुवक विरक्त होकर संन्यासी हो जायेंगे, - ये सब डर निर्मूल हैं।

मेरी सम्मति में एक धुन तो प्रत्येक देशवासी में होनी चाहिए- वह यह कि मैं समाज का आदमी हूँ, इसलिए समाज की सेवा के लिए भी यथाशक्ति श्रम करूंगा- ऐसे कार्यों में भी भाग लूँगा, जिनमें मेरे खुद के घर में रुपया नहीं आता; जिनसे चाहे मेरी कीर्ति नहीं होती, जिनसे चाहे मुझे कष्ट भी उठाना पड़े, परन्तु जिनसे मेरे जन समाज का कुछ लाभ अवश्य होगा। इस धुन को मैं सामाजिकता की धुन कहता हूँ- जब यह धुन सच्ची होगी, जब वह धुन वास्तव में लग जायगी, तो मनुष्य में एक विशेष प्रकार की आकुलता, आ जायगी, एक बेचैनी हो जायगी, जो वर्णनातीत है- जो केवल अनुभवगम्य है। इस धुन के आदमी को किसी सामूहिक दुख का पता लगेगा तो वह फिर उदासीन होकर तमाशे नहीं देख सकता। वह चुपचाप नहीं रहेगा- वह कुछ न कुछ अवश्य करेगा, फिर अपनी परिस्थिति के अनुसार ही क्यों न हो। और वैसे साधारण स्थिति में भी वह अवश्य थोड़ा-बहुत समय ऐसे कामों में लगायेगा जिनका लाभ उसको या उसके कुटुम्ब को ही नहीं बल्कि उसके देश या समाज को मिलेगा।

अब यह धुन या तो इतनी तीव्र हो सकती है कि मनुष्य अपनी ५०००) मासिक कमा सकने की योग्यता को भूल कर केवल ७५) मासिक पर अपना गुजर कर ले और समाज से ५०००) लेने के बजाय लाखों की मालियत खुद उसे दे- ऐसे आदमी खड़े कर दे जो लाखों क्या करोड़ों की सम्पत्ति पैदा कर लें। जो मनुष्य ५०००/ कमा सकता हो, वह यह काम न करके यदि और प्रकार से समाज की शक्ति बढ़ायेगा, तो क्या यह समझा जायगा कि उस आदमी के लाभ से हानि हुई - उसके त्याग से देश की सम्पत्ति घटी? परन्तु जैसे ऊपर कहा, ऐसे ब्राह्मण अवश्य ही कम हो सकते हैं। जिस देश में बत्तीस करोड़ आदमी रहते हैं, उसमें एक लाख तपस्वी हो जायँ, तो कौन सी बड़ी संख्या हो गई? रही स्वयं सम्पत्ति

कमाने की, सो बाक़ी के इक्कीस करोड़ निन्नानबें लाख आदमी बहुत सी सम्पत्ति कमा सकते हैं और इस छोटी सी ब्राह्मण जाति को भोजन वस्त्र तो दे ही सकते हैं।

परन्तु हम तो दलील करते समय ऐसा ख़्याल करते मालूम होते हैं, जैसे इस देश में करोड़ों त्यागी तपस्वी हो गये हैं। लाखों की संख्या में भिखारी और ठग इधर-उधर फिर रहे हैं उनको सम्पत्ति के उत्पादन में लगाने का विचार चाहे हम न करना चाहें, किन्तु विद्यार्थियों और नवयुवकों के सामने त्यागी हो कर देश की सेवा करने के आदर्श की निन्दा करने में हमें तनिक संकोच नहीं होगा! यह कितने बड़े मर्मभेदी दुख का विषय है।

ऐसी कड़ी ब्राह्मण-वृत्ति को अङ्गीकार करने की दिव्य शक्ति को अपने आप में नहीं पाते, उन्हें सोचना चाहिए कि वे उससे कितना कम और किस समय में क्या कर सकते हैं? उनमें से यदि कोई करोड़पति बनने की शक्ति अपने आप में पाता है, तो अवश्य दो करोड़ से भी अधिक कमावे, परन्तु इतना ध्यान रखे कि उसकी करोड़ की सम्पत्ति पर उसका अकेले का कोई हक़ नहीं है- वह रुपया भी समाज का ही है— उसे प्रत्यक्ष में कमाने का रूप संयोगवश मिल गया है। इसका वह अर्थ हार्गिज़ नहीं कि इसको उस सम्पत्ति का उपयोग करने का अकेले को स्वत्व है। वह सम्पत्ति समाज से प्राप्त हुई है और उसी के हित में ख़र्च होना चाहिए। वह वैश्य-वृत्ति हुई और उससे सम्बन्ध रखने वाले त्याग का यह स्वरूप है।

कुछ मनुष्य क्षात्र-वृत्ति से देश की सेवा कर सकते हैं। वह ब्राह्मण-वृत्ति और वैश्य-वृत्ति दोनों से भिन्न है। समाज के शत्रुओं से उसकी रक्षा करना क्षात्र-वृत्ति वाले का धर्म है। समाज उसको रक्षा के बदले में अवश्य यथोचित मान देगा; किन्तु यदि वह रक्षक होने के गर्व में समाज को दबाने लगेगा, तो समाज उसके अत्याचार को नहीं सहेगा- और, ऐसे रक्षक के विरुद्ध समाज अपनी रक्षा करने को कटिबद्ध हो जायेगा।

जिन लोगों में तीनों में से कोई सी भी शक्ति न हो, उनके लिए भी समाज में स्थान है। ऐसे साधारण कोटि के मनुष्य भी समाज का हित साधन कर सकते हैं क्योंकि, तलवार की जगह तलवार और सुई की जगह सुई ही काम देती है।

इसका मतलब यह है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को यह याद रखना चाहिये कि वह अमुक समाज का सभ्य है। और यदि उस समाज में आराम से रहने का उसको अधिकार प्राप्त है, यदि उसे कहीं की नागरिकता प्राप्त है, तो उस अधिकार के साथ-साथ उसका कर्त्तव्य भी है, ज़िम्मेवारी भी है। अधिकारों की कम चर्चा करके, उससे कम से कम लाभ उठाने का इरादा रखता हुआ, जितना अधिक से अधिक सामाजिक कर्तव्य का पालन मनुष्य करेगा, उतना ही वह अधिक बड़ा होगा- अधिक ऊँचा उठेगा। ऐसी सामाजिक वृत्ति वाले मनुष्य जिस समाज में होंगे, उस समाज पर दूसरे लोग शासन नहीं कर सकेंगे।

परन्तु जिन पर दूसरों का शासन जम चुका है, वे क्या करें? उनको तो लाखों-करोड़ों की संख्या में जलती हुई आग में कूद पड़ना चाहिए, गोले बरसाने वाली तोपों के सामने दौड़ना चाहिए। घमासान युद्ध में कूद कर मर जाना चाहिए। उनको कहाँ कुटुंब याद आवेगा? उनको कहाँ राग-रंग सूझेगा? उनके लिए साहित्य-संगीत-कला अवश्य गौण

वस्तुयें होंगी। उनके लिए चटक-मटक की पोशाकों और शौक़ीनी के नाच-खेल का कुछ भी अर्थ नहीं हो सकता। भूखे रहें, प्यासे रहें, नंगे रहें, परन्तु करें वही काम, जिससे उनका समाज स्वाधीन हो। फिर ऐसे महायज्ञ में ऐसों की आहुति हो चुकने के बाद वह युग आ जायगा, जिसमें साहित्य बढ़ेगा, आमोद- प्रमोद होगा और मौज उड़ेगी। परन्तु ऐसा यज्ञ हुए बिना आमोद-प्रमोद बिडम्बना-मात्र है, साहित्य भार-मात्र है, संगीत बकवास-मात्र है।

अब प्रश्न उठ सकता है- इन वाक्यों का अर्थ क्या हुआ? हम करें क्या? इसका उत्तर मैं क्या दूँ! जिनके दिलों में पीड़ा होती हो, वे अपना-अपना अलग इलाज आप ढूँढ़े— आख़िर में सब सयानों का एक मत हो जायगा- आवश्यकता केवल सचाई की है। चर्खे में विश्वास हो, चर्खे का प्रचार करें; ग्राम्य-संगठन में विश्वास हो, ग्राम्य-संगठन करें; सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध प्रचार करना हो, तो वह करें; अछूतों का उद्धार करना हो, तो उनका उद्धार करें; राज्य करने वालों को दरख्वास्तें देने में विश्वास हो, उनको जोरदार दरख़्वास्तें दे-देकर ही उनकी नाक में दम कर दें; व्यापारिक उन्नति के लिए लड़ना हो, उनके लिए लड़ें; सैनिक शिक्षा का अधिकार लेना हो, तो उसके लिए कमर कस लें; स्कूल में मास्टर रहने-मात्र की ही शक्ति हो, अथवा यही सर्वोत्तम मालूम होता हो तो अपने शिष्यों को इस चालू महासमर की तैयारी करा दें, परन्तु सच्चे दिल से कुछ करें तो सही- एक बार कुटुम्ब के बाहर कूद कर निकलें तो सही-एक बार सार्वजनिक कार्य का नशा छावे तो सही।

मनुष्यों का साधारण कार्य-क्रम बन्द नहीं हो सकता। खाना, पीना, हँसना, रोना, विवाद करना, संतान पैदा करना, मरना-यह सभी कुछ चलता रहेगा। परन्तु जैसे संसार में रहने वाले जीवन-मुक्त को यह सब करते हुए भी कुछ छू नहीं सकता। वैसे ही समाज-सेवा के महत्व ही में आहुति देने वाले को भी उस यज्ञ की लहर में ही रहना होगा। तभी यज्ञ सफल है, नहीं तो राक्षस, यज्ञ का विध्वंस करने में कोई कसर न रक्खेंगे।

छोटी ज़िम्मेवारी को ठीक-ठीक पूरी करने वाला बड़ी को भी पूरी कर सकता है। छोटी ज़िम्मेवारियों को भूल जाने पर ज़ोर नहीं है, ज़ोर है बड़ी जिम्मेवारियों को न भूल जाने पर और अपनी अधिक से अधिक शक्ति को छोटी ज़िम्मेवारियों से बचाकर बड़ी जिम्मेवारियों में लगा देने पर। भगवान् करें कि हम लोग इस तत्व को पहचानें और भगवान् की कृपा से कौटुंबिक कर्त्तव्य को सर्वथा गौण करके नहीं, तो उसके साथ-साथ सामाजिक कर्त्तव्य का पालन करने की शक्ति हममें अवश्य आवे!

(त्यागभूमि, ज्येष्ठ संवत् १९८५ में प्रकाशित)

सामान्य भाषा की आवश्यकता

रामदहिन ओझा

वर्तमान समय में सबके मुँह से चारों ओर 'स्वराज्य' शब्द निकलता है, सब लोग स्वराज्य की चर्चा चलाते हैं। इसका यह अर्थ है कि हमको स्वराज्य मिले। पर स्वराज्य मिले कैसे? हमारे देश के कुछ अपने को बड़ा मानने वाले लोग "स्व" शब्द के शत्रु हैं। वे सिर्फ राज्य चाहते हैं। याद रहे कि जब तक "स्व" शब्द "राज्य" में नहीं मिलेगा तब तक न तो किसी को कुछ सुख ही मिलेगा न तो देश की तनिक भी उन्नति ही होगी। फिर विचारणीय प्रश्न यह है कि "स्वराज्य" मिलने में सब से बड़ी बाधक कौन सी वस्तु है? विद्वानों ने बहुत विचार और मनन के बाद निश्चय किया है कि जब तक समस्त देश की एक भाषा नहीं होगी तब तक स्वराज्य मिलना बहुत ही कठिन है।

किसी सामान्य भाषा के न रहने से कोई जाति जाति नहीं कही जाती। सामान्य भाषा की रक्षा देश की सीमा की रक्षा से भी आवश्यक है क्योंकि यह पर्वत और नदी से भी अधिक बलवती है।

भारत वर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है, इस पर विचार करने के लिए अगर किसी सभा में पंजाबी, गुजराती, बंगाली, राजस्थानी, उड़िया, बिहारी तथा यू. पी. के लोग एकत्र हों तो वे लोग बिना एक सामान्य भाषा के कैसे आपस में वार्तालाप करेंगे? इस बात को सभी कांग्रेस आदि में एकत्र होकर अनुभव करते हैं कि आपस में बात चीत करने के लिये देश को एक भाषा की आवश्यकता है।

बाइबल में बाइबेल नगर के रहने वाले सब लोग एक सामान्य भाषा जानते थे। एक बार वे सब लोग आपस में अपनी भाषा के बदौलत मिल गये और स्वर्ग में जाने के लिये स्वर्ग की सीढ़ी तैयार करने लगे। परमात्मा को यह बात बहुत बुरी लगी। परमात्मा ने उन लोगों में फूट पैदा करने के लिये उन लोगों की भाषा भिन्न-भिन्न कर दी। इसका फल यह हुआ कि उन लोगों में फूट पड़ गयी और परमात्मा का काम बन गया। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि फूट को मिटाने के लिये एक आम भाषा की आवश्यकता है और फूट डालने के लिये भिन्न-भिन्न भाषाओं का एक देश के अन्दर प्रचार करना ही एक मात्र उपाय है। यूरोपीय संसार ठीक इसी के आधार पर अपना सारा कार्य कर रहा है। यह एक बड़े राजनीति विशारद का कथन है कि यदि कोई देश किसी देश पर अधिकार करना चाहे तो प्रथम उसकी नीति होनी चाहिये कि वह उस देश की भाषा पर अपना अधिकार कर ले। ठीक यही दशा इस समय हमारे देश की हो रही है; हम लोग अपनी भाषा, वेश को छोड़ते जा रहे हैं। यही कारण है कि हमारी गुलामी की जंजीर और भी मजबूत होती जा रही है। अस्तु।

यूरोप के विद्वानों ने एक बार इस्पेरेंतो भाषा को संसार भर की सामान्य भाषा बनाने का

प्रयत्न किया था किन्तु सफलता उनको प्राप्त नहीं हुई। यूरोपीय महायुद्ध के बाद फ्रांस वालो ने फ्रेंच भाषा को संसार की भाषा बनाने का प्रयत्न किया परन्तु उनकी भी मेहनत अकारथ गयी।

मिस्र में एक त्रैभाषिक कोश मिला है जिससे यह ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में भाषा कम करने का प्रयत्न किया गया था, उनकी मंशा थी कि भाषा जितनी ही कम रहेगी उतनी ही कम फूट संसार के अन्दर फैलेगी।

हमारे देश में बुद्ध भगवान ने अपने समय में संसार में एक सामान्य भाषा प्रचलित करने का प्रयत्न किया था। उनको सफलता भी मिली और उनके प्रयत्न का यह फल निकला कि उस समय पाली भाषा बहुत कुछ अंशों में सामान्य भाषा हो गयी और जिसके परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म का विस्तार बहुत ही तेजी के साथ संसार के अन्दर हो गया।

रामायण और महाभारत से भी एक सामान्य भाषा हमारे देश में होने का प्रमाण मिलता है। अगर आम भाषा नहीं होती तो यह कभी संभव नहीं था कि अयोध्या के राम, दक्षिण के हनुमान के साथ बातचीत करते और दक्षिण वासी बानरों की सेना बनाकर लंका पर विजय प्राप्त करते। इससे साबित होता है कि रामायण काल में भी एक भाषा थी।

यह बात महाभारत काल की भी है। सारे देश के लोग महाभारत में लड़ने के लिये आये और आपस में प्रेमपूर्वक बातचीत करते थे। एक भाषा यदि नहीं होती तो यह कभी संभव नहीं था कि अज्ञात-काल में पांडव छिप कर अपना दिवस बिता देते। इन सब बातों से साबित होता है कि भारत में उस समय एक सामान्य भाषा थी। हिन्दुस्तानियों का एक ही राष्ट्रग्रंथ महाभारत है अत: इस समय भी हमारे देश में एक ही भाषा होनी चाहिये।

अभाग्यवश आजकल हमारा देश अंग्रेजों के हाथ में है। अंग्रेज इस बात का उद्योग कर रहे है कि हमारी भाषा अंग्रेजी हो जाय। कुछ कुछ उनको सफलता भी मिली है। फिर भी हमारे देश की सामान्य भाषा अंग्रेजी का होना त्रिकाल में भी संभव नहीं है। क्योंकि हमारे देश में 33 करोड़ मनुष्यों में से १६ करोड़ तो ऐसे हैं जो अपनी निज की भाषा भी शुद्ध बोल नहीं सकते। तब हम कैसे कहें कि हिन्दुस्तानी अन्य देश की भाषा बोलेंगे और उसको पसंद करेंगे? अंग्रेजी भाषा और अंग्रेज जाति हर तरह से हिन्दुस्तानियों से भिन्न है। अगर अंग्रेजी यहां की आम भाषा का रूप धारण करे (जैसा कि कुछ मनचले लोग कहा करते हैं) तो हमारा रहन-सहन वेश--भूषा, धर्म-कर्म सब अंग्रेजों का सा हो जायगा यानी हम भारतवासी एक तरह में अंग्रेज हो जायेंगे इसलिये अंग्रेजी भाषा यहां की आम भाषा कदापि नहीं हो सकती।

इस सरकार का राज्य जब तक भारत में रहेगा तब तक आम भाषा के विरोधी सुख से सोवेंगे। जब हमारी सरकार हम लोगों से रुष्ट होकर चली जायेगी; तब आम भाषा के विरोधी भी उसी के पीछे-पीछे चल पड़ेंगे। विरोधी कहा करते हैं कि भारत में २१४ भाषायें हैं फिर अंग्रेजी को छोड़ कर भारत की कौन सी भाषा आम भाषा होगी?

हर्ष की बात है कि देश की विद्वान मंडली इन गौरांग उपासकों तथा गौरांग भाषा के

अनन्य भक्तों को मुँह तोड़ उत्तर राष्ट्र भाषा हिन्दी को आम भाषा बनाने का उद्योग करके दे रही है। मद्रास आदि प्रदेशों में हिन्दी भाषा का प्रचार जिस अधिकता से बढ़ रहा है, यही इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

कभी-कभी कोई समृद्ध भाषा अपने ऐश्वर्य के बल पर दूसरी भाषाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती है जैसा कि इटली आदि की भाषाओं पर फ्रेन्च भाषा ने बहुत समय तक कर लिया था। स्वयं अंग्रेजी भाषा भी फ्रेंच और लैटिन के दबाव से नहीं बच सकी।

जर्मनी, रूस, इटली और स्वयं इंगलैंड चिर काल तक फ्रेन्च और लैटिन के माया जाल में फंसे हुये थे पर, बहुत समय हुआ, उस जाल को उन्होंने तोड़ डाला। अब वे सब अपनी ही भाषा के साहित्य की अभिवृद्धि करते हैं। कभी भूल कर भी विदेशी भाषाओं में ग्रंथ रचना करने का विचार तक नहीं करते।

बात यह है कि अपनी भाषा का साहित्य ही स्वजाति और स्वदेश की उन्नति का साधक है। विदेशी भाषा का चूड़ान्त ज्ञान पैदा करने और उसमें महत्वपूर्ण ग्रंथ रचना करने पर भी विशेष सफलता प्राप्त नहीं हो सकती और अपने देश को विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता अत: हमारा कहना केवल इतना ही है कि सब को एक स्वर से हिन्दी को भारत की सामान्य भाषा बनाने का उद्योग करना चाहिये, बिना इसके हम न तो राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक उन्नति कर सकते हैं और न संसार के सामने कभी बराबरी का दावा कर सकते हैं। हम को अपने भाषा विरोधियों को ठोस कार्य के रूप में जवाब देना चाहिये। प्रसन्नता की बात है कि राष्ट्र महासभा कांग्रेस का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है।

हमारे लिखने का कोई सज्जन यह मतलब न लगा लें कि विदेशी भाषाएं सीखनी ही नहीं चाहिये, नहीं, ऐसा नहीं। आवश्यकता, अनुकूलता, अवसर और अवकाश होने पर हमें एक नहीं अनेक भाषाएं सीख कर ज्ञानोपार्जन करना चाहिये, परन्तु प्रधानता अपनी भाषा और साहित्य को ही देनी चाहिये क्योंकि अपना और अपने देश का, अपनी जाति का उपकार और कल्याण अपनी ही भाषा के साहित्य की उन्नति से हो सकता है। ज्ञान, विज्ञान, धर्म और राजनीति की भाषा आम भाषा ही होनी चाहिये। देश की उन्नति तथा अवनति साहित्य के वश है। अत: हम प्रत्येक देशभक्त से कहना चाहते हैं कि यदि वे देश का भला चाहते हैं तो सर्व प्रथम अपने अन्य कार्यों के साथ देश में सामान्य भाषा के प्रचार का उद्योग करें और उसके लिये देश के बड़े बड़े विद्वानों ने निश्चय किया है कि वह भाषा हिन्दी ही हो सकती है, दूसरी नहीं। उसी परम पियारी मातृ भाषा हिन्दी का प्रचार भारत के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक कर दें।

थोड़े दिनों के अनुभव से यह सिद्ध हो गया है कि मद्रास के तेलगू और तमिल बोलने वाले तथा आसाम के असमी भाषा के उपासक भी बड़ी प्रसन्नता पूर्वक माता हिन्दी की गोद में खिंचते आ रहे हैं। इन प्रान्तों में जिस तेजी से साथ कार्य हो रहा है यदि उसी तेजी के साथ हमारे नेता कुछ करें तो वह दिन दूर नहीं है जब कि कांग्रेस के विशाल मंडप में एक आवाज, एक शब्द दुलारी हिन्दी की आवाज गूँज उठे और राष्ट्र महासभा राज भाषा के द्वारा अपना सारा कार्य सम्पन्न करके अपने नाम को सार्थक करे।

जिस दिन ऐसा हो जायेगा उस दिन इस बात की आवश्यकता नहीं होगी कि साधारण मूर्ख जनता को मि. श्रीनिवास आयंगार और सत्यमूर्ति के भाषण को समझाने के लिए माननीय मालवीयजी को कष्ट उठाना पड़े, और वीरवर नवयुवकों के कप्तान पं. जवाहर लालजी को इच्छा न रहते हुए भी स्वतन्त्रता की परिभाषा अंग्रेजों में करनी पड़े अत: हम अब इस संबन्ध में विशेष न लिख कर यही बार-बार कहना चाहते हैं कि यदि समाज, देश और धर्म की रक्षा करनी है तो सब को मिल कर एक सामान्य भाषा का प्रचार करना होगा और वह सामान्य भाषा हिन्दी होगी। एक कवि के शब्दों में अपने इस निबंध को समाप्त करते हैं-

तम न होयगो दूर,
बिन इक भाषा रवि उगे।
सुगम भाव भरपूर,
हिन्दी ही तासों उचित।

(अखिल भारतवर्षीय मारवाड़ी अग्रवाल महासभा के दशम अधिवेशन, बम्बई के अवसर पर १९२८ ई० में प्रकाशित 'मारवाड़ी अग्रवाल' से)

मुनि जिनविजय

[श्री नरोत्तमदास स्वामी]

भारतवर्ष के पुरातत्त्वज्ञ विद्वानों में मुनि श्री जिनविजय का प्रमुख स्थान है। यद्यपि आपने वर्षों से गुजरात को अपनी कार्यभूमि बना रखा है पर जन्म से आप राजस्थान के ही निवासी हैं। आप का जन्म मेवाड़ राज्य के रूपाहेली ठिकाने में एक प्रसिद्ध पंवार क्षत्रिय घर में संवत् १९४४ में हुआ था। आप के पिता का नाम वृद्धि सिंह और माता का नाम राजकुंवर था। आप का जन्म नाम किशनसिंह था पर माताजी आपको रणमल कहकर पुकारती थी। श्री देवीहंस नाम के एक जैन यतीश्वर में आपके पिता की बड़ी भक्ति थी। ये यतीश्वर ज्योतिष, वैद्यक आदि अनेक विद्याओं के बड़े पण्डित और सदाचारी साधु थे। किशनसिंह को होनहार देखकर यतीश्वर ने उसको अपने पास रख लिया और स्वयं ही उसे शिक्षा दीक्षा दी। दुर्भाग्यवश आप की छोटी अवस्था में ही आप के पिता और यतीश्वर जी दोनों का देहांत हो गया। इससे खिन्न होकर आप घर से निकल पड़े और बहुत समय तक भारत के विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते रहे। इस भ्रमणकाल में आपने विविध शास्त्रों का अध्ययन किया और विविध भाषाओं तथा लिपियों का ज्ञान भी प्राप्त किया। पुरातत्त्व की ओर आप का विशेष झुकाव हुआ और इस सम्बन्ध के अनेक गवेषणापूर्ण और विद्वता भरे लेख भी आपने लिखे। इन लेखों के द्वारा पुरातत्व के विद्वानों में आपने शीघ्र ही ख्याति और प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली।

इस सम्बन्ध में सबसे अधिक प्रेरणा आपको पूज्य प्रवर्तक श्री कांतिविजय जी महाराज से मिली। मुनिवर जैन धर्म के प्रकांड विद्वान और एक प्रभावशाली पुरुष थे। मुनि श्री के ज्ञानोपासक शिष्यवर्य श्री चतुरविजय जी और प्रशिष्यवर श्री पुण्यविजयजी से आपको सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ। इनके सहयोग से मुनि श्री के स्मारक रूप में प्रवर्तक श्री कांति विजय जैन इतिहास माला नामक ग्रंथमाला का आपने आरम्भ किया जिसका प्रकाशन भावनगर की श्री जैन आत्मानन्द सभा करने लगी। विज्ञप्तित्रिवेणी, कृपारकसोष, शत्रुजयन्तीर्थोद्धारक प्रबंध, जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य संचय, और प्राचीन जैनलेखसंग्रह आदि ग्रंथ उस समय इस ग्रंथमाला में प्रकाशित हुये। भारतीय इतिहास की दृष्टि से ये सभी ग्रंथ बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। विद्वानों ने आपके परिश्रम का अच्छा अभिनन्दन किया।

यह कार्य आपने संवत १९७१-७२ में किया जब आपका निवास बड़ौदे में था। उन्हीं दिनों में साहित्यप्रेमी बड़ौदा नरेश श्री सयाजीराव गायकवाड़ ने गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज की स्थापना की जिस के प्रमुख कार्यकर्त्ता स्वर्गीय श्री चिमणलाल डाह्याभाई दलाल थे। दलाल महोदय आप के घनिष्ठ मित्रों में से थे। समानशील और समव्यसनी होने के कारण प्रतिदिन आप दोनों का साथ-साथ बैठना उठना होता था और साहित्यिक चर्चा और साहित्यिक कार्य भी साथ-साथ होता था। इस सहयोग के फलस्वरूप अनेक जैन ऐतिहासिक ग्रंथों को उक्त सीरीज में प्रकाशित करने का निश्चय हुआ। उनमें मोह-पराजय का संपादन

उक्त मुनि श्री के प्रधान शिष्य श्री चतुरविजयजी ने, वसंत विलास, नरनारायणानंद, हम्मीरमदमर्दन का सम्पादन श्री दलाल महोदय ने, तथा कुमारपाल प्रतिबोध नामक बृहत्काय प्राकृत ग्रंथ का संपादन स्वयं जिनविजय जी ने किया।

इसी समय सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ विद्वान डाक्टर सर श्री रामकृष्ण गोपाल भांडारकर के नाम पर पूने में भांडारकर प्राच्यविद्या संशोधन मंदिर (Bhandarkar Oriental Research Institute) की स्थापना हुई। मंदिर के संस्थापकों का अेक डेप्यूटेशन बंबई के जैन समाज से मिलने के लिअे बंबई आया। उस समय आप वहीं चातुर्मास कर रहे थे। प्रसंगवश आपका परिचय पाकर डेप्यूटेशनके लोग आपसे भी मिले और आप को पूने आने का निमंत्रण दिया। चातुर्मास के बाद घामते घामते आप पूने पहुँचे। संस्था को देखकर आपको बड़ी प्रसन्नता हुई और स्वयं भी उसके विकास में यथा शक्ति योग देने का निश्चय कर वहीं जम गये। संवत 1975 में भारतीय पुरातत्व सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन पूना में हुआ। उस अवसर पर विद्याप्रेमी और साहित्योपासक जैनमित्रों को प्रेरित कर जैन साहित्य संशोधक समिति की स्थापना की और जैन साहित्य संशोधक नाम की एक बृहदाकार त्रैमासिक खोज–पत्रिका तथा ग्रंथ माला का प्रकाशन प्रारम्भ किया। पत्र ने अपने गवेषणापूर्ण लेखों से शीघ्र ही प्रतिष्ठान का स्थान प्राप्त कर लिया पर आर्थिक सहायता न मिलने से कार्य में यथेष्ट प्रगति न हो सकी और पत्रिका भी दो वर्ष निकल कर बंद हो गयी। पूने में रहते समय स्वर्गीय लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी से आपका परिचय हुआ जिससे आपके जीवन को अेक नयी प्रेरणा मिली। जिस वेश की चर्या का आचरण आपने मुग्धभाव से बाल्यकाल ही में स्वीकृत किया था उसके साथ मन का तादात्म्य न होने से, आप के मन में, अपनी जीवन–प्रवृत्ति के विषय में अेक प्रकार का बड़ा आन्तरिक असंतोष बढ़ता जा रहा था। इस सम्बन्ध में आप लिखते हैं - "अंतर में वास्तविक विरागता न होने पर भी, बाह्य देश की विरागता के कारण, लोकों द्वारा वंदन पूजनादि का सम्मान प्राप्त करने में हमें अेक प्रकार की वंचना प्रतीत होती थी इसलिए गुरुपद के भार से मुक्त होकर किसी सेवक–पद का अनुसरण करने का हम मनोरथ कर रहे थे और अपनी मनोवृत्ति के अनुकूल सेवा का उपयुक्त क्षेत्र खोज रहे थे।" निदान इस वेश का त्याग कर आप उससे मुक्त हुअे और एक अध्यापक के रूप में अध्ययन-अध्यापन और साहित्य–सेवा का जीवन व्यतीत करने लगे।

संवत १९७७ में देश की मुक्ति के लिअे महात्माजी ने असहयोग आन्दोलन का मंगला–चरण किया और उसी के प्रसंग में राष्ट्रीय शिक्षण के प्रचार के निमित्त अहमदाबाद में गुजरात विद्यापीठ की स्थापना की गयी। विद्यापीठ में, अन्यान्य बातों के साथ प्राचीन साहित्य और इतिहास के अध्ययन अेवं संशोधन के लिए पुरातत्त्व मंदिर का भी निर्माण किया गया था। महात्माजी ने उसके आचार्य पद के लिअे आपको ही सबसे अधिक उपयुक्त समझा और विशेष रूप से निमंत्रण देकर आपको बुलाया। महात्माओं की आज्ञा और अपनी मनोवृत्ति के अनुरूप कार्यक्षेत्र पाकर आप अहमदाबाद विद्यापीठ में चले आये। वहाँ आप पंडितप्रवर श्री सुखलाल जी श्री रसिकलाल पारीख और श्री रामनारायण पाठक

आदि के संपर्क में आये। वहां भी आपने पुरातत्व मंदिर ग्रन्थावली की स्थापना की जिसमें अनेक बहुमूल्य ग्रंथ प्रकाशित हुअे।

लगभग आठ वर्ष आपने पुरातत्व मंदिर की सेवा की। इसी समय आपकी यूरोप यात्रा की प्रबल इच्छा हुई जो शीघ्र ही कार्यरूप में परिणत हुई। इंग्लैंड, जर्मनी आदि देशों में रहकर आपने वहां की विभिन्न संस्थाओं का अवलोकन किया। यूरोप के सामाजिक और औद्योगिक वातावरण ने आपको अपने अभ्यास के विषय से विचलित कर दिया और अेक सजीव प्रवृत्ति में संलग्न होने की तरंग आपके हृदय में उठने लगी। संवत् १९८६ के दिसम्बर मास में आप भारत लौट आये। उस समय लाहौर कांग्रेस के प्रोग्राम के अनुसार देश में नये विचारों की क्रान्तिकारी लहरें उठ रही थीं। इतने ही में सत्याग्रह संग्राम का सूत्रपात हुआ और आप भी अन्यान्य देशसेवकों के साथ उसमें कूद पड़े। इसके फलस्वरूप नासिक के कृष्णमंदिर में आप को ६ महीने निवास करना पड़ा।

अपने इस जेल प्रवास के सम्बन्ध में मुनि श्री लिखते हैं- "सचमुच ही नासिक के सेंट्रल जेलखाने में जो चित्त की शांति और समाधि अनुभूत की वह जीवन में अपूर्व और अलभ्य वस्तु थी। वह जेलखाना हमारे लिअे तो अेक परम शांत और शुचि विद्या-विहार बन गया था। उसकी स्मृति जीवन में सबसे बड़ी सम्पत्ति मालूम देती है।"

प्रथम जेलयात्रा के बाद मित्रों ने आपको फिर जेलयात्रा न करने दी और आपको अपने साहित्यिक कार्य में ही संलग्न रहने का आग्रह किया। इस सम्बन्ध में आप लिखते है- "स्वनाम-धन्य सेठ जमनालाल बजाज, कर्मवीर श्री नरीमान, देशप्रेमी सेठ श्री रणछोड़भाई, साहित्यधुरीण श्री कन्हैयालाल मुंशी आदि जैसे परम सज्जनों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहने से और सब के साथ कुछ न कुछ विद्याविषयक चर्चा ही सदैव चलती रहने से हमारे मन में वे ही पुराने साहित्य संकल्प वहां फिर सजीव होने लगे। सहवासी मित्रगण भी हमारी रुचि और शक्ति का परिचय प्राप्त कर हमको उसी संकल्पित कार्य में विशेष भाव से लगे रहने की सलाह देने लगे। मित्रवर श्री मुंशीजी, जो गुजरात की अस्मिता के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि है और जो गुजरात के पुरातन गौरव को बालगोपाल तक हृदयंगम करा देने की महती कलाविभूति से भूषित हैं, उनका तो दृढ़ आग्रह ही हुआ कि और सब तुरंग छोड़कर वही कार्य करने ही से हम अपना कर्त्तव्य पूरा कर सकते हैं। अन्यान्य घनिष्ठ मित्रों का भी यही उपदेश हमें वहाँ बैठे-बैठे बारम्बार मिलने लगा और जेलखाने से मुक्त होते ही हमें वही अपने पुराने बहीखाते टटोलने की आज्ञा मिली।"

जेल से मुक्ति पाकर आप बम्बई होते हुअे अहमदाबाद पहुंचे। इसी समय कलकत्ते के सुप्रसिद्ध धनकुबेर श्रीबहादुरसिंह सिंघी ने अपने स्वर्गीय पिता श्री डालचंद सिंघी की स्मृति में रवीन्द्र बाबू के शान्तिनिकेतन के अन्तर्गत सिंघी जैन ज्ञानपीठ की स्थापना की और उसके अधिष्ठाता पद के लिये मुनिश्री को उपयुक्त व्यक्ति समझ कर उन्हें साग्रह निमंत्रित किया। जैन-साहित्य के महान पंडितप्रवर श्री सुखलालजी ने भी आपको वहां जाने का परामर्श दिया। विश्वभारती के ज्ञानमय वातावरण को अपने उपयुक्त समझ कर आपने ज्ञानपीठ के संचालन का भार स्वीकार कर किया।

आपकी प्रेरणा से श्री सिंघी महोदय ने ज्ञानपीठ के साथ श्री सिंघी जैन ग्रन्थमाला की स्थापना की जिसमें दर्जनों महत्त्वपूर्ण साहित्यिक, दार्शनिक और अैतिहासिक जैन ग्रंथों का प्रकाशन हुआ। ग्रंथमाला के अधिकांश ग्रंथों का संपादन आपने ही किया है। इन में प्रबंध चिन्तामणि नाम का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है जिसका सर्वाङ्गपूर्ण संपादन बड़ी-बड़ी पांच जिल्दों में करने की योजना है जिस में से तीन का प्रकाशन हो चुका है।

आप की विद्वत्ता से प्रभावित होकर बंबई विश्वविद्यालय ने संवत १९९० में आप को ठक्कर वसणजी माधव जी व्याख्यानमाला के व्याख्यान देने के लिअे निमंत्रित किया। इन व्याख्यानों को जिन लोगों ने सुना उन सभी ने मुक्तकंठ से आपकी विद्वत्ता की प्रशंसा की। ये व्याख्यान अैतिहासिक हैं और चालुक्यकालीन गुजरात के इतिहास से सम्बन्ध रखते हैं। उनका प्रकाशन होने पर इस युग के अंधकारावृत्त इतिहास पर बहुत कुछ नवीन प्रकाश पड़ेगा।

संवत १९९० में गुजरात साहित्य सभा ने अपने माननीय (Honorary)सदस्यों की अेक व्याख्यानमाला की आयोजन की। उसका श्रीगणेश आप ही के व्याख्यान से किया गया। ता. १७ जुलाई सन् १९३३ को आपने "प्राचीन गुजरात ना सांस्कृतिक इतिहास नी साधन सामग्री" विषय पर व्याख्यान दिया जो पुस्तकाकार छप गया है। इसमें गुजरात के सांस्कृतिक इतिहास की विविध साधन सामग्री की बड़ी ही पाण्डित्यपूर्ण विवेचना की गयी है।

ता. १७.३.१९३८ (संवत १९९४) को बड़ौदा- नरेश द्वारा आयोजित गुजराती ग्रंथकार सम्मलेन में आप "जैन धर्म" विषय पर भाषण देने के लिअे आमन्त्रित किये गये।

संवत् १९९३ में गुजराती साहित्य परिषद ने आपको इतिहास विभाग का प्रधान चुनकर आपको सम्मानित किया।

देश की प्रमुख संशोधन संस्था भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट ने आपको अपना माननीय सदस्य चुनकर, आपका सम्मान किया।

खेद की बात है कि ऐसे प्रकाण्ड विद्वान और इतिहास-विशारद का राजस्थान से विशेष सम्बन्ध नहीं रहा। क्या हम आशा करें कि मुनिश्री अपनी जन्मभूमि को सर्वथा नहीं भुला देंगे? साथ ही जान कर हर्ष होता है कि हिन्दी के प्रति आपका बड़ा प्रेम है और आप हिन्दी में प्राय: लिखते रहते हैं। सिंघी जैन ग्रंथमाला की प्रस्तावनाअें आपने सब-की-सब हिन्दी में ही लिखी हैं और अनेक ग्रन्थों का सम्पादन भी हिन्दी अनुवाद के ही साथ किया गया है। आपकी गुजराती की लेखन शैली तो प्रौढ़ और प्रांजल है ही पर आपकी हिन्दी की शैली अपना निराला स्वारस्य लिये होती है।

मुनि श्री को विद्या प्रेम की साक्षात मूर्ति ही समझिये। आपका समस्त जीवन बस विद्यामय है। आप कर्मयोगी, अखण्ड-परिश्रमी, और अध्ययसायी साहित्य सेवी हैं। आप की रचनाअें सदैव नवीन खोजों से परिपूर्ण रहती हैं। जैन-साहित्य-संशोधक, पुरातत्त्व और भारतीय विद्या तीन खोज-सम्बन्धी पत्रिकाओं को आपने जन्म दिया और तीनों ही भारतीय पुरातत्त्व सम्बन्धी प्रथम कोटि की पत्रिकाअें मानी गयीं। इनमें से 'भारतीय विद्या' अभी हाल में ही निकली हैं।

मुनिश्री ने जिन ग्रंथों का संपादन, संकलन अथवा निर्माण किया है उनमें से कुछ ये हैं-

१.	जैन तत्त्व सार	(१९७१)
२.	विज्ञप्ति त्रिवेणी	(१९७२)
3.	शत्रुंजय तीर्थोद्धार प्रबंध	(१९७३)
४.	कृपा रस कोष	(१९७४)
५.	प्राचीन जैन लेख संग्रह (भाग-१)	(१९७४)
६.	द्रौपदी स्वयंवर नाटक	(१९७५)
७.	हरिभद्राचार्यस्य समय निर्णय	(१९७७)
८.	कुमारपाल प्रतिबोध	(१९७८)
९.	पुरातत्त्व संशोधन नो पूर्व इतिहास	(१९७७)
१०.	प्राचीन जैन लेख संग्रह भाग 2	(१९७७)
११.	पालि पाटावली	(१९७८)
१२.	प्राकृत कथा संग्रह	(१९७८)
१३.	अभिधानप्पदीपिका (पालिकोष)	(१९८०)
१४.	जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्यसंचय	(१९८२)
१५.	जिन कल्पसूत्र	(१९८३)
१६.	विजयदेव माहात्म्य	(१९८४)
१७.	प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ	(१९८६)
१८.	खरतरगच्छ पट्टावलिसंग्रह	(१९८७)
१९.	प्रबन्ध चिंतामणि, प्रथम खंड (सिंधी जैन ग्रंथमाला)	(१९८९)
२०.	पुरातन प्रबंध संग्रह (सिंधी जैन ग्रंथमाला)	(१९९२)
२१.	विविध तीर्थ कल्प	(१९९२)
२२.	प्रबंध कोष	(सिंधी जैन ग्रंथमाला)
२३.	गुर्वावली	(इत्यादि-इत्यादि)।

इन ग्रन्थों का संपादन बड़ी ही योग्यता से किया गया है। देश-विदेश के विद्वानों ने मुक्त कंठ से इनके संपादन की प्रशंसा की है। पुरातन-प्रबंध संग्रह की प्रस्तावना में आपने एक ऐसी महत्त्वपूर्ण खोज का मार्ग दिखाया है जिसके कारण आपका नाम सदा अमर रहेगा। चंद कवि के पृथ्वीराजरासो नामक ग्रंथ को अनुशीलक विद्वान बहुत दिनों से संदिग्ध दृष्टि से देखते आये हैं। ओझाजी जैसे विद्वान तो उसे जाली ही बता चुके हैं। मुनि श्री ने उक्त प्रस्तावना में चंद के पुराने पाठवाले कुछ पद्य उद्धृत किये हैं जिनमें से अधिकांश रासो में भी

मिल गये हैं, परन्तु विकृत रूप में। शब्दों में रूप परिवर्तन बहुत हो गया है। इस प्रकार मुनि श्री की खोज से यह निश्चित रूप से सिद्ध हो गया कि रासौ सर्वथा जाली ग्रंथ नहीं है। अवश्य ही उसके रूप में बहुत कुछ परिवर्तन हुआ है- उसका असली प्राचीन रूप वह नहीं था जो इस समय मिलता है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त आपने बहुत से प्रकीर्णक निबंध लिखे हैं जो मौलिक खोजों से परिपूर्ण हैं और जो जैन धर्म तथा गुजरात के इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सामाजिक विचारों में आप बड़े उदार हैं। आप का यूरोप प्रवास इस बात का प्रमाण है। आप पहले जैन मुनि हैं जिनने यूरोप यात्रा की है। देश प्रेम आप की रग-रग में समाया हुआ है।

मुनि श्री में कार्य करने का बड़ा प्रबल उत्साह है। आप के बराबर अध्यवसायी कार्यकर्ता विरले ही मिलेंगे। जैन समाज एक धनी समाज है और वह विविध पुण्यकार्यों में द्रव्य व्यय भी बहुत कुछ करता है। ऐसे समाज ने मुनि श्री के कार्य का महत्त्व अभी तक नहीं समझा यह दुःख की बात है। क्या हम आशा करें कि दो चार दानी मानी धनकुबेर, जिनकी जैन-समाज में कमी नहीं है, शीघ्र ही ऐसी व्यवस्था कर देंगे जिससे भारतीय इतिहास का यह मनस्वी विद्वान पूर्णतया निश्चिन्त होकर सरस्वती की साधना कर सके और देश के साथ ही साथ जैन समाज का भी मुख समुज्वल कर सके।

(राजस्थानी, कलकत्ता, अप्रैल, १९४०)

धर्मका नवनिर्माण और नई दृष्टि

[श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला]

जब विधानसभामें नया कायदा बनाया जाता है, तो वह उस विषयके पुराने कायदों और दफाओं को रद्द कर देता है। उसके बाद नयेका ही आधार दिया जा सकता है और पुराना निकम्मा हो जाता है। इसका यह मतलब नहीं कि पुराने कायदेकी हर दफामें हेर-फेर किया जाता है और नयेमें उसका कोई अंश ही नहीं दीखता। परन्तु किसी भी नियमकी प्राचीनताका अपना कोई महत्त्व नहीं रहता। उसकी कीमत तो उसे नये में स्थान मिलनेके कारण ही होता है।

हिन्दू-धर्ममें एक बड़ी त्रुटि यह रह गई है कि यद्यपि उसमें प्रत्येक युगके अपने नये सद्गुरु, स्मृतिकार, आचार्य और सुधारक हुए हैं, तो भी उनमेंसे किसीने पुरानी श्रुति-स्मृतियों, भाष्यों और रूढ़ियोंको भविष्य के लिए अप्रमाणित और रद्द नहीं किया। अथवा यों कहिए कि उनमेंसे किसीको इतनी मान्यता नहीं मिली, जिससे उसकी शिक्षा अथवा उपदेशसे भिन्न या विरोधी शिक्षा देनेवाले ग्रंथों, वाक्यों अथवा रूढ़ियोंको अप्रमाण माना जाता। उल्टे आज परम्परा यह है कि पुरानी और नई शिक्षाके परस्पर-विरोधी होते हुए भी दोनों को समान महत्त्व दिया जाता है और हठपूर्वक दोनोंका एक ही अर्थ निकालनेका प्रयत्न किया जाता है। परिणाम यह हुआ है कि प्रत्येक विषयमें अनुकूल और प्रतिकूल दोनों तरहके प्रमाण दिए जा सकते हैं, और 'नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्' (प्रत्येक मुनिका अपना अलग मत) जैसी बात हो रही है।

यह चीज शायद इस्लाममें ही सबसे पहले हुई है। कुराननें अरबिस्तानके सब पुराने ग्रंथों और रूढ़ियोंको अप्रमाणित कर दिया। उनमें से जो-कुछ स्वीकार योग्य लगा, कुरानमें उसका समावेश करके प्राचीन शास्त्रोंको शोधने और उनपर विचार करनेकी आवश्यकता ही न रहने दी गई; बल्कि ऐसा करना दोष भी माना गया। सिक्ख-धर्ममें ग्रंथ-साहबने भी धर्मके एक क्षेत्रमें ऐसा ही कुछ किया परन्तु मेरे विचारमें उसने जीवनके समस्त अंगोंके विषयमें अपनी नई स्मृति नहीं बनाई।

जैसे जैसे मैं मानव जीवनका, भारतवर्षके जीवनका, पारिवारिक जीवनका और व्यक्तिगत जीवनका, अथवा आस-पासके समाजसे सम्बन्ध रखनेवाले ऐसे किसी भी प्रश्नका गहराईसे विचार करता हूं, वैसे-वैसे आखिरमें इसी परिणामपर पहुंचता हूं कि दुनियाके वर्तमान प्रचलित धर्म-सम्प्रदायोंमेंसे किसीमें भी इन प्रश्नोंका हल निकालनेकी शक्ति नहीं रही। मानव समाजपर उनकी पकड़ अब ढीली हो गई है। सर्वधर्म समभावकी दृष्टि से सब धर्मोंके थोड़े-थोड़े अंश लेकर एक नया मिश्रित सम्प्रदाय बनाने से भी उसमें यह सामर्थ्य शक्ति नहीं आ पाएगी। अब आवश्यकता इस बातकी है कि मनुष्यको परमात्माका और परमात्मासे अभिन्न इस विश्वव्यापी जीवनका नया दर्शन और नया भाष्य प्राप्त हो, और उसके आधारपर मानव-जीवनके हर पहलूमें जो कोई भी संशोधन या नव-रचना करना आवश्यक

हो जाय, उसे वह करे।

मैं नहीं कह सकता कि यह कौन करेगा, किस तरह किया जाएगा और और उसमें कितना समय लगेगा मैं यह भी नहीं कह सकता कि इस नव- दर्शन और विवरणमें कोई त्रुटि रहेगी ही नहीं, अथवा यह कि वह ऐक एसी रचना होगी, जो यावच्चन्द्रदिवाकरौ चलेगा। संसारमें ऐसी कोई रचना हो ही नहीं सकती, जिसमें कभी कोई क्रान्तिकारी संशोधन करना ही न पड़े, जो कभी नष्ट, क्षीण या जीर्ण ही न हो या जिसमें कोई अशुभ तत्त्व न हो। यद्यपि परमात्मा सदा एकरूप और सनातन है, फिर भी प्रत्येक युगमें उसके दर्शनकी अपनी नवीनता होती है, और उस नवदर्शनमेंसे नये धर्म और नवीन जीवन का जन्म होता है। नव-दर्शन हो जाने पर प्राचीन दर्शनको और उस पर खड़ी हुई धर्म-रचनाको पकड़े रखनेमें दोष है। उस नये दर्शनमें भी दोष तो होंगे ही, फिर भी नये युगमें वही काम दे सकेगा, पुराना नहीं। उस नयेमें पुरानेका समूचा स्वरूप नष्ट नहीं हो सकता; परन्तु उसमें पुराना उसी हद तक रह सकता है, जिस हद तक नये दर्शन और विवेचनने उसे स्वीकार किया होता है, अथवा अस्वीकार नहीं किया होता। वर्तमान धर्म-सम्प्रदायोंके स्थानपर अपने ही सत्यके बलको प्रमाण मानकर उसके आधारपर नये धर्मका निर्माण हुए बिना, मुझे नहीं लगता कि शुभकी ओर हमारी कोई प्रगति हो सकेगी।

दुनियाका साधारण अनुभव यह है कि किसी भी जाति या राष्ट्रकी उन्नतिसे पहले उसमें एक नये धर्म का अर्थात् जीवन- विषयक एक नई दृष्टिका जन्म होता है। जब तक जीवनमें आशाका निर्माण करनेवाला एक नया सत्य लोगोंको नहीं दीखता, तब तक लोक-सेवाके सब प्रयत्न पैबन्द लगाने-जैसे ही रहते हैं। अपने-आप आगे बढ़ते रहने की शक्ति उसमेंसे पैदा होती ही नहीं।

जीवन-विषयक नई दृष्टिके अंग ये हैं- (१) जीवनको और जीवनके अन्त तथा ध्येयको नये अर्थमें समझना और अनुभव करना; (२) सदाचारकी नई नियमावली जान लेना। (यह नियमावली प्रचलित आचारोंकी तुलनामें एक ओरसे अधिक व्यापक भावनापर रची जानी चाहिए और दूसरी ओरसे उसमें संयम, सादगी, शरीर और अपने आसपासके क्षेत्रकी स्वच्छता तथा मनकी पवित्रताका अधिक कड़ा निर्देश होना चाहिए); (३) इस दृष्टिको स्वीकार करनेवालों में भ्रातृ-भावकी स्थापना; (४) व्यक्तिगत और सामूहिक रीति से किए जानेवाले अनेक कामोंमें सबका सहयोग (५)मानों एक तरहका संयुक्त परिवार ही हो, इस तरह अपने सुख-दु:ख और सम्पत्तिको समान रूपसे बांट लेने वाले मण्डलों का निर्माण; (६) शराब, व्यभिचार, चोरी, घूस-रिश्वत,ठगी, झूठ, आलस्य आदि व्यसनोंसे मुक्ति।

जिन लोगोंकी सेवा करनी है, उनकी नीतिका स्तर जब तक ऊँचा न उठे, तब तक एक विशाल प्रमाणमें उनकी आर्थिक उन्नतिको असम्भव ही समझना चाहिए। यदि जनताको जीवनका नया सन्देश मिला होगा और उसे अपनी नीतिमें सुधार करनेका महत्त्व मालूम हो चुका होगा, तो उसे शिक्षा ग्रहण करने, स्वच्छ आदतें डालने, कुछ विषयोंमें मितव्ययी और दूसरे कुछ विषयोंमें उदार बनने, मेहनती और ईमानदार बनने, साथ ही भरण-पोषण के मानको ऊँचा उठाने और पर्याप्त पारिश्रमिक मांगनेका आग्रह रखनेके लिए गिड़गिड़ाकर

कहनेकी जरूरत नहीं रहेगी। नई दृष्टिके पैदा होते ही मनमें जड़ जमाकर बैठी हुई हीन भावना लुप्त हो जायेगी।

नई दृष्टिके निमित्तसे नये प्रकारके कार्यों, नई शिक्षा, और नियम-पालन आदिकी आवश्यकता रहेगी ही। पदार्थों और कर्मोंका मूल्य, भिन्न रीतिसे ही कूता जायेगा। पुरानी जीवन-व्यवस्थामें मनुष्यका मूल्य उसकी जात-पांत, कुल, विद्या, धन, अधिकार आदि से कूता जाता है, काम की कीमत काम लेने वाले की शक्ति और कामकरनेवाले की परेशानीसे कूती जाती है, और चीजोंकी कीमत उनकी कमी और आकर्षकता से आँकी जाती है। नई जीवन-व्यवस्थामें मनुष्य की कीमत नई जीवन-व्यवस्था में मनुष्य की कीमत उसके चरित्र और उसकी आवश्यकताओं को देखकर ठहरानी चाहिए और लाभ की कीमत नई जीवन-व्यवस्था में मनुष्य की कीमत उसके चरित्र और उसकी आवश्यकताओं को देखकर ठहरानी चाहिए और काम की कीमत यह देखकर तय करनी चाहिए कि वह जीवन की आवश्यकातओं को पूरा करने में कहां तक सहायक होता है तथा वस्तुओंकी कीमत इस बातका अन्दाज बैठाकर करनी चाहिए कि जीवन के लिए वे नितान्त रूपसे आवश्यक हैं या गौण? साथ ही यह भी होना चाहिए कि आवश्यकता की वस्तुएं अमूल्य अर्थात् जहाँ तक बन सके, सरलतासे प्राप्त होने वाली हों।

यों मनुष्य-मात्र समान माने जायँ, पर सच्चरित्र की साख चरित्रहीन मनुष्य से अधिक हो, संकट या तंगी में फँसा हुआ पुरुष, स्त्री, बालक, अपंग या रुग्ण मनुष्य, सशक्त मनुष्यकी अपेक्षा अधिक चिन्ता और सार-सँभालका अधिकारी माना जाय; अन्न, जल और वस्त्र यथासम्भव सस्ते हों और इनकी उत्पत्तिपर होने वाले श्रमका मूल्य दूसरे सब कामों से अधिक आँका जाय। सिक्कोंका अपना कोई स्वतन्त्र मूल्य न हो--अर्थात् उन पर सूद न दिया-लिया जाये; और जमीन पर, पानी-हवाकी तरह किसी का निजी अधिकार न हो। यदि इन सिद्धान्तों पर गाँव, संस्थाएं, सहकारी समितियाँ अथवा दूसरे प्रकार के तन्त्र स्थापित किए जा सकें, तो वे योग्य उदाहरण होंगे।

संसार के बड़े धर्मों ने परलोकमें व्यक्ति की जीवन-मुक्ति या विदेह-मुक्तपर और व्यक्ति को मिलनेवाले सुखपर जोर दिया है। नास्तिक लोग भी व्यक्तिको इस संसार में प्राप्त हो सकनेवाले विषय-सुखों को महत्त्व देते हैं। दोनों व्यक्ति का ही विचार करते हैं। नई दृष्टि व्यक्ति और समाज दोनोंकी मुक्तिका विचार करेगी और संसारमें स्वर्गको उतारनेका प्रयत्न करेगी-अर्थात् वह रोग, तंगी, अज्ञान, विषमता, अन्याय, द्वेष, स्वार्थ, लड़ाई, व्यसन, असंयम, बाह्य सत्ता और आन्तरिक विकारोंकी दासता-आदि का नाश करने का प्रचण्ड यत्न करेगी।

पुराने धर्म अब तक यही मानकर चलते रहे हैं कि इस संसारके जीवनको, ऊपर गिनाए गए दु:खों से मुक्त करनेकी आशा ही नहीं की जा सकती। तंगी, दुख और मनुष्यका मनुष्य पर अत्याचार इस जीवनमें टाला नहीं जा सकता, केवल एक परलोक में ही इनका अभाव रहता है। उन्होंने तो यहाँ तक कहा कि इस दुनियामें जितनी अधिक आपत्ति आयेगी, परलोकमें उसका उतना ही अधिक बदला मिलेगा इसलिए उन्होंने प्राय: जान-बूझकर केवल दुख सहनेकी कृत्रिम प्रथाओं को भी प्रोत्साहित दिया है, और बहुधा सामाजिक

अन्यायों और कुप्रथाओं, दुखों और रोगों और मनुष्यों द्वारा निर्मित रूढ़ियों, कायदों तथा संस्थाओंको अज्ञानवश, ईश्वर-निर्मित समझकर उन्हें सह लेना सिखाया है।

हमें यह समझना चाहिए कि इस रूपमें पुराने धर्मों की दृष्टि खोटी है। हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि सृष्टिकी रचनामें ईश्वरका यह हेतु तो कभी हो ही नहीं सकता। उसमें दुःखों और संकटोंका कारण तो उनका अज्ञान, व्यसन, अव्यवस्था और सुव्यवस्था ही है, और जीवन को दुःखी बनाने वाले ये सब मनुष्य निर्मित हों या प्राकृतिक कारणों से पैदा हुए हों, इनसे सतत-संघर्ष करते रहनेमें ही मोक्षकी साधना है।

मोक्ष इस संसारमें यहीं प्राप्त करना है, और वह व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिए है। इस मोक्षका अन्त नहीं। यह तो सतत बढ़ता रहने वाला मोक्ष है, किन्तु जो व्यक्ति इसके लिए निरन्तर साधना करता है, उसे उसका पूरा-पूरा फल अपने अन्तःकरण में तुरन्त ही मिल जाता है। और वह फल है अन्तरकी शक्ति और समाधान। नई दृष्टि में (१) केवल ईश्वर की ही उपासना होगी; (२) जीव-मात्र के प्रति आदर और उसकी सेवाका भाव होगा; (३) अवतारों, पैगम्बरों, गुरुओं आदि के लिए तथा उनके चित्रों आदिके प्रति आदर रहेगा, किन्तु ईश्वर के स्थान पर ईश्वरके प्रतिनिधि-रूप या ईश्वरके समान ही, उनकी उपासना नहीं होगी और जो पूजामात्र ईश्वरको ही अर्पण करनी चाहिए, वैसी पूजा किसी पूर्ण से पूर्ण महान-से-महान आत्माकी भी न की जा सकेगी; (४) जिनके प्रति हमारे हृदय में आदर हो, उनके पास हम आदर-पूर्वक जायँ और उनकी सेवा करें; किन्तु इस आदरमें ऐसा कोई भाव न होना चाहिए कि उनकी तुलना में हम हल्के, पामर, छोटे और क्षुद्र मनुष्य हैं।

तत्त्वज्ञानकी भाषा को छोड़कर, आलंकारिक भाषामें कहूँ तो कहना होगा कि शास्त्रों को पढ़कर हमें जैसी कल्पना होती है, ईश्वर और शैतानके बीच वैसी दुश्मनी है नहीं। अक्सर दोनों एक ही ध्येय के लिए कार्य करते पाए जाते हैं। दोनोंके बीच भेद केवल साधनोंका होता है। शैतान को शुद्ध साधनोंका आग्रह नहीं होता। प्रायः देखा यह गया है कि उसने खोटे साधनों से खरा या अच्छा परिणाम निकाला है। इस कारण साधारण मनुष्यके हृदयमें उसके प्रति गहरी श्रद्धा बैठ जाती है। शैतानकी बुद्धिमानी और दृष्टिकी विशालता के विषय में शंका तभी उत्पन्न होती है, जब दीर्घ दृष्टि से सोचना शुरू किया जाता है।

किन्तु दीर्घ दृष्टिकी भी अपनी मर्यादाएँ हैं। ऐन कसौटीके समय दीर्घ दृष्टिसे सोचनेवाला भी गोता खा जाता है, संकीर्ण दृष्टिवाली नीति के साथ समझौता करता है और शैतान किए गए कामका फल स्वीकार करनेको तैयार हो जाता है। शैतानके कार्योंका निषेध करनेकी हिम्मत वह कर नहीं पाता। चाहे जिन और चाहे जैसे साधनोंका उपयोग करनेके लोभको जीवन-संघर्षका एक अंग समझना चाहिए। सम्भव है, इसमें हमारे हाथों कभी कोई भूल हो जाय, फिर भी हमें तो बार-बार ईश्वरके पक्षमें ही जानेका प्रयत्न करते रहना चाहिए।

(अनुवादक : काशिनाथ त्रिवेदी)

(नया समाज, नवम्बर, १९५०)

अस्वस्थ समाज

श्री सीताराम सेकसरिया

जब मैं आजके समाजके बारे में सोचता हूँ, तो मुझे ऐसा लगता है कि आजका समाज स्वस्थ समाज नहीं है। व्यक्तिकी अस्वस्थता और समाज की अस्वस्थतामें फर्क है। व्यक्तिको हम किसी बीमारीका शिकार होने पर अस्वस्थ कहेंगे; पर समाजके बारेमें सोचेंगे, तो उसकी अस्वस्थता दूसरी ही तरह की होगी। जो समाज स्वस्थ विचारधाराको नहीं अपना सकता, वह समाज कभी भी स्वस्थ नहीं रह सकता। समाज की संस्कारिता यानी संस्कृति ही उसे स्वस्थ रख सकती है। जिस समाजकी विचारधारामें संस्कारिताकी कमी आ जाती है, जिसकी संस्कृतिमें विकार पैदा हो जाता है, वह समाज अस्वस्थ हो जाता है।

इस दृष्टिसे विचार करें, तो आज समाज जिस तरह सोचता है, जिस तरह कार्य करता है, उससे पता लगता है कि हम स्वस्थ समाजोंकी तरह नहीं चल रहे हैं। आज चारों ओर जो गिरावट नज़र आती है, चरित्रकी की कमी मालूम होती है, उसका मूल कारण हमारे अन्दर की भावनाओं, विचारों और संस्कारोंके दूषित होनेका ही परिणाम है। हमारे सामने व्यक्तिगत स्वार्थ देश और समाजके स्वार्थसे बड़ा है, व्यक्तिगत सुख-सुविधा समाजकी सुख-सुविधा से बड़ी है। हम जब सोचते हैं, तो व्यक्तिगत रूप से ही सोचते हैं, समाजगत रूप से नहीं। चारों ओर यही सुनाई देता है कि चोरबाज़ारी, घूस और पदलोलुपता बड़े ज़ोरोंसे बढ़ रही है पर इन सबका कारण हमारा व्यक्तिगत स्वार्थ ही तो है। कोई सुसंस्कृत आदमी घूस देने या लेनेकी बात कभी सोच ही नहीं सकता। जब मनुष्यमें जिस किसी भी उपायसे अपना काम निकालनेकी प्रवृत्ति पैदा होती है, तो वह यह सोचने लगता है कि अमुक चीज़ मेरे पास होनी ही चाहिए या इतना धन मुझे मिलना ही चाहिए, चाहे वह किसी भी तरह क्यों न मिले; तब उसमें का कुसंस्कार उसे असंस्कृत काम करनेके लिए प्रेरित करता है। इसी कुत्सित प्रेरणासे वह काम करता है - चाहे चोरबाज़ारमें करे, चाहे सरकार के या किसी और आदमीको घूस देकर परमिट या कोटा प्राप्त करे। इस प्रकारके साधनोंसे धन कमाकर भी यदि वह समाज में आदर पाने लगे, समाजके लोग उसकी प्रशंसा करने लगें, तो इससे समाजमें ग़लत मूल्यों एवं अस्वस्थताका ही प्रचार होगा और अहिस्ता-अहिस्ता समाजका हर अंग दूषित होने लगेगा।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसके सब काम समाजसे निकलते हैं। वह समाजमें आदरका, प्यारका जीवन जीना चाहता है; यदि समाज उसका, धनके कारण आदर करता है, तो वह हर तरहसे उसे हासिल करनेकी कोशिश करेगा। यदि समाज मनुष्यका त्याग, सेवा और ज्ञानके कारण आदर करने लगे, तो वह उन्हें ही प्राप्त करनेकी कोशिश करेगा। स्वस्थ समाज व्यक्तिको उसके गुणोंसे, उसके कामोंसे, उसके समाजके लिए किए हुए कामोंसे परखेगा और अस्वस्थ समाज उसे पदसे, धनसे, बलसे, शक्तिसे पूजेगा। जैसे

शरीरमें एक बीमारी होनेसे कमज़ोरी पैदा होती है, उस कमज़ोरीमें दूसरी बीमारियोंको आक्रमण करनेका मौका मिल जाता हैं, उसी प्रकार जब समाजके शरीरमें एक चारित्रिक कमज़ोरी आ जाती है, तो दूसरे अवगुण उसमें प्रवेश करते जाते हैं। इससे समाजकी अस्वस्थता बढ़ती है। आज हमारे यहाँ शायद यही हो रहा है। मैं देख रहा हूँ कि समाज में हमारे सामने जो लोग असंस्कारी कामोंके द्वारा धन प्राप्त कर लेते हैं, हम उनका आदर करने लगते हैं। जो लोग सच्चाईका जीवन जीना चाहते हैं, उनका समाज तिरस्कार करता हैं। ऐसी हालतमें समाजमें सच्चाईका प्रचार कैसे हो सकता है? जब लोग देश के लिए अपनेको कुरबान करते थे, तो उनको, उनके आश्रित परिवारके लोगों को बड़ी-बड़ी तकलीफोंका सामना करना पड़ता था। पर इसके बावजूद उनको एक बल मिलता था देशके लोगोंके आदरका, प्यारका। किन्तु आज हालत दूसरी है।

जब आदमी किसी छल-बलसे धन प्राप्त करनेका, पद प्राप्त करनेका कोई-न-कोई साधन जुटा लेता है, तो समाज उसका आदर करने लगता है। यही समाजकी अस्वस्थता हैं। किसी स्वस्थ और संस्कारी समाजमें अनुचित आदमी - जिसने समाजविरोधी काम किया है - आदर नहीं पा सकता। यदि पाता है, तो समझ लीजिए कि वह समाज स्वस्थ समाज नहीं है। सामाजिक आदर आदमीके कामोंका सबसे बड़ा पुरस्कार है। सामाजिक अनादर किसीके गुनाह की सबसे बड़ी सज़ा है पर हमारे यहाँ आज उल्टी गंगा बह रही है। शायद भगीरथने जिस महान तप और प्रयत्नसे गंगाको पृथ्वी पर उतारा था, आज उसी तरह एक संगठित कोशिश हो रही है उसे उल्टी बहानेकी। आज इन पदलोलुपों और स्वार्थी लोगोंने दम घुटने-जैसी स्थिति पैदा कर दी है। जिस तरह गन्दी हवामें सांस लेना मुश्किल हो जाता है, स्वस्थ आदमी, जिसके नाक, कान, आँख, हृदय आदि ठीक काम कर रहे हैं, वह गन्दी जगह जाता है, तो वहाँ खड़ा रहनेमें भी उसे कष्ट होता है - उसी तरह आज इन घूसखोरी, चोरबाज़ारी? और नाना प्रकारके छल प्रपंच करके स्वार्थ-साधन करनेवाले लोगोंने ऐसी हालत पैदा कर दी है कि भलाई, सचाई और ईमानदारीसे जीवन बितानेवाले आदमीके लिए सुख-सुविधा तो दूर रहे, शान्तिके साथ ज़िन्दा रहना भी मुश्किल हो गया है। जैसे किसी आदमीकी बीमारी बढ़ती रहती है और वैद्य-डॉक्टर उसे परहेज करनेके लिए कहते हैं, संयम करनेके लिए कहते हैं, पर वह उनके कहनेको ठीक मानते हुए भी अपने प्रलोभनोंसे बचा नहीं सकता और अन्तमें उनका शिकार हो, अकाल मृत्युका ग्रास बनता है। ऐसी ही हालत अस्वस्थ समाजकी भी है। यदि वह अपने चरित्रको, अपने विचारोंको, अपने आचरणोंको न सुधार सकेगा, तो उसका भविष्य भी अन्धकारमय ही समझिए।

एक दिन बातचीतके सिलसिले में एक करोड़पति व्यापारीने कहा - 'जब रुपए आते दिखते हैं - चाहे वे ब्लैक से आवें, चाहें और किसी सही तरह से - तो हम अपने-आपको रोक नहीं सकते।' पर यह झूठ बात है। रूसमें क्रान्तिके दिनोंमें लोगोंने हीरे नालियोंमें फेंक दिए थे, क्योंकि उन्हें डर था कि हमारे पास यदि हीरे-मोती मिलेंगे, तो हमारी जान जा सकती है। असली बात तो यह है कि आज हम रुपए से जो चीज़, जो आदर, जो साधन पा सकते हैं, उसके कारण ही हम रुपयोंसे चिपटे रहते हैं। सोचकर देखा जाय, तो जिस

आदमीके पास बीस-तीस-पचास लाख रुपए हो जायँ, वह यदि इसके बाद भी गैरवाजिब तरीकोंसे धन-संग्रह में लिप्त रहे, तो यह कहाँ का औचित्य है? उसमें उसके रहन-सहनकी, मानसिक सुखकी कोई वृद्धि नहीं होती। वह पहले-जैसा ही खाता-पीता-पहनता और रहता है पर अन्तर पड़ता है उसके सम्मानमें, उसकी स्थितिमें और उसकी ताकतमें। समाज रुपये वालोंकी ही इज्ज़त करता है और उन्हीं को ऊँचे आसन पर बिठाता है। रुपये वालोंके पास देशभक्त, समाज-सुधारक, समाजवादी, कांग्रेसमैन तथा हर तरहके लोगोंको जाना पड़ता है। हरकाममें रुपयोंकी ज़रूरत तो होती ही है, इसलिए रुपये वाला ही सबसे बड़ा बनता जा रहा है।

पैसे और पैसेवालेको अनावश्यक रूपसे अनुचित महत्त्व देनेका एक दुष्परिणाम यह भी हो रहा है कि समाजके मानसको सँवारनेवाले कलाकार और बुद्धिजीवी लोग नाना प्रकारके कष्ट पाते हैं। समाज उनकी उपेक्षा करता है। जिन लोगोंने ऊँची से ऊँची भावनाओंको पोसा और अच्छे-से-अच्छे साहित्यकी रचनाकी, उनके बच्चे दूध नहीं पी सकते, उनको बीमारीमें दवा नहीं मिलती, शिक्षा देनेका सवाल अलग सिरपर सवार रहता है। उनकी पत्नी कभी अच्छी साड़ी नहीं पहन पाती। उनके छप्पर वर्षा में चुआ करते हैं और उनपर फूस भी नहीं डाला जा सकता। और दूसरी ओर समाज का एक अंग, जो छल कर सकता है, अनीति कर सकता है, गुलछर्रे उड़ाता है। इस अवस्थाको भला समाज की अस्वस्थता न कहें, तो क्या कहें? आज समाजके अनेक अंग उपेक्षित हैं, त्रस्त हैं, पीड़ित हैं और हैं अभावग्रस्त। दूसरी तरफ अगाध सम्पत्ति है, बेहद विलास है और साथ ही द्रव्यकी बेजा बरबादी भी। अनेक बार मैंने देखा है कि पास-पड़ोसके लोग अभावमें हैं। उनको खाने-पीने-रहनेका कष्ट है और बगलमें प्रचुर परिमाणमें चीजें बरबादकी जा रही हैं। क्या कोई भी स्वस्थ विचारवाला आदमी, ऐसी हालतमें चुपचाप इस स्थितिको बिना किसी प्रतिवादके बर्दाश्त करेगा?

इस अस्वस्थ समाजमें कोई आदमी स्वस्थ विचारधारा रख ही कैसे सकता है? उसे या तो उन ग़लत तरीकोंमें से गुजरना, जीना और काम करना सीखना चाहिए या फिर अभावोंमें घुट-घुटकर मर जाना चाहिए। समाजका वह अंग, जो समाजके स्वास्थ्यको उन्नत करनेकी कोशिश करता है, सदा अभावग्रस्त ही रहे और समाजके हिताहितकी चिन्ता छोड़ येनकेनप्रकारेण अपना सुख, अपना स्वार्थ और समाज का आदर भी न पा सके तो समाज उनलोगोंके भरोसे जीवित नहीं रह सकता, जो समूचे अपना विशिष्ट स्थान बनाने की ही कोशिश करते रहते हैं। जिनके पास त्यागकी, तपकी क़ीमत नहीं; कीमत है ताक़तकी, धनकी, पदोंकी, ऐसे लोग समाज-शरीर के रोग हैं और उनके द्वारा उसके रोगोंकी वृद्धि ही होती रहती है। इसलिए आज ज़रूरत इस बातकी है कि समाजको स्वास्थ्य प्रदान करनेके लिए ऐसे लोगोंको सबसे पहले हटाया जाय।

आज हमारी राजनीति, समाजनीति और यथार्थमें जीवन-नीतिमें ही परिवर्त्तन करना होगा। जीवन-नीति यदि उचित तरहसे चलाई जाय, तो सारी नीतियाँ अपने आप ठीक चलने लगेंगी। मैं यह समझ नहीं पाता कि एक ही आदमी राजनीतिमें तो छल से काम लेता है और जीवनके दूसरे कामोंमें सचाई बरतने का दम भरता है। राजनीति भी हमारे जीवनका

ही तो एक अंग है। हमारे हर कामका सम्बन्ध सारे जीवनसे है। जैसे जीवन हमारे शरीरके एक-एक अणुमें व्याप्त है, एक-एक रोममें जाग्रत है, वैसे ही हमारे आचरणका सत्य भी हमारे हरएक काममें व्याप्त है - होना चाहिए। जैसे जीवनके कोई टुकड़े नहीं किए जा सकते, वैसे ही आचरणके भी विभाग नहीं किए जा सकते। वह भी हमारी हर हरकतसे, हमारे हर कामसे सम्बन्ध रखता है। तब यह कहना अपने-आपको तथा समाजको धोखा देना है कि अमुक जगह मैंने अमुक काम इसलिए किया था कि इससे समाजका भला होनेवाला है। ऐसी भ्रान्त धारणाएँ ही समाजकी अस्वस्थताकी द्योतक हैं। जैसे पानी हर हालत में तरल है, आग हर हालतमें गरम है, वैसे ही सचाई भी हर जगह, हर वक्त, हर मौके पर सचाई ही है। झूठ हर जगह झूठ ही है। इसलिए आज समाज-सेवकोंके सामने, राजनीतिज्ञोंके सामने, सबके सामने यही सवाल होना चाहिए कि समाजमें जो अस्वस्थता - यानी दम्भ, मिथ्याचरण, स्वार्थान्धता, व्यक्तिगत लाभकी भावना, पदोंकी प्राप्तिके लिए उचित-अनुचित तरीकोंसे काम लेनेकी नीति - को हटाकर समाजमें सत्य - सद्हृदयता, सदाचार और सद्विवेक का नवजीवन संचार करना है। इसके लिए हमें चाहे जितना भी कष्ट-सहन और बलिदान क्यों न करना पड़े।

स्वाधीनता-प्राप्तिके बाद राष्ट्र-निर्माणका काम हमारे जिम्मे आया। पर देखा यह जाता है कि निर्माण तो दूर रहा, हम राष्ट्रका पतन और सर्वनाश करने पर तुले हुए हैं। जिस देशमें, जिस समाजमें भले लोग, बुद्धिमान लोग, जिम्मेदार लोग, मेहनती लोग और ईमानदार लोग ज्यादा होंगे, वही देश और समाज उन्नति कर सकेगा। यदि समाज में बुरे, गैर जिम्मेवार और बेईमान लोग बढ़ते रहेंगे, तो उस देश का पतन अवश्यम्भावी है। आज यदि हम तनिक गंभीरतासे सोचकर देखें, तो पता चलेगा कि हम राजनीतिक स्वार्थोंके नाम पर दलबंदी करके देशमें अस्वस्थ विचारधाराको ही प्रोत्साहन दे रहे हैं। जिसका परिणाम किसीके लिए भी शुभ नहीं हो सकता। हमारा मतलब यह कदापि नहीं कि भिन्न मत और वादके लोग अपने विचारों और विश्वासोंके अनुसार दल बनाकर कार्य न करें। वह तो जनतंत्र का एक आवश्यक अंग हैं। पर इस बातका ध्यान रहना जरूरी है कि ऐसा केवल जन-हितके लिए किया जाय, किसी या किन्हीं व्यक्ति-विशेष के लिए नहीं। अस्वस्थ ढंगकी राजनीति तो जन-हितके सर्वथा प्रतिकूल ही होती है। अतः हमें आजके समाजकी अस्वस्थ हालतको बदलना चाहिए। आज समाजमें जोरों से क्रांतिकारी परिवर्तनकी मांग है। जनताके बढ़ते हुए असंतोषका नतीजा कभी अच्छा नहीं हो सकता। थोड़े-से लोगोंके सुखसे समाज सुखी नहीं हो सकता। नींदकी दवा देकर सुलानेसे काम नहीं चल सकता। यदि देशमें अभाव है, तो वह अभाव सबके हिस्से में आना चाहिए। कहींपर प्रचुरता और कहीं पर भयानक अभाव, यह स्थिति अब अधिक दिन बर्दाश्त नहीं की जा सकती। इसलिए समय रहते चेता जाय, तो रक्षा हो सकती है, नहीं तो फिर अपने-आप जो होगा, वह तो होगा ही। हो सकता है कि उसमें कुछ देर लगे, या जैसे मृत्युके बाद नया जीवन मिलता है, वस्तुका रूप बदल जाता है, उसका सर्वथा नाश नहीं होता, वैसे ही समाजकी यह बढ़ती हुई अस्वस्थता भी शायद उसके मौजूदा रूपकी मृत्यु करके उसे कोई नया रूप दे।

(नया समाज, नवम्बर, १९५०, कलकत्ता)

हरिजन किस तरफ़?

श्री गुरुदयाल मल्लिक

मैं कई बरसोंसे हरिजनोंकी सेवामें हार्दिक रस लेता आया हूँ। मैंने यथाशक्ति उनकी सेवा भी की है। इससे मेरी आन्तरिक शुद्धि भी कुछ हद तक हुई है और उसके साथ-साथ सच्चा सुख भी मैंने कभी-कभी अनुभव किया है।

पर इधर कुछ दिनोंसे हरिजनोंकी सेवा करते-करते मेरे मनपर एक किस्मकी उदासी छा गई है। मालूम नहीं, क्यों? हो सकता है कि उम्र ज़्यादा होनेसे शरीर थका-थका-सा रहता हो लेकिन दो-एक बार सोचते-सोचते मुझे लगा है कि मेरी उदासीका कारण शायद कुछ और भी हो सकता है। आज जिस तरफ़ ख़ासकर शहरोंके हरिजन जा रहे हैं, उसे देखकर मेरा दिल सचमुच दु:खी होता है। उनमें धीरे-धीरे शहरवालों की मौज-शौक करने की आदतें पड़ती जा रही हैं। इसका एक उदाहरण दूँ:

चन्द महीने हुए मेरे एक मित्र, जो एक छोटे-से रेल्वे स्टेशनके स्टेशन मास्टर हैं, और मैं एक स्थानीय स्टेशनपर गाड़ीका इंतज़ार कर रहे थे। जब गाड़ी आई, तो पहले वर्गके एक-डब्बेसे दो भाई, दो बहनें और उनके चार-पांच बच्चे प्लेटफार्म पर बाहर आए। उन्हें देखकर मेरे मित्रने मुझ से पूछा- 'आपने इन्हें पहचाना?'

मैंने जवाब दिया- 'नहीं तो।'

इसपर उन्होंने मुझे बतलाया कि ये दोनों भाई उनके स्टेशनके हरिजन हैं और इनके साथ इनके कुटुम्बके लोग हैं।

मैंने सोचा, शायद ये लोग अपने रिश्तेदारोंसे देखने मिलने जा रहे हैं। भाइयोंने विदेशी कपड़े के बुश-कोट और पतलून पहन रखे थे। उनके मुंहमें सिगरेटें थीं। बहनें भी विदेशी कपड़े की रंगीन पतली साड़ियाँ और चोलियाँ पहने थीं। बच्चोंने भी विदेशी कपड़ेकी कमीज़ और निकर पहन रखे थे। भाइयोंके हाथोंमें घड़ियाँ थीं और उनके बुश-कोटोंकी जेबोंमें फाउन्टेन-पेन। बहनोंके हाथोंमें भी रंग-बिरंगी चूड़ियां थीं।

फिर मेरे मित्रने मुझसे पूछा- कहो तो, ये लोग कहाँ जा रहे हैं? मैंने उत्तर दिया- ऐसा मालूम होता है, ये किसीकी शादी या दावतमें जा रहे हैं। उन्होंने प्रत्युत्तरमें कहा- 'नहीं साहब, ये सिनेमा जा रहे हैं। ये हर हफ्ते ही ऐसा करते हैं।'

यह सुनकर मैं तो दंग रह गया। उसके बाद मैंने कुछ पूछ-ताछ की और मुझे मालूम हुआ कि फैशन सिनेमाकी बीमारी शहर के हरिजनोंमें खूब फैली हुई है। घरमें खाने-पीनेके लिए पूरा या अच्छा सामान न हो, मगर ये सिगार और सिनेमाके बग़ैर तो जी ही नहीं सकते, यहाँ तक नौबत आ पहुँची है!

इस बीमारीका एक परिणाम तो है इनके कर्जमें इज़ाफा और दूसरा उनके काममें आलस्य तथा अकौशलता; क्योंकि इस बीमारीके कारण उनका मन और शरीर दोनों दुर्बल

हो जाते हैं। जब खर्च पूरा नहीं पड़ता और साहूकार अपना रुपया वापस माँगता है, तो ये अपनी तनख्वाह बढ़वानेके लिए हड़ताल करनेको तैयार हो जाते हैं! अगर हरिजन भाई-बहनें सादगी से रहें, तो उनका खर्च और कर्ज़ दोनों कुछ हद तक कम हो सकते हैं, ऐसा मेरा विश्वास है।

यहाँ एक और बात का भी ज़िक्र कर दूं। हरिजनोंकी मांगें दिन-दिन बढ़ती जा रही हैं और उनका जो अपना धर्म है (दयानतदारी और दानिशमन्दीसे काम करनेका), उसका पालन करने का खयाल इनकी चेतनासे निकलता जा रहा है। इसका असर इनके बच्चों पर पड़े बग़ैर रह नहीं सकता, बल्कि बुरी तरह पड़ भी रहा है। स्कूलमें परीक्षाके समय कई हरिजन बच्चे अपने शिक्षकोंसे कहते हैं- 'आपको मुझे तो पास करना ही होगा, क्योंकि मैं हरिजन हूँ और इसलिए मुझे ख़ास रियात होनी चाहिए।' दफ्तरोंमें ये जब नौकरीके लिए जाते हैं, तब भी इसी किस्मकी दलीलें देते हैं- 'आपको यह जगह मुझे देनी ही होगी, क्योंकि मैं हरिजन हूं।' मगर ये अपनी योग्यताका ख़्याल ही नहीं करते। इसलिए गांधीजी ने ने ऐसे लोगोंको 'हरिजन' का जो शुभ नाम दिया है, वह सार्थक हो, ऐसा ख़याल हरिजन--सेवकोंको जरूर रखना चाहिए। और यह तभी हो सकेगा, जब हरिजन भाई-बहनें अपना जीवन सादा बनायँगे और अपने काममें निपुणता तथा नेकदिलीका ख़याल रखेंगे।

(नया समाज, जुलाई १९५१, कलकत्ता)

राजस्थानी लोकनाट्य

श्री देवीलाल सामर, एम.ए.

भारतीय नाट्यकी उत्पत्ति सर्वप्रथम धार्मिक समारोहों तथा पर्वोंके रूपमें हुई और इसका यही लोकप्रिय और सार्वजनिक रूप शनैः शनैः शास्त्रीय और सांस्कृतिक नाटकोंमें विकसित हुआ। आजकी तरह प्राचीन भारतीय नाट्य-नृत्य और संगीतसे विलग एक स्वतंत्र इकाईके रूपमें कभी भी विद्यमान न रहा। इन तीनों कलाओं का एक सम्मिलित और संयुक्त रूप ही हमारे सम्मुख आया। प्रत्येक अभिनेता में नर्तन, वाचन तथा सुन्दर स्वर-लहरी में गायन के गुण अपेक्षित थे। इसके उदाहरण आज भी अनेक प्राचीन लोकनाट्योंमें परिलक्षित होते हैं। ये लोकनाट्य प्रारंभमें आजीविका-उपार्जनके हेतु अभिनीत नहीं होते थे। सभी वर्गों और समुदायोंके लोग इनमें भाग लेना अपना सामाजिक और धार्मिक कर्त्तव्य समझते थे और उनके द्वारा असंख्य जन-समुदायका निःशुल्क मनोरंजन होता था। भारतकी पौराणिक, धार्मिक तथा ऐतिहासिक परम्पराओंकी, इन नाट्यों द्वारा सुन्दर सुरक्षा होती थी। जन-सुधार, जन सेवा तथा जन-जागृतिके ये प्रबल साधन थे। इन नाट्यों द्वारा साहित्य, संगीत और नृत्य-कलाकी अभिनयके रूपमें, नाना प्रकारके हस्त कौशलकी रंगमंच निर्माण के रूपमें तथा वेश और मुख-विन्यासकी, पात्रोंके सजाव-शृंगारके रूपमें रक्षा होती थी। भारतीय जीवनमें ऐसे पर्व, वर्षमें अनेक बार आते थे। इनमें राजासे लेकर रंक तक भाग लेते थे। समाजके सभी व्यवसायों के लोग जैसे वस्त्र-व्यापारी रंगमंचके लिए वस्त्रादि देकर, लुहार, बढ़ई आदि रंगमंच का निर्माण करके, चित्रकार और शिल्पकार सजाव-शृंगार द्वारा तथा धनी-मानी कलाकारों को सुस्वादु भोजन खिलाकर ऐसे बृहद् नाट्य-प्रयोगमें अपना सक्रिय सहयोग प्रदान करते थे। संपूर्ण रात्रिको नाट्य-प्रदर्शन होते थे। कई दिनोंकी मानसिक और शारीरिक थकान से व्यथित मानव, मनोरंजनके इस शक्तिदायक प्रयोगमें निरत रहकर अपनी भावनाओंको उभारता और अपने दुःख दर्दोंको भूल जाता तथा भारतीय जीवनमें प्रवाहित होने वाले इस सांस्कृतिक स्रोतको अक्षुण्ण रखता था।

आज के मनोरंजनके आधुनिक साधनोंने इन पुरातन साधनोंको चुनौती-सी दे रखी है। शहरी जीवन की कृत्रिमता, स्वार्थपरता तथा आडंबरकी भावनाका प्रवेश अब गांवोंमें भी होने लगा है और ग्रामीण जनता असलको छोड़कर, नकलकी ओर प्रवृत्त हुई है। जिस तरह गाँवों में प्राचीन ढंगकी सुन्दर और कलात्मक रँगाई-छपाई के कपड़ोंकी जगह मिलोंके भद्दे और कुरुचिपूर्ण डिजाइनोंके कपड़ोंने, लाखकी सुन्दर और कलात्मक चूड़ियोंकी जगह प्लास्टिककी भद्दी चूड़ियोंने, देशी बनावटके सुन्दर कलात्मक जूतोंकी जगह कानपुरी बूटोंने और नक्काशीदार मुरादाबादी बर्तनोंकी जगह तामचीनी और एल्युमीनियम के भद्दे और असुन्दर बर्तनोंने प्रवेश किया है; उसी तरह इन प्राचीन जीवनदायक मनोरंजनोंके स्थान पर भी फिलमी कम्पनियोंने भद्दे और गंदे फिल्म दिखलाकर हमारे जन-जीवनको काफी

मात्रा में भ्रष्ट किया है परन्तु इस गई-गुजरी अवस्थामें भी लोक-जीवनकी अनेक कलात्मक प्रवृत्तियाँ गांवोंमें आज भी विद्यमान हैं। विवाह-समारोहों तथा त्यौहारों आदिपर होने वाले अनेक प्रकारके मनोरंजनों की चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे, परन्तु यदि लोकनाट्य ही को देखें, तो उसके अनेक प्रकार, आज भी सर्वत्र बिखरे मिलेंगे। दक्षिण भारतके 'कुचीपुड़ी', 'यक्षगान', 'कथकली' आदि मनोरंजक लोक-नाट्योंके ज्वलंत उदाहरण हैं। उत्तर-भारत में भी लोकनाट्यकी अनेक शैलियाँ विद्यमान हैं।

इस क्षेत्रमें राजस्थानकी अपनी विशेषता और नवीनता है। जहाँ सामंती शासनकी अनेक बुराइयाँ राजस्थानके प्रगति-मार्गमें बाधक हुई, वहाँ यही सामन्तशाही उसके लोकजीवनकी अनेक सांस्कृतिक परंपराओंको सुरक्षित रखने में सहायक भी हुई। यही कारण है कि उसके जन-जीवन में जो रंगीनी, जो कला और जो मनोरमता विद्यमान है, वह अन्यत्र कहीं नहीं। जिन्होंने राजस्थानके त्यौहारों और सार्वजनिक समारोहोंको देखा है, उन्हें उसके कलात्मक जीवनके दर्शन अवश्य हुए होंगे। लोक नृत्योंके साथ लोकनाट्य भी राजस्थानी लोकजीवनके प्रमुख अंग बने हुए हैं। इन नाट्योंकी दो शैलियाँ आज भी विद्यमान हैं। एक तो वह, जो समस्त ग्रामवासियोंकी सामूहिक धरोहर है और जिसके पीछे व्यवसाय तथा कमाने की कोई भी भावना नहीं है, और दूसरी वह, जो पेशेवर लोगों द्वारा अपनी आजीविकाके साधनके रूपमें ग्रहणकी गई है। निश्चय ही इस प्रथम शैलीका लोक-जीवनकी दृष्टिसे विशेष महत्त्व है। राजस्थानके ख्याल इसी प्रथम श्रेणीमें आते हैं। इन ख्यालोंमें अमरसिंह राठौड़के ख्याल, केसरीसिंहके ख्याल, भतृहरि और गोपीचंदके ख्याल, राजा हरिश्चंद्रके ख्याल तथा तुर्रा-कलंगीके ख्याल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। राजस्थानके विविध क्षेत्रों में ये अपने-अपने ढंगसे खेले जाते हैं इनमें मौलिक भावना एक ही है, अन्तर केवल वेश-विन्यास तथा अंग-भंगिमाका है। पुराने ढंगके पुस्तक-विक्रेताओंकी दुकानों पर इन ख्यालोंकी पुस्तिकाएं उपलब्ध होती हैं, जिनकी समस्त कविताएं कुछ क्षेपकोंके अलावा प्रचलित लोक-गीतों के संकलन-मात्र हैं; अंतर केवल इतना ही है कि जो गीत, जनताकी ज़बान पर सहस्त्रों वर्षों से चढ़े हुए हैं, वे विशुद्ध राजस्थानी भाषामें हैं, जबकि इन बाजारू पुस्तिकाओंके गीत अत्यंत भद्दे ढंगसे भ्रष्ट खड़ी बोलीमें रूपान्तरित किए गए हैं। ये ख्याल राजस्थानके प्रत्येक क्षेत्रमें बिखरे पड़े हैं, जिनमें शेखावाटीके ख्याल अधिक प्रसिद्ध हैं। बीकानेरी ख्याल एक समय बड़े प्रसिद्ध थे। लंबे लंबे घेरदार झग्गों तथा पेचदार पगड़ियों वाले पात्र जब बन ठन कर आते हैं, तो देखते ही बनता है। होलीके अवसर पर ये ख्याल खेले जाते हैं। बड़े-बड़े नक्कारों और नफीरियों पर नाट्य-संवाद होता है। सभी जातियों और संप्रदायोंके लोग इनमें भाग लेते हैं। आज भी ये ख्याल होते हैं पर अब वे कुछ ही जातियों तक सीमित हैं।

शेखावाटीके ख्यालोंपर संयुक्त-प्रांतकी रामलीला और रासलीलाका प्रभाव स्पष्ट है। कभी-कभी रंगीन परदों तथा ऊपर उठे हुए रंगमंचका प्रयोग भी होता है। एक व्यक्ति हारमोनियमपर ख्यालके पद गाता है और शेष उस पर अभिनय करते हैं। यह एक प्रकारसे तख्ता-तोड़ नाच है। मीलों तक इसकी ध्वनि गुंजित होती है और दर्शकोंके कानोंके पर्दे फटने लगते हैं। मेवाड़के आस-पासके ख्यालों में कोमलता विशेष है। मेवाड़ सर्वदा ही

एक निर्धन और कंगाल प्रदेश रहा है और इन कलात्मक मनोरंजनोंके लिए तो उसमें और भी उत्साह नहीं रहा है। फिर भी इन ख्यालोंका यहाँ आज भी अच्छा चलन है। शहरसे कोसों दूरके गाँवोंमें, जहाँ आधुनिक मनोरंजनकी छाया भी न पहुँची हो, वहाँके ख्याल अत्यन्त चित्ताकर्षक होते हैं। वेश-भूषामें मेवाड़ी पगड़ियाँ, जिन पर तुर्रा-कलंगीकी छटा तथा घेरदार मेवाड़ी अँगरखियाँ बड़ी सुन्दर लगती हैं। मारंगी और तबलेपर मेवाड़ी ख्यालोंके पद गाँवके भाटों द्वारा बड़ी बुलंद आवाजमें गाए जाते हैं, जिनकी पुनरावृत्ति अभिनेताओं द्वारा होती है तथा उनके साथ ही समस्त नाट्य-प्रसंग, भाव-मुद्राओंमें व्यक्त किया जाता है। इन ख्यालोंमें स्त्री-पात्रोंका काम पुरुष ही करते हैं परन्तु वे ही पुरुष इस योग्य समझे जाते हैं, जो सुन्दर और नृत्यमें प्रवीण होते हैं। स्त्रियोंकी वेश-भूषा अत्यंत कलात्मक होती है। सात्विक पात्रोंकी पोशाकमें मनोरमता और अलंकरण विशेष होता है और तामसिक पात्रोंकी पोशाकोंमें रंगोंकी गंभीरता और अलंकरणकी सादगी होती है। तामसिक पात्रोंके हाथोंमें बहुधा एक लंबा सा बांस होता है, जिस पर एक दीपक लगा होता है। नृत्य करते समय वे अपनी भयावनी मुद्राओंके साथ इस बाँस को भी अत्यन्त भयावने ढंग से फिराते हैं। ख्यालके सभी पात्रोंके मुख-विन्यासमें पाउडरकी जगह हल्दी और काजल का प्रयोग होता है तथा मूँछें और दाढ़ियां नकली बालों तथा सफेद और काले पटसनकी बनी होती हैं। इन ख्यालोंकी रिहर्सल अथवा पूर्वाभ्यासकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि लगभग सभी ग्रामवासियोंको इन ख्यालोंके पद कंठस्थ होते हैं तथा वे उनकी अभिनय-मुद्राओंसे पूरी तरह अवगत होते हैं। मेवाड़ी ख्यालोंमें किसी प्रकार का रंगमंच नहीं बनाया जाता। प्रमुख रंगस्थलीके इर्द-गिर्द दर्शक गोलाकार बैठ जाते हैं।

चित्तौड़ और घोसूण्डाके पास 'तुर्रा-कलंगी का खेल' नामक एक नवीन ढंगका ख्याल प्रचलित है। तुर्राके खिलाड़ी हिन्दू होते हैं और कलंगी के मुसलमान। दोनों ही ख्यालोंकी कथाएं हिन्दू जीवन से संबंधित हैं। तुर्रा-कलंगीके अभिनेताओंके हाथमें नकली फूलोंकी छड़ियाँ होती हैं तथा उनकी पोशाकें मुश्किल ढंगकी होती हैं। गाँवके किसी बीचके चौराहे पर एक भव्य रंगमंचका निर्माण होता है, जिसे गांवके लोग अत्यंत कलात्मक ढंगसे सजाते सँवारते हैं। यह रंगमंच कला-कौशल की एक उत्कृष्ट कृति होती है। मंचके दोनों तरफ लगभग ५० फीट ऊँची बल्लियोंके सहारे दो महल बनाए जाते हैं, जिनमेंसे एकसे मलिकाएँ तथा रानियाँ अभिनय करती हुई उतरती हैं और दूसरे से पुरुष-पात्र। बीचके रंगमंच पर ख्यालके सूत्रधार, जो बहुधा गाँवके वयोवृद्ध भाट होते हैं, ख्यालके पद गाते हैं और उन्हींके सामने मंचके नीचे बैठे हुए शहनाई और नक्कारे वाले उनकी धुन बजाते हैं। अभिनेता उनके साथ ही रंगमंचके एक छोर से दूसरे छोर तक गाते-नाचते हुए बढ़ते हैं और अपनी कलाका प्रदर्शन करते हैं।

राजस्थानी भीलों का 'गौरी-नृत्य' भी एक बहुत ही विख्यात नृत्य-नाट्य है। यह उनका धार्मिक नृत्य है, जो भाद्रपद से आश्विन तक चलता है। इस नाट्यके प्रमुख नायक भगवान भैरवनाथ हैं। 'गौरी-नृत्य' में भाग, लेने वाले भील लगभग डेढ़ मास तक इसमें निरत रहते हैं। इन दिनों वे एक बार भोजन करते हैं। हरी सब्जी नहीं खाते, मांस-मदिराका

सेवन तथा स्त्री-समागम नहीं करते। इस नृत्यमें भी स्त्रियोंका काम पुरुष ही करते हैं। बुढ़िया, जो शिवका अवतार समझा जाता है, इस नृत्य का महानायक होता है तथा 'राई माँ' उमा और पार्वतीके रूपमें होती हैं। इस नाट्यमें शिवकी प्रामाणिक कथाका कहीं भी प्रयोग नहीं होता है। अनेक काल्पनिक परन्तु युगोंकी परंपराओंसे युक्त कथा-प्रसंगोंके आधार पर नाना प्रकारके खेल इस नाट्यमें दिखलाए जाते हैं, जो हास्य-विनोद और कलाबाजियों के अच्छे नमूने हैं। यह नृत्य सुबहसे शाम तक उस गाँव के चौराहेपर होता है, जहाँ नृत्यमें भाग लेने वाले भीलोंके गाँवकी किसी भी जातिकी लड़की ब्याही गई हो। उस लड़कीके ससुरालवाले 'राई माता' (उमा-पार्वती) की रुपए, नारियल तथा अन्य मांगलिक पदार्थोंसे गोद भरते हैं। इस क्रियाको न्यौछावर भरना भी कहते हैं। इस नृत्य-नाट्यके प्रमुख प्रसंग बनजारा, भियाबड़े, नट-नटी, खेतूड़ी, बादशाहकी सवारी, खड़किया भूत आदि हैं, जो विचित्र वेश-भूषा और अंग-मुद्राओंमें प्रस्तुत किए जाते हैं। प्रत्येक प्रासंगिक कथा-नाट्य की समाप्ति पर भैरवके प्रमुख पुजारी भोपाके शरीरमें भैरवनाथ का प्रवेश होता है, मादल और थाली पर ताल बजता है और समस्त भील अभिनेता कलात्मक मुद्राओंमें ठुमक-ठुमक कर गोलाकार नाचने लगते हैं। गौरी-नृत्य अपनी शैलीका एक ही नाट्य है, जो समस्त भारतवर्ष के नृत्य नाट्यों से बिल्कुल निराला है।

राजस्थानके दूसरे नाट्य वे हैं, जो कुछ विशिष्ट जातियों द्वारा एक व्यवसायके रूप में खेले जाते हैं। इनमें रासधारियाँ, कठपुतलीके खेल तथा नौटंकियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। रासधारी नाचनेवाले बहुधा भाट, मिरासी तथा ढोली होते हैं, जिनका पुश्तैनी पेशा ही रासधारी नाचना है। रासधारी और ख्यालके कथा-प्रसंग समान होते हुए भी उनकी शैलियोंमें काफी अन्तर है। ख्याल साधारण जनकी कृतियां होनेसे उनमें हाव-भाव तथा गीतोंकी परिपक्वता नहीं होती परन्तु रासधारीमें काम करनेवाले अपने काममें बड़े प्रवीण होते हैं। उनमें ऊटपटांग उछल-कूद तथा अनिश्चित और अनियंत्रित मुद्राएं नहीं होतीं। रासधारियोंकी मंडलियां एक गांवसे दूसरे गांव में घूमती हैं और बीस-पचीस रुपयों में लगभग सारी रात अपना तमाशा दिखलाती हैं। इनके सिर पर साफानुमा जरीदार पगड़ियाँ और शरीर पर लंबे और घेरदार झग्गे होते हैं। इसमें भी स्त्रियोंका काम पुरुष ही करते हैं। इस नृत्य-नाट्यमें प्रचलित संगीतकी अनेक मनमोहक तर्जें गाई तथा बजाई जाती हैं। इस नाट्यमें भी समस्त संवाद, गीत-नृत्योंके रूपमें होते हैं।

राजस्थानका दूसरा व्यावसायिक नाट्य कठपुतलियोंका खेल है। परबतसर राजस्थानके कठपुतली वालों का निवास-स्थान हैं। पिछले ६०० वर्षों से वे इसी गाँवमें रह रहे हैं। अनेक परिवार आज भी अपनी आजीविका कठपुतली-प्रदर्शन से ही कमाते हैं। वर्षा ऋतुमें ये लोग कठपुतिलयोंका एक गाड़ी-भर बोझा अपने सिर पर ढोकर एक गाँव से दूसरे गाँवमें जाते हैं। कठपुतलियाँ लकड़ीसे बनाई जाती हैं तथा कलात्मक वेश-भूषा से सजाई जाती हैं। कठपुतलियों के लगभग सभी परिवार एक ही शहर या गाँवके बाहर घुमक्कड़ परिवारोंकी भाँति डेरा डालकर ठहर जाते हैं और शहर में जाकर अपनी आजीविका के साधन जुटाते हैं। यह प्रदर्शन बहुधा रातको लगभग ७/- रुपयेके पारिश्रमिकसे कराया जाता

है। केवल तीन चारपाइयाँ इस नाट्यका रंगमंच बन जाती हैं। दो चारपाइयोंके बीचमें एक छोटा-सा बारादरीनुमा परदा बाँध दिया जाता है, जिसके पीछे कठपुतलीवाला अपनी उंगलियोंमें कई डोरोंका जाल बांधे कठपुतलियोंको घुमाता-फिराता कठपुतलियोंसे नाना प्रकारसे कार्य कराता है। ये निर्जीव कठपुतलियाँ मुखकी भाव-भंगियोंके अतिरिक्त शरीरकी समस्त भंगियोंमें अपना नृत्य दिखलाती है। एक स्त्री, जो बहुधा सूत्रधारकी पत्नी अथवा माता होती है, कठपुतलियोंके नाचके साथ-साथ कथा-प्रसंगके पद गाती जाती है। सूत्रधारकी कलाकी बारिकियोंको देखकर दर्शक आश्चर्य-चकित रह जाता है। जो काम इस थोड़ेसे समय तथा छोटी-सी रंगस्थलीमें जीवित प्राणी नहीं कर सकते, वह ये निर्जीव पुतलियां आश्चर्यपूर्ण तरीकेसे करती हैं। अतीतमें इन पुतलियों द्वारा समस्त पौराणिक तथा धार्मिक कहानियोंके नाट्य उपस्थित किए जाते थे। परन्तु मध्यकालीन मुगल-सभ्यताके प्रभावसे वे ही कथा-प्रसंग इन नाट्योंमें प्रयुक्त होने लगे, जो उस समय अत्यधिक प्रचलति थे। इसी कारण कठपुतलियोंकी वेश-भूषा मुगल-शैलीकी होती है। महाभारत तथा रामायणमें इन कठपुतलियोंका काफी उल्लेख है और भारतीय नाट्यका उद्‌गम भी उन्हीं से हुआ बतलाते हैं।

राजस्थानका एक और प्रबल नृत्य-नाट्य नौटंकियोंका खेल है जो अब प्राय: लुप्त-सा हो गया है। इसकी विशेषता नक्कारोंके वादन तथा तख्ता-तोड़ नाचोंमें है। भूमिसे दो-दो चार-चार गज ऊँची छलाँगोंवाले नाच हनुमानकी छलांग की याद दिलाते हैं। अतिशय द्रुत चालके ये नाच नृत्य करने वालों के शरीरको चूर-चूर कर देते हैं। नौटंकियोंके कथा-प्रसंगोंमें राम तथा कृष्णकी कथाओंका बाहुल्य है। कभी-कभी ऐतिहासिक तथा प्रचलति सामाजिक प्रसंग भी प्रयुक्त होते हैं। यह भी संपूर्णत: एक व्यावसायिक नृत्य है और इसमें बहुधा खत्री, ब्राह्मण आदि भाग लेते हैं। इस नाट्यमें पोशाकें चुस्त और सादी होती हैं और रंगमंच तथा रंगीन पर्दोंका प्रयोग भी होता है। ये नौटंकियां बहुधा उत्तर-प्रदेशके सीमावर्ती राज्य भरतपुर, अलवर, धौलपुर आदि स्थानोंकी होती हैं। उत्तर-प्रदेशकी नौटंकियाँ विशेष प्रसिद्ध हैं।

इन सब नाट्य शैलियोंमें समयनानुसार काफ़ी परिवर्तन होते रहे हैं। मुस्लिम-आक्रमणके पूर्व इन सब नाट्योंमें स्त्री-पुरुष समान रूपसे भाग लेते रहे हैं, परन्तु जैसे-जैसे परदेकी प्रथाने हमारे देशमें प्रवेश किया, वैसे-वैसे पुरुषोंको, स्त्रियोंका पार्ट अदा करना पड़ा। किसी समय ये सब नाट्य सार्वजनिक नाट्य थे और इनसे आजीविका उपार्जनका कार्य नहीं किया जाता था। लोकजीवनको पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक चिन्ताओंसे मुक्त करने वाले ये प्रबल मनोरंजन आज अपनी मृत्युकी साँसें गिन रहेहैं। हमारा आजका संतप्त समाज, भयंकर क्षोभ और निराशा लिए अपने जीवनका वह रस-स्रोत सुखा रहा है, जो उसे अनंत कालसे वरदान-स्वरूप प्राप्त हुआ था। आनन्द और उल्लासका यह अमर झरना हमारे शुष्क और नीरस जीवनको पुन: रसप्लावित करनेके लिए अत्यन्त आवश्यक है परन्तु इस ओर किसी का ध्यान ही नहीं जा रहा है।

(नया समाज, मार्च १९५२, कलकत्ता)

१९वीं शताब्दी के उत्कृष्ट समालोचक - ज्ञानसार

अगरचन्द नाहटा

भारतीय साहित्य में समीक्षा या समालोचना की प्रणाली बहुत प्राचीन है। दर्शन-शास्त्र के ग्रंथों में विभिन्न सिद्धान्तों की समीक्षा प्रचुरता से देखने को मिलती है। यद्यपि उससे तटस्था सर्वत्र नहीं लक्षित होती, फिर भी आलोचना-प्रत्यालोचना द्वारा तत्त्व का विवेचन बहुत स्पष्ट हो जाता है। संस्कृत में लोकोक्ति है,'वादे वादे जायते तत्त्व बोधः।'

संस्कृत के दार्शनिक ग्रंथों में और साहित्य-शास्त्रों में जितनी विशद्, सूक्ष्म एवं गंभीर आलोचना देखने को मिलती है, हिन्दी-साहित्य जब से पनपा व विकसित हुआ, उसमें अपनी स्वस्थ आलोचना कम दिखाई पड़ती है। वर्तमान युग में समालोचना पर बहुत साहित्य देखने को मिलता है पर प्राचीन हिन्दी-आलोचकों का, जैसा चाहिए खोज, अध्ययन, नहीं हुआ। प्रस्तुत लेख में हम १९वीं शताब्दी के एक बड़े आलोचक जैन विद्वान का परिचय दे रहे हैं, जिनकी स्वस्थ आलोचना बहुत ही आदर्श एवं अनुकरणीय है।

इन आलोचक विद्वान का नाम 'ज्ञानसार' या नारायणजी बाबा है। विक्रम की सारी १९वीं शताब्दी जितना दीर्घकाल इनका जीवन है। संवत् १८०१ में आपका जन्म बीकानेर राज्य के जैगलेवास में हुआ। ओसवाल-जाति के साँड-गोत्रीय सेठ उदयचंद और उनकी पत्नी जीवनदेवी इनके माता-पिता थे। जन्म-नाम नाराण या नारायण था, इसलिए ये नाराण जी 'बाबा' के नाम से आज भी लोक-विश्रुत हैं। ज्ञानसार इनका दीक्षा नाम था। संवत् १८१२ में भयंकर अकाल पड़ा, तो आप बीकानेर आये, और यहाँ के बड़े उपाश्रय के पूज्य जिनलाभ सूरि की सेवा में रह गये। इनकी बुद्धि बड़ी विलक्षण थी, अतः थोड़े समय में ही विद्याध्ययन का सुपरिणाम नजर आने लगा। संवत् १९२१ में आपने जैन-यती-दीक्षा ग्रहण की, और रायचन्दजी (दीक्षा-नाम रत्नदास) के शिष्य के रूप में प्रसिद्ध हुए।

जैन-मुनि चातुर्मास के अनन्तर धर्मोपदेश देते हुए घूमते रहते हैं, इससे भिन्न-भिन्न स्थानों एवं लोगों का परिचय और अनुभव बढ़ता है। संवत् १८४८ तक तो आप राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र में ही विचरते रहे, पर संवत् 1849 में अपने गच्छपति की आज्ञा से, पूर्व देश की ओर पधारे। वहाँ महाजन-टोली, अजीमगंज और मुर्शिदाबाद आदि में तीन चातुर्मास किये। वहाँ के नाना अनुभवों, रहन-सहन, समाज-व्यवस्था आदि का बड़ा ही सजीव और अपूर्व वर्णन आपने अपने 'पूर्व-देश-वर्णन-छंद' में किया है। पूर्व-देश की तीर्थयात्रा कर संवत् १८५२ में दिल्ली और ५३' से ६२' तक १० वर्ष के चातुर्मास जयपुर में किये। फिर ६३ से ६८ तक ६ चातुर्मास कृष्णगढ़ में किये और १८६९ में सुप्रसिद्ध सत्रुंज-तीर्थ की यात्रा कर बीकानेर आ गये। १८७० से १८९८ तक का अंतिम जीवन यहीं बिताया। बीकानेर में आज भी आपका समाधि-मंदिर विद्यमान है।

ज्ञानसारजी जैन-शास्त्रों के तो अध्येता थे ही, साथ ही छन्द, अलंकार आदि के भी आप

महान् विद्वान थे। छन्दों के सम्बन्ध में हिन्दी में आपका 'मालापिगल-ग्रंथ' बहुत ही सुन्दर है, और जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह के लिए रचित 'कामोद्दीपन' ग्रंथ में आपने अलंकारों की छटा दिखाई है। विद्वान, होने के साथ-साथ आप बहुत त्यागी, संत और अलमस्त योगी, अवधूत थे। आप श्मशान में रहते थे। राजा-महाराजा आपके बड़े भक्त थे। बीकानेर, जयपुर, किशनगढ़, जैसलमेर, उदयपर राजाओं की आप में बड़ी श्रद्धा थी। बीकानेर के महाराजा सूरतसिंह तो आपको नारायण का अवतार ही मानते थे; इतने राज्य-मान्य विद्वान संत होने पर भी ये बड़े निस्पृह और परोपकारी थे। पार्श्वयक्ष आपके प्रत्यक्ष आता था। कई बार वह आपके सन्मुख बैठ कर बातें करता था, इसके समकालीन उल्लेख मिलते हैं, और एक बार के वार्तालाप का सार तो आपके स्वलिखित पत्र में भी प्राप्त है। महाराजा सूरतसिंह के भक्ति-भाव-पूरित बीस पत्र उनके स्वयं (हाथ) के लिए हुए हमारे संग्रह में है।

आपकी रचनाएं राजस्थानी व हिन्दी-गद्य और पद्य में प्राप्त हैं। सैद्धान्तिक रचनाओं के अतिरिक्त प्रस्ताविक भक्ति एवं आध्यात्मिक रचनाएं भी काफी हैं। हिन्दी-ग्रन्थों में 'माला-पिंगल' और 'कामोद्दीपन' के अतिरिक्त 'पूर्व-देश वर्णन छन्द' चौपाई, समालोचना, प्रतापसिंह-सम्मुद्ध-वद्ध काव्य, वचनिका आदि उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत लेख में आपके समालोचनात्मक साहित्य का ही कुछ परिचय देना अभीष्ट है।

१८वीं शताब्दी के प्रारंभ में जैन योगीराज आनन्दघन बड़े ऊँचे अध्यात्म-अनुभवी पुरुष हुए हैं, जिनके पद और स्तवन 'आनन्द घन और घनानन्द' ग्रंथ में छप चुके हैं, और हिन्दी में भी काफी प्रसिद्ध हैं। इनकी चौबीसी पर ज्ञानसारजी ने ३७ वर्ष तक विचार व चिन्तन किया और फिर साढ़े तीन हजार श्लोकों में विस्तृत विवेचन लिखा। आनन्दघनजी के पदों पर भी आपका विवेचन (अपूर्ण) मिलता है। ऐसे महान् योगी कवि की भी आपने प्रसंग-प्रसंग पर अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए समीक्षा की है।

आनन्दघन की चौबीसी पर ज्ञानविमल सूरि ने विवेचन लिखा था, पर उनका इतना अनुभव नहीं था, इसलिए उनकी आलोचना, आपने जगह-जगह पर की है, जिसमें ज्ञानविमल सूरि को खूब आड़े हाथों लिया गया है।

१८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 19वीं के प्रारंभ में जैन-तत्त्ववेत्ता महान आध्यात्मिक विद्वान श्रीमद्देवचेन्द्रजी हुए। उनकी 'अध्यात्म-गीता और साधु-सम्प्रदाय' पर आपने विवेचन लिखा। उसमें भी प्रसंगवश उन रचनाओं में जहाँ-जहाँ दूषण दिखाई दिये, उनका की निर्भीकता के साथ स्पष्टीकरण किया है।

१८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उपाध्याय यशोविजय नामक न्याय-शास्त्र आदि के बहुत बड़े विद्वान हुए हैं। उनके एक गीत पर भी आपने विवेचन लिखा है और १८वीं के उत्तरार्द्ध में मोहनविजय नामक कवि ने चन्दराज की लोककथा का एक सुन्दर काव्य 'चन्दरास' के नाम से संवत् १७८३ में बनाया। इस रास की ज्ञानसारजी ने अपूर्व समीक्षा की है अतः इसी का थोड़ा परिचय यहां दिया जा रहा है।

मोहनविजय का 'चन्दरास' बहुत ही लोकप्रिय हुआ। उसकी सैकड़ों हस्त-लिखित प्रतियां मिलती हैं, और कई प्रतियां तो सचित्र भी प्राप्त हुई हैं। जैन-मुनियों ने सैकड़ों रास

बनाए हैं, और वे उन्हें प्रातः, मध्याह्न एवं रात्रि के व्याख्यानों में, श्रोताओं को गा कर विवेचन के साथ समझाते रहे हैं। 'चन्दरास' का भी व्याख्यानों में अच्छा प्रचार था, फलतः मुद्रण-युग में भी इसकी कई आवृत्तियां मूल, विवेचन और चित्रों वाली निकल चुकी हैं। संस्कृत और हिन्दी में भी इस रास के आधार से चन्द-चरित्र बनाये गये। संक्षेप में इस चन्दरास का जैन समाज में खूब प्रचार रहा। जनता मोहनविजय की इस रचना पर मुग्ध-सी थी। ऐसे लोकप्रिय एवं प्रसिद्ध रास की आलोचना जिस रूप में आपने की है, वह अन्य के द्वारा संभव ही न थी।

ज्ञानसारजी स्वयं बड़े अच्छे कवि थे, छन्द, अलंकार आदि के मर्मज्ञ, तीक्ष्ण बुद्धि, सूझ-बूझ और निर्भीकता, समालोचक के इन सभी गुणों का एकत्रीकरण आप में दिखाई देता है। समालोचक का प्रधान कर्तव्य है कि समीक्षा की जाने वाली रचना के गुणों एवं दोषों का समान रूप मे समुचित-बुद्धि से प्रकाशन करे। यदि वह केवल अवगुणों को ही दिखाता है, या गुणों की आवश्यकता से अधिक प्रशंसा करता है तो वह कर्तव्य च्युत कहा जाता है।

चन्द-चौपाई की समालोचना की एक विशेषता और है कि वह गद्य में न होकर पद्य में है, और वे दोहे भी इतने टकसाली, चुस्त और प्रवाहमय हैं कि पढ़ने की उत्सुकता बनी ही रहती है। इस समीक्षा-ग्रंथ की एक-मात्र प्रति भीनासार के जैन-यती स्वर्गीय सुमेरमलजी के संग्रह में करीब २०-२२ वर्ष पूर्व हमें देखने को मिली। प्रति बहुत सुन्दर अक्षरों में लिखी हुई थी। बीच में बड़े अक्षरों में 'मूल चन्दरास' लिखा हुआ था, और चारों ओर हाशिये में ज्ञानासारजी की समालोचना के दोहे किस पद्य से सम्बन्धित है, आदि संकेतों के साथ लिखे हुए थे; जिस ढाल की जिस गाथा पर जो आलोचनात्मक पद्य बनाये गये, उन पदों अथवा वाक्यों के ऊपर चिह्न किया गया है और हाशिये में जहां समालोचना के पद्य लिखे गये हैं, वहां पर भी अमुक क्रमांक की पंक्ति की, अमुक क्रमांक वाली गाथा के सम्बन्ध में कहा गया है, ऐसा निर्देश लिखा मिलता है। अनेक जगह कठिन शब्दों पर स्पष्ट टिप्पणी लिखी गयी है। संवत् १८७७ में ज्ञानसारजी ने यह आलोचना की और संवत् १८९९ के चैत्र वदी ११ रविवार को खरतरगच्छ के पं. आनन्दविजय के शिष्य लक्ष्मीधीर के पढ़ने के लिये लूणकरण सर में यह८७ पत्रों की प्रति लिखी गयी। ४०० से अधिक दोहे, कुछ सवैया और कुंडलिया आदि तथा कहीं-कहीं गद्य में भी यह समालोचना लिखी गयी है। समीक्षा का यह बहुत ही आदर्श एवं अनुकरणीय दृष्टान्त है। चन्दरास के छन्द-दोष, समविषम में मात्राओं का न्यूनाधिक्य, असम्बद्धता, अलंकार-दोष, आदि का स्पष्टीकरण करते हुए बड़ी मार्मिक आलोचना की गयी है। इस तल-स्पर्शी समीक्षा में केवल दोषों का उद्घाटन नहीं है, अपितु प्रसंग-प्रसंग पर हेतु, युक्ति और उपमाओं से युक्त दोहों को यथा-स्थान नियोजित कर, आलोच्य रास की शोभा में चौगुनी वृद्धि की है। अपने ढंग की यह एक ही आलोचनात्मक रचना है। अब हम इसके थोड़े उदाहरण देंगे-

समीक्षा के प्रारंभ में ज्ञानसार जी ने इस प्रकार भूमिका के दोहे बनाये हैं :-

ए निच्चै निच्चै करौ, लखि रचना कौ मांझ॥

छंद अलंकारे निपुण, नहिं मोहन कविराज॥१॥
दोहा छंदे विषम पद, कही तीन दस मात।
सम मैं ग्यारै हूँ धरै .छंद गिरत्थै ख्यात॥२॥
सो तौ पहिले हूँ पदैं, मान रची दो बार।
अलंकार दूसन लिखूँ, लिखत बढ़त विसतार॥३॥
प्राकृत विद्या मैं निपुन, नहि वाँको यह हेत।
प्रथम शब्द दो थॉन के, एक पढम कर देत॥४॥
ऐसे केते थान के, मात्रा मधि की देख।
एक थॉन कै लिख दयौ कौ लौ लिखूँ अशेष॥५॥

जिस मंगलाचरण के प्रथम पद्य की यह आलोचना की गयी है, वह इस प्रकार है :-

प्रथम धराधव तिम प्रथम, तीर्थङ्कर आदेय।
प्रथम जिणंद दिणंद सम, नमो-नमो नाभेय॥

इसके बाद सातवें पद्य व दसवें पद्य में १३ की जगह १४ मात्राएं हैं। ११वें पद्य में जहाँ ११ मात्राएं चाहिए वहाँ १२ हैं। जहाँ १३ चाहिए वहाँ एक जगह १४ और एक जगह १२ हैं। इस प्रकार बड़ी बारीकी से छन्दोभंग-आदि दोषों की विवेचना की है। दूसरी ढाल के १३वें पद्य में :-

झांसी जोवे झालिका, मालिका विविध सोपान।
नृप तिहाँ थई ने उतरयो, कर करवाल प्रधान।

इसकी समीक्षा करते हुए लिखा है कि 'नृप जालिका थई उतरयो, गूथ्यों परम जालिएँ राजा किम समावे। छिद्र छोटा तैं थी बारी गूँथवी योग्य हुँतीं। परम कवि नी योजना-मात्र उच्छव वृत्तिनी छै' अर्थात् जाली में से राजा उतरा, इस कथन पर यह तर्क-संगत आपत्ति की गयी है कि जाली के छिद्र छोटे होते हैं, उसमें से होकर राजा किस तरह निकला और साथ ही यह सुझाव दिया है कि यहां जाली के स्थान पर 'बारी' (खिड़की) शब्द होना चाहिए था।

कहीं-कहीं तो आपके दोहे बहुत ही फबते हैं। ढाल 4 के 5वें पद्य के तृतीय चरण पर क्या ही सुन्दर कहा गया है -

वैद्य-वैद्य कूँ देख के, मंगत मंगत पेख।
तिय दुतिया तिय निरख के, धारत मन अति धेख॥

अर्थात् रोगी को देखने एक वैद्य आता है। वह दूसरे वैद्य को बुलाया हुआ देखता है तो जल उठता है। उसी प्रकार भिखारी खड़ा है और दूसरा भिखारी आ गया, तो वह भुन जाता है, इसी प्रकार स्त्री अपने पति की दूसरी पत्नी, सौत को देख कर मन में द्वेष धारण करती है।

ढाल १७ की गाथा ७वीं 'खिण-खिण सौ-सौ बार' वाक्य पर आपने लिखा है, 'एक-

एक क्षणै बेवार काहै तो ही भलों, पर क्षण काल केटलो तेमा सौ-सौ बार किम संभव है। परंतु कवि ने उच्छक वृत्तिनी उन्मुकत्ता छे ढाल १६ की १६वीं गाथा। ''अंजलि जलमाँ सुँ तरमुहुँ' इसकी आलोचना में आपने बहुत ही युक्ति और दृष्टांत सहित कहा है, 'तुच्छ उदर कबहुँ न जरै, सद्विद्या आहार। जूनी थेली क्यूँ सहे रूपायन को सार।' अर्थात् तुच्छ बुद्धि वाले छोटे पेट या उदर वाले सद्विद्या रूपी पौष्टिक आहार को हजम नहीं कर सकते, जैसे पुरानी थैली नकद रुपयों का भार वहन नहीं कर सकती। ज्ञानसारजी का एक-एक दोहा सोने की अँगूठी या हार में जड़े हुए नगीने के समान है। उनकी आलोचना बहुत ही सूक्ष्मदर्शी है। सुभाषित और लोकोक्तियों का समावेश करने के साथ-साथ, उपमाओं की रचना में अपूर्व रचना-कौशल व पांडित्य का परिचय दिया है। इस छोटे-से लेख में उसका विशेष परिचय देना संभव नहीं।

सवैया कुंडलियाँ आदि अन्य छंदों को छोड़कर केवल दोहे ही ४१३ हैं। अन्त में आपने लिखा है -

घट विन घटनों घटतता, घटता बिना घटन्त।
अन्यौन्यै अस बद्धता, त्यौही 'चन्द-चरित्त'॥१॥
पामे तीनू मधुरता, रचना वचन संबंध।
मुगध लोक यातै कहै सबतै मिळू प्रबंध॥२॥
कविता-कविता शास्त्र के सम्मत भूषण देख।
अलंकार दूसन लखै सबतै अयै विशेष॥३॥
हीनाधिक मात्रा पदै, लिखत लेख को दोष।
अंतै गुरु मात्रा बहै, तो शास्त्रें निरदोष॥४॥
पद आदै अंतै गुरू, तेसै ही लघु होय।
हीनाधिक मात्रा वहै, लघु गुरु मानौ सोय॥५॥
वर कविकृत कविता बहुत, नई करन को हेत।
परभव पहुंता जोजना, बुद्ध परीक्षा देत॥६॥
दूसन सब कविता निके भूसन विबुध ललंत।
करवर बहुतै वृहत तउ नयन ही न लखंत॥७॥
नाँ कवि को निंदा करी, ना कछुँ राखी कॉन।
कवि कृत कविता शास्त्र के सँभवत लिखी सयॉन॥८॥
दोहा दिक दस धाइ सैं प्रस्तावीक नवीन।
खरतर भट्टारक गछै ज्ञानसार लिख दीन॥९॥
भयँकर पवयण माय सिधे, थॉन वाम लिख दीध।
वतै किसन दुतीया दिने, संपूरन रस पीध॥१०॥

समालोचक कवि ज्ञानसार का विस्तृत परिचय और ज्ञानविमल सूरि, देवचन्द्रजी आदि

की रचनाओं की समालोचना के कुछ उदाहरण हम 'ज्ञानसार- ग्रथावली' में दे चुके हैं, जो श्रीपरशुराम चतुर्वेदी और महापंडित राहुल सांकृत्यायन के प्राक्कथन और भूमिकाओं के साथ शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है।

टिप्पणी :

१. चन्द्रराम संवत् १९२९ अर्थात् आज से ८५ वर्ष पूर्व छपा था, उसकी संशोधित आवृत्ति में उस रास की प्रशंसा इस प्रकार की गयी है - 'आ रासमाँ प्रस्तुत कर्वाए जे कविता करवानी चतुराई, पदलालित्य, यमक तथा प्रास मेलवानी के लवणी, प्रसंगे-प्रसंगे जिहाँ-जिहाँ जेवा-जेवा विषय आवेलाछे त्यां-त्यां तेवा-तेवा योग्य शृंगारादि रसोनी पुष्टि करीने आदशी-अंत पर्यंत शृंगारादि नवरस प्रदर्शित करवानी युक्तिउ अने त्याँ-त्याँ तेवा-तेवा प्रकारनी उत्प्रेक्षा, उपमा, अर्थान्तररन्यास, रूपक इत्यादि अर्थालंकारे करी शोभायमान एवाँ वाक्योनी योजना, इत्यादि विचार करता ए रास न्हानी सरखी कादंबरी ने पेठे कथामागने प्रदीप्त करे छे, तेथी एनी रचना अकथनीय छे, माटे एनी जटली तारीफ लखीयें तेटली थोड़ी छे।'

इसके बाद इस रास के कई संस्करण निकल चुके हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों से कई प्रकाशकों द्वारा उसका प्रकाशन होना उसकी लोकप्रियता का सूचक है।

चन्दराजा की कथा वास्तव में एक लोककथा मालूम होती है। जैन-कवियों के अतिरिक्त ब्रज, हिन्दी और राजस्थानी में जैनेतर कवियों और लेखकों ने इस कथा-सम्बन्धी ग्रंथ बनाये हैं। जैन विद्वानों ने तो १०-१२ ग्रंथ इस कथा पर लिखे हैं। उन सबका परिचय शोध पत्रिका में मैंने दिया है, जो राजस्थान विश्वविद्यापीठ उदयपुर से प्रकाशित होती है।

१७वीं शताब्दी से तो इस कथा का प्रचार ब्रज-प्रदेश, राजस्थान, गुजरात और सौराष्ट्र में खूब रहा है। जैन-कवियों के उल्लेखों के अनुसार यह कथा काफी पुरानी होनी चाहिए पर जिस 'मुनि सुव्रत-चरित' के आधार पर रची जाने का उल्लेख मिलता है उस मूल ग्रंथ का अनुसंधान अभी नहीं होने पाया है।

(कल्पना, मई, १९५७ हैदराबाद)

भारतीय विश्वविद्यालयों में खोज-कार्य

राममनोहर लोहिया

विश्वविद्यालय के मुख्य आकर्षणों में एक यह विश्वास भी होता है कि वह ज्ञान और शक्ति का भंडार होने के अतिरिक्त ऐसी सोद्देश्य जिज्ञासा का केंद्र भी है जो ज्ञान और शक्ति बढ़ाने की ओर ले जाती है। युवा दिमाग इस जिज्ञासा की उपस्थिति से उतना ही आकर्षित होता है जितनी खेल-खूद, युवा और स्वस्थ शरीरों की उपस्थिति से। दिमाग और शरीर की इस रसमयता (रोमान्स) से, ज्ञान के नये क्षेत्रों के उपयोग और सामान्य स्वास्थ्य में सुधार से, राष्ट्र को लाभ पहुंचता है। भारतीय विश्वविद्यालयों को दोनों ही दिशाओं में तीव्र गति से प्रयत्न करने होंगे, क्योंकि उन्हें लगभग नये सिरे से काम शुरू करना है।

यहां मैं केवल दिमाग की रसमयता की ही बात करूंगा। इस रसमयता को जगाने का करीब-करीब पक्का कारगर उपाय एक यह है कि विश्वविद्यालय के अध्यापक, वास्तव में विद्वान हों, जो अपने विषय के सारे उपलब्ध ज्ञान से परिचित हों और अपनी विशिष्ट बुद्धि और ज्ञान से विषय की मोटी-मोटी बातों को प्रकाश में ला सकें। अध्यापक अभी जितनी किताबें और पत्र-पत्रिकाएं पढ़ते हैं, उससे कहीं ज्यादा उन्हें पढ़ना होगा। पढ़ी हुई सामग्री और जीवन पर ज्यादा चिन्तन और मनन करना होगा। लेकिन अगर, विश्वव्यापी नहीं तो कम से कम राष्ट्रीय रूप रखने वाले महत्त्वपूर्ण खोज-कार्य न हों, खोज की योजनाएं और उनमें लगन से काम करने वाले लोग न हों, तो यह सब बेमजा ही रह जाता है। सबसे अधिक सम्भव रसमयता तो खोज में और दिमाग की व्यवस्थित रीति में है, जो सौंदर्य, शक्ति या ज्ञान के क्षेत्रों को उजागर करती हैं।

जितना आकर्षण प्राकृतिक विषयों के खोज-कार्य में है, उतना अधिक आकर्षण और किसी में नहीं होता। इतने तात्कालिक महत्त्व की और कोई चीज भी तो नहीं है। ऐसा मालूम होता है कि गणित, रसायन, भौतिक-शास्त्र और भूगर्भ-विज्ञान-जैसे विषयों में खोज निश्चित रूप से रहस्योद्घाटन करती है। मैं खोज की इन योजनाओं और उनमें लगे हुए वैज्ञानिकों के बारे में कुछ चर्चा करने योग्य तो नहीं हूं, लेकिन इतना तो कह ही सकता हूं कि उनके बिना आधुनिक काल का विश्वविद्यालय, निष्प्राण प्रतीत होगा। सामाजिक विज्ञानों की निस्बत कम रसमयता ही इस समय मेरा विषय है। एक अर्थ में,यह कम रसमयता अधिक महत्त्व की है, क्योंकि इसकी प्रतिध्वनियां जन-चेतना की गहराइयों तक जाती हैं और यह आंशिक रूप में वह आधार प्रदान करती है, जिस पर प्राकृतिक विषय निर्मित होते हैं।

सामाजिक विषयों में खोज का वर्गीकरण मुख्य रूप से वर्तमान और अतीत, आधुनिक और प्राचीन में करना चाहिए। फिर आधुनिक का वर्गीकरण मुख्य रूप से वर्णन-विश्लेषण और सिद्धान्त-विश्लेषण में होना चाहिए। इतिहास भूगोल, साहित्य एवं अर्थशास्त्र और

पुराकथाओं-जैसे विभिन्न विषयों की सीमा-रेखाओं को मिटाने की न जरूरत है और न ऐसा करना ही चाहिए, लेकिन खोज के उद्देश्य के लिए उन सभी का एक केंद्र में समन्वय करने की जरूरत है, जिसके तीन अंग हों-आधुनिक वर्णन,आधुनिक-सिद्धांत और प्राचीन।

अभी तक भारतीय विश्वविद्यालयों में कला-विषयों की खोज ज्यादातर आधुनिक वर्णनपरक रही है। वहां भी, उसने अपने को संकुचित दायरों और अस्थायी अवधियों में सीमित रखा है। इसका यह अर्थ नहीं कि दामों के उतार-चढ़ाव या किसी जिले में मजदूरों के रहन-सहन या वर्तमान शताब्दी के तीसरे या चौथे दशक में रेलवे, वित्त-जैसे विषयों पर खोज अनावश्यक है। ऐसी खोज जारी रहनी चाहिए। किन्तु अगर विश्वविद्यालय दिमाग की रसमयता का सच्चा केंद्र बनना चाहें, तो विस्तृत क्षेत्रों और व्यापक अवधियों को लेना होगा।

मैं एक उदाहरण दूं। हिन्दुस्तान में जमीन का उपयोग एक ऐसा ही विषय है। एक ओर तो इसी प्रकार की पन्द्रह या इससे संकुचित किन्तु ज्यादा गहराई में जाने वाली खोजें हो सकती हैं। दूसरी ओर चार या पांच अधिक व्यापक विषय हो सकते हैं- जैसे एशिया या यूरोप में जमीन का उपयोग। विषय को कानून, मिलकियत, पैदावार के साधन, दाम और अन्य ऐसे ही विभिन्न पहलुओं में बांटा जा सकता है और हर एक पर खोज-निबंध प्रस्तुत किया जा सकता है। इसी प्रकार, उदाहरण के लिए, हिन्दुस्तान के विभिन्न साहित्यों में नारी के स्थान पर या अहिंसा और विश्व-एकता जैसी नयी उभरती हुई अधिघटनाओं पर भी खोज की जा सकती है।

नयी उभरती हुई या परिपक्व होने के बाद समाप्त होने वाली अधिघटनाओं का विषय व्यापक और अद्भुत है और उसमें बहुत सी सम्भावनाएं हैं। रंगीन चमड़ी वाले लोगों की स्वतंत्रता से ऐसे बहुतेरे विषय सामने आये हैं। स्वतंत्रता दिलाने वाली कौमिन्तांग पार्टी और कांग्रेस--जैसी संस्थाओं में कुछ एकरूपता मिलती है, और कुछ विभिन्नताएं भी। उनके अध्ययन से न सिर्फ ऐसी खुशी होगी, जो सभी रहस्योद्घाटनों में होती है, बल्कि ज्ञान भी मिलेगा।

हिन्दुस्तान की वर्ण-व्यवस्था अपने सभी रहस्यों का पता तो शायद किसी खोजी को कभी न लगने दे लेकिन व्यापार और उद्योग के मौजूदा पेशों में उसका विस्तार, खोज का एक ऐसा क्षेत्र है जिससे लाभ हो सकता है। उदाहरण के लिए मल्लाह, मछुए, भिश्ती और घरेलू नौकर एक ही व्यापक वर्ग के सदस्य हैं, और आर्थिक स्थिति व पेशों के अलावा उनके मौजूदा रीति-रिवाज, रहन-सहन और विचारों की खोज में बहुत सामग्री तो मिलेगी, हां, कुछ नयी बातें भी मालूम होंगी।

वर्णन-विश्लेषण को सिद्धांत विश्लेषण का मार्ग तैयार करना चाहिए, जिसका इस समय भारतीय विश्वविद्यालयों में लगभग पूरा अभाव है। सैद्धान्तिक विश्लेषणात्मक खोज के बिना केवल वर्णनात्मक खोज का मूल्य लाजमी तौर से नष्ट हो जाता है और वह प्रतिष्ठा व आमदनी की दृष्टि से घटिया डाक्टर उपाधिकारियों का नीरस प्रवचन रह जाती है। विशेषत:

गैर-यूरोपीय देशों में सैद्धान्तिक विश्लेषणात्मक खोज गहरी होनी चाहिए, क्योंकि इस समय सारी दुनिया में, यूरोप में गढ़े हुए वैध दिमाग के सैद्धान्तिक औजार इस्तेमाल होते हैं। इन औजारों को बारीकी से जांचना चाहिए। विश्व-व्यापी वैधता के उनके झूठे दावों की असलियत को सामने लाना होगा और मौलिक विश्लेषण के द्वारा विचार के बेहतर औजारों का निर्माण करना होगा। डाक्टर की उपाधि के उम्मीदवार से शायद यह आशा करना उचित न होगा कि वह इन औजारों का निर्माण करे क्योंकि आमतौर पर वह युवा होता है, उसमें विस्तृत ज्ञान नहीं होता और न ही असाधारण प्रतिभा। किन्तु उससे यह आशा करना तो उचित ही है कि वह इन औजारों की बारीकी से जांच करे और उनकी उपयोगिता के साथ-साथ उनकी कमियों को भी सामने लाए। ऐसी खोज से सम्भव है कि विश्वविद्यालय के अन्दर, और बाहर भी, ऐसे विचार के औजारों की सृष्टि के अनुकूल वातावरण बन सके जिनकी वैधता सार्वभौमिक हो।

मनुष्य के मौजूदा विचार ऐसी धारणाओं से भरे पड़े हैं जिनकी वैधता केवल आंशिक है। उनमें से कुछ ये हैं:(१) प्रगति (२) समृद्धि (३) पूंजीवाद (४) सामन्तवाद (५) समाजवाद या साम्यवाद। इनमें से हर एक का किताबों में और बातचीत में, निरन्तर इस्तेमाल होता रहता है। प्रचलित विचारों पर यूरोप ऐसा हावी है कि गैर-यूरोपीय विश्व-विद्यालय के लोगों को इन धारणाओं की गहराई से जांच करने की बात नहीं सूझती। कोल्हू के बैलों की तरह वे बंधे हुए दायरे में यूरोप के औजार ले कर खोज का काम करते जाते हैं और कभी यह नहीं सोचते कि ये औजार नाकाफी हैं और इन्हें फिर से गढ़ने की जरूरत है।

पूंजीवाद, साम्यवाद, या साम्यवाद जैसी कल्पनाएं वास्तव में विचार श्रेणियां हैं, जो कुछ आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाओं की पहिचान कराती हैं। साथ ही-साथ, और उससे भी अधिक, ये ऐसी अनुपम ऐतिहासिक अधिघटनाएं हैं, जिनका पुनर्जन्म, समान परिस्थितियों में ही हो सकता है। साम्यवाद केवल निजी सम्पत्ति का खात्मा नहीं है। यह काम कहां हो सकता है? जेकोस्लोवाकिया-जैसे बड़े पैमाने की पैदावार वाले देश में या वियतनाम के गतिहीन खेती के ढांचे में? रूस में, जहां आबादी का घनत्व कम है या चीन में जहां आबादी घनी है? बहुत घनी आबादी वाले हिन्दुस्तान-जैसे देशों को तो छोड़ ही दें। आबादी का घनत्व और मशीनों का प्रकार और परिमाण, ये पहलू ऐसे निर्णायक महत्त्व के हैं कि इनकी मात्रा कम-ज्यादा होने पर साम्यवाद का चरित्र बिलकुल ही भिन्न हो जाएगा। इसलिए पूंजीवाद और साम्यवाद की प्रचलित धारणाओं की समीक्षा करना जरूरी है। बहुत सम्भव है कि उनका परस्पर विनाशकारी प्रतीत होने वाला युद्ध निकट से जांच करने पर वास्तव में एक ही सभ्यता के दो अंगों की आपसी प्रतिद्वन्द्विता प्रमाणित हो। तब इतिहास और अर्थशास्त्र को पूंजीवाद और साम्यवाद के यूरोपीय प्रसंग में नहीं समझा जाएगा, बल्कि विभिन्न कालों की क्षेत्रीय सभ्यताओं के प्रसंग में समझा जाएगा जो अधिक सार्वभौमिक है।

इसी प्रकार प्रगति और समृद्धि की धारणाओं की बहुत व्यवस्थित और वैज्ञानिक जांच

करने की जरूरत है। यह अन्य-विश्वास फैलने दिया गया है कि विज्ञान के द्वारा निरन्तर प्रगति और समृद्धि बढ़ती रही है या उसके लाभ, निकट भविष्य में मिलने ही वाले हैं। अगर भाप या बिजली या पेट्रोल के सम्बन्ध में की गयी भविष्यवाणियां पूरी नहीं हुईं, तो मनुष्य के लिए यह मान लेने का कोई कारण नहीं है कि अणुशक्ति के बारे में की जा रही ऐसी ही भविष्यवाणियाँ पूरी हो जाएँगी? दो हजार वर्ष पहले या कुछ सदियों पहले भी हिन्दुस्तान और रंगीन चमड़ी वाले अधिकांश इलाकों में प्रति व्यक्ति जितना भोजन उपलब्ध था, आज निश्चय ही उससे कम है। लेकिन हिन्दुस्तान और अन्य स्थानों के उच्च मध्यम वर्ग के रहन-सहन में प्रगति हो रही है, और यही लोग किताबें लिखते हैं। विश्वविद्यालयों में जो लोग सत्य के खोजी हैं, उन्हें इन धारणाओं की बड़ी मेहनत से और बड़ी पैनी दृष्टि से जांच करनी होगी। एडम स्मिथ में यह प्रतिभा थी कि उसने अन्तरराष्ट्रीय व्यापार और श्रम के भौगोलिक विभाजन के बीच समानता स्थापित कर दी। यह मूलत: इंगलिस्तानी विचार था लेकिन सौ वर्ष से अधिक समय तक सारी दुनिया के दिमाग पर छाया रहा। फिर जे. एम. कीन्स में यह प्रतिभा थी कि उसने 'सब को रोजगार मिले' के सिद्धान्त को इस विचार में जोड़ा। यह भी मूलत: एक इंगलिस्तानी विचार था, लेकिन सारी अंग्रेजी बोलने वाली दुनिया पर इस समय यह विचार छाया हुआ है। हिन्दुस्तान में विश्व-विद्यालयों के लोगों को कम-से-कम इतनी योग्यता प्राप्त करने की कोशिश तो करनी ही चाहिए कि अन्दर से, और बाहर से भी, इन सभी धारणाओं की जांच कर सकें और सारी दुनिया में अपेक्षतया समान उत्पादन-शक्ति के सार्वभौमिक सिद्धांत को खोजने की चेष्टा करें।

वर्णन-विश्लेषण और सिद्धांत विश्लेषण के साथ-साथ, प्राचीन के भी गहरे अध्ययन की जरूरत है। किसी भी समय सारी दुनिया अपने अतीत का ही फल होती है। हिन्दुस्तान तो मुख्य रूप से अपने अतीत का ही फल है। किसी अन्य देश का वर्तमान जीवन अपने अतीत के सिद्धांतों, स्मृतियों और पुराकथाओं मे उतना ओत-प्रोत नहीं है, जितना हिन्दुस्तान का। समकालीन बातों से ज्यादा, लोग अतीत की इन बातों को लेकर हंसते, रोते और झगड़ पड़ते हैं, फिर भी कोई सही अध्ययन नहीं होता।

इतिहास-पूर्व काल में भी दक्षिणापथ था। राम उस पर सचमुच चले या यह केवल किंवन्दती है? इसका उसी तरह अध्ययन किया जाना चाहिए, जैसे प्राचीन इतिहास के दक्षिणापथ का। इसी प्रकार कृष्ण की पूर्व-पश्चिम धुरी का भी अध्ययन करने की जरूरत है। इतिहास, भूगोल, पुराकथाएं और साहित्य की खोज के नतीजों को एकत्रित करना होगा, ताकि इन विषयों के रहस्य का उद्घाटन हो सके। इसी प्रकार गंगा, नर्मदा या कावेरी की अतीत और वर्तमान में प्रचलित कथाओं में बड़ी सामग्री मिलेगी। तुलसीदासजी की सीता की तरह वाल्मीकि की भी एक सीता थी, और लोक-गीतों की सीता का कहना ही क्या? इन सारे युगों की सीता की जीवनी की खोज करना लाभदायक होगा।

इनमें से कुछ पुराकथाएं, प्रतीक और खयाल, आज भी नित्य-प्रति इस्तेमाल होते हैं और ज्ञान की कमी के कारण उनसे बहुतेरे झंझट होने के अलावा, अपव्यय भी होता है। हिन्दुस्तान की वर्णमालाएँ इसका एक उदाहरण हैं। ये सब नागरी-वर्णमाला के ही हेर-फेर

हैं। उड़ीसा-वर्णमाला, जो पहली बार देखने में नागरी-लिपि से असाधारण रूप से भिन्न प्रतीत होती है, वास्तव में उसी सिद्धान्त का एक प्रसार-मात्र है जिसकी वजह से बंगला-वर्णमाला, नागरी से भिन्न हो गयी है। उसमें सीधी रेखाओं के स्थान पर वक्र और गोल मात्राओं का अधिकाधिक इस्तेमाल होता है। तमिल-वर्णमाला में अक्षरों की संख्या कम है, लेकिन उनकी ध्वनियां नागरी की जैसी ही हैं। अगर इसके इतिहास का अध्ययन करनेपर उसमें भी वही बात पायी जाए तो मुझे कोई आश्चर्य न होगा। इसी तरह हिन्दुस्तान की भाषाओं के विस्तृत अंगों और उनकी व्यापक अभिव्यंजना-शक्ति का भी अध्ययन करने की जरूरत है। प्राचीन-काल के सारे क्षेत्र में इतनी गुंजाइश है कि डाक्टरेट की हजारों उपाधियां प्राप्त की जा सकती हैं।

जो विश्वविद्यालय वर्णन-विश्लेषण, सिद्धान्त-विश्लेषण और प्राचीन विषयों में खोज का सुगठित कार्यक्रम चलाएगा, वह हिन्दुस्तान के लोगों की भलाई का काम करेगा। हिन्दुस्तान का दिमाग, अपने विकास की पूर्ति के लिए ऐसा विश्वविद्यालय खोज निकालेगा। मुझे यह कहने की जरूरत नहीं है कि ऐसी खोज का माध्यम कभी अंग्रेजी नहीं हो सकती। अवश्य ही ऐसी खोज की भाषा, हिन्दी या हिन्दुस्तानी की कोई अन्य भाषा होगी। पहले मैं सोचता था कि स्नातकीय शिक्षा से ऊपर हिन्दुस्तान के सभी विश्वविद्यालयों में हिन्दी में काम होना चाहिए। अपनी इस राय में आंशिक संशोधन करना मेरे लिए जरूरी है। भाषा का वह साधिकार प्रयोग, जिसके बिना प्राचीन विषयों में खोज का कोई अर्थ नहीं होता, और वर्णनात्मक या सैद्धान्तिक विषयों में भी कम ही होता है, केवल मातृभाषा के द्वारा ही सम्भव है। मुझे आशा है कि कोई दिन ऐसा आएगा जब हिन्दुस्तान की सभी भाषाओं को स्नातकीय शिक्षा के बाद खोज-कार्य के माध्यम के रूप में स्वीकार करना होगा अन्यथा आजकल खोज करने वाले, आमतौर पर अपने माध्यम से अच्छी तरह परिचित न होने के कारण, जो मोटी-मोटी नीरस और तत्त्वहीन किताबें लिखते हैं, उनका सिलसिला जारी रहेगा।

(कल्पना, नवम्बर, १९५८, हैदराबाद)

धर्म-निरपेक्षता के दर्जे

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

अभी उस दिन देश के एक बड़े माने जाने-वाले नेता ने हमें बताया कि 'भारत संसार का दूसरा सबसे बड़ा मुस्लिम राष्ट्र है।' भारत के बारे में और भी कई बड़े माने-जाने वाले नेता जब ऐसी बातें कहते हैं- कभी किसी को खुश करने वाली तो कभी किसी को चौंकाने वाली। यों कहा जा सकता है कि जो बातें वे कहते हैं उनके मूल में कोई-न कोई तथ्य होता है- और तथ्यों से झगड़ा कैसा? लेकिन तथ्य अपने आप में तो कोई अर्थ नहीं रखते और किस तथ्य का क्या अर्थ लगाया जा रहा है या लगाया जा सकता है, यह उस सन्दर्भ पर निर्भर करता है जिससे वह तथ्य रखा जाता है, या उस नीयत पर निर्भर करता है जिससे वह तथ्य किसी संदर्भ में रखा गया, किस समाज के सामने रखा गया या किस विशेष अवसर पर उछाला गया? किसी की नीयत पर हम शक क्यों करें- खास कर उस वातावरण में जिसमें हर किसी को हर दूसरे की नीयत पर शक करना ही अपने सयानेपन का एकमात्र लक्षण जान पड़ने लगा है। लेकिन कोई बड़ा माना जाने वाला आदमी जब कोई तथ्य हमारे सामने रखता है तो उसका अर्थ समझने का भी हमें कुछ प्रयत्न तो करना ही चाहिए।

भारत दूसरा सबसे बड़ा मुस्लिम-राष्ट्र है, इस बात का आधार देशों की जनसंख्या है। जनसंख्या के आधार पर सबसे ज्यादा संख्या में मुसलमान इंडोनेसिया में बसते हैं। उसके बाद दूसरे नम्बर पर हिन्दुस्तान आता है- यहां की मुस्लिम जनसंख्या इंडोनेसिया के बाद सबसे अधिक है। यों, तथ्य के आधार पर, बात सही हो जाती है, फिर भी उसकी ओर ध्यान दिलाने की जरूरत है क्योंकि जनसंख्या के आंकड़ों के आधार पर ही यह बात भी उतनी ही सच है कि 'भारत संसार का सबसे बड़ा हिन्दू राष्ट्र है।' संख्या में संसार के किसी दूसरे देश की अपेक्षा यहां हिन्दू अधिक बसते हैं।

लेकिन क्या किसी बड़े माने-जाने वाले नेता को यह कहने की हिम्मत है कि भारत संसार का सबसे बड़ा हिन्दू राष्ट्र है? बल्कि यही सवाल यों भी पूछा जा सकता है कि अगर उनके सामने कोई यही तथ्य उपस्थित करे कि भारत संसार का सबसे बड़ा हिन्दू राष्ट्र है तो क्या वह बौखला नहीं उठेंगे और इसे संकीर्णता, साम्प्रदायिकता, कठमुल्लापन आदि-आदि का प्रमाण नहीं मानने लगेंगे कि कोई ऐसा कह रहा है?

सवाल, इसीलिए नीयत का सवाल बन जाता है।

'भारत संसार का दूसरा सबसे बड़ा मुस्लिम देश है,' इस बात का कोई अर्थ नहीं होता जब तक कि हम उसे इस दूसरी बात के सन्दर्भ में न रखें कि भारत संसार का सबसे बड़ा हिन्दू-देश है। दोनों ही बातें एक ही जाति के तर्क और तुलनीय तथ्यों पर आधारित हैं- जनसंख्या के तर्क पर। एक बात की सच्चाई उतनी ही, वैसी ही और उसी संदर्भ में है जितनी, जैसी और जिस संदर्भ में दूसरी बात की सच्चाई है।

फिर भी एक बात कही जाती है और कहने वाला अपने को उदार, प्रगतिशील और धर्म-निरपेक्ष मानता है और दूसरी बात नहीं कही जाती या उसे कहने या सोचने वाले को तुरंत संकीर्ण, प्रतिक्रियावादी और साम्प्रदायिक मान लिया जाता है। ऐसा क्यों?

यह सवाल बार-बार पूछने की जरूरत है। उसके साथ ही बार-बार यह सवाल भी उठाने की जरूरत है कि धर्म-निरपेक्ष हम किसे कहते हैं? धर्म-निरपेक्ष होने का मतलब क्या है, खास कर इस देश में जहां लम्बी परम्परा से सब कुछ धर्म के अधीन माना गया है? यहां तक कि धर्म-निरपेक्षता की तर्कसंगति भी, धर्म से ही सिद्ध की जाती है।

क्या धर्म-निरपेक्षता के भी दरजे हैं? काले धन से शासित समाज में हम एक नम्बर और 'दो नम्बर' की आय या पूंजी की बातों के आदी हो गये हैं- तो क्या धर्म-निरपेक्षता भी एक काला धन है और वहां भी 'एक नम्बर' और 'दो नम्बर' की धर्म निरपेक्षता चलती है?

इस देश के सबसे बहुसंख्य धर्म, हिन्दू-धर्म के नाम के साथ बहुत-सी कठिनाइयां हैं। कुछ कठिनाइयां ऐतिहासिक हैं, कुछ का आधार भारतीय धर्म-दृष्टि है। 'हिन्दू' नाम जिस अर्थ में, वह आज रूढ़ हो गया है उस अर्थ में उत्तर-मध्य-काल की ही देन है, हालांकि उसकी आधारभूत जीवन-दृष्टि का स्वरूप प्रगैतिहासिककाल में ही स्थिर हो गया था और देश के जीवन को अनुप्राणित करता आया है। इस्लाम और ईसाइयत और यहूदियत से हिन्दू-धर्म इस बात में भिन्न है कि उसकी इमारत किसी मत-विश्वास या एकान्तवादी मान्यता पर नहीं बनायी गयी है, बल्कि सृष्टि-मात्र के साथ सम्बन्ध पर आधारित है। यही हिन्दू धर्म की अद्वितीयता है- लेकिन यही उसकी ऐतिहासिक और आज कहें कि राजनैतिक कठिनाइयों का आधार भी है। दूसरे धर्म या मत सबसे पहले अपने आस-पास एक बाड़ा बनाते हैं: जो उसके भीतर है वे 'अपने' हैं और बाकी सब 'गैर' हैं और कभी-कभी शत्रु भी माने जाते हैं। लेकिन हिन्दू जीवन-दृष्टि ऐसे बाड़े नहीं बनाती और किसी को गैर नहीं मानती। उसके लिए धर्म वह है जो सारे संसार को चलाता है- अलग-अलग समाजों के अलग-अलग धर्म विश्वासों के बावजूद। हां, यह बात फिर से कहूं कि हिन्दू जीवन-दृष्टि बाड़े नहीं बनाती- मत विश्वासों के आधार पर बाडे नहीं बनाती- इसके बावजूद कि उसके अपने समाज के भीतर अनेक विभाजन हैं जिनमें से कुछ अत्यन्त क्रूर ढंग के भी हैं।

नि:संदेह ये भीतरी विभाजन क्रूर, अमानुषी और आत्मघाती हैं और इन्हें जल्दी-से-जल्दी मिटाना चाहिए। लेकिन आज के हिन्दू-समाज में उनका चलन होने पर भी ये ही हिन्दू समाज नहीं है और न हमारी धार्मिकता इन पर निर्भर करती है, न हमारी धर्म-निरपेक्षता। हम हिन्दू समाज के कट्टर-से-कट्टर वर्ग का अंग होते हुए भी, उसके घटिया-से-घटिया नृशंस-से-नृशंस लोक-व्यवहारों को मानते हुए भी, आज के प्रचलित अर्थ में, धर्म-निरपेक्ष हो सकते हैं, दूसरी ओर उन सब आचार-नियमों को अमानुषिक मान कर उन्हें तोड़ते हुए भी धर्मवान हो सकते हैं। बल्कि हम देख भी सकते हैं कि आज के भारतीय समाज में ये सारे अमानुषी रीति-रिवाज, उस वर्ग में भी उतने ही प्रचलित हैं जो

राजनैतिक दलगत आधार पर अपनी धर्म-निरपेक्षता की दुहाई देता है।

कहने पर यह लगता है कि ये सब बातें नयी नहीं है। सचमुच नयी नहीं है। लेकिन सामाजिक-राजनैतिक परिवेशों में अवसर ऐसा भी होता है कि कुछ बातें सिर्फ इसलिए नयी हो जाती हैं कि किसी ने उन्हें कह दिया है। मुझे ऐसा अनुभव होता है कि ऐसी ही बातों में-जो आज कह देने भर से नयी हो जाती हैं- एक बात यह भी है कि भारत, संसार का सबसे बड़ा हिन्दू-राष्ट्र है।

इस बात को मैं साम्प्रदायिक नहीं मानता। बल्कि मैं तो कहना चाहता हूं कि इस देश और राष्ट्र में धर्म-निरपेक्षता की अर्थवत्ता ही इस पर निर्भर करती है कि यह देश इस तथ्य से निकलने वाली अपनी जिम्मेदारी को पहचाने और स्वीकार करे। और वह जिम्मेदारी सिर्फ आज की राजनैतिक अवसरवादिता पर आधारित नहीं है बल्कि एक अद्वितीय ऐतिहासिक परम्परा का प्रतिफलन है। इस बात को पहचान कर देश अपनी धर्म-निरपेक्षता को फिर उसके सही स्थान पर प्रतिष्ठित करे; 'दो नम्बर' की धर्म-निरपेक्षता से संतुष्ट न रह कर उस एक नम्बर की धर्म-निरपेक्षता पर कायम हो जो स्वयं भारतीय धर्म-दृष्टि के ही प्रमाण पर टिकी है।

भारतीय समाज, संसार का सबसे बड़ा हिन्दू-समाज है। निःसंदेह इस समाज ने ऐसे भी युग देखे जब उसके धर्म-विश्वासों को राजनैतिक सत्ता का सहारा भी मिला, जब लौकिक और पारलौकिक-या ऐहिक और पारमार्थिक-प्रभुसत्ताओं का योग हुआ। महत्त्व की बात है कि उस परिस्थिति में यह समाज असहिष्णु नहीं हुआ और दूसरे सम्प्रदायों के विरुद्ध अत्याचार अथवा दमन को उसने अत्याचार और अधर्म समझा। यह केवल अकारण नहीं है बल्कि भारतीय इतिहास का गौरवमय अध्ययाय है। ईसा की पहली शती में ही इस देश ने 'धार्मिक' कहे जाने वाले अत्याचार से त्रस्त ईसाइयों और यहूदियों को प्रश्रय दिया। यह धार्मिकता ही इस देश की धर्म-निरपेक्षता रही। मैंने कहा कि यह हमारे इतिहास का एक गौरवमय अध्याय है। लेकिन अतीत-गौरव की बात से संतुष्ट हो जाना या अपनी पीठ ठोंक लेना काफी नहीं है। अगर आज भी यह देश अपने को संसार का सबसे बड़ा हिन्दू-देश जानते और मानते हुए, उसी धर्म पर आधारित धर्म-निरपेक्षता को प्रतिष्ठित कर सकता है, तभी वह ऐसा देश बन सकता है जो केवल जनसंख्या के आधार पर नहीं, जीवन-दृष्टि के आधार पर बड़ा देश है।

इस बात का पूरा आशय समझने के लिए एक बार आस-पास देखना भी आवश्यक है और संसार की अधुनातन प्रवृत्तियों के व्यापक ऐतिहासिक परिदृश्य में देखना-समझना भी आवश्यक है। मैंने कहा कि यह देश प्रबल राजनैतिक सामर्थ्य के युग में भी उदार और सहिष्णु बना रह सका और संस्कृति को धर्म-निरपेक्ष इसीलिए बनाए रख सका क्योंकि वह संस्कृति धार्मिक संस्कृति थी- धर्म का अर्थ इतना व्यापक था कि संस्कृति को संकीर्ण होने की कोई आवश्यकता नहीं थी। दूसरी ओर इतिहास बताता है कि ईसाइयत ने बारूद के आविष्कार का भरपूर उपयोग करने में संकोच नहीं किया- भले ही बारूद बनाने का

नुस्खा उसे पहले-पहले एक गैर-ईसाई (चीनी) संस्कृति से मिला था। न ही उसने पूंजी के विकास का उपयोग अपने हित में करने में कोई संकोच किया। और समकालीन इतिहास के प्रति अन्याय किये बिना हम यह भी कह सकते हैं कि आज इस्लाम बहुत कुछ खनिज तेल से मिलने वाली राजनैतिक शक्ति का उपयोग उसी ढंग से कर रहा है- तेल पर आधारित पूंजी (पेट्रो डालर) का उपयोग भी, न केवल राजनैतिक अस्त्र के रूप में कर रहा है बल्कि साम्प्रदायिक समाज के विस्तार के लिए भी कर रहा है। कदाचित् मत-विश्वास पर आधारित कोई भी सम्प्रदाय इससे बच नहीं सकता। राजनैतिक अथवा अर्ध-राजनैतिक सत्ता मिलते ही प्रसारवादी आक्रामक भंगिमा अपना लेना, उसके लिए स्वाभाविक हो जाता है। लातीनी अमेरिका में ईसाइयत का ऐसा रवैया देखा जा सकता है, मध्य, दक्षिण और दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा अफ्रीका में इस्लाम का रवैया भी ऐसा ही रहा है। यह इसके बावजूद कि दोनों सम्प्रदायों में ऐसे अनेक उदार, मानवतावादी और प्रबुद्धचेता व्यक्ति रहे और हैं जो इन प्रवृत्तियों से दु:खी है और अपने-अपने देशों तथा समाजों को उसके प्रति आगाह करते रहं हैं।

हमारी धर्म-निरपेक्षता का मंदर्भ यही हो सकता है: हम आक्रामक नहीं हुए तो हमें सुरक्षा की भंगिमा भी नहीं अपनानी चाहिए। दोनों एक-सी संकीर्ण प्रवृत्तियां हैं। अपनी जीवन-दृष्टि की सही पहचान, अपनी ऐतिहासिक नियति की सही पहचान है: और वह अतीत-जीवी या अतीतोन्मुखी नहीं है, वह समकालीन है और आज के लिए प्रासंगिक है। यह सच्ची धर्म-निरपेक्षता सबसे पहले और तुरंत अपने समाज के भीतर समत्व स्थापित करेगी और लोकाचार को जकड़े हुए कलंकों को मिटायेगी, और फिर वह सर्वमत, समभाव के आधार पर धार्मिक होंगी- उस अर्थ में जिसमें यह देश एक धर्मवान् देश रहा है- संसार का सबसे बड़ा धर्मवान् देश।

(साप्ताहिक हिन्दुस्तान में प्रकाशित)

पत्रकारिता : मिशन और व्यवसाय के द्वंद्व से परे

गणेश मंत्री

पत्रकारिता के क्षेत्र में 'व्यवसाय' और 'मिशन' का द्वंद्व मूलतया यथार्थ और आदर्श का संघर्ष है। साथ ही या किसी हद तक वर्तमान और अतीत के अंदर को भी दरसाता है। पहले वर्तमान और अतीत की बात लें। यानी सरसरी तौर पर उन चरणों को चीन्हें, जिनमें से गुजरकर पत्रकारिता वर्तमान स्थिति में पहुंची है।

अतीत में, आरंभिक दौर में, हमारे यहां पत्रकार का काम कमोवेश शिक्षक-जैसा ही रहा है। आदर्श-प्रेरणा उसकी मुख्य शक्ति रही। तब अध्यापन के काम की तरह ही पत्रकारिता भी निष्ठावान व्यक्तियों को आकृष्ट करती थी। कारण, तब यह सब ओर से घाटे का धंधा था। देश राष्ट्रीय जागरण के दौर से गुजर रहा था। वह विदेशी सत्ता से संघर्ष का युग था, अंधविश्वासों और सामाजिक कुरीतियों को चुनौती दी जा रही थी। देश का प्रबुद्ध वर्ग, स्वतंत्रता के साथ-साथ आदर्श भारत के नवनिर्माण के स्वप्न संजो रहा था। सच्चे और अच्छे पत्रकार का काम तब उस जागरण और संघर्ष को, चुनौती और स्वप्न को अपने पाठकों तक पहुंचाना था। एक ऐसा काम, जिसमें सब ओर जोखिम थी। जोखिम सरकार से टकराव की, जोखिम रूढ़िवादी समाज से संघर्ष की और जोखिम आर्थिक तंगी तथा अभावों के अटूट साहचर्य की। इन तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अगर अधिकांश पत्रकार उन दिनों अपनी भूमिका ठीक से निभा पाते थे तो उसके मूल में थी वह आत्मिक शक्ति, जो उन्हें आदर्शों के लिए उत्सर्ग करने की भावना से मिलती थी, राष्ट्रीय आंदोलन में अपनी भूमिका निभाने की तृप्ति से प्राप्त होती थी। धीरे-धीरे समाज भी पत्रकार की इस महत्वपूर्ण भूमिका को मान्य करने लगा था। वह पत्रकार को सम्मान देने लगा था। यह वह युग था जब पत्रकारिता की दुनिया में संपादक का व्यक्तित्व सर्वोपरि होता था। वह अपनी कलम की शक्ति से पत्र-पत्रिका को चलाता था।

किंतु पत्रकारिता के विकास का वही युग हमारे यहां दो महत्वपूर्ण शक्तियों के उदय का भी युग था। एक ओर उद्योग-व्यापार का दायरा बढ़ रहा था, जिससे बड़ा कारोबारी वर्ग सामने आ रहा था; दूसरी ओर, राजनीति का क्षेत्र विस्तार पा रहा था और परिणामस्वरूप राजनीतिज्ञ, राजनीति दल बड़ी तेजी से उभर रहे थे। कभी अलग-अलग तो बहुत बार मिलकर भी इन दोनों शक्तियों ने अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाने के लिए प्रयत्न कर रही पत्रकारिता को गहराई से प्रभावित किया। राजनीतिक दलों का प्रयत्न रहा प्रेस को अपना मुखपत्र बनाने का। आवश्यक संगठन क्षमता और पर्याप्त साधन-सामग्री के अभाव में उनका वह प्रयत्न विफल हुआ तो कारोबारी पूंजी ने पत्र-पत्रिकाओं के क्षेत्र में अपने हाथ-पांव पसारे। ऐसा नहीं है कि इससे पत्रकारिता को कोई लाभ न हुआ हो। पत्रकार को थोड़ा आर्थिक सहारा मिला, उसका वेतन जरा बड़ा, सेवा-शर्तों में कुछ सुधार हुआ। इस सबसे उसमें थोड़ी आर्थिक निश्चिंतता आयी। पर जैसे-जैसे प्रतिष्ठान में पूंजी की महिमा बढ़ती

गयी, पत्रकार की अपनी प्रतिष्ठा घटती गयी। वह एक विशाल यंत्र का एक छोटा-सा हिस्सा बन कर रह गया।

पत्रकारिता के क्षेत्र में धीरे-धीरे हो रहे इस महत्वपूर्ण परिवर्तन को निष्ठावान पत्रकारों ने आज से साठ वर्ष पहले ही पहचान लिया था। १९२५ में वृंदावन हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अंतर्गत आयोजित प्रथम संपादक-सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए संपादकाचार्य बाबूराव विष्णु पराड़कर ने अपने अनुभव के आधार पर कहा था कि पहले के संपादकों जैसी स्वतंत्रता "हमें उस समय भी प्राप्त नहीं थी, जब सन् १९०५ में 'हिन्दी बंगवासी' का सहकारी संपादक बनकर कलकत्ते गया था। पत्रों की उन्नति के साथ-साथ श्रम-विभाग हो गया था। मुद्रक और व्यवस्थापक की स्वतंत्रता सृष्टि हो गयी थी और उसी परिमाण में संपादक परमुखोपेक्षी बन गए थे।" (संपादक पराड़कर; लक्ष्मीशंकर व्यास द्वारा संपादित; पृ. ११९) भविष्य की प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए उसी व्याख्यान में पराड़करजी ने यह भी कहा था कि "पत्र निकालकर सफलतापूर्वक चलाना बड़े-बड़े धनियों और सुसंगठित कंपनियों के लिए ही संभव होगा। पत्र सर्वांग सुन्दर होंगे, आकार बड़े होंगे, छपाई अच्छी होगी, मनोहर, मनोरंजक और ज्ञानवर्धक चित्रों से सुसज्जित होंगे, लेखों में विविधता होगी, गंभीर गवेषणा की झलक होगी और मनोहारिणी शक्ति भी होगी, ग्राहकों की संख्या लाखों में गिनी जाएगी। यह सब कुछ होगा, पर पत्र प्राणहीन होंगे।" (उपर्युक्त, पृष्ठ १२०)।

इस बात पर आज शायद बहस हो सकती है कि क्या हमारे पत्र पहले की तुलना में सचमुच प्राणहीन हैं, किन्तु इस मुद्दे पर बहस की गुंजाइश नहीं है कि समय के साथ पत्रकारिता के क्षेत्र में पूंजी और व्यवसाय-बुद्धि का महत्व निरंतर बढ़ता गया है। यह भी कि उसी अनुपात में पत्रकार की महत्ता, उसकी प्रतिष्ठा कम होती गयी है। साथ ही, खुद अपनी नजरों में उसकी छवि भी बदलती गयी है। आज जब हम अपने काम को मिशन मानने के बजाय व्यावसायिक कार्य मानने लगे हैं तो उसके मूल में भी यह प्रत्यक्ष खड़ी वास्तविकता और यह बदली हुई छवि ही है।

प्रत्यक्ष वास्तविकता यह है कि समाचारपत्रों और पत्रिकाओं का प्रकाशन अब अनेक पेचीदगियों से भरे कारोबार का रूप ले चुका है : एक ओर तो यह दूसरे उद्योगों की तरह ही एक उद्योग है। दूसरी ओर यह एक ऐसा पेशा या प्रोफेशन भी है जिसकी अपनी विशिष्ट सामाजिक भूमिका है। इस सामाजिक भूमिका की चर्चा बाद में करेंगे, पहले उद्योग के रूप में समाचारपत्र-प्रकाशन के काम को देखें। अन्य उद्योगों की तरह ही समाचार पत्र-उद्योग को भी वित्त,उत्पादन, श्रम, बिक्री तथा ऐसी ही अनेक प्रक्रियाओं में से गुजरना और उनसे जुड़ी समस्याओं से निबटना होता है। पिछली आधी सदी में देश एवं दुनिया में जो भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं, उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के कारोबार को गहराई से प्रभावित किया है। महायुद्ध, देश का स्वतंत्र होना, संचार साधनों का तेजी से विकास, साक्षरता का प्रसार, यापन स्तर में उन्नति शहरीकरण की बढ़ती प्रवृत्ति, अपने आस-पास

की दुनिया को समझने के लिए सामान्य जन की बढ़ती उत्सुकता और अपने अधिकारों के प्रति उसमें आ रही नयी चेतना- इन सभी ने मिलकर भारतीय समाचारपत्रों के विस्तार और प्रसार का मार्ग प्रशस्त किया है। आज भारतीय समाचारपत्रों के सामने निरंतर फैलता हुआ बाजार है। किन्तु इस बाजार तक पहुंचने के लिए जरूरत होती है मुद्रण की नयी-से-नयी प्रौद्योगिकी की, विपणन और वितरण के कुशल प्रबंध की। ये दोनों ही तत्त्व अधिकाधिक पूंजी की अपेक्षा करते हैं, साथ ही ये इस उद्योग में पूंजी लगाने और उसका प्रबंध करने वाले वर्ग की भूमिका को महत्वपूर्ण बनाते हैं, चाहे पत्र-पत्रिकाओं केलिए सामग्री जुटाने का मामला हो या मुद्रण के बाद अपने प्रकाशन को जल्दी-से-जल्दी अधिकाधिक पाठकों तक पहुंचाने का मामला, हम लाख चाहें तो भी उसमें पूंजी और कारोबारी बुद्धि के महत्व को कम नहीं किया जा सकता।

कहावत है कि ओछी पूंजी धनी को खा जाती है। अन्य उद्योगों की बात हम नहीं जानते, किंतु समाचारपत्र-उद्योग में यह बात आज पूरी तरह सही उतर रही है। इस बात का खास महत्व नहीं रह गया है कि आप पूंजी कैसे और कहां से जुटाते हैं? व्यवहार में यह बात भी गौण हो गयी है कि आपकी साधनहीनता के मूल में किन्हीं आदर्शों के प्रति आपका लगाव या साधन-शुचिता का आग्रह है। महत्व की बात अब केवल यह है कि आप कितने साधन जुटा पाते हैं और उन्हें कितनी चतुराई से काम में लाते हैं।— यदि आप अपने संवाददाताओं को विमानों से घटनास्थल पर भेजकर दूसरों से पहले जानकारी जुटा लेते है और उसे आधुनिकतम तकनीक से अधिक-से-अधिक आकर्षक ढंग से पाठकों के सामने दूसरों से पहले प्रस्तुत करते हैं तो आपका पत्र या पत्रिका चमकती है और उसकी बिक्री बढ़ती है। तो विज्ञापन अधिक मिलते हैं। विज्ञापनों की आय आपको दूसरों से होड़ करने, उनसे आगे बढ़ने, अन्य पत्र-पत्रिकाओं से प्रतिभा-संपन्न पत्रकारों और कुशल प्रबंधकों को अधिक पैसा देकर खींचने में सहायता देती है। यही कारण है कि व्यक्तिगत प्रेरणा और प्रयत्न से चलने वाले अकेले पत्रों के पांव उखड़ने लगे हैं और पत्र-शृंखलाओं का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा है। यह है समाचारपत्र-उद्योग का प्रत्यक्ष यथार्थ, उसका व्यावसायिक दायरा।

इस दायरे में पत्रकार का स्थान क्या हो सकता है? एक आसान सा जवाब होगा कि वह महज वेतनभोगी कर्मचारी है और यह जवाब आज की वास्तविकता से बहुत दूर भी नहीं है। अधिकतर मालिक और प्रबंधक तो पत्रकार को इस रूप में देखते ही हैं, स्वयं ज्यादातर पत्रकार भी अपने को कुछ-कुछ इसी दृष्टि से देखने लगे हैं। इसके दो विशेष कारण हैं जिनकी चर्चा यहां कर देना मैं आवश्यक समझता हूं। वे इस प्रकार हैं-

१. अखबारी दुनिया में बड़ी पूंजी के प्रवेश से पत्रकार को मिले जिन आर्थिक लाभों की बात ऊपर कही गयी है वे लाभ बड़ी पूंजी ने अपनी प्रेरणा से, प्रसन्नता से उसे प्रदान नहीं किये। उनके लिए, अन्य सभी उद्योगों के श्रमिकों की तरह पत्रकारों को भी जूझना पड़ा। जूझने के लिए एकजुट होने की प्रक्रिया में इस धारणा और भावना को सहज ही बल मिला

कि पत्रकारिता व्यवसाय है और पत्रकार पेशेवराना श्रमिक या कुशल कार्यकर्ता है।

२. मुद्रण और संचार (यानी संवादप्रेषण) की प्रौद्योगिकियों में लगातार और तेजी से हो रही प्रगति ने यह लाजिमी कर दिया है कि पत्रकार इन प्रौद्योगिकियों के तकाजों को समझे और उनके अनुरूप अपने को ढालता चले। इसी तरह, पहले की तुलना में पत्रकारिता का व्याप्ति-क्षेत्र कई गुना बढ़ गया है; क्योंकि आज का पाठक राजनीति-- अर्थनीति से लेकर अंतरिक्ष-विज्ञान एवं पारिस्थितिकी तक तमाम क्षेत्रों की नवीनतम बातें पुस्तकों के बजाय पत्र-पत्रिकाओं के जरिये जानना चाहता है। इसके लिए पत्रकार का कुछ विषयों में विशेषज्ञ होना और उन विषयों में निरंतर ज्ञानार्जन करना अनिवार्य हो गया है। इस आवश्यकता की पूर्ति पत्रकारिता को व्यवसाय मानने पर अधिक सहजता से संभव है। वस्तुत: यह प्रक्रिया हमारे यहां अभी प्रारंभ ही हुई है, सो भी मुख्यतया अंग्रेजी पत्रकारिता में। पर देर-सबेर यह भारतीय भाषाओं की पत्रकारिता में भी जोर पकड़ेगी ही।

बहरहाल, यह मानने की प्रवृत्ति अब बढ़ती जा रही है कि जैसे अन्य कौशल हैं, वैसे ही पत्रकारिता भी एक कौशल है। इसी सोच में से यह तर्क भी निकलता है कि जैसे अन्य कुशल कर्मचारी और दस्तकार बाजार की जरूरत के अनुसार अपना माल तैयार करते हैं, वैसे ही पत्रकार को भी करना होगा। इसे व्यवहार-बुद्धि का तकाजा माना जाता है कि हम वही कुछ लिखें, वही सूचनाएं एकत्र करें, वही माल तैयार करें जो हमारे मालिक को जंचे, जो हमारे पाठकों को रुचे और तुरंत खप सके, ताकि हमारे प्रकाशन की बिक्री बढ़े। अपने तईं यह तर्क बहुत गलत भी नहीं है। लेकिन तभी, जब पत्रकारिता के अतीत को बिलकुल भुला दिया जाए और साथ ही, समाज में समाचारपत्र-उद्योग की और विशेषकर पत्रकारिता की विशिष्ट भूमिका को पूरी तरह से नजरअंदाज कर दिया जाए। असल में यह विशिष्ट भूमिका ही पत्रकारिता के व्यावसायिक पहलू को आदर्श से जोड़ती है, जिससे अनुप्राणित होने के कारण ही समाचार जुटाने, उन्हें सजाने-संवारने और टीका-टिप्पणी करने का यह पेशा इतना महिमामय बन सका कि इसे 'फोर्थ इस्टेट' की संज्ञा दी गयी और इसकी स्वतंत्रता को लोकतांत्रिक व्यवस्था की अनिवार्य शर्त माना गया।

पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन और पत्रकारिता का व्यवसाय इसलिए महिमा-मंडित हुआ कि वह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का एक सशक्त माध्यम है। इस माध्यम को कुंठित करके लोकतंत्र चल नहीं सकता तथा नागरिक अधिकारों और बुनियादी स्वतंत्रता की हिफाजत नहीं हो सकती। लोकतंत्र तभी कारगर हो सकता है जब नागरिकों को अपने समाज और संसार की, ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों की नयी से नयी घटनाओं की तथा उनके मूल में काम कर रही प्रेरणाओं व प्रवृत्तियों की जानकारी निरंतर मिलती रहे। नागरिक को यह जानकारी देना ही समाचार पत्र-पत्रिकाओं की विशिष्ट भूमिका है। इसीलिए लोकतांत्रिक समाज में उनकी इतनी प्रतिष्ठा है। द्वितीय प्रेस-आयोग ने सार्वजनिक मामलों में नागरिकों को शिक्षित करने का एक महत्वपूर्ण साधन, प्रेस को माना है। महात्मा गांधी ने भी प्रेस के तीन महत्वपूर्ण लक्ष्य माने हैं-पहला, जनता की भावनाओं को समझ

कर उन्हें अभिव्यक्त करना; दूसरा, लोगों में वांछनीय भावनाएं जगाना तथा तीसरा, लोगों के दोषों को सबके सामने लाना।

स्वाभाविक ही, ये लक्ष्य पत्रकारिता की सामाजिक शक्ति को रेखांकित करने के साथ ही उसकी कुछ मर्यादाएं भी निर्धारित करते हैं। यही कि पत्रकारिता-जैसे शक्तिशाली माध्यम का उपयोग अन्य व्यवसायों की तरह महज मुनाफे में इजाफा करने की भावना से नहीं किया जा सकता। मुनाफे के लिए चलायी जाने वाली सस्ती, सनसनीखेज और भड़कीली पत्रकारिता को स्वस्थ और समाजोपयोगी नहीं माना जा सकता। न ही एकपक्षीय दृष्टिकोण और पूर्वाग्रहों से प्रेरित पत्रकारिता को सही रूप में पत्रकारिता कहा जा सकता है। सही अर्थों में पत्रकारिता वह है जो तथ्यों को ठीक से जांचती-परखती है, उन्हें बेलौस ढंग से समाज के सामने रखती है, घटनाओं के तह में जाकर उनका निर्भीकता से विश्लेषण करती है और अपने से असहमति रखने वाले व्यक्तियों और वर्गों को, साधनहीनों और वंचितों को अपने विचार अभिव्यक्त करने का अवसर देती है। पत्रकारिता के इस सर्वग्राही दायित्व को ध्यान में रखकर ही अपनी 'आत्मकथा' में गांधी जी ने लिखा था- ''समाचार-पत्र सेवाभाव से ही चलने चाहिए। समाचार पत्र एक जबरदस्त शक्ति है, किंतु जिस प्रकार निरंकुश पानी का प्रवाह गांव के गांव डुबा देता है और फसल को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार कलम का निरंकुश प्रवाह भी नाश की सृष्टि करता है। यदि ऐसा अंकुश बाहर से आता है तो वह निरंकुशता से भी अधिक विषैला सिद्ध होता है। अंकुश तो अंदर का ही लाभदायक सिद्ध हो सकता है।''

इस अंदर के अंकुश की बात पर आज जोर देना लाजिमी हो गया है। कारण, समाचारपत्रों की स्वतंत्रता के सामने आज एक नहीं, अनेक खतरे हैं। एक खतरा है बढ़ती हुई व्यावसायिकता, उसके साथ जुड़े सस्तेपन और बाजारू वृत्ति के फैलाव का। यदि यह तर्क स्वीकार कर लिया जाए कि पत्रकारिता पूरी तरह से मुनाफे के उद्देश्य से प्रेरित व्यवसाय मात्र है, तो आप पत्रकारिता के नाम पर बढ़ रही इन विकृतियों और विरूपताओं को कैसे रोकेंगे? दूसरा खतरा यह है कि कहीं पत्रकारिता चंद संपत्तिशाली वर्गों की हितरक्षा का साधन और उनकी पैरोकार बनकर न रह जाए। इस खतरे से बचाव के नाम पर पत्र-पत्रिकाओं की आर्थिक आत्मनिर्भरता खत्म करने और उन्हें अधिकाधिक सरकार-आश्रित बनाने के भी सुझाव कई बार दिए गये हैं। द्वितीय प्रेस आयोग ने भी बहुमत की रिपोर्ट में ऐसे कुछ सुझाव दिये हैं। इन सुझावों की बारीकी से पड़ताल होनी चाहिए। समाचारपत्रों को बड़ी औद्योगिक पूंजी के नियंत्रण से मुक्त रखना जरूरी है क्योंकि उनकी आर्थिक आत्मनिर्भरता प्रेस-स्वतंत्रता का मूल आधार है। पराश्रित प्रेस कुछ भी हो, परन्तु वह स्वतंत्र विचारवाहक नहीं हो सकता। न ही पराश्रित प्रेस उत्कृष्ट पत्रकारिता को प्रोत्साहन और संरक्षण दे सकता है। इस खतरे से आगाह करने का यह अभिप्राय नहीं कि आर्थिक रूप से संपन्न और स्वावलंबी हो जाने मात्र से समाचारपत्र अपने आप में स्वतंत्र हो जाते हैं।

समाचारपत्रों की सम्पन्नता को, उनकी प्रसार शक्ति को पत्रों के मालिक अपने न्यस्त

स्वार्थों के लिए इस्तेमाल कर सकते हैं। यह खतरा भारत-जैसे देश में और भी अधिक है, जहां समाचारपत्र प्रतिष्ठानों में ऐसे पूंजीपतियों का पैसा लगा है जो दूसरे उद्योगों के भी मालिक हैं। ऐसे मामले भी हमारे यहां देखे गये हैं कि समाचारपत्रों से अर्जित मुनाफा जान-बूझकर ऐसे उद्योगों में लगाया गया जो घाटे में आने वाले थे। इस संदर्भ में यह बात तो जग जाहिर है कि आर्थिक सवालों पर और निजी क्षेत्र को लेकर चलनेवाली बहस में यह खतरे बड़े पत्र-प्रतिष्ठानों में ही हैं? मालिक का राजनीतिक स्वार्थ उलझा होने के कारण भी पत्रों की दुर्दशा हो जाती है।

आर्थिक दृष्टि से संपन्न और आत्मनिर्भर होते हुए भी समाचारपत्र अपनी स्वतंत्रता के उपयोग से कतरा सकते हैं। सत्ता-प्रतिष्ठान की नाराजगी का खौफ अंधविश्वासों में जनता की अनुरक्ति, धार्मिक कट्टरता का भय, रूढ़ियों को चुनौती देने से पाठकों एवं विज्ञापनदाताओं के रूठने की आशंका और इन सबसे बढ़कर मालिकों के नुकसान की चिंता-ये चीजें भी पत्रकारों को स्वतंत्रतापूर्वक अपना दायित्व निभाने से रोक सकती हैं ओर बहुधा रोकती भी हैं। इन सामाजिक-राजनीतिक अवरोधों के साथ अगर हम एक ओर मालिक और संपादक के और दूसरी ओर संपादक तथा श्रमजीवी पत्रकारों के नाजुक रिश्ते को रख लें, तो पत्रकार के सामाजिक दायित्व तथा अपने पेशे के प्रति उसकी निष्ठा की पहेली कुछ और जटिल हो जाती है। क्या कोई भी संपादक संपादकीय मामलों में मालिक अथवा प्रबंधकों की राय को लगातार अनसुनी कर सकता है? क्या वह अपने कनिष्ठ सहकर्मियों को भी अभिव्यक्ति और विचार की पूर्ण स्वतंत्रता देने को तैयार रहता है? यदि वह ऐसी स्वतंत्रता दे भी तो इस बात की क्या गारण्टी है कि कनिष्ठ पत्रकार इस स्वतंत्रता का दुरुपयोग नहीं करेंगे? बहुत मुमकिन है कि वे अपने अपने हितों और पूर्वाग्रहों की दिशा में पत्र की नीति-रीति को खींचने का प्रयास करें और इस संघर्ष का खामियाजा पाठकों को भुगतना पड़े।

इन तमाम विषय परिस्थितियों में इसका क्या उपाय है कि पत्रकारिता के व्यावसायिक पहलू की वास्तविकता को स्वीकारते हुए भी उसे अपने व्यापक सामाजिक दायित्व के प्रति जागरूक रखा जा सके, निर्बाध जानकारी और निर्भीक विचार के माध्यम के रूप में उसकी धार बनी रह सके? अवश्य ही, बाहरी प्रतिबंध, सरकारी अंकुश और गैरपेशेवराना बंदिशों से यह लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकता। इस लक्ष्य की सिद्धि का एक ही साधन हो सकता है। वह है पत्रकार का अपना विवेक, अपने दायित्व के प्रति जागरूकता और अपने दायित्व को पूरा करने का निष्ठापूर्ण प्रयास। ('मिशन' शब्द आज के संदर्भ में इन्हीं का वाचक है।) यह विवेक,जागरूकता और प्रयास ही पत्रकारिता को पूर्ण व्यवसायीकरण के उस महासंकट से किसी हद तक बचा सकेगा, जो आज हमारे सामने मुंह बाए खड़ा है। पूछा जा सकता है कि घटिया पत्र-पत्रिकाओं और पेशेवराना नैतिकता के विरुद्ध काम करने वाले पत्रकारों को कौन रोकेगा? शायद कोई नहीं रोकेगा, न उनकी तादाद ही कम होगी, परंतु समाज को, पाठकों को उत्कृष्ट और निकृष्ट में से चुनने का अवसर तो रहेगा। यह सवाल गांधीजी ने भी 'आत्मकथा' में उठाया था और स्वय ही उसका उत्तर यों दिया था- ''लेकिन निकम्मों को कौन बंद करे? कौन किसे निकम्मा समझे? उपयोगी और निकम्मे दोनों

साथ-साथ चलते रहेंगे, उनमें से मनुष्य को स्वयं चुनाव करना होगा।''

इस नजरिये से मुख्य प्रश्न यह है कि हम पत्रकारिता को व्यवसाय के रूप में अपनाकर उसके व्यापक मानवीय लक्ष्य को आत्मसात कर पाते हैं या नहीं? भले ही पत्रकारिता आज मिशन न रह गयी हो, भले ही वह व्यवसाय का रूप ले चुकी हो, किंतु वह स्वयं अपनी और समाज की दृष्टि में, अपनी प्रतिष्ठा गंवाने का खतरा मोल लेकर ही इस व्यापक लक्ष्य को दरगुजर कर सकती है। और उस स्थिति में, वह सामान और सेवाएं बेचने की तिजारत के दर्जे पर उतर आयेगी। अगर पत्रकारिता का अपना कोई सामाजिक संदर्भ नहीं है, अगर वह महज मुनाफे के लिए चलाया जाने वाला व्यवसाय है, तो फिर जैसा कि प्रेस आयोग ने सवाल किया है, ''समाचार जुटाने वालों और समाचार-विक्रेताओं के रूप में पत्रकार, दूसरे सामान और सेवाएं बेचने वालों से अधिक ऊंचे सम्मान का दावा कैसे कर सकता है?'' (पृष्ठ १४५) पर निश्चय ही हम पत्रकार अधिक ऊंचे सम्मान का दावा करते हैं, अपने लिए अलग तरह का सामाजिक स्थान चाहते हैं, अपना दायित्व निभाते हुए सरकार या मालिक के हाथों सताये जाने पर समाज से खास तरह की सहानुभूति और समर्थन चाहते हैं। इसका अर्थ ही यह है कि हम एक व्यवसाय के अंग होकर भी मात्र व्यावसायिक नहीं हैं। यदि हम व्यावसायिक हैं तो उसी अर्थ में कि जिस अर्थ में डाक्टर व्यावसायिक हैं, या कि अध्यापक व्यावसायिक हैं। ये दोनों भी अपने-अपने व्यवसाय से आजीविका कमाते हैं किन्तु समाज को उनसे सिर्फ इतनी ही अपेक्षा नहीं होती कि वे अपने व्यवसाय में दक्ष हों, समाज, डाक्टर से रोगी के प्रति सहानुभूति की अपेक्षा रखता है, न कि रोग को अपना कारोबार बनाने की; इसी प्रकार समाज अध्यापक से विद्यानुरागी और छात्रों का हितचिंतक होने की अपेक्षा रखता है। हालाकि चौतरफा पतन के इस दौर में डाक्टर का पेशा भी विकृतियों का शिखर हुआ है और अध्यापक का भी। किंतु इससे क्या विकृतियां, नैतिक और समर्थनीय हो जाती हैं? उन्हें सामाजिक मान्यता मिल जाती है? पत्रकारिता भी इस पतन और विकृति से अछूती नहीं रही है किन्तु उसे अनिवार्य यथार्थ मानने और उनके आगे हथियार डालने की बजाय, आज आवश्यकता इस बात की है कि हम सब अपना-अपना हृदय टटोलें, स्वस्थ अंगों की स्वास्थ्य रक्षा का प्रयत्न करें और अस्वस्थ अंगों को स्वस्थ बनाने के लिए आवश्यक परिस्थितियां पनपायें।

(राजस्थान-पत्रिका (जयपुर) के 'इतवारी' संस्करण में प्रकाशित)

॥ घ ॥

श्रीवेङ्कटेश्वर समाचार प्रति शुक्रवार को प्रकाशित होता है।

सुधारके नामपर 'धर्म-नाश' की निन्दा!

-श्री बा. हनुमान प्रसादजी पोद्दार के महत्वपूर्ण विचार।

व्याह सगाई और खर्च आदिमें जो अनाप शनाप खर्च होता है उसे रोकनेका बहुत ही शीघ्र प्रयत्न होना चाहिये, कन्या जन्मते ही माता पिताको उसके सगाई व्याहके लिये धनकी चिन्ता लग जाती है क्योंकि बिना दहेजके समाजमें अच्छा वर नहीं मिलता, इसीलिये प्राय: कन्याओंके साथ बुरा बर्त्ताव भी हो जाता है और कन्याएं नीची दृष्टिसे देखी जाती हैं। कन्या पैदा होते ही घरके लोग और खास माता तक कह उठती है कि "पत्थर आ पड़ा" यहांसे जो घृणा आरम्भ होती हैं, वह विवाह होने तक ज्योंकी त्यों देखने में आती है, अपने उदरजात लड़के लड़की के साथ वर्त्ताव करनेमें माता पिता भेद रखते हैं! पुत्र पालने और खाने पहनानेके लिये मां बापको जितनी चिन्ता और परवाह रहती है उतनी कन्याके लिये नहीं रहती। कभी खेलमें लड़की यदि अपने भाईको मारती है तो माता उसे ही डांटती है पर भाई यदि बहिनको मारता है तो माता कह देती है 'हां बेटा एक और मार'। कन्याकी शिक्षा और स्वास्थ्य रक्षाकी उतनी परवाह नहीं की जाती। अधिक क्या कहें कन्याके मर जानेसे भी माता पिताको क्लेश नहीं मालूम होता। कन्या और पुत्रके पालने और खाने पहनानेमें भेद रखनेवाले निर्दयी मां बाप महापातकी हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु इस पापके लिये दहेजकी बुरी प्रथा जारी रखने समाज ही प्रधान जिम्मेवार है। लड़कीके लिये माता पिता को दहेज देनेकी यही चिन्ता करनी पड़ती है।

सगाईके समय तो मोल तोल कर लेता है। कन्याका पिता यदि हरे भरे आंगी मेंवे में लड़केवालेका मुंह मांगा नहीं दे सकता तो बहुधा विवाह के पहल ही सगाई छोड़ दी जाती और व्याहमें नहीं दे सकने पर विचारी लड़कीको तरह तरहसे ताने, माता पिताके लिये अपमानजनक और गालियोंकी बौछार सुननी और सहनी पड़ती है। बहुत जगह तो इसी कारण उसे अपने माता पितासे मिलने तककी इजाजत नहीं दी जाती। यह कुप्रथा तभी बन्द हो सकती है जब लड़केवाले लेना बन्द कर दें। लड़कीवाला बन्द करना चाहता है तो उसकी लड़कीका विवाह होना कठिन हो जाता है।

दूसरी जातिके गरीबोंमें सौ दो सौ रुपये में ब्याह हो जाते हैं। सौ दो सौ रुपये मनुष्य कमा भी सकता है परन्तु जिस गरीब पिताको कन्याके विवाहसे पहले आंगी मेंवे आदिमें ही हजार दो हजार खर्च करने पड़ते हों उसकी कठिनाई का अनुमान वैसा ही भुक्तभोगी लगा

सकता है। इस सामाजिक खर्चके बोझसे दबकर मनुष्योंको तरह तरहके अन्याय करने पड़ते हैं। आंगी मेवा तो सर्वथा उठ जाना चाहिये परन्तु इसका उठना भी लेनेवालेके इन्कार पर ही संभव है। विवाहमें पांच दिनसे अधिक का हलद्हाथ नहीं करना चाहिये। जहांतक बने, जिसमें धन और समयका व्यय होता हो, ऐसा कोई भी नया नेग कभी नहीं बढ़ाना चाहिये। इसी प्रकार गरीब लड़केके पिताको भी बहुत कष्ट होता है उसे सगाई होते ही गहना चढ़ाने की चिन्ता लग जाती है, गहने बिना भी लड़की नहीं मिलती। लड़केवाले भी विवाहमें प्रतिष्ठाके मोहसे बहुत व्यर्थ खर्च किया करते हैं। मृतककी बिरादरीमें भी कम धन व्यय नहीं होता, घरद्वार बेचकर और ऋण लेकर भी लोग जीमनवार करते हैं। मां बापके मरने पर गरीबसे गरीब भाईको भी बिरादरी करनेके लिये बाध्य करना क्या समाजका अन्याय नहीं है? यह बिरादरी एक ही जगह नहीं होती, जहां जहां पर उसका कारबार और कुटुम्बियोंका निवास होता है वहां सब जगह उसे करनी पड़ती है। मेरी रायमें यह कुप्रथा तुरन्त ही बन्द कर देनी चाहिये। मृतकके श्राद्ध पर ब्राह्मण भोजन अवश्य कराना चाहिये।

एक ओर तो देशमें करोड़ों भाई भरपेट रूखा सूखा अन्न नहीं पाते और दूसरी ओर जबरदस्ती जीमनवारोंमें माल उड़ाया जाय। क्या यह पाप नहीं है?

बात यह है कि इन कार्योंमें खर्च करनेसे समाजमें प्रतिष्ठा होती है, यह भ्रम अभी दूर नहीं हुआ है इसके लिये समाजके मुखिया बड़े लोगोंको चाहिये कि वे इन कुप्रथाओंको शीघ्र रोकें। अपने यहां व्याह सगाई और खर्च पर बहुत ही कम धन व्यय करके लोगोंके मनसे प्रतिष्ठाके इस थोथे मोहको निकाल दें। वास्तवमें जो इन कर्मोंमें कम से कम खर्च करता है, वही वीर, धर्मरक्षक और सच्चा समाजसेवक है। बिना समझे बूझे अनाप शनाप खर्च कर समाजके सामने बुरा आदर्श रखने और नाहक दु:ख मोल लेने वाले तो समाजके शत्रु और सर्वथा निन्दाके ही पात्र हैं। बुद्धिमानोंको चाहिये, कम खर्च करनेवालोंकी प्रशंसा किया करें और उनका उत्साह बढ़ाया करें! इस बातका खूब प्रचार किया जाना चाहिये कि धर्म और इज्जत, धन कम खर्च करनेसे ही बच सकती है और इसीमें सच्ची प्रतिष्ठा है।

दान।

हमारे समाजमें दान बहुत होता है परन्तु सात्विक दान बहुत ही कम होता है अतएव देशकाल, पात्र देखकर जिस देशमें जिस समय जिसको जिस वस्तुकी आवश्यकता हो उस समय वही वह वस्तु कर्तव्य समझ कर फल और प्रत्युपकारकी आशा त्याग कर प्रसन्न मनसे देनी चाहिये। असली फल उस दानका होता है जो सत् कमाईका होता है। अन्यायसे बहुतसा पैसा बटोरकर उसमेंसे थोड़ासा दान नामके लिये दे देना उत्तम फल पैदा नहीं करता। यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है।

सेरनकी चोरी करै, करै सुईको दान।
चढ़ चौबारे देखन लागे, कब आसी बिमान॥

अतएव सत्य कमाईका सात्विक दान होना चाहिये। पर न देनेसे तो देना अच्छा ही है। दानमें प्रधान तत्त्व है त्याग। जिस दानमें त्याग नहीं वह दान वास्तवमें दान नहीं है। भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌के अर्पण करना ही ईमानदारीका दान है। ऐसा वहीं होता है जहां

वास्तवमें त्याग होता है। जहां अकाल पड़ा हुआ है वहाँ वे अन्न चाहते हैं, जहां बीमारी फैली है वहां वे सेवा चाहते हैं, जहां घर द्वार जल गये या बह गये हैं वहां वे आश्रय चाहते हैं, जहां गरीबोंको लज्जा-शीतादि निवारणके लिये वस्त्र नहीं है वहां वे वस्त्र चाहते हैं। ऐसे स्थानोंमें भगवदर्थ दान देना ही भगवान्‌की दान द्वारा पूजा करना है। वास्तवमें दूसरोंके दु:खसे दु:खी होकर उनके दु:ख निवारणार्थ नि:स्वार्थभावसे त्याग करते हैं वे ही दानी हैं। अपात्रको दान नहीं देना चाहिये। लोकहितकर संस्थाओंको दान अवश्य देना चाहिये परन्तु पहले इस बातकी जांच कर लेनी चाहिये कि उनमें वास्तवमें धनका सदुपयोग होता है या नहीं। बहुतसे भाइयोंके यहां दानकी बड़ी बड़ी रकमें जमा हैं, दानकी रकम जमा रखना बहुत बुरी बात है। दानकी रकम हाथों हाथ सत्कार्यमें खर्च कर देनी चाहिये, जमा रखनेसे आगे चल कर उससे अनेक तरहकी बुराइयां पैदा हो सकती हैं।

धर्म और सदाचार।

धर्म और सदाचारके पालनकी सबको चेष्टा करनी चाहिये। यथासंभव धार्मिक संस्कार अवश्य कराने चाहिये। वैदिक धर्मावलम्बी समस्त भाइयोंको यज्ञोपवीत धारण करके नित्य सन्ध्या करनी चाहिये। तीनों समय न हो सके तो कमसे कम सुबह शामकी सन्ध्या और दोनों समय कमसे कम एक एक माला गायत्रीका जप अवश्य करना चाहिये। इसी प्रकार नित्य बलिवैश्यदेव भी अवश्य करना चाहिये। अपने भोजनमेंसे जगत्‌के समस्त प्राणियोंको भाग देकर बचा हुआ अन्न खाना ही अमृत भोजन है और जो ऐसा नहीं करते हैं उन्हें शास्त्रोंमें चोर बतलाया गया है। बलिवैश्वदेव इसी उच्च भावनाको निमित्तरूपसे जागृत रखनेवाला नित्य यज्ञ है। जैन-भाइयोंको भी अपने धर्मानुसार नित्य उपासना करना चाहिये। माता-पिता गुरुजनादिके चरणोंमें नित्य प्रणाम करना चाहिये। बड़ोंकी सेवा छोटोंका पालन, सन्तों का संग, दुखियोंपर दया, जीवमात्रके साथ मैत्री करना यह सब सदाचार है। अतएव सदा इसका पालन करना उचित है।

खद्दर और स्वदेशी।

देशकी रक्षा और धर्मपालनके लिये शुद्ध हाथसे कते सूतका हाथसे बुना हुआ खद्दर व्यवहार करना बहुत ही आवश्यक है। पूज्य महात्माजी ने तो अपने अनुभवसे इसे सब तरहसे उत्तम बतलाया ही है परन्तु जिन लोगोंका इसके व्यवहारका अनुभव है उन्हें भी उसे बहुत लाभ मालूम होता है। मैं तो खद्दरको अर्थ धर्म काम मोक्ष चारों में सहायक मानता हूँ। जो भाई विलायती महीन या रेशमी वस्त्रोंको पहन कर शरीर को सजाते हैं वे बड़ा अनर्थ करते हैं। जिस देशमें करोड़ों आदामी अङ्ग ढकने को पूरा वस्त्र न पाते हों वहां अङ्ग सजाने और पेटियां भरकर रखनेका किसीको क्या अधिकार है? और वस्तुएं भी यथासाध्य स्वदेशी ही व्यवहारमें लानी चाहिये। परदेशी वस्तुओंकी देशमें इतनी भरमार हो गयी है कि आज यह देश ही विदेश हो चला है। बाबू लोगोंके तो सोने, पीने, खाने, खेलने आदिके सारे सामान विदेशसे ही आते हैं।

आजकल तो घी भी विदेशसे आने लगा है जो स्वास्थ्यके लिये सर्वथा हानिकारक सिद्ध

हुआ है। विदेशी वस्तुओंके व्यवहारसे देशका धन तो विदेशमें जाता ही है परन्तु गरीब कारीगरोंकी रोटियां भी मारी जाती हैं, देशका कला-कौशल नष्ट होता है, स्वावलम्बनका नाश होता है। यथासाध्य विदेशी वस्तु मात्र का त्याग कर स्वदेशीय वस्तुओंका ही व्यवहार करना चाहिये।

राजनीति।

हिन्दू-धर्म में राजनीतिधर्मसे कोई अलग वस्तु नहीं है। व्यापारी जातिका तो राजनीतिसे घनिष्ट सम्बन्ध है। मैं तो एक भारतवर्षमें ही क्यों सभी जगह धर्मराज्य चाहता हूँ। मुझे स्वराजकी अपेक्षा धर्मराज्य अधिक इष्ट है। स्वराज्य भी यदि पापमूलक हो तो उससे श्रेय नहीं होता। पर साथ ही मैं यह भी स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि किसी दूसरी जातिको एक जाति पर उसकी इच्छा और उसके स्वार्थके विरुद्ध जबरदस्ती शासन करनेका वास्तवमें न्यायत: कोई अधिकार नहीं है। मेरी समझसे वर्तमान शासनतन्त्र भारतीय सभ्यताओंका और भारतीय स्वार्थका नाशक और बलात्कारसे भारतके सिर लद रहा है, इस शासनका बहुत ही शीघ्र धर्मराज्य के रूप में परिवर्तन हो जाना अत्यन्त ही आवश्यक है। भारतवासियोंको चाहिये कि वे ईश्वरका बल साथ रखकर और व्यक्तिगत स्वार्थत्याग कर इसके लिये हर तरहसे प्रयत्न करें। हमारे मारवाड़ी भाइयोंको भी इस कार्यमें यथासाध्य पूरा भाग लेना चाहिये। साइमन कमीशनका बहिष्कार कर देशवासियोंने बहुत उचित कार्य किया। इस अवसरपर देशमें जो एकता देखनेमें आयी है वह सर्वथा प्रशंसनीय है। कौंसिलमें भाई घनश्यामदासजी बिड़लाने कमीशन बहिष्कारके पक्षमें वोट देकर और बाहर भाई श्री जमनालालजी बजाज प्रभृति सज्जनोंने बहिष्कारकर मारवाड़ियों लाज रख ली। इसलिए उन्हें धन्यवाद है।

देशी राज्य।

हमलोग प्राय: देशी राज्योंकी प्रजा हैं इससे देशी राज्योंके सम्बन्धमें भी कुछ कहना आवश्यक है। मैं देशी राज्योंका उच्छेदान नहीं चाहता किन्तु उनका सुधार चाहता हूँ। अनुचित जगात लगाकर अनापशनाप धन वसूल करना और उसे आरामतलबीमें और अंग्रेजोंके आगत-स्वागतमें खर्च करना देशी नरेशोंके पतनका कारण बन रहा है। उन्हें चाहिये कि वे दोनों ओर देखकर काम करें। स्वयं संयमशील बनें, प्रजाकी उचित उन्नतिके लिये अपना जीवन लगा दें और विदेशीय तन्त्रके मायाचक्रसे यथासंभव बचे रहें। देशीराज्योंकी प्रजाको राज्यकी उचित उन्नतिके लिये यथासाध्य राज्यकी मदद अवश्य करनी चाहिये।

अन्तमें अपने रागद्वेष त्यागकर परमात्माकी शरण लेनेके लिये श्रीमद्‌भागवतगीताके अध्ययनका महत्व बताते हुए कहा —

भगवद्‌गीताके समान निरपेक्ष, तत्वपूर्ण और धर्मका असीम सागर स्वरूप सार्वभौम ग्रंथ जगत्‌में और दूसरा नहीं है। भगवद्‌गीता का तत्व समझकर तद्‌नुकूल आचरण करनेसे इस लोकमें सुख और परलोकमें परम कल्याण की प्राप्ति सहज ही में हो सकती है। भगवद्‌गीता किसी भी धर्मकी निन्दा नहीं करती। अच्छी तरहसे समझ लेने पर इसका मत संसारमें

किसी भी मतावलम्बीको अखर नहीं सकता, भगवद्गीता कर्म, योग, भक्ति और ज्ञानका भण्डार है। इसमें से आज तक न जाने कितने अपार्थिव अमूल्य रत्न निकले और अब भी निकल रहे हैं। निकालनेवाले थक जाते हैं पर इसके भण्डारमें कमी नहीं होती। जो जिस रत्नके लिये इस रत्न सागरमें डुबकी लगाता है, वह उसे ही पा लेता है। सूत्ररूपसे वर्णन होनेपर भी कोईसा विषय इसमें अपूर्ण नहीं है। परमात्माके वास्तविक स्वरूपका यथार्थ पता गीता से ही लगता है। गीतामें ही उस अनोखे तत्त्व का सरल विवेचन है कि जिससे मनुष्य अपने जातिगत सारे कार्योंको यथाविधि करता हुआ ही परम कल्याणको प्राप्तकर सकता है। यहां सुखपूर्वक जीवन बिताकर अन्तमें परमात्माके परमधाममें पहुंचनेके लिये गीता ही सुगमताके साथ सच्चे पथ प्रदर्शकका काम दे सकती है। वर्तमान किंकर्तव्यविमूढ़ भारत यदि तात्त्विक दृष्टिसे गीताको हाथमें ले ले तो उसका कंटकाकीर्ण और तमसाच्छन्न पथ आज सुगम और प्रकाशमय बन सकता है। आज जो भारतका जीवनाकाश शरीरासक्ति भोगपरायणता, अकर्मण्यता, कायरता और विषमतादिकी घनघोर घटासे आच्छादित दीख पड़ता है उसका कारण यही है कि भारत गीताके यथार्थज्ञानको भूल गया है। यदि गीताका ज्ञान वह न भूला होता तो देशकी यह दशा आज नहीं होती!

हथियार छोड़कर कायरकी तरह रोते और कांपते हुए अर्जुनको "कायरता छोड़, हृदयकी दुर्बलताको त्यागकर, अरे! आत्मा अमर है, अच्छेद्य है, अदाह्य है, अक्लेद्य है, आशोष्य है, नित्य अचल, स्थिर और सनातन है, शरीरके नाशसे इसका नाश नहीं होता, रणमें पीठ न देना ही तेरा धर्म है, उठ, खड़ा हो और युद्ध कर।" गीताने ही रणभेरीकी यह गगनभेदी आवाज सुनाकर कर्तव्य पथपर आरूढ़ किया था।

यदि भारतमें गीताकी यह रणदुन्दुभी यथार्थ बजती तो देशका कुछ दूसरा ही रूप आज देखनेमें आता। आज इसी रणदुंदुभीकी भारतको आवश्यकता है।

गीताने ही विद्याविनय सम्पन्न ब्राह्मण और चाण्डाल तथा हाथी गौ कुत्तेको शरीर और कर्ममें भेद रहनेपर भी आत्मभावसे सबको समान देखनेका, विषमतामें भी समता देखनेका सुन्दर गूढ़तत्त्व, समझाया है।

गीताने ही सुख-दुःख, जय-पराजय और लाभ-हानि में समभावापन्न रहकर कर्तव्यकर्म करनेकी शिक्षा दी।

गीताने हमें यह सिखलाया है कि 'तुम चाहे अपने धर्मके अनुसार वेद पढ़ो, युद्ध करो, व्यापार करो या सेवा करो, परन्तु करो भगवान्के लिये - इसीसे तुम्हें मुक्ति मिल जायगी।'

गीताने ही 'स्त्रियों वैश्यास्तथाशूद्रास्तेतऽपि यान्ति परां गतिम्' कहकर मनुष्य मात्रके परमपद लाभ करनेके जन्मसिद्ध अधिकारकी घोषणा दी कर।

गीतामें ही भगवानने स्वयं अपना दृष्टान्त देकर मनुष्य जातिको निरन्तर लोकहितकर कार्योंमें निष्काम भावसे लगे रहनेकी आज्ञा देकर अकर्मण्यताका नाश किया।

गीताके लिये क्या कहा जाय। गीताकी महिमा अपार है, गीता भगवान्का हृदय है- दूसरे शब्दोंमें गीता भगवान्का रूप ही है। घर घरमें गीताका प्रचार होना चाहिये, प्रत्येक मनुष्यके हाथ और मनमें गीता रहनी चाहिये। गीताकी पढ़ाई प्रत्येक विद्यालयमें अनिवार्य

होनी चाहिये। गीताके महान् भावोंको समझनेकी चेष्टा करनी चाहिये। गीता अलौलिक आनन्दका सागर है। जो इसमें जितना गहरा डूबता है उसे उतना ही अधिक आनन्द मिलता है। वह आनन्द स्वरूप ही हो जाता है। केवल वही नहीं हो जाता है परन्तु वह और भी अनेक लोगोंको परमानन्दका रसास्वादन करवा सकता है। महासभामें गीताके सम्बन्धमें एक महत्वका प्रस्ताव होना चाहिये और उसके कार्यक्रममें गीता प्रचारको मुख्य स्थान मिलना चाहिये।

"गीता परीक्षा समिति" स्थापित हो गयी है, पर परमहंसाश्रम बरहजके बाबा राघवदासजी उसका काम देखते हैं, गत परीक्षामें प्राय: दो सौ विद्यार्थी सम्मिलित हुए थे। इस वर्ष बहुत ज्यादा होनेकी आशा है। सभी भाइयोंको अपने अपने यहां केन्द्र स्थापित करना चाहिये। नियमादि, गीता परीक्षा समिति बरहज (गोरखपुर) से मंगवा सकते हैं।

उपसंहार और विनय।

महानुभावों! अपना वक्तव्य समाप्त करनेके पूर्व मैं आप लोगोंसे एक बात और निवेदन करना चाहता हूँ। सिद्धांतोंमें मतभेद रहने पर भी हम सबको परस्पर बड़े प्रेम और शिष्टताका बर्ताव करना चाहिये। मैं समाजके बड़े-बूढ़े पूज्य पुरुषोंके चरणोंमें मस्तक अवनत कर हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना करता हूँ कि वे जिद्द छोड़ कर सुधारकोंकी जो बातें न्याय और धर्मसंगत हों उन्हें प्रेमसे सुनें। जिन रूढ़ियोंसे समाजमें तामसिकता, फजूलखर्जी, अनाचार, अन्याय और सन्ताप फैलता हो, जो वास्तवमें न्याय और धर्मका नाश करने वाली हों, उनको साहसके साथ त्याग देनेकी उदारता दिखावें। साथही मैं अपने सुधारक बन्धुओंसे भी विनयपूर्वक अनुरोध करता हूँ कि वे बड़े बूढ़ों और आज कलकी फैशन से अपरिचित पुरुषोंको सर्वथा बेवकूफ समझनेकी बढ़ती हुई प्रवृत्तिको नष्ट कर दें। न तो पुराना सब बुरा ही है और न नया सब अच्छा है। सुधारक भाई रूढ़ियों के त्याग और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर बहुत जोर देते हैं। बुरी रूढ़ियोंका त्याग करना सर्वथा उचित है परन्तु रूढ़ियोंके त्यागकी बात करना जितना सहज, है रूढ़ियोंके वश में न होना उतना ही कठिन है। क्या सुधारक भाई नयी नयी रूढ़ियोंके वशमें नहीं होते चले जा रहें हैं? प्रेम होनेकी बहुत कुछ सम्भावना होने पर भी एक अदनीसी बातको भी न छोड़ना क्या रूढ़िके वश होना नहीं है? यही हाल व्यक्तिकी स्वतन्त्रता का है। हम स्वयं तो सारे बन्धनोंको तोड़ कर एकदम स्वतंत्र होना खूब पसन्द करते हैं परन्तु दूसरोंको परतन्त्रतामें ही रखना चाहते हैं। जब आप अपने लिये धर्मशास्त्रके विरुद्ध भी अपना मत प्रकट करने और चलानेका अधिकार समझते हैं तब क्या आपके प्रतिपक्षियोंको उन बातोंके कहनेका भी अधिकार नहीं है जिनको वे अपनी बुद्धिसे न्याय संगत और समाजके लिये हितकर समझते हैं? यदि है तो फिर उन्हें रूढ़ियोंके गुलाम आदि शब्दोंसे पुकार कर व्यर्थ ही चिढ़ाया क्यों जाता है? मैं अपने सुधारक भाइयोंसे व्यक्तिगत प्रेमके नाते नम्रताके साथ यह विनय करता हूँ कि आप संयमसे काम लें। आप अपनेको बुद्धिमान् और विद्वान् समझते हैं तो आपको अपनी जिम्मेवारी भी अधिक समझनी चाहिये। सुधारके नामपर मूलोच्छेद करना उचित नहीं। आपको ऐसे सुधारकी इच्छा नहीं करनी चाहिये जिससे समाजमें उच्छृङ्खलता फैल जाय और कलहाग्नि भड़क उठे। क्रान्तिके

नचा देने वाले जोशीले शब्दोंसे समाजमें अशान्ति उत्पन्न करनेके कार्योंको समझ बूझ कर करें। व्यक्तिगत स्वतंत्रता स्वेच्छाचारके रूपमें परिणत नहीं होनी चाहिये।

महानुभावो! नदी जबतक समुद्रमें जाकर नहीं मिल जाती तबतक उसे भटकना ही पड़ता है जब वह बड़े वेगसे दौड़कर उस असीम सागर असीम सत्तामें अपनी ससीम सत्ताको मिला देती है, तभी नदी जीवनकी सार्थकता होती है। इसी प्रकार जब उस विश्वात्माके समष्टिरूप-उस भूमाके असीम अस्तित्वमें हमारा ससीम व्यष्टिमें अस्तित्व सम्पूर्णरूपसे विलीन हो जायगा तभी हमारे इस जीवनकी सार्थका होगी। जो सबसे उत्तम है, जो सबका अन्तरतम है, जो सर्वापेक्षा प्रियतम है, जो जीवनमें ओतप्रोत है, और—

यदार्चिमद यदणुभ्योऽणु च
य स्मिँल्लोकानिहिता लोकिनश्च।
तदेतदक्षरं ब्रह्म सप्राणस्तदु
वाङमनः तदेतत् सत्यं तदमृतम्॥

जो तेजोमय है, जो अणुसे भी अणु है, जिसमें सारे लोक तथा लोक निवासीगण निहित हैं, वही अक्षर ब्रह्म है, वही प्राण है, वही वाक्य है, वही मन है, वही सत्य है और वही अमृत है।

हमें अपने इस मानवजीवनमें वास्तवमें केवल उसी एक सच्चिदानन्दघन परमात्माकी खोज करनी चाहिये। कारण उसीकी प्राप्तिमें तृप्ति है, उसीमें शान्ति है, उसीमें सच्चा सुख है, और वही जीवकी चरम गति हैं।

अन्तमें बन्धुओं! आइये। हम सब मिलकर श्रीमद्भागवतके पवित्र शब्दोंमें परमेश्वरसे प्रार्थना करें —

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां,
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथोधिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोऽक्षज,
आवेश्यतां नो मतिरप्यहेतुकी।

'हे प्रभो! समस्त विश्वका कल्याण हो, दुष्ट पुरुष सुधर जायं, सब प्राणी अपने अपने मनमें परस्पर सबके कल्याणकी कामना करें, सबके मन कल्याणके मार्गमें जायं और हम सब जीवोंकी बुद्धि विषयवासनासे हटकर निष्काम भावसे परमात्मामें लगे।'

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः